अध्याय ९

अध्याय १०

अध्याय ११

अध्याय १२

अध्याय १३

अध्याय १८

अध्याय १९

अध्याय २०

अध्याय २१

अध्याय २२

संकेत सूची

—:o:—

अ० सं—अष्टाङ्गसङ्ग्रह

अ० हृ०—अष्टाङ्गहृदय

औ० सं०—औषधिसङ्ग्रह

च०—चरक

च० द०—चक्रदत्त

त्रि०—त्रिशति

भै० र०—भैषज्यरत्नावली

यो० चि०—योगचिन्तामणि

यो० र०—योगरत्नाकर

र० यो० सा—रसयोगसागर

र० सा०—रसेन्द्रसार

शा०—शार्ङ्गधर

सि० यो० सं—सिद्धयोग संग्रह

सु०—सुश्रुत

व्याधि-विज्ञान

अध्याय १

रोग परीक्षा-सामान्य (१)

परिचय

रोग निदान के लिये विधि-पूर्वक रोग-परीक्षा का ज्ञान होना परम आवश्यक है। वैद्य को विधि-पूर्वक परीक्षा करने का स्वभाव बना लेने से यह लाभ होता है कि रोग के विषय में जानने योग्य कोई आवश्यक बात उससे नहीं छूटने पाती, तथा उसको नये रोगियों को पुराने रोगियों से तुलना करने का अवसर मिलता रहता है, एवं उसका अनुभव भी प्रतिदिन बढ़ता चला जाता है और वह तत्वदर्शी तथा शीघ्र-ग्राही बन जाता है।

रोग-परीक्षा की अनेक विधियाँ प्रचलित हैं। वैद्य को चाहिये कि किसी भी एक विधि को अपनाकर सदा उसी विधि के अनुसार रोग परीक्षा करे। चाहे किसी भी विधि से रोग-परीक्षा की जाय दो बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिये :

१. परीक्षा-विधि सारगर्भित हो, अर्थात् न तो कोई आवश्यक बात छूटने पावे और नहीं कोई अनावश्यक बात पूछी जाय।

२. परीक्षा-विधि संक्षिप्त हो ताकि वैद्य तथा रोगी का समय व्यर्थ नष्ट न हो।

विद्यार्थियों तथा नवीन वैद्यों के ज्ञानार्थ नीचे एक विधि संक्षिप्त रूप से लिखी जाती है जो प्रायः व्यवहृत होती है।

रोग परीक्षा के मुख्य दो भाग हैं:—प्रश्न और परीक्षा।

प्रश्न—दो प्रकार के होते हैं :—सामान्य और विशेष, सामान्य प्रश्न प्रत्येक रोगी के लिये सामान्य हैं। विशेष प्रश्न प्रत्येक रोगी के लिये पृथक्-पृथक् होते हैं।

परीक्षा—शारीरिक परीक्षा भी दो प्रकार की होती है। सामान्य तथा विशेष। सामान्य परीक्षा से दर्शन परीक्षा अभिप्रेत है, शरीर की वृद्धि विकास (उपचय, अनुपचय) अवस्था (क्षीणता, दुर्बलता आदि) वर्ण (पाण्डुता, कामला आदि) स्थिति, गति आदि इसके अन्तर्गत हैं।

विशेष परीक्षा—पीड़ित अंगों की पूर्णतया परीक्षा करना तो आवश्यक है ही परन्तु वैद्य को यह नियम कर लेना चाहिए कि अन्य अंगों की जो साधारणतया स्वस्थ प्रतीत हो रहे हों, उनकी भी परीक्षा अवश्य कर लेनी चाहिए। सम्भव है कि अज्ञात कोई अन्य अंग भी पीड़ित हो अथवा उपद्रव रूप से रोग का प्रभाव किसी दूसरे अंगों पर भी पड़ा हो।

प्रश्न

सामान्य प्रश्न—सामान्य प्रश्नों से रोगी के वर्तमान कष्टों का, अब से पूर्व उसके शारीरिक स्वास्थ्य, विशेष-विशेष रोगों तथा उसके परिवार सम्बन्धी स्वास्थ्य का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। गुप्त रोगों के विषय में सभ्यता की ओर विशेष लक्ष्य रखकर इस प्रकार से प्रश्न पूछने चाहियें जिससे रोगी के आचरण पर स्पष्टरूपेण आघात न पड़े और उसे अपनी निरादरता का भास न हो।

किसी प्रश्न को बार-बार पूछने से रोगी को वैद्य के विषय में उपेक्षा-वृत्ति का संदेह होने की संभावना रहती है, इससे रोगी की श्रद्धा उठ जाने का भय रहता है।

जहां तक संभव हो रोगी से उत्तरात्मक प्रश्न (जिसका उत्तर हाँ या ना में होता हो) नहीं पूछने चाहिए, अल्पमती तथा भ्रमी

रोगी प्रायः वही उत्तर देता है जिसका संकेत उत्तर में होता है यथा "क्या विबन्ध है !" ऐसा पूछा जाने पर ऐसे रोगी विबन्ध के न होते हुये भी "हाँ" में उत्तर देते है। इस प्रश्न को ऐसे पूछ सकते हैं कि शौच कैसा आता है ?

१. सबसे पूर्व साधारण ज्ञेय बातें पूछनी चाहिये। यथा

(i) नाम (ii) आयु

(iii) व्यवसाय—कई व्यवसाय ऐसे हैं जो विशेष रोगों को उत्पन्न करते हैं। यथा मुद्रणालय में काम करने वालों को तथा सिक्के के कारखानों में काम करने वालों को अनेक प्रकार की वात-व्याधियाँ हो जाया करती हैं।

(iv) रोगी विवाहित है अथवा अविवाहित।

(v) निवास स्थान–तात्कालिक तथा स्थायी, सपष्ट रूप से इसका कोई लाभ प्रतीत नहीं होता किन्तु अनेक बार रोगी से पत्र व्यवहार के लिये उसका पता लिखा रहना बहुत उपयोगी होता है। तथा अनेक रोग ऐसे भी हैं जो विशेष प्रदेश या प्रान्तों में पाये जाते हैं।

२. रोगी के वर्तमान कष्ट—रोगी को अब क्या-क्या कष्ट हैं, तथा कितने कितने समय से हैं।

३. वर्तमान रोग की उत्पत्ति तथा वृत्तान्त, कौन-कौन सा कष्ट कैसे-कैसे आरम्भ हुआ और कैसे-कैसे बढ़ता गया। यदि चिकित्सा की गई तो क्या-क्या चिकित्सा की गई और उनके क्या-क्या परिणाम निकले।

४. पूर्ण स्वास्थ्य—इस रोग से पूर्व रोगी का स्वास्थ्य कैसा रहा, उसे क्या क्या रोग हुए—अनेक रोग ऐसे हैं जिनका प्रभाव आजीवन शरीर में रह जाता है, अथवा वर्तमान व्याधि की उत्पत्ति में सहायक हों।

५. रोगी का स्वभाव—रोगी को किसी मादक द्रव्य, मदिरा, अहिफेन, चरस, भांग, गांजा आदि का दुर्व्यसन तथा धूम्रपान का व्यसन

तो नहीं, रोगी शाकाहारी है अथवा मांसाहारी है, व्यायाम करता है अथवा नहीं।

६. परिवार के स्वास्थ्य का परिचय—रोगी के माता-पिता, भाई-बहन में ऐसे कष्ट तो नहीं हैं, अनेक रोग ऐसे होते हैं जिनमें पैतृक प्रवृत्ति होती है, अथवा सहज होते हैं; किंवा इकट्ठे रहने वालों में एक से दूसरे के सर जाते हैं।

विशेष प्रश्न

प्रत्येक रोग और प्रत्येक रुग्ण-अंग के विषय में क्या-क्या प्रश्न पूछे जाने चाहिये इनका ज्ञान वैद्य को स्वयं होना चाहिये, उन प्रश्नों का विस्तारपूर्वक वर्णन तथा उपयोगिता का यहां वर्णन करना असम्भव है। पथ-प्रदर्शनार्थ मुख्य अंगों के विषय में प्रधान प्रश्नों का वर्णन जो प्रायः पूछे जाने चाहियें, नीचे किया जाता है, रुग्ण अंग के विषय में तो प्रधान प्रश्न पूछे ही जाते हैं किन्तु अन्य अंगों के विषय में भी उचित प्रश्न कर उन उन अंगों की अवस्था का ज्ञान करना भी आवश्यक होता है।

पाचक अंग—आमाशय सम्बन्धी रोगों में निम्न लिखित प्रश्न प्रायः पूछने चाहिये :

क्षुधा—कैसी है, अधिक लगती है (यथा मधुमेह वा उदर कृमि में) कम (यथा अग्निमान्द्यादि में)। कई बार ऐसा होता है कि यथार्थ क्षुधा न होते हुए भी क्षुधा प्रतीत होने लगती है, इसे मिथ्या-क्षुधा कहते हैं और यह २-४ ग्रास भोजन से ही निवृत्त हो जाती है (यथा जीर्ण आमाशयिक शोथ में) कभी कभी ऐसा भी होता है कि अभक्ष्य पदार्थों के सेवन की इच्छा होती है। (यथा गर्भावस्था में मृद्भक्षण की), कभी-कभी आमाशयिक रोग न होते हुए भी क्षुधा नहीं लगती (यथा हिस्टीरिया में अथवा अनेक वात व्याधियों में)। इस विषय में

यह भी पूछ लेना चाहिये कि उसे क्षुधा नियत समय पर लगती है या नहीं, तथा यह भी कि वह भोजन भी समय पर करता है अथवा नहीं।

पिपासा—का क्या हाल है विदग्ध अजीर्ण रोग में प्रायः पिपासा अधिक होती है, विशेष कर जहाँ आमाशय विस्तृत हो। साधारण तथा अत्यधिक पिपासा मधुमेह में हुआ करती है और कम अग्निमांद्य में।

आमाशयिक संवेदना—यह पूछना चाहिये कि आमाशय में किसी प्रकार की संवेदना होती है या नहीं, यदि होती है तो किस प्रकार की (पीड़ा, जलन, विरसता, भारीपन आदि) और किस समय, भोजन से पूर्व या पश्चात्, यदि पश्चात् तो कितनी देर पश्चात्। किसी विशेष बात से तो वेदना में अन्तर नहीं पड़ता (कभी कभी पानी पीने से या वमन से पीड़ा तथा जलन आदि कम हो जाती है)।

पीड़ा—आमाशय में पीड़ा प्रायः आमाशय शोथ, अजीर्ण तथा गुरु भोजन से होती है। आमाशयिक व्रणों में भोजन करने से पीड़ा होती है और वमन से शान्त हो जाती है। जब तक भोजन आमाशय में रहता है पीड़ा बनी रहती है, जब तक भोजन क्षुद्रान्त में नहीं चला जाता या वमन द्वारा बाहर नहीं निकल आता, पीड़ा कम नहीं होती। पक्वाशय व्रण में खाली पेट होती है, कुछ खा लेने पर मिट जाती है।

जलन—प्रायः सदा अम्लपित्त में भोजनोत्तर होती है कभी-कभी अम्ल उद्गार भी आते हैं और उसके साथ अम्लद्रव निकलता है। भिन्न-भिन्न खाद्य पदार्थों के प्रभाव से जलन न्यूनाधिक होती रहती है, प्रोटीन खाने से बढ़ जाती है और कार्बोज खाने से कम हो जाती है।

भारीपन—मन्दाग्नि में भोजनोत्तर पेट भारी सा मालूम होता है। कभी-कभी आमाशय वायुपूर्ण प्रतीत होता है यथा जीर्ण-अजीर्ण वा जीर्णामाशयिक शोथ में।

विरसता—आमाशयिक रोगों में प्रायः प्रातःकाल उठने पर मुख विरस और कफ़ से लिप्त प्रतीत होता है।

वमन—कब और किस समय होता है? अम्लपित्त में प्रातः तथा आमाशयिक व्रणों में भोजनोत्तर होता है। आमाशयिक व्रण में कभी-कभी वमन में रक्त भी साथ आता है।

शौच—ठीक सरता है; अतिसार है या विबन्ध। शौच का सम्बन्ध सदा अन्त्र से होता है आमाशय से नहीं, परन्तु जब चिरकाल तक विबन्ध रहे तो आमाशय भी विकृत हो जाता है।

उदर सम्बन्धी रोगों में निम्न लिखित प्रश्न पूछने चाहिये :

शौच—अतिसार है या मलावरोध? यदि अतिसार है तो दस्त कितनी बार आते हैं, उनका क्या रंग है, उनके साथ श्लेष्मा या रक्त तो नहीं आता? (जैसे प्रवाहिका में) वायु उत्पन्न होती है और सरती भी है या नहीं? वायु के न सरने से आध्मान होता है, गुड़गुड़ होती है या कैसे?

कोष्ठबद्धता—थोड़ी है या बहुत? कबसे है और अब कितने दिन से मल उतरा नहीं? क्या कोष्ठबद्धता के बाद अतिसार और अतिसार के बाद कोष्ठबद्धता तो क्रमशः नहीं होते रहते? किस प्रकार के भोजन से कोष्ठबद्धता हो जाती है और किस से अतिसार?

पीड़ा—कैसी होती है, किस स्थान पर होती है, वहां स्थिर है अथवा चल। किस-किस समय होती है? पीड़ा के सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि यह पीड़ा अभी पहली बार हुई है अथवा पहले भी हुआ करती थी। यह पीड़ा तीव्र सी है अथवा मन्द सी। यह बात ध्यान रखने योग्य है कि प्रायः सब प्रकार की तीव्र उदर शूल से वमन हुआ करती है।

जब पीड़ा *तीव्र* हो और *अकस्मात* आरम्भ हो जाय तो निम्नोक्ति बातों की सम्भावना होती है:—

(१) उदर-शूल (अन्त्र-शूल), (२) वृक्क-शूल, (३) पित्ताशय शूल, (४) उपान्त्र शोथ, आदि।

जब पीड़ा *तीव्र* हो, अकस्मात् उत्पन्न हो जाय तथा *शीतकाय* भी उपस्थित हो तो निम्नोक्त बातें हो सकती हैं :

(१) अन्त्र या किसी अन्य उदरस्थ अंग के फट जाने से या अन्य कारणों से तीव्र उदरक-कला शोथ का हो जाना।

(२) अन्त्र वृद्धि, अन्त्र का अन्योन्यानुप्रवेश, अन्त्रपाश तथा उपान्त्र शोथ के कारण तीव्र बद्धोदर।

(३) सगर्भगर्भाशय या विस्तृत गर्भाशय की स्थानच्युति।

(४) तीव्र क्लोम शोथ तथा उपवृक्क शोथ आदि।

वक्तव्य--जब पीड़ा चूचुक रेखा में पसलियों की आड़ से आरम्भ होकर दाहिने स्कन्ध की ओर या पीठ की ओर जाती हुई प्रतीत हो तो उसे पित्ताशयशूल समझना चाहिये।

जब पीड़ा वृक्कप्रदेश से प्रारम्भ होकर नीचे और अन्दर वास्ति की ओर जाय तो वृक्क शूल समझना चाहिये।

जब पीड़ा आमाशय से प्रारम्भ होकर दाहिने श्रोणी प्रदेश तक जाए और वहीं स्थिर हो जाय, या दाहिने-श्रोणी प्रदेश में ही आरम्भ हो और वहीं स्थिर रहे तो उसे उपान्त्र शोथ समझना चाहिये।

अन्य प्रश्न--(१) उसे अर्श तो नहीं, (२) उसे कामला तो नहीं होती, (३) शरीर पर कण्डू तो नहीं होती यथा कामला में, शीतपित्त में, (४) उसे इससे पूर्व अन्त्र क्षय रोग तो नहीं हो चुका।

श्वास संस्थान--के संबन्ध में निम्नलिखित प्रश्न पूछने चाहिये :

रोगी का व्यवसाय ऐसा तो नहीं कि उसे दिन भर धूल, रेत, आटे, कपास आदि के कणों या गन्धकादि के धूम्र में रहना पड़ता हो। उसे रात के समय ठंडा पसीना तो नहीं आता एवं वह दिनों दिन क्षीण तो

नहीं होता जा रहा (राजयक्ष्मा में) ? उसके परिवार में तमकश्वास, जीर्णकास, यक्ष्मा, या अपची रोग तो नहीं हैं ?

बालक की अवस्था में यह पूछें कि उसके परिवार या पड़ोस में कालीखांसी तो नहीं ? अथवा अभी हाल में उसे रोमांतिका तो नहीं हुई।

कास कैसी है, शुष्क है अथवा कफयुक्त, किस समय अधिक होती है, खांसी के साथ कहीं पीड़ा तो नहीं होती (यथा फुफ्फुसावरण प्रदाह, न्युमोनिया आदि में) ?

कफ यदि निकलता है तो कितना, किस समय और किस प्रकार का (गाढ़ा, पतला), क्या रङ्ग होता है, उसमें रक्त तो नहीं होता ?

श्वास चढ़ता है या नहीं, यदि चढ़ता है तो किस समय, काम करने पर या ऐसे ही श्वास के दौरे तो नहीं होते ?

मूत्रवाहक संस्थान—के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रश्न पूछने चाहिये :

मूत्र २४ घंटे में कितना और कितनी बार आता है ? उसका रङ्ग क्या है ? रात को मूत्र त्यागने के लिए उठना तो नहीं पड़ता (यथा वृक्क-रोग में) ? मूत्र के साथ पहले या पीछे पीप आदि तो नहीं आती, या पीड़ा तो नहीं होती, यदि होती है तो किस स्थान पर और कैसी ? रोगी को कटि-प्रदेश में पीड़ा तो नहीं होती और वह पीड़ा आगे विटप प्रदेश में तो नहीं जाती ? उसे शिर-पीड़ा, वमन, तन्द्रा, और श्वासादि लक्षण तो नहीं होते ? दृष्टि में अन्तर तो नहीं पड़ गया ? शौच कैसा आता है ? प्रातः मुख व पलकों पर शोथ तो नहीं होती (यथा वृक्कशोथ में) ?

उसके परिवार में वृक्क शोथ, वातरक्तादि तो नहीं ? उसे इससे पूर्व उपदंश या रोमांतिका तो नहीं हुआ (इनसे वृक्क शोथ की सम्भावना रहती है) या इससे पूर्व रोगी का वृक्क रोग, अश्मरी, वातरक्तादि रोग तो नहीं हुए।

रक्त व रक्तवाहक-संस्थान—के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रश्न पूछने चाहिये :

परिवार में आमवात, वातरक्त, हृदयशूल, मूर्च्छा या हृद्रोग तो नहीं ?

रोगी को इससे पूर्व कभी आमवात, मसूरिका, रोहिणी आदि रोग तो नहीं हुए ?

श्वास तो नहीं, यदि है तो किस समय, बैठे हुए या सोए हुए भी हो जाता है ?

हृदय प्रदेश में कोई संवेदना तो नहीं होती, यदि होती है तो किस स्थान पर और किधर को जाती है ? नींद अच्छी आती है या नहीं ? बहुत स्वप्न तो नहीं आते; भ्रम, चक्कर आदि तो नहीं आते ?

हर समय या सायंकाल पैरों पर सूजन तो नहीं होती। कास है या नहीं, यदि है तो सोने पर अधिक होती है या बैठे हुए ? नाक से रक्त तो नहीं बहता ?

परिवार के अन्य पुरुषों में ऐसा इतिहास तो नहीं मिलता कि एक बार रक्तक्षरण होने पर बड़ी कठिनता से रक्त बन्द होता हो (यथा सहज रक्तस्राव में) ? थोड़ा सा श्रम करने पर ही धड़कन, थकावट, श्वास, भ्रम, चक्कर व शिर पीड़ा तो नहीं हो जाती ?

यदि *रोगी बालक* हो तो माता से पूछना चाहिये कि बच्चे के और कितने भाई-बहिन हैं ? उनका स्वास्थ्य कैसा है ? यदि किसी की मृत्यु हुई तो कैसे ? माता को कभी गर्भपात तो नहीं हुए ? माता का स्वास्थ्य गर्भावस्था में कैसा रहा और अब कैसा है ? क्या बच्चा पूरे समय पर पैदा हुआ था ? पैदा होते समय बहुत कष्ट तो नहीं हुआ था ? बच्चा माता के दूध पर पला है या अन्य किसी वस्तु पर ? बच्चे की पाचन-शक्ति कैसी है, अतिसार तो नहीं ? इसे इससे पूर्व कौन कौन से रोग हुए, विशेषकर मसूरिका, रोमान्तिका में से तो कोई नहीं हुआ ?

शारीरिक परीक्षा PHYSICAL EXAMINATION

साधारण प्रश्नों की सहायता से वैद्य को यह अनुमान हो जाता है कि रोग किस संस्थान में है। फिर विशेष प्रश्नों द्वारा बहुत कुछ निश्चित हो जाता है कि अमुक संस्थान रुग्ण है। प्रथम उसी संस्थान की परीक्षा करें। इसके बाद अन्य संस्थानों की भी परीक्षा करनी चाहिये, सम्भवतः रोग किसी अन्य स्थान में भी उपस्थित हो।

शारीरिक परीक्षा करते समय रोगी को आवश्यकता से अधिक नंगा न करें। कई बार नंगा करने से शीत लगने का भय रहता है। शारीरिक परीक्षा करने से पूर्व निम्न बातें नोट कर लेनी चाहिये :

रोगी के शरीर की वृद्धि, उपचय या क्षीणता, उसकी त्वचा, नेत्र आदि का वर्ण, उसकी स्थिति, ताप-मान—इसका वर्णन स्वः स्वः स्थान पर आगे किया जायगा।

शारीरिक परीक्षा के मुख्य चार साधन हैं :
दर्शन, स्पर्शन, ठेपन और श्रवण।

Inspection **दर्शन**—क्रम पूर्वक शारीरिक परीक्षा करने से पहिले रोगी पर सामान्य दृष्टि डालने से कभी-कभी बहुत सी उपयोगी बातें मालूम हो जाती हैं। रोगी के चिकित्सालय में प्रवेश करते समय, उसके बाद प्रश्न करते समय, और उससे भी पहिले, चतुर वैद्य के नेत्र और कान बहुत सी ज्ञेय बातों का पता लगा लेते हैं। ये बातें केवल अनुभव और ज्ञान से स्वयं प्राप्त होती हैं, सिखाई नहीं जा सकतीं। यदि रोगी शय्या पर पड़ा हुआ है तो साधारणतया उसे करवट बदलने में कष्ट नहीं होता और वह किसी भी स्थिति में सुखपूर्वक सो सकता है। परन्तु विशेष-विशेष रोगों में उसे विशेष स्थिति में सोने से आराम प्रतीत होता है। अति क्षीणावस्था में या मूर्च्छितावस्था में जैसी स्थिति में पड़ा हो, पड़ा रहेगा, उसमें आराम की स्थिति में लेटने की शक्ति ही नहीं होती या ज्ञान नहीं होता।

फुफ्फुस व फुफ्फुसावरण के रोगों में रोगी उसी स्थिति में सोता है जिसमें उसे पीड़ा कम हो और श्वास सुख से जा सके यथा शुष्क-फुफ्फुसावरण प्रदाह में रोगी रुग्ण पार्श्व को ऊपर की ओर रखता है ताकि घर्षण थोड़ी हो और पीड़ा कम प्रतीत हो। परन्तु जब पार्श्व के दबने से उसे शांति प्रतीत हो तो वह रुग्ण पार्श्व को नीचे रखता है। आर्द्र फुफ्फुसावरण प्रदाह में रोगी रुग्ण पार्श्व को नीचे रखता है ताकि स्वस्थ पार्श्व ऊपर की ओर रह कर अच्छी तरह श्वास ले सके।

राजयक्ष्मा की तृतीयावस्था में जब फुफ्फुस में कोटर हों, तो रोगी को उसी रुग्ण पार्श्व के बल जिसमें कोटर है सोने में शांति प्रतीत करता है।

स्वस्थावस्था में भी बहुत से मनुष्य एक ही पार्श्व से सोते हैं और कई बार उनका यह स्वभाव सा ही पड़ जाता है अतः किसी को सदा एक ही पार्श्व पर सोता देख कर रोगी ही न समझ लेना चाहिये।

हृदय, फुफ्फुस, व वृक्क के बढ़े हुए रोगों में रोगी के लिये लेटकर श्वास लेना कठिन होता है वह बैठा ही रहता है।

जलोदर में चित्त लेटने से श्वास लेने में बाधा पड़ती है तरल का दबाव वक्षोदर मध्यस्थ मांस पेशी पर पड़ता है और वह नीचे नहीं उतर सकती अतः वह टांगों और बाहुओं को पसार कर बैठने की चेष्टा करता है। ताकि तरल का भार नीचे की ओर पड़े और वह श्वास सुगमता से ले सके। उदरक-कला शोथ में रोगी सीधा लेटा रहता है और धीरे-धीरे श्वास लेता है। तीव्र उदरशूल, वृक्क शूल, पित्ताशय-शूल और रजः कृच्छ्र में रोगी बेचैन होता है और लोट-पोट होता रहता है। जब पीड़ा अति प्रचण्ड हो तथा एक ही स्थान पर अति गम्भीर हो तो रोगी एक ही स्थिति में प्रायः पैरों को सिकोड़ कर पीड़ित स्थान को हाथ से दबा पार्श्व के बल पड़ा रहता है। इस प्रकार

सन्धिशोथ में रोगी की शाखायें निश्चल पड़ी रहती हैं किञ्चिन्मात्र गति से उसे असह्य पीड़ा होती है। खड़े होने के ढङ्ग और चाल से रोग के विषय में बहुत कुछ पता लग सकता है। रोगी की वेशभूषा पर दृष्टि डालने से उसके स्वभाव, योग्यता व सभ्यता आदि का भी ज्ञान हो जाता है।

शरीर की वृद्धि उपचय व अनुपचय यद्यपि बहुत कुछ जाति, देश, कुल, आयु पर निर्भर है, तथापि रोगी को देखकर उसके पूर्व स्वास्थ्य वा वर्तमान दशा का बहुत कुछ ज्ञान हो जाता है शरीर की लम्बाई व चौड़ाई के अनुसार ही उसका भार होता है। साधारण तौर पर भार मालूम करने के लिये लम्बाई व छाती की चौड़ाई (इंचों में) को परस्पर गुणा करके १७ से विभक्त करने से उसका भार पौंडों में मालूम हो जायगा। यथा ५ फुट ६ इंच ऊंचे कद के मनुष्य जिसकी छाती ३२ इंच हो उसका भार $\frac{६६ \times ३२}{१७}$ = १२४ पौंड होगा।

नीचे ४ वर्ष की आयु अनुसार सामान्य ऊंचाई और भार :

आयु अगले जन्म दिन तक	बालक				आयु अगले जन्म दिन तक	बालिका			
	ऊंचाई		भार			ऊंचाई		भार	
	फु०	इं०	स्टोन[1]	पौंड		फु०	इंच	स्टोन[1]	पौंड
१	२	५·५	१	४·५	१	२	३·५	१	४
२	२	८	२	४·५	२	२	७	१	११
३	२	११	२	६	३	२	१०	२	३.५
४	३	१	२	९	४	३	०	२	८

[1]— १४ पौण्ड = १ स्टोन। १ पौण्ड लगगभ = $\frac{१}{२}$ सेर (८ छटांक), ८२ पौण्ड = १ मन (४० सेर)।

स्त्रियों की लम्बाई और आयु के अनुसार शरीर भार की तालिका ।

नोटः—कपड़ों और जूतों के लिये ६ पौंड भार कम कर देना चाहिये ।

भार पौंडों में दर्शाया गया है ।

आयु	४′-८″	४′-९″	४′-१०″	४′-११″	५′-०″	५′-१″	५′-२″	५′-३″	५′-४″	५′-५″	५′-६″	५′-७″	५′-८″
१६	१०४	१०६	१०८	१०९	१११	११४	११७	१२०	१२४	१२८	१३२	१३६	१३९
१८	१०६	१०८	११०	१११	११३	११७	११९	१२३	१२६	१३०	१३४	१३८	१४१
२०	१०८	११०	११२	११३	११५	११९	१२१	१२५	१२८	१३२	१३६	१४०	१४३
२२	१०९	१११	११३	११५	११७	१२०	१२३	१२६	१२९	१३३	१३७	१४१	१४५
२४	१११	११३	११५	११७	११९	१२१	१२४	१२७	१३०	१३४	१३८	१४२	१४६
२६	११२	११४	११६	११८	१२०	१२२	१२५	१२८	१३१	१३५	१३९	१४३	१४७
२८	११३	११५	११७	११९	१२१	१२३	१२६	१३०	१३३	१३७	१४१	१४५	१४९
३०	११४	११६	११८	१२०	१२२	१२४	१२७	१३१	१३४	१३८	१४२	१४६	१५०
३२	११५	११७	११९	१२१	१२३	१२५	१२८	१३२	१३६	१४०	१४४	१४८	१५२
३४	११७	११९	१२१	१२३	१२५	१२७	१३०	१३४	१३८	१४२	१४६	१५०	१५४
३६	११८	१२०	१२२	१२४	१२६	१२८	१३१	१३५	१३९	१४३	१४७	१५१	१५५
३८	११९	१२१	१२३	१२५	१२७	१३०	१३३	१३७	१४१	१४५	१४९	१५३	१५७
४०	१२१	१२३	१२५	१२६	१२९	१३२	१३५	१३८	१४२	१४६	१५०	१५४	१५८
४२	१२२	१२४	१२६	१२८	१३०	१३३	१३६	१३९	१४३	१४७	१५१	१५५	१५९
४४	१२४	१२६	१२८	१३०	१३२	१३५	१३८	१४१	१४५	१४९	१५३	१५७	१६१
४६	१२५	१२७	१२९	१३१	१३३	१३६	१३९	१४२	१४६	१५०	१५४	१५८	१६२
४८	१२६	१२८	१३०	१३२	१३४	१३७	१४०	१४३	१४७	१५२	१५६	१६०	१६४
५०	१२७	१२९	१३१	१३३	१३५	१३८	१४१	१४४	१४८	१५२	१५६	१६१	१६५

पुरुषों के लम्बाई और आयु के अनुसार शरीर भार की तालिका ।

नोट—(१) ५'—२"=५ फुट और २ इंच, अन्य भी इस प्रकार समझो बिना जूते के ऊँचाई ली गई है ।

(२) कपड़ों और जूते के पौंड घटा दें ।

भार पौंडों में

आयु (वर्ष)	५'-२"	५'-३"	५'-४"	५'-५"	५'-६"	५'-७"	५'-८"	५'-९"	५'-१०"	५'-११"	६'-०"	६'-१"	६'-२"
२०	१२२	१२५	१२८	१३२	१३६	१४०	१४४	१४८	१५२	१५६	१६१	१६६	१७१
२२	१२४	१२७	१३१	१३५	१३९	१४२	१४६	१५०	१५४	१५८	१६३	१६८	१७३
२४	१२६	१२९	१३३	१३७	१४१	१४४	१४८	१५२	१५६	१६०	१६५	१७१	१७७
२६	१२७	१३०	१३४	१३८	१४२	१४६	१५०	१५४	१५८	१६३	१६८	१७४	१८०
२८	१२९	१३२	१३५	१३९	१४३	१४७	१५१	१५५	१५९	१६४	१७०	१७६	१८२
३०	१३०	१३३	१३६	१४०	१४४	[illegible]	१५२	१५६	१६१	१६६	१७२	१७८	१८४
३२	१३१	१३४	१३७	१४१	१४५	[illegible]	१५४	१५८	१६३	१६८	१७४	१८०	१८६
३४	१३२	१३५	१३८	१४२	१४६	१५०	१५५	१६०	१६५	१७०	१७६	१८२	१८८
३६	१३३	१३६	१३९	१४३	१४७	१५१	१५६	१६१	१६६	१७१	१७७	१८३	१९०
३८	१३४	१३७	१४०	१४४	१४८	१५२	१५७	१६२	१६७	१७३	१७९	१८५	१९२
४०	१३५	१३९	१४१	१४५	१४९	१५३	१५८	१६३	१६८	१७४	१८०	१८६	१९३
४२	१३६	१४०	१४२	१४६	१५०	१५४	१५९	१६४	१६९	१७५	१८१	१८७	१९४
[illegible]	१३७	१४१	१४३	१४७	१५१	१५५	१६०	१६५	१७०	१७६	१८२	१८८	१९५
४६	१३८	१४१	१४४	१४८	१५२	१५६	१६१	१६६	१७१	१७७	१८३	१८९	१९६
४८	१३८	१४१	१४४	१४८	१५२	१५६	१६१	१६६	१७१	१७७	१८३	१९०	१९७
५०	१३८	१४१	१४४	१४८	१५२	१५६	१६१	१६६	१७१	१७७	१८३	१९०	१९७
५२	१३९	१४२	१४५	१४९	१५३	१५७	१६२	१६७	१७२	१७८	१८४	१९१	१९८
५४	१३९	१४२	१४५	१४९	१५३	१५७	१६३	१६८	१७३	१७८	१८४	१९१	१९८

उपचयानुपचय पर विचार करते हुए यह ध्यान रखना चाहिये कि कोई-कोई मनुष्य स्वभाव से ही कृशकाय होते हैं, परन्तु वे निर्बल नहीं होते। अधिक वसामय होना स्वास्थ्य की निशानी नहीं।

आँखें--भी रोग के विषय में बहुत कुछ सूचना देती हैं गुप्त रोगों से पीड़ित रोगियों की आखें वैद्य के सामने नहीं ठहरतीं। राजयक्ष्मा तथा अन्य भयानक रोगों में रोगी की आखें चिन्तातुर होती हैं। वृक्क रोग में प्रातःकाल और हृदय रोग में सायंकाल पलक सूजे हुए नजर आते हैं। कामला में नख, नयनादि पीले होते हैं। बैठी हुई [illegible]र कील जैसे दांत सहज उपदंश के सूचक हैं।

गर्भावस्था, अजीर्ण तथा अन्य क्षीण करने वाले रोगों में आखों के इतस्ततः काला घेरा पड़ ज[illegible]। तन्द्रा, सन्निपात और अरिष्ट दशा में आंखें कुछ खुली और [illegible] की होती हैं परन्तु रोगी को बेसुध होने के कारण नजर नहीं [illegible]णावस्था में आंखें खोल कर सोना अच्छी निशानी नहीं। स्व[illegible]स्थावस्था में भी किसी-किसी की कभी-कभी सोते हुए आधी [illegible] रहती हैं।

मुख--पीड़ा की अवस्[illegible] के चेहरे पर भिन्न-भिन्न स्थानों पर विकृत आकृति, झुरियां [illegible] सकुड़न सी नजर आती हैं। शिरः पीड़ा के कारण माथ पर वलियां [illegible] जाती हैं। पेट और छाती में पीड़ा के कारण चेहरे का निचला भाग प्रभावित होता [illegible]। उन्मत्त का चेहरा दूर से ही पहचाना जाता है। तीव्र ज्वरों में [illegible] हो जाते हैं जीर्ण विषमज्वर तथा अन्य रोगों में, जिन में [illegible] नाश हो रहा हो दोनों ओर कपोलों पर काले-काले निशान पड़ जाते हैं। फुफ्फुस-प्रदाह आदि रोगों में नथने फूलते नजर आते हैं और [illegible] फुफ्फुस की ओर का कपोल लाल होता है। मुख पर नीला वर्ण [illegible]यावसाद के सूचक है। अनेक बार ओष्ठों पर ज्वर-मुक्ति के समय पिड़िकायें निकल आती हैं। भयानक रोगों में ओष्ठ व दाँतों पर मैल जम जाती है।

अरिष्टावस्था में आखें स्तब्ध, अन्दर को घुसी हुई, मुख का रंग नीला, मुंह खुला हुआ, कान ठंडे और कपोल गर्त में घुसे हुए नजर आते हैं। आन्त्रिकज्वर में आखें, तेजहीन कम्पायमान ओष्ठ और साफ चिन्ता-शून्य चेहरा होता है।

त्वचा—को बड़े ध्यान से देखना चाहिये। इसका वर्ण पाण्डुपन, कामला, हलीमक हृदय रोग आदि रोगों को बताता है। पिड़िकायें और विस्फोट पिड़िकायुक्त ज्वर, त्वक् रोग अथवा उपदंश आदि को बताते हैं। शोथ हृदयरोग, वृक्क रोग, तथा जलोदर को, और कृशता जीर्ण रोगों को दर्शाती हैं।

हाथों के वर्ण और कम्पन से कई व्याधियों के विषय में ज्ञान होता है, तथा हाथों की आकृति कई व्या[illegible] में बदल जाती है जैसे "मिक्सीडिमा" में हाथ फावड़े की तरह [illegible] या "क्रैटेनिज्म" में ठिगने हो जाते हैं। आमवात व वातर[illegible] [illegible]थियें शोथ युक्त होती हैं, तथा हृद्रोग में अंगुलियों के सिरे [illegible] नीलाभ होते हैं।

श्वास—रोगी को श्वास [illegible] कर चतुर वैद्य फुफ्फुस एवं श्वास आदि के रोगों का पर्या[illegible] [illegible] कर सकता है। श्वास के साथ-साथ निम्नोक्त बातें देखी जाती हैं।

(१) नासा एवं श्वासमार्ग [illegible] से श्वास खर्राटे समान शब्दयुक्त होता है। [illegible]

(क) नासा में रु[illegible]ो के कारण खर्राटे अनुस्वार रहित होते हैं। (ख) गले और [illegible] रुकावट होने के कारण खर्राटे सानुस्वर होते हैं। (ग) स्वरयन्त्र या टेंटुवे में रुकावट के कारण श्वास वृषभ शब्दवत् आता है यथा [illegible]ल में। (घ) श्वास प्रणाली में रुकावट से शब्[illegible]जन सहि[illegible] [illegible] जैसे फुफ्फुस प्रदाह और तमक श्वास में।

उच्चारण—से बहुधा नासा मुख स्वरयन्त्र आदि रोगों का कुछ ज्ञान हो जाता है।

हिक्का—आपही अपने रोग की सूचक है।

कास—रोगी के खांसने से भी बहुधा कासयुक्त रोगों का ज्ञान हो जाता है, साधारणतः प्रतिश्याय यक्ष्मादि रोगों के आरम्भ में कास शुष्क होती है बाद में श्लेष्मा युक्त। शुष्क फुफ्फुसावरण प्रदाह में खांसी शुष्क और थोड़ी-थोड़ी देर के बाद होती है।

वातिक कास व काली खांसी में शुष्क और लगातार लगी रहती है फुफ्फुस प्रदाह आदि रोगों में कास कफयुक्त होती है और नथने फूलते हुए प्रतीत होते हैं।

हृदय विकार में शुष्क कास होती है, उसके साथ दम फूलता प्रतीत होता है, एवं थोड़ा खांसने पर धड़कन प्रतीत होने लगती है।

ताप—सम्यक् व्याधि ज्ञान के लिये शरीर के ताप का जानना अत्यावश्यक है। स्वस्थ अव[illegible] और ज्वर में ताप का बहुत अन्तर हो जाता है। ताप का ज्ञान [illegible] से भी होता है परन्तु सम्यक् रूप से नहीं, ठीक ठीक ज्ञान थर्मा[illegible] (तापमापकयन्त्र) से ही होता है। थर्मामीटर को बड़े मनुष्यों के मुं[illegible] लगाना चाहिये परन्तु यदि वह होश में न हो, या बच्चा हो, अथवा पागल हो तो कक्षा या वंक्षण में लगाना चाहिये। कक्षा और वंक्षण का ताप मुख की अपेक्षा आध डिग्री कम होता है। थर्मामीटर गुदा में भी लगाते हैं, पशुओं में सदैव ऐसा ही किया जाता है। गुदा का ताप मुख की अपेक्षा एक डिग्री अधिक होता है। आतुरालयों में तथा डिस्पेंसरियों में थर्मामीटर सदा कक्षा में लगाते हैं, थर्मामीटर सदा किसी कृमिघ्न लोशन की बाटली (शीशी) में रखा रहना चाहिये एतदर्थ खुले मुंह की शीशी लेनी चाहिये उसमें कार्बोलिक लोशन २० में १ या लाइसोल ८० में १ [illegible]लें और शीशी की पेंदी में रुई रखदें और ढकने में एक छोटा सा छेद रखदें जिसके द्वारा थर्मामीटर निकाला और डाला जा सके।

थर्मामीटर के लगाने से पहले धो लेना चाहिये और झटका देकर उतार लेना चाहिये। संक्रामक रोगी को लगाने के बाद थर्मामीटर को कृमिघ्न, विलयन में रख शुद्ध कर लेना चाहिये। थर्मामीटर के लगाने से पहले अच्छी तरह साफ कर लेना चाहिये। आधे मिनट वाले (ज़ील आदि अच्छे) थर्मामीटर को कम से कम दो मिनट रखना चाहिये और दो मिनट वाले को पांच मिनट तक; इसी प्रकार जितनी देर का थर्मामीटर हो उससे अधिक देर रखना चाहिये। अधिक देर रखने तक कोई डर नहीं, ताप शरीर के ताप से अधिक नहीं चढ़ सकता। थोड़ी देर लगाने से ताप कम नज़र आ सकता है। यह ध्यान रहे कि स्वस्थ तथा अस्वस्थ दोनों अवस्थाओं में ताप सायंकाल की अपेक्षा प्रातः काल कुछ कम होता है। किसी किसी रोग में सायं की अपेक्षा प्रातः को ताप अधिक होता है यथा कालाज़ार और विषम ज्वर के रोगी में।

ताप के वेग—मनुष्यों का श[illegible] ताप, स्वस्थावस्था में, ९७ फा० से ९८.४ फा० तक होता है, इ[illegible] ९७ से ९६ फा० तक दुर्बलता तथा इस (९६) से कम शीतक[illegible] है। ९८.४ फा० से ऊपर ज्वर होता है १०० फा० तक मन्द, १०० फा० से १०३ फा० तक मध्यम, १०३ फा० से १०५ फा० तक तीव्र और इससे ऊपर अतितीव्र समझना चाहिये।

स्पर्शन—दर्शन के बाद स्पर्शन परीक्षा का स्थान है। स्पर्शन प्रायः एक हाथ से किया जाता है हाथ न बहुत गरम हो और न बहुत ठंडा। स्पर्श से अङ्ग की मृदुता, कठोरता, समता, विषमता और पीड़ा आदि को जाना जाता है। स्पर्श बहुत कोमलता से करें, रोगी को कष्ट न हो। रोगी का डर मिटाने के लिये परीक्षा पहले स्वस्थस्थान से आरम्भ करनी चाहिये, फिर रुग्ण स्थान की जिस अंग में पीड़ा हो। सर्व प्रथम उसकी परीक्षा करने से रोगी संकोच अनुभव करता है। परीक्षा सम

हाथ से करनी चाहिये अंगुलियों से दबा दबा कर नहीं।

PERCU
SSION ठेपन—रोग परीक्षा में स्पर्शन के बाद ठेपन परीक्षा की जाती है।

ठेपन विधि—इसके लिये दो चीजें आवश्यक हैं एक वह जिससे ठेपा (प्रहार किया) जाय दूसरी वह जिस पर ठेपा जाय। वामहस्त की मध्यमांगुलि को परीक्ष्य स्थान पर सपाट रखा जाता है और उस पर दायें हाथ की मध्यमांगुलि के सिरे से हथौड़ी की तरह प्रहार किया जाता है। ठेपते समय कोहनी समकोण पर होती है और केवल अंगुली या हाथ हिलता है अग्रबाहू नहीं हिलता। प्रहार के अनुसार तीन प्रकार के ठेपन हैं:

१. मृदु—जब प्रहारांगुलि साधारण शक्ति से प्रहार करती है यहाँ तक कि प्रहार शब्द सुनाई भी कठिनता से दे, उसे मृदुठेपन कहते हैं।

२. मध्यम—जब केवल प्रहरांगुलि हिले (हाथ न हिले) परन्तु वेग से प्रहार करें तो उसे मध्यम ठेपन कहते हैं।

३. कठोर ठेपन—जब कलाई को उठाकर वेग से प्रहार किया जाय तो उसे कठोर ठेपन कहते हैं किसी प्रकार के भी ठेपन में कोहनी नहीं हिलनी चाहिये।

स्थान विशेष के सम्बन्ध में ठेपन से यह बातें मालूम की जाती हैं वह स्थान रिक्त है, ठोस है या सुषिर।

१—रिक्त अर्थात् वायुपूर्ण स्थान पर ठेपन करने से "रिक्त" अर्थात् ढोलवत् शब्द सुनाई देता है, यथा आमाशय या अन्त्र के ऊपर।

२—ठोस अर्थात् कठोर स्थान पर ठेपने से "ठोस" शब्द सुनाई देता है जैसा किसी शिला, लोहखण्ड या लकड़ी के टुकड़े पर प्रहार करने से उत्पन्न होता है यथा यकृत प्लीहा आदि के ऊपर।

३—सुषिर अर्थात् जहां कुछ स्थान ठोस और कुछ रिक्त हो (जैसे फुफ्फुसों में) वहां पर "गुञ्जन शब्द" सुनाई देता है यथा फुफ्फुसों पर।

अभ्यास से हाथों की ज्ञानशक्ति इतनी बढ़ जाती है कि बिना ठेपन

शब्द के सुने ही हाथ को यह मालूम हो जाता है कि परीक्ष्य स्थान रिक्त है, ठोस है अथवा सुषिर।

USCULTATION **श्रवण**—हमारे शरीर में कई अङ्ग ऐसे हैं जिनमें शब्द पैदा होते हैं और वह शब्द रुग्णावस्था में बदल जाते हैं यथा फुफ्फुस और हृदय में, तथा कई स्थान ऐसे हैं जिनमें केवल रुग्णावस्था में ही शब्द पैदा हो जाते हैं जैसे उदर और रक्तवाहिनियों में। अतः इन शब्दों को पहचानना रोग की परीक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

श्रवण परीक्ष्यस्थान पर कान लगाने से भी हो सकता है। परन्तु रोगी के शरीर पर कान लगाना घृणित, हानिप्रद तथा कठिन है, अतः स्टैथस्कोप (शब्द-श्रवण-यन्त्र) से ही श्रवण परीक्षा की जाती है। स्टैथस्कोप को लगाते समय इस बात का ध्यान रखें कि वह वक्ष पर सपाट रखा जाय उसमें इधर उधर से हवा न जाये।

फुफ्फुसों व हृदय में स्वस्थ तथा रुग्णावस्था में भिन्न-भिन्न शब्द सुनाई देते हैं उनका वर्णन श्वास संस्थान व हृदय संस्थान में यथास्थान भिन्न भिन्न रोग में किया जायगा।

रोगी का लिपिबद्ध पूर्ण नि[illegible]न अपने पास रखने के लिए उसका विवरण-पत्र बनाकर सुरक्षित रख लेना उपयुक्त होता है, ताकि उसे पुराने रोगियों को नए रोगियों से तुलना करने का अवसर मिलता रहे। आतुरालयों में प्रायः निम्न प्रकार का विवरण पत्र प्रयुक्त होता है :

विवरण पत्र

चिकित्सा-आरम्भ तिथि………… चिकित्सा त्याग तिथि……………

रोग निर्णय………………………………… परिणाम……………

नाम………………………………… जाति (पुरुष या स्त्री)…………

आयु…………… व्यवसाय……………………………………

घर का पता..

वर्तमान कष्ट और वह कितने समय से है..................................

....

वर्तमान रोग का वृत्तान्त..

रोगी का पूर्व स्वास्थ्य..

परिवार का स्वास्थ्य..

परीक्षा—(१) साधारण

(२) विशेष अंगों की परीक्षा—

परीक्षा—में विशेष प्रश्न का उत्तर, सामान्य परीक्षा तथा विशेष अंगों की परीक्षा अथवा मलमूत्र श्लेष्मादि की परीक्षा का उल्लेख कर देना चाहिए।

शिव ----

अध्याय २

रोग परीक्षा (२)

पोषण संस्थान

दर्शन—पोषण संस्थान में केवल मुख, जिह्वा, गला तथा नीचे मलद्वार और कुछ भाग मलाशय का बाहर से देख सकते हैं।

ओष्ठों—के सम्बन्ध में देखें कि उनका रंग नीला तो नहीं (हृदयावसाद में), रक्तहीन तो नहीं (रक्तन्यूनता में) उन पर फुन्सी-फोड़े व्रणादि तो नहीं (ज्वरमुक्ति या उपदंशादि में) ?

दांतों—को देखें कि वे पूरे हैं या कम। यदि कम हैं तो अभी उत्पन्न नहीं हुए, या गिर गए हैं, इनके ऊपर [illegible] या इनमें दन्तपूय तो नहीं ? दन्तपूय की अवस्था में भोजन के साथ पीप अन्दर उदर में जाती है और बहुत से रोग पैदा कर देती है। दांतों के साथ साथ मसूढ़ों को भी देख लेना चाहिए कि वे सूजे हुए या रक्तमय तो नहीं (यथा स्कर्वी में) ?

जिह्वा—आमाशय आदि पाचक-संस्थान के ऊर्ध्वभाग का दर्पण रूप है। उनके विकारों में इसकी आकृति, वर्ण और प्रकृति में अन्तर पड़ जाता है। जिह्वा बाहर निकलवा कर प्रकाश में देखनी चाहिए कि इसका रंग क्या है, शुष्क है, आर्द्र, इसके ऊपर मैल है तो कितनी और किस रंग की ? जिह्वा के अंकुर, फूंग, और किनारे किस प्रकार के हैं, अंकुर बहुत उभरे हुए और लाल तो नहीं ? जिह्वा फटी हुई व्रणयुक्त तो नहीं ? या परिणाम से अधिक मोटी या बड़ी तो नहीं ? अजीर्ण आदि रोगों में जिह्वा मोटी हो जाती है और परिमाण से अधिक प्रतीत होती

है। आमाशय-रोगों में जिह्वा फटी हुई होती है और उस पर विस्फोट से होते हैं।

शिशुओं में कभी कभी मलिन तथा दुष्पाच्य भोजन से मुख में छाले पड़ जाते हैं। उदर रोगों में और फुफ्फुस विद्रधि में मुख से दुर्गन्ध आने लगती है।

उदर को नंगा करके अच्छी तरह देखें कि कहीं शोथ उभार या अर्बुदादि तो नहीं ? यदि है तो सारे उदर में है (यथा जलोदर में) या स्थानिक। जब पेट में तरल थोड़ा होगा तो सीधा लेटने पर दोनों पार्श्व फूले हुए, करवट से लेटने पर नीचे का पार्श्व फूला हुआ तथा बैठे हुए पेड़ू फूला हुआ प्रतीत होता है यह भी देखें कि श्वासोच्छ्वास क्रिया के के साथ साथ उदर की दीवार उठती और बैठती है या नहीं ? उदर के रोगों में यह गति मन्द पड़ जाती है या रुक जाती है यथा तीव्र उदर शूल (उदर कला शोथ आदि) में यह गति होती ही नहीं।

साधारणतया अन्त्र की कृमिवत् आकुञ्चन गति उदर के ऊपर से अर्थात् बाहर से प्रतीत नहीं होती परन्तु बद्धोदर आदि रोगों में यह गति स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

पेट पर स्वस्थावस्था में किसी प्रकार के चिह्न नहीं होते। गर्भ के बाद तथा अन्य ऐसे रोगों में जिनमें कि पेट फूलकर पुनः सम हो जाय, श्वेत सी धारियां नजर आती हैं। यह भी देखें कि इनके अतिरिक्त और भी कोई निशान हैं या नहीं।

गुदा—हर प्रकार के उदर रोग में विशेष कर अधोभाग के रोगों में गुदा की परीक्षा करना नियम बना लेना चाहिये। यह देखें कि वहां शोथ, व्रण, पिड़िका, विस्फोट, लालिमा, तथा पूयादि स्राव तो नहीं होता, या अर्श के मस्से तो नहीं। यदि आवश्यक हो तो रैक्टल स्पैकुलम (मलाशय-दर्शकयन्त्र) को मलाशय में डाल कर देख लेना चाहिए कि

मलाशय की क्या अवस्था है। उसमें, शोथ लालिमा, मस्से या स्राव आदि तो नहीं।

स्पर्शन—रोगी को पीठ के बल लिटाकर और टांगों को संकुचित कर (उठाकर) उदर की स्पर्श परीक्षा करनी चाहिए। टांगों को सिकोड़ने से पेट की पेशियां ढीली पड़ जाती हैं और उदरस्थ अंग अच्छी तरह टटोले जा सकते हैं। वैद्य को किसी कुर्सी आदि पर बैठ कर या घुटने के बल झुक कर परीक्षा करनी चाहिए। परीक्षा करते समय हाथ को सपाट रखें उंगलियों से दबा दबा कर परीक्षा न करें। स्पर्श से निम्नोक्त बातें मालूम की जाती हैं:—

(१) उदर मृदु है या कठोर। स्वस्थावस्था में उदर मृदु होता है, कोष्ठबद्धता में कठोर। उदर पीड़ा, उदरक कला शोथादि में उदर की दीवार तनी हुई और सख्त हो जाती है।

(२) स्वस्थावस्था में स्पर्श से पीड़ा प्रतीत नहीं होती। यदि पीड़ा प्रतीत हो तो देखना चाहिये कि कहां कहां पर होती है दबाने से अधिक तो नहीं हो जाती।

(३) यदि ग्रन्थि, अर्बुद, या शोथादि है तो देखें कि उदर की दीवार में या दीवार के नीचे उदर के भीतर। उसको हाथ में पकड़ कर देखें कि इधर उधर को हिलता है या नहीं ? श्वासोच्छ्वास के साथ साथ हिलती है या नहीं ? (जैसे आमाशय, प्लीहा, और यकृत की ग्रन्थियों में)। यदि उदर उभरा हुआ है तो यह देखना चाहिये कि वह मृदु है या कठोर। यदि पेट साधारण वायु पूर्ण होगा तो मृदु होगा और यदि तरल पूर्ण (जलोदर में) होगा तो कठोर होगा।

(४) आमाशय, अन्त्र, यकृत, प्लीहा और वृक्कादि को देखें कि वे स्वस्थावस्था में हैं या विकृत। इनके देखने की विधि पृथक् पृथक् है। पूर्व इसके कि इनकी विधियां बताई जांय, उदरस्थ अंगों के बाह्य दर्शन बता देना आवश्यक प्रतीत होता है।

इन अंगों की स्पर्श परीक्षा करने के लिये हाथ से दबा कर देखना चाहिये। अन्त्र तथा अन्य उदरस्थ अंगों की परीक्षा करते हुए क्रमशः नीचे से ऊपर की ओर जाना चाहिए। सबसे पूर्व बायां श्रोणि, प्रदेश दबाकर अधोगामी बृहदन्त्र को देखें, वह मोटी तो नहीं या उसमें मल की गांठें तो नहीं यदि एक हाथ से स्पष्ट प्रतीत न हो तो दोनों हाथों से देख सकते हैं। इसके बाद बृहदन्त्र को देखते हुए ऊपर की ओर जांय और अनुप्रस्थ-बृहदन्त्र, ऊर्ध्वगामी बृहदन्त्र, उपान्त्र और नाभी के इतस्ततः अन्त्र को देखें। इनको देखते हुए उदर की लसीका ग्रन्थियों की अच्छी तरह परीक्षा करें कहीं वे बढ़ी हुई तो नहीं। स्वस्थावस्था में ग्रन्थियां उदर में प्रतीत नहीं होती।

जिन रोगों में उदर वृद्धि (यथा जलोदर में) हो नाभि स्थान पर उदर का व्यास माप लेना चाहिए, और हर सातवें, दसवें तथा पन्द्रहवें दिन पुनः पुनः माप कर परस्पर तुलना करनी चाहिए इससे उदर की वृद्धि या ह्रास का ज्ञान होता रहता है।

उदर की वृद्धि प्रायः निम्न कारणों से होती है जलोदर वसोदर डिम्बोदर, यकृतोदर, प्लीहोदर तथा अध्मान (वातोदर)। प्लीहोदर तथा यकृतोदर को स्पर्स तथा ठेपन परीक्षा से ज्ञात कर सकते हैं तथा वातोदर का ज्ञान भी स्पर्श और ठेपन से बहुत सुगमता से हो जाता है।

जलोदर तथा वसोदर के लिये मशक वत तरंग-सी प्रतीत होती है उसकी विधि यह है।

एक हाथ उदर की बाईं ओर रखें और दूसरे हाथ से उदर की दाईं ओर चुटकी लगायें यदि उसमें तरल भरा होगा तो पहले हाथ को एक तरंग-सी प्रतीत होगी ऐसी तरंग वसोदर में भी प्रतीत होती है। यदि तुम्हें यह संदेह हो कि वास्तव में यह तरंग जलोदर की है, उदर के वसापूर्ण होने या किसी अन्य कारण से तो नहीं, उनमें मिथ्या तरंग

प्रतीत होती है तो किसी अन्य पुरुष को कहें कि उसके उदर के मध्य को हाथ की आड़ से दबाये, यदि तरंग वास्तविक (जलोदर की) होगी तो कायम रहेगी यदि अन्य कारण से होगी तो उत्पन्न ही न होगी। डिम्बोदर में भी इसी प्रकार की तरंग प्रतीत होती है उसकी पहचान स्त्री रोगों के अंतर्गत है।

बाह्यदर्शन को दर्शाने के लिये चार कल्पित रेखाओं द्वारा उदर को नौ प्रदेशों में विभक्त किया जाता है। ये भाग उदर के 'प्रदेश' कहलाते हैं। दो रेखाएं खड़ी, और दो पड़ी होती हैं।

खड़ी रेखायें–नितम्बास्थि के पुरोर्ध्वकूट[1] (ऊपर वाले और अगले किनारे) और शरीर की मध्यरेखा इन दोनों के बीच में एक खड़ी रेखा दाईं तथा इसी प्रकार दूसरी तरफ़ दूसरी बाईं ओर खींची जाती है। इनको क्रमशः दाईं खड़ी रेखा और बाईं खड़ी रेखा कहते हैं।

पड़ी रेखायें—एक रेखा पीछे की ओर, प्रथम कटिशेरुका के निचले किनारे पर से गुजरती है तथा आगे की ओर वक्ष अस्थि के ऊपरले कोण और विटप संधि के ठीक बीच में से गुजरती है। यह रेखा प्रायः आमाशय के पक्वाशय द्वार के मध्य से गुजरती है। इसको पर्शुकाधो रेखा (Sub-Costal Line) कहते हैं।

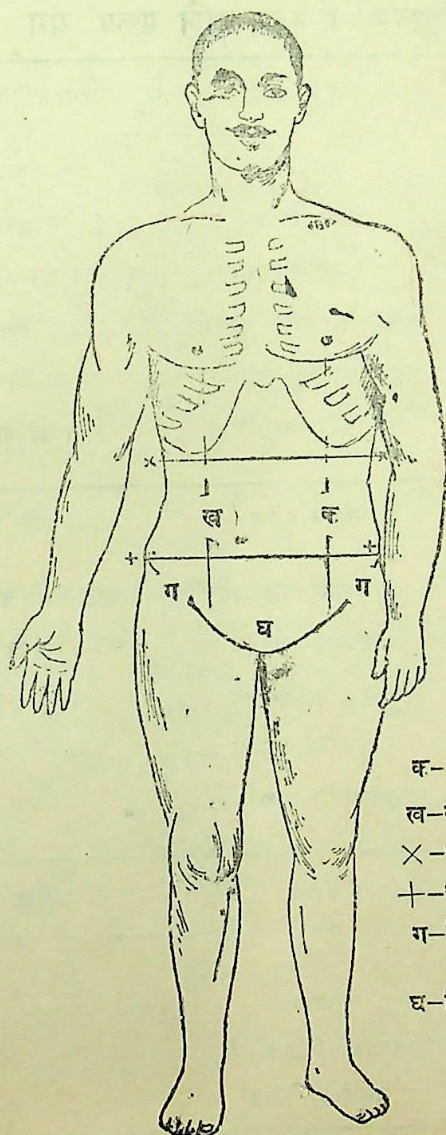
दूसरी पड़ी रेखा ऊपरली पड़ी रेखा और भग संधि के बिलकुल बीच में से गुजरती है। यह नितम्बा अस्थि से ऊर्ध्व स्थान (Tuberele of Iliac Crest) पर से गुजरती है। पीछे की ओर पांचवें कटि शेरुका के मध्य से गुजरती है इसको आर्बुदान्तरिक रेखा (Trans-tubercular Line) कहते हैं।

इन चारों रेखाओं के परस्पर काट से उदर के नौ प्रदेश बन जाते हैं। जैसे सन्मुख पृष्ठ पर चित्र सं० १ में दिखाया गया है।

---

1. Anterior Superior Iliac spine.

चित्र १



क–बाईं ऊर्ध्व रेखा
ख–दाहिनी ऊर्ध्वरेखा
×–पर्शुकाधो रेखा
+–अर्बुदान्तरिक रेखा
ग–नितम्बास्थि का पुरोर्ध्वकूट
घ–विटप सन्धि

उदर के नौ प्रदेशों में रहने वाले मुख्य अंग

दाहिना यकृत प्रदेश	कौड़ी प्रदेश	आमाशयिक प्रदेश
यकृत पित्ताशय बृहदतन्त्र का दाहिना मोड़ दाहिना वृक्क	यकृत आमाशय अनुप्रस्थ बृहदन्त्र, अंत्रच्छदा कला, क्लोम पक्काशय, वृक्क, उपवृक्क; महाधमनी, महाशिरा	यकृत आमाशय बृहदन्त्र का बायां मोड़ प्लीहा क्लोम की पुच्छ बायां वृक्क
दाहिना कटि प्रदेश	**नाभि प्रदेश**	**बायां कटि प्रदेश**
उद्गामी बृहदन्त्र क्षुद्रांत्र दाहिना वृक्क	आमाशय, पक्काशय अनुप्रस्थ बृहदन्त्र मध्यम नाभिबंधन क्षुद्रांत्र, वृक्क महाधमनी, महाशिरा	अधोगामी बृहदन्त्र क्षुद्रांत्र बायां वृक्क
दाहिना श्रोणि प्रदेश	**पेड़ू**	**बायां श्रोणि प्रदेश**
बृहदन्त्र का प्रारम्भिक भाग अन्त्र परिशिष्ट	क्षुद्रांत बृहदन्त्र मूत्राशय (शिशुओं में) सगर्भ गर्भाशय	बृहदन्त्र

१. पर्शुकाधो रेखा के ऊपर और दाईं खड़ी रेखा के दाईं ओर "यकृत प्रदेश" है।

२. दोनों खड़ी रेखाओं के मध्य में पर्शुकाधो रेखा के ऊपर "कौड़ी प्रदेश" है।

३. बाईं ऊर्ध्वरेखा के बाईं ओर तथा पर्शुकाधो रेखा के ऊपर "आमाशय प्रदेश" है।

४. दाईं ऊर्ध्वरेखा की दाईं ओर, और दोनों पड़ी रेखाओं के मध्य तथा यकृत प्रदेश के नीचे "दायां कटि प्रदेश" है।

५. दोनों ऊर्ध्वरेखाओं और पड़ी रेखाओं के मध्य में अर्थात् कौड़ी प्रदेश के नीचे "नाभि प्रदेश" है।

६. आमाशय प्रदेश के नीचे "बांया कटिप्रदेश" है।

७. दाहिने कटिप्रदेश के नीचे "दायां श्रोणि प्रदेश" है।

८. नाभि प्रदेश के नीचे "पेड़ प्रदेश" है।

९. बांये कटि प्रदेश के नीचे "बायां श्रोणि प्रदेश" है।

यकृत

बाह्यदर्शन—यकृत दायें यकृत प्रदेश और कौड़ी प्रदेश में रहता है। बालकों में यकृत बड़ा होता है दायें कटि प्रदेश, तथा नाभि प्रदेश में होता है परन्तु बड़ों में नहीं। यह वक्षोदर मध्यस्थ मांसपेशी की महराब के नीचे पसलियों की आड़ में रहता है और मध्य रेखा से ३ इञ्च बाईं ओर तक जाता है।

इसके *किनारों के चिह्न*—यकृत की उर्ध्वधारा का बायां सिरा बाइ ओर पांचवी पर्शुकान्तर में होती हुई शरीर की मध्यरेखा से ३ इञ्च की दूरी पर आरम्भ होकर दाईं ओर जाती है। मध्यरेखा में उरोऽस्थि के अधोखण्ड से आध इञ्च ऊपर होती हुई दाईं चूचुक रेखा[1] में पांचवीं पर्शुका के उपरले किनारे दाईं कक्षा रेखा में सातवीं पर्शुका के पीछे और

१. चूकुक रेखा—खड़ी रेखा चूचुक के ऊपर से गुजरती है।

स्कन्धास्थि रेखा[1] में नवीं पर्शुका पीछे से गुजरती हुई पीछे की ओर मध्य रेखा में पृष्ठवंश के नवें कशेरुका के समानान्तर तक पहुँचती है।

अधोधारा–पीछे की ओर और पार्श्व में पसलियों की आड़ में रहती है। दाईं चूचुक रेखा में पसलियों के निचले किनारे तक पहुंचती है। इसके बाद पसलियों की आड़ से बाहर निकल कर बाईं ओर जाती है। मध्यरेखा में पर्शुकाधो रेखा के समानान्तर गुजर कर उपरले किनारे के बायें सिरे से जा मिलती है। (*देखो चित्र २ और ३*)।

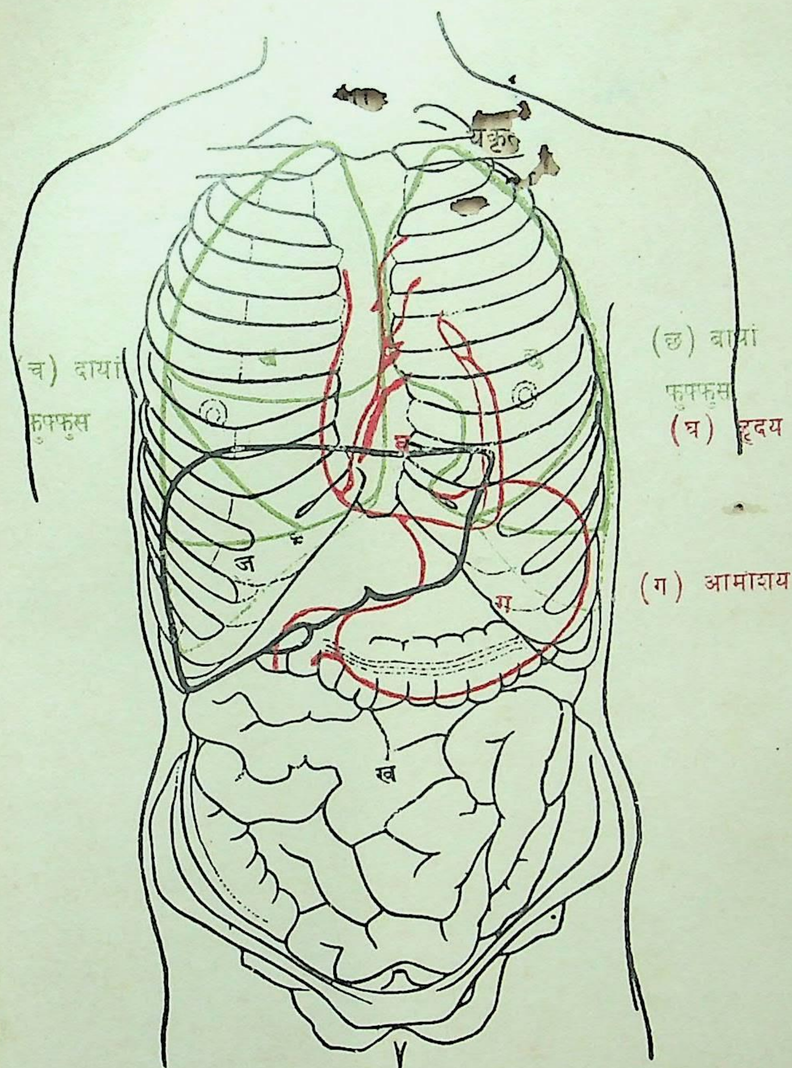
यकृत की परीक्षा करने के लिये केवल दाईं चूचुक रेखा में देखना ही पर्याप्त है। यहां पर ऊर्ध्वधारा पांचवी पर्शुका के उपरले किनारे के पीछे से गुजरती है और अधोधारा दसवीं पर्शुका के बिलकुल पीछे, पसलियों के किनारे की आड़ तक आती है। इन दोनों का अन्तर लगभग ४ से ४॥ इञ्च होता है साधारणतया यकृत जब बढ़ता है तो नीचे की ओर बढ़ता है अर्थात् पसलियों की आड़ से उदर में निकल आता है, इसे स्पर्श और ठेपन से मालूम कर सकते हैं, तब इसकी ऊर्ध्व व अधोधारा [illegible] ४॥ इञ्च से अधिक बढ़ जाता है। कई अवस्थाओं में (यथा यकृत विद्रधि आदि में) यकृत ऊपर की ओर भी बढ़ जाता है।

यकृत की स्पर्श परीक्षा—करने के लिए रोगी को पीठ के बल लिटाकर उसकी टांगें सिकोड़ दें, और चिकित्सा उसके समतल बैठकर दाईं ओर हो तो दायें हाथ से और बाईं ओर हो तो बायें हाथ से परीक्षा करे। परीक्षा करने के लिए हाथ को इस तरह सपाट रखें कि तर्जनी अंगुली का किनारा ऊपर वक्ष की ओर रहे और उदर के अन्दर की ओर घुसे। तर्जनी अंगुली [illegible] कोई स्पर्श करती प्रतीत नहीं होनी चाहिए। इस तरह उदर के दायें श्रोणी प्रदेश से परीक्षा आरम्भ करके ऊपर की ओर चलते जाएं, जब तक कि हाथ के उपरले किनारे के नीचे कोई चीज स्पर्श करती प्रतीत [illegible] हो, यही यकृत की अधोधारा होती

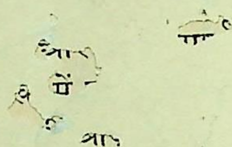
---

१. स्कन्[illegible] रेखा—खड़ी रेखा [illegible] धास्थि के कक्षानुगा धारा से गई है।

चित्र २



(क) यकृत (ख) अन्त्र (ज) फुफ्फुसावरण



है। जब यकृत की धारा प्रतीत [illegible] जब रोग, [illegible] कि वह कितनी पर्शु-काओं से नीचे है। यह जितनी नीचे [illegible] उतना ही यकृत बढ़ा हुआ समझना चाहिए। यह भी [illegible] यकृत मृदु है अथवा कठोर। साधारणतया मृदु होना चाहिए। ऊर्ध्वधारा का स्पर्श नहीं किया जा सकता। यकृत बालकों में स्वभावतः बढ़ा हुआ होता है नवजात शिशु में यकृत नाभी तक आता है [illegible] जैसे जैसे बालक बड़ा होता जाता है यकृत घटता जाता है।

यकृत की ठेपन परीक्षा—ऊपर वर्णन कर आये हैं कि समस्त यकृत की ठेपन परीक्षा की कोई विशेष आवश्यकता नहीं; सामान्यतः केवल चूचुक रेखा में ऊपर ऊर्ध्व धारा को तथा नीचे अधोधरा धारा को ठेपकर मालूम करने से यकृत के परिमाण का ज्ञान हो जाता है। यकृत की ठेपन परीक्षा के लिए रोगी को पीठ के बल लिटाएं, उसकी टांगे सीधी रखें।

अधोधारा को मालूम करने के लिए चूचुक रेखा में नीचे श्रोणि प्रदेश से मृदु ठेपन द्वारा ऊपर वक्ष की ओर ठेपते जांय। जहां पर शब्द स्पष्ट रिक्त शब्द से बदलकर कुछ ठोस सा शब्द हो जाय (अस्पष्ट रिक्त शब्द हो जाय) वहीं यकृत की अधोधारा है।

ऊर्ध्वधारा के लिये—चौथी पर्शुकान्तर के बहुत ऊपर से कठोर ठेपन द्वारा नीचे की ओर ठेपते जांय। पहले पर्शुकान्तरों में ठेपें, जहां शब्द स्पष्ट गुञ्जन शब्द से ठोस शब्द हो जाय वही चिह्न लगादें, फिर पर्शुकाओं के ऊपर ठेपते जांय जहां शब्द बदल जाय वहीं चिह्न लगादें। इन दोनों चिह्नों में से जो चिह्न ऊपर हो पही ऊर्ध्वधारा को दर्शाता है।

इस प्रकार ऊर्ध्व व अधोधारा मालूम हो जाने से यकृत वृद्धि या संकोच का ज्ञान हो जाता है।

तीव्र यकृत शोथ, बाल कामला, यकृत विद्रधि, पित्ताश्मरी, यकृत सौत्रिक वृद्धि, तथा तीव्र ज्वर, प्रचण्ड कामला, अजीर्ण, और अग्नि

मान्द्यादि उदर विकार ...त थोड़ा बहुत बढ़ जाता है।

प्लीहा

बाह्यदर्शन—प्लीहा मध्य रेखा से बाईं ओर, कौड़ी प्रदेश तथा आमाशय प्रदेश में पीछे की ओर, नवीं, दसवीं और ग्यारहवीं पर्शुका की आड़ में रहती है। प्लीहा की लम्बाई दसवीं पर्शुका की लम्बाई के समानान्तर रहती है ऊपरला किनारा नवीं पर्शुका के ऊपरले सिरे तक जाता है और निचला किनारा ग्यारहवीं पर्शुका के निचले किनारे तक। साधारणतया स्वस्थ मनुष्य का प्लीहा प्रायः उसकी हथेली के बराबर होती है। स्वस्थावस्था में उसकी अगली धारा बाईं कक्षा रेखा से आगे नहीं आती और पीछे की ओर मध्यरेखा तक पहुंचती है। जब कभी प्लीहा बढ़ती है तो आगे और नाभी की ओर बढ़ती है। बढ़ने पर पहले पसलियों की आड़ में ही रहती है, फिर बाहर उदर में निकलती हुई प्रतीत हो तो यह समझना चाहिये कि प्लीहा बहुत बढ़ी हुई है। (देखो चित्र ५ और ७)।

प्लीहा की स्पर्श परीक्षा – यकृत की तरह प्लीहा की परीक्षा भी रोगी को पीठ के बल लिटा कर करनी चाहिये तथा उसकी टांगें सिकोड़ कर करें। नाभी से आरम्भ करके बाईं ओर दसवीं पर्शुका अर्थात् ऊपर और बाहर को ओर स्पर्श करते जांय। जहां प्लीहा का सिरा प्रतीत हो वहीं चिह्न लगादें और देखें कि प्लीहा कितनी बढ़ी हुई है। कठोर है या मृदु।

ठेपन परीक्षा—भी नाभी से बाईं ओर दशम पर्शुका की ओर पर्शुकाओं तक मृदु ठेपन द्वारा और उससे आगे उसी रेखा में बाईं कक्षा रेखा तक मध्यठेपन द्वारा की जाती है। जहां पर शब्द रिक्त से ठोस कठोर हो जाय वहीं प्लीहा की अग्रधारा है।

साधारणतया इस परीक्षा से प्लीहा का पूरा पूरा ज्ञान हो जाता है। यह सदा आगे और नीचे की ओर ही बढ़ती है। प्लीहा विषम ज्वर

(मलेरिया), काला आज़ार तीव्रसंक्रामक रोग, रक्तरोग (श्वेताणु-वृद्धि आदि) जीर्ण ज्वर, बाल्यावस्था और स्वयं प्लैहिक रोगों में बढ़ जाती है।

आमाशय

बाह्यदर्शन—आमाशय का बहुत सा भाग शरीर के बाईं ओर कौड़ी प्रदेश और आमाशय प्रदेश में रहता है। जब आमाशय बढ़ा हुआ हो, तो यह नीचे की ओर बायें कटिप्रदेश और नाभिप्रदेश में आ जाता है। इसका परिमाण स्वस्थावस्था में भी नियत नहीं होता। भोजन के बाद बढ़ जाता है, परन्तु बढ़ी हुई अवस्था में भी आमाशय नाभि तक नहीं पहुँचता। आमाशय के दो द्वार होते हैं। एक ऊपर का मध्यरेखा से बाईं ओर हृदय के समीप रहता है, अन्न-प्रणाली से भोजन इसी द्वार के रास्ते इसमें आता है, इसको "हृदयद्वार" कहते हैं दूसरा नीचे का द्वार मध्य रेखा के दाहिनी ओर होता है, इसको "पक्वाशयद्वार" कहते हैं, यहां से आहार रस आमाशय से पक्वाशय में आता है।

ऊपर का अर्थात् हृदयद्वार—नियत स्थान पर पीछे की ओर पृष्ठ-वंश के नवम कशेरुका के समानान्तर रहता है, आगे की ओर यह स्थान बाईं सातवीं उपपर्शुका वक्षसंधि के पीछे रहता है इसे मध्य रेखा से एक इंच बाईं ओर दर्शाया जा सकता है।

आमाशय का ऊर्ध्वांश हृदय के पीछे पांचवीं पर्शुका तक पहुँचता है और इसका उन्नतोदर (निचला) किनारा साधारणतया पर्शुकाधो रेखा से नीचे नहीं जाता।

नीचे का अर्थात् पक्वाशयद्वार—यह कुछ न कुछ अपना स्थान बदलता रहता है। साधारणतया यह वक्षोऽस्थि से लगभग ४ इंच नीचे मध्यरेखा के ठीक दाईं ओर होता है। पीछे की ओर यह स्थान पृष्ठवंश के बारहवें कशेरुका के दाईं ओर होता है। भोजन के बाद आमाशय मध्य में सङ्कोच करके दो भागों में हो जाता है (देखो चित्र २, ३,)

स्पर्शपरीक्षा—आमाशय को स्पर्श करके नहीं देख सकते, परन्तु

विस्तृत आमाशय में पानी का छलकना विशेष विधि से मालूम किया जा सकता है:—वैद्य को रोगी की बाईं ओर बैठ जाना चाहिये। एक हाथ पर्शुकाओं के पीछे और एक हाथ आगे की ओर आमाशय पर रखें। नीचे के हाथ से झटका देने से ऊपर के हाथ को पानी की झलक मालूम देगी। यदि यह परीक्षा भोजन के चार पांच-घण्टे के बाद सिद्ध हो तो आमाशय-विस्तृति समझनी चाहिए।

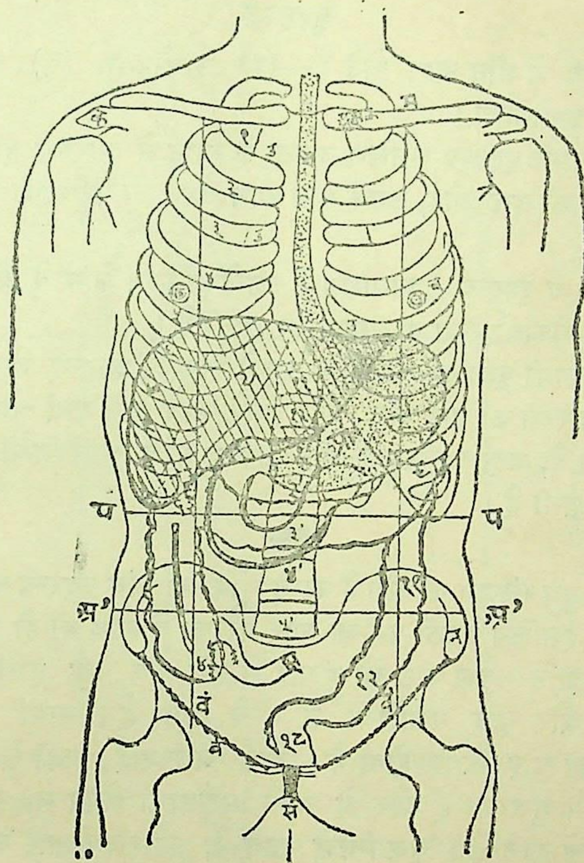
ठेपन परीक्षा—के लिए आमाशय खाली होना चाहिए। इसके इतस्ततः अन्त्र और फुफ्फुस रहते हैं उनका ठेपन शब्द भी आमाशय की तरह होता है। इसलिए इसको ठेप कर मालूम करना बहुत कठिन है। यह केवल अभ्यास-साध्य है। आमाशय का ठेपन इसके मध्य से आरम्भ करके चारों ओर जाना चाहिए। यदि आमाशयस्थान पर ठेपन के साथ श्रवण भी किया जाय अर्थात् जब ठेपन किया जाए तो ठेपन शब्द को स्टेथसकोप के द्वारा सुनना चाहिए, तो बहुत अच्छा है, इससे आमाशय का सुगमता से ज्ञान हो जाता है।

उपान्त्र
(Vermiform Appendix)

नाभी से दायीं नितम्बास्थि के पूरोर्ध्वकूट (Anterior Superior Iliac spine) तक एक रेखा खींचो, इसी रेखा पर पुरोर्ध्व कूट से १½ या २ इञ्च की दूरी पर उपान्त्र स्थित है। इस रेखा के तीन भाग करो जहां पर मध्य और अन्त भाग मिलता है उसके पीछे उपन्त्र रहती है। चिह्न लगाने की दूसरी विधि यह है:—जहां अर्बुदांतरिक दाईं ऊर्ध्व रेखा से मिलती है वही क्षुद्रान्त्र बृहदन्त्र में खुलती है (चित्र सं० १ और ३) और उससे एक इञ्च नीचे दाईं ऊर्ध्व रेखा में पुरोर्ध्वकूट के सामने उपान्त्र होती है।

चित्र नं० ३ की व्याख्या:—इस चित्र में उदर के नौ प्रदेश दिखाए गये हैं यह भी दर्शाया गया है कि अन्नप्रणाली, आमाशय, यकृत, क्षुद्रांत्र, और बृहदन्त्र शरीर में कहां २ रहते हैं। भोजन कितनी देर पीछे अन्न मार्ग के किस भाग में पहुँचता है। ४½, ६½, ९, ११, १२, और १८ अङ्क भोजनान्तर समय को दर्शाते हैं।

चित्र ३



१ से १० तक=पसलियां, उ=उपपर्शुका, च=चूचुक या स्तनवृन्त, ११, १२=वक्ष के कशेरुका १' से ५' तक=कटि कशेरुका, क=अंस कूट, म=अक्षक का मध्य, अ=अन्नप्रणाली, आ=आमाशय, य=यकृत, न=पुरोर्ध्व कूट, क्ष=क्षुद्रान्त का अन्तिम भाग, वं=वंक्षण रेखा या खड़ी रेखा, यह रेखा यदि ऊपर को उरःस्थल पर बढ़ाई जावे तो अक्षक अस्थि के मध्य तक पहुंचेगी। प, प=पर्शुकावो रेखा, अ' अ'=अर्बुदान्तरिक रेखा। चूचुक चौथे पर्शुकान्तर में रहता है, व=वंक्षण बंधन, सं=वंक्षण संधि।

बृहदन्त्र

बृहदन्त्र के तीन भाग होते हैं—(१) ऊर्ध्वगामी, (२) अनुप्रस्थ, (३) अधोगामी।

ऊर्ध्वगामी बृहदन्त्र लगभग उपान्त्र के स्थान से आरम्भ होकर दाईं खड़ी रेखा की दाईं ओर, उसके साथ साथ ऊपर को पर्शुकाधो रेखा तक जाती है।

अनुप्रस्थ बृहदन्त्र—आमाशय के उन्नतोदर भाग के नीचे और नाभी से ऊपर पर्शुकाधो रेखा के समानान्तर रहती है।

अधोगामी बृहदन्त्र—ऊपर पर्शुकाधो रेखा से आरम्भ होकर नीचे बाईं खड़ी रेखा की बाईं ओर, और उसके साथ साथ बाएं श्रोणी प्रदेश तक जाती है, जहां अन्दर की ओर मुड़कर नीचे मध्यरेखा में मलाशय से मिल जाती है।

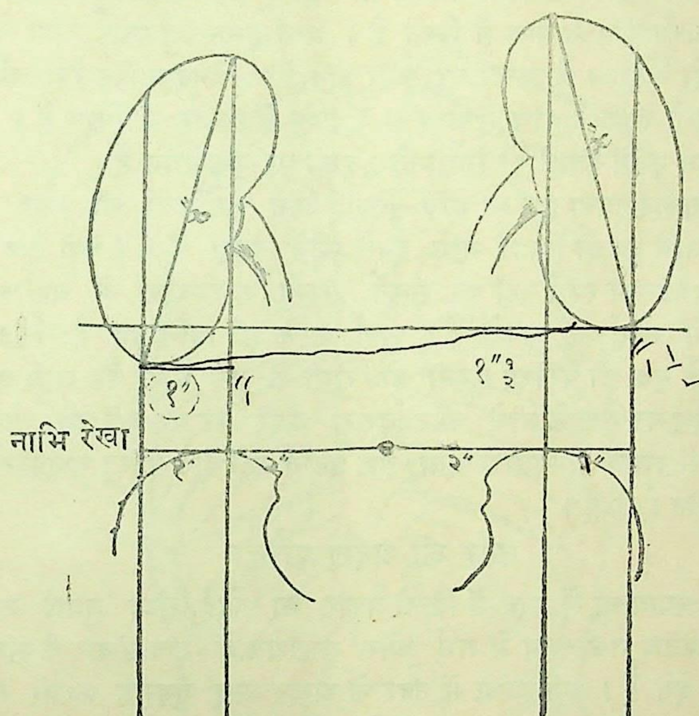
वृक्क

वृक्क मूत्र संस्थान का अंग है परन्तु चूंकि यह अंग उदरस्थ अंगों में ही स्थित है इसलिये इनकी परीक्षा उदर परीक्षा के साथ ही हो जाती है।

बाह्यदर्शन—वृक्क पीठ की दीवार से लगे हुए कुछ पसलियों की आड़ में और कुछ पसलियों से नीचे रहते हैं। बायां वृक्क दायें की अपेक्षा कुछ ऊचा होता है। दाईं और बाईं खड़ी रेखाएँ इनके मध्य में से गुजरती हैं और ये आधे पर्शुकाधो रेखा से ऊपर तथा आधे नीचे रहते हैं। वृक्क तिरछे रहते हैं, ऊपरले किनारे अन्दर की ओर मध्यरेखा से २ इंच, निचले किनारे मध्यरेखा से ३ इंच के अन्तर पर रहते हैं। दायां वृक्क नाभि रेखा से एक इंच ऊपर और बायां डेढ़ इंच ऊपर होता है। वृक्क एक सिरे से दूसरे सिरे तक ४ इंच लम्बा होता है। इसको चिह्नित करने के लिये निम्नलिखित विधि प्रयुक्त की जाती है।

एक पड़ी रेखा नाभि के समानान्तर खींचो और शरीर मध्य से

दक्षिणवृक्क चित्र ४ वामवृक्क



२ और ३ इंच के अन्तर पर दो खड़ी रेखाएं दाईं ओर और दो ही बाईं ओर खींचो। दाहिनी ओर की बाह्य खड़ी रेखा पर नाभि रेखा से १ इंच ऊपर और बाईं ओर की बाह्य खड़ी रेखा पर १½ इञ्च ऊपर एक एक चिह्न लगाओ, इस चिह्न से चार इञ्च लम्बी ऐसी रेखा खींचो कि इसका ऊपर का शिर अन्दर वाली रेखा पर आये। यह रेखाएं दोनों ओर के वृक्कों की लम्बाई के स्थान को दर्शाती हैं।

दूसरी विधि—वृक्कों के तीन चिह्न-ऊर्ध्वशिर, अधःशिर और तीसरा बीच का वृन्त (जहां मूत्र-प्रणाली, रक्त वाहिनियां आदि वृक्क में से आती जाती है) निम्न विधि से अंकित करें—

ऊर्ध्व शिर—शरीर मध्य रेखा से २ इञ्च बाह्य ओर, पर्शुकाधो रेखा और पक्षोऽस्थि के मध्य में स्थित है। मध्य वृन्त-पर्शुकाधो रेखा पर मध्य से २ इञ्च के अन्तर पर, और अधःशिर-अर्बुदान्तरिक रेखा और पर्शुकाधो रेखा के बीच में मध्य से ३ इञ्च के अन्तर पर स्थित है।

इन तीनों चिह्नों को मिला दो। इन्हीं पर वृक्क स्थित हैं।

साधारणतया वृक्क का ऊर्ध्व तिहाई भाग पसलियों की आड़ में और नीचे का दो तिहाई भाग इनसे नीचे रहता है। (देखो चित्र ५ और ६) इनको स्पर्श नहीं कर सकते, परन्तु रुग्णावस्था में या चल वृक्कों में स्पर्श कर सकते हैं। स्पर्श करने की विधि यह है:—जिस ओर के वृक्क की परीक्षा करनी हो रोगी के उस ओर बैठ जायें एक हाथ पृष्ठ पर वृक्क के नीचे और दूसरा ऊपर पेट पर रखें और दोनों हाथों से दबायें। साधारणतया वृक्क प्रतीत नहीं होते परन्तु रुग्णावस्था में प्रतीत होते हैं।

उदर की श्रवण परीक्षा

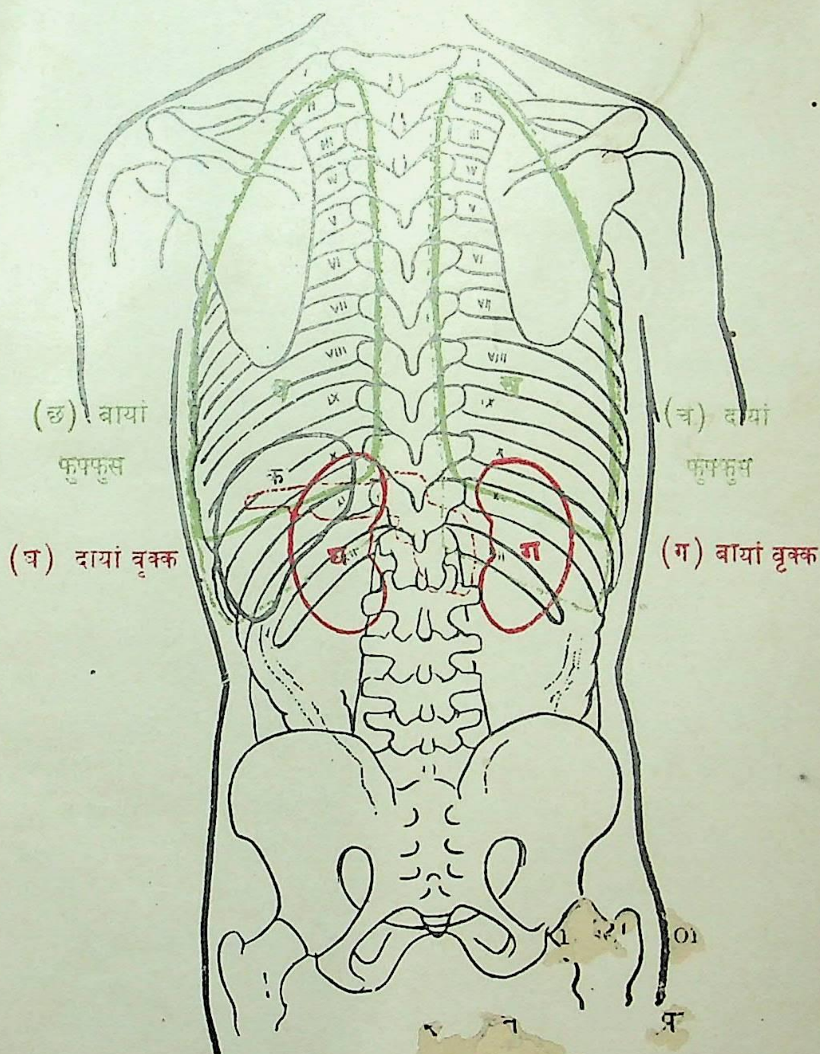
स्वस्थावस्था में उदर में किसी प्रकार का कोई शब्द सुनाई नहीं देता, केवल गर्भावस्था में गर्भ और गर्भाशय में रक्त संचार के शब्द सुनाई देते हैं। रुग्णावस्था में उदर के अन्दर वायु गुड़गुड़ करती हुई या पानी छलकता हुआ भी सुनाई देता है। यदि रक्तार्बुद हो तो उसमें भी रक्त संचार के शब्द सुनाई देते हैं।

इन परीक्षाओं के बाद अन्त्र के रस व मलादि की भी परीक्षा की जाती है जिससे यह मालूम हो जाये कि उनके अन्दर कोई असाधारण या अस्वाभाविक वस्तु तो नहीं, इनमें दो चीजों की परीक्षा आवश्यक है।

आमाशयिक पाचक रसः—इसको प्राप्त करने की एक विशेष क्रिया है जिसका वर्णन इस पुस्तक की सामर्थ्य से बाहर है केवल इतना बता देते हैं कि उसमें निम्नोक्त बातें देखी जाती हैं :

(१) वर्ण तथा घनत्व आदि, (२) गंध (३) अमलत्व (Acidity)

चित्र ५



की कुल मात्रा कितनी है और विशेष प्रकार के अम्ल कौन-कौन से हैं, और कितने-कितने हैं–अम्लपित्त और आमाशय तथा पक्वाशय व्रण (Peptic-Ulcer. Duodinal Ulcer) में अम्ल रस बढ़ जाता है, कैन्सर में दुग्ध अम्ल विशेषतः अधिक हो जाता है।

(४) आमाशयिक रस में पाचक रस के तत्व कितने कितने और किस मात्रा में उपस्थित हैं।

(५) भोजन की दशा—कितनी देर के बाद भोजन कितना पचा है उसकी क्या अवस्था है।

(६) अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा यह देखा जाता है कि आमाशय से निकाली हुई वस्तु में रक्त, पूय, अस्वाभाविक (कैन्सर की सेलें) तथा अन्य वस्तुओं की उपस्थिति है या नहीं।

मल का वर्ण, गन्ध, द्रवता, गुरुता, मात्रा, तथा इससे अन्य पदार्थों (रक्त, पूय, पित्तादि) को देखा जाता है, और अणुवीक्षण द्वारा कीटाणु की परीक्षा की जाती है, विशेषकर प्रवाहिका का अमीबा, ट्युबरकुलर बैसिलस आदि के कीटाणु तथा उदर कृमि वा उनके अण्डे आदि।

सन्दिग्धावस्था में ऐक्सरे से पहले खाली पेट पर और बिस्मिथ आदि खिला कर चित्र (फोटो) ले लेना चाहिये। यकृत में पित्त को देखने के लिये और उसके द्वारा पित्ताशय को फोटो में लाने के लिये विशेष रंजक दवाई (Tetra-Iodophenolthelein आदि) मुख द्वारा दी जाती है यह रक्त से पित्त में निकलती है और पित्त की छाया एक्सरे ('X' Ray) चित्र में पड़ती है। इससे यकृत की पित्त बनाने की शक्ति और पित्ताशय की आकृति तथा परिणाम का ज्ञान हो जाता है।

इसी प्रकार मूत्र को रंगने वाली दवाई (Ur[illegible]electon B.) का इन्जेक्शन दे देते हैं यह दवाई मूत्र में निकलती है और मूत्र की छाया चित्र में पड़ती है। इससे वृक्कों की शक्ति तथा वृक्क अश्मरी का ज्ञान सुचारु रूप से हो जाता है।

अध्याय ३

रोग परीक्षा (३)

श्वास संस्थान

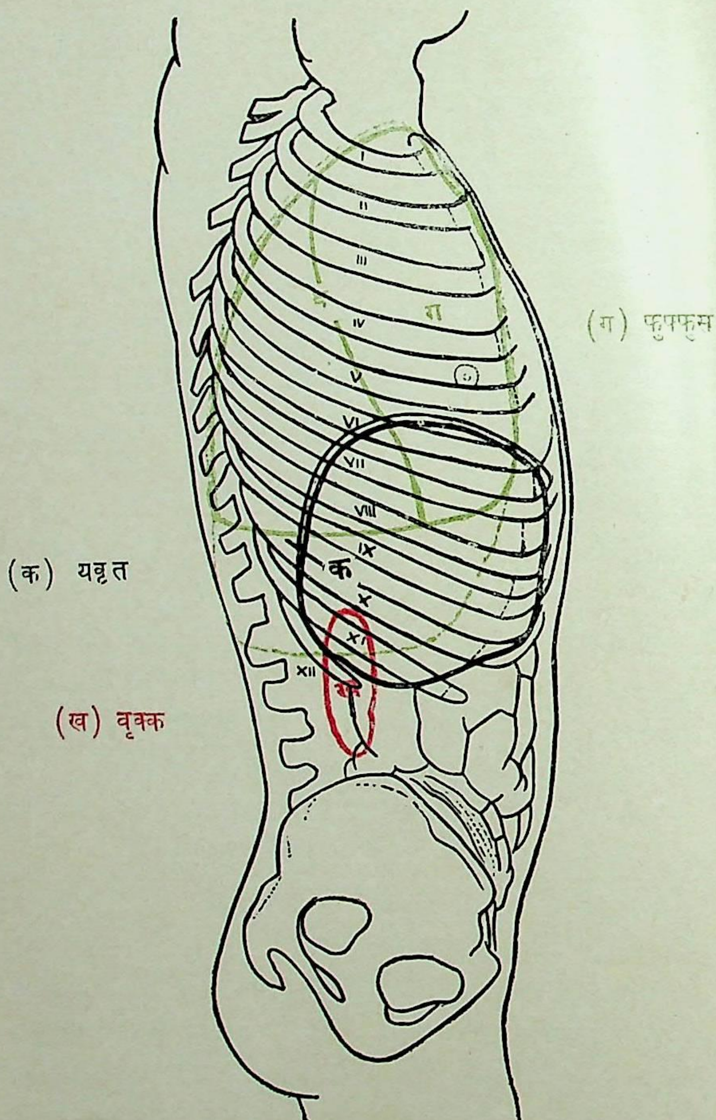
श्वास संस्थान में फुफ्फुस परीक्षा ही परमावश्यक है, अतः मुख्यतया उसी का वर्णन किया जायेगा। इसके सम्बन्ध में प्रश्न प्रथम अध्याय में लिख चुके हैं।

दर्शन

सबसे पहले नासा और मुख पर दृष्टि पड़ती है। देखें कि नाक के नथने फूलते हैं या नहीं (फुफ्फुस प्रदाह) ? ओष्ठों व नासा के इतस्ततः पिड़िकायें हैं या नहीं ? मुख और कपोलों का वर्ण नीला तो नहीं हो रहा है (यथा हृदयावसाद या फुफ्फुसावसाद में), या कपोल लाल तो नहीं (यथा फुफ्फुस प्रदाह में) ? श्वास को देखें प्रति मिनट गति कितनी है ? स्वस्थावस्था में १७–२० प्रति मिनट होती है। फुफ्फुस प्रदाह आदि फुफ्फुस रोगों में गति बहुत बढ़ जाती है, कभी कभी ५०, ६०, वा ७० तक जा पहुँचती है, श्वास की गति का नाड़ी की गति से निपात १–४ या १–५ का होता है परन्तु फुफ्फुस रोगों में १–२ या १–३ हो जाता है। देखें कि श्वास कैसा चल रहा है–गम्भीर है अथवा गाध अर्थात् उथला (फुफ्फुस रोगों में गाध होता है)।

श्वासोच्छ्वास के साथ साथ उदर और वक्ष हिलते हैं या नहीं ? स्वस्थावस्था में दोनों हिलते हैं, परन्तु जब वक्ष में पीड़ा हो तो श्वास लेते समय वक्ष नहीं हिलता या कम हिलता है। छाती को अच्छी तरह से देखें कि उसका परिमाण कितना है, (छोटी है या बड़ी)।

चित्र ६



पृष्ठ ४१

सदा अस्वस्थ रहने वालों की, या व्यायाम न करने वालों की छाती छोटी होती है। उसका आकार कैसा है? साधारणतया अण्डाकार होनी चाहिये। इसका पार्श्विक परिमाण आगे पीछे के परिमाण से अधिक होना चाहिये। जिन्हें बाल्यावस्था में बालग्रह रोग हो चुका हो, या जो अस्वस्थ रहते हों, अथवा व्यायामादि न करते हों, उनकी छाती विकृत होती है।

अस्वस्थ छाती के प्रायः निम्नोक्त रूप पाये जाते हैं—घन्टी के आकार की, कबूतर की छाती की तरह आगे को बढ़ी हुई, पीकाकार विषम (कहीं आगे उभरी हुई कहीं पीछे घुसी हुई) या पार्श्वों में खात वाली, अथवा एक ओर बड़ी और एक ओर छोटी यथा बालग्रह (Rickets) की छाती। विकृत छाती वाले पुरुषों को यक्ष्मा होने का अधिक भय रहता है। विशेषकर जिसकी छाती लम्बी, तंग घन्टी आकार या विषम हो।

एक ओर बड़ी और एक ओर छोटी छाती आर्द्र फुफ्फुसावरण प्रदाह अथवा फुफ्फुसावरण में रक्त, पूय, तरलादि को प्रकट करती है। यह भी देखें कि छाती ठीक फैलती है या नहीं, किसी ओर न्यूनाधिक तो नहीं फैलती (यथा आर्द्र फुफ्फुसावरण प्रदाह में)?

थूक भी देख लेना चाहिये कि कैसा आता है उसमें कफ आता है या नहीं, यदि आता है तो कितना? थूक पानी में डूबता है या नहीं (राजयक्ष्मा की अन्तिमावस्था का पीपयुक्त कफ पानी में डूबता है)? वर्ण क्या है—श्वेत, पीत या सरक्तादि। यदि रक्त मिश्रित है तो यह देखें कि रक्त का वर्ण क्या है, वह कफ के साथ मिला हुआ है या अलग? जब रक्त कफ के साथ मिला हुआ हो तो यह समझना चाहिये कि रक्त फुफ्फुसों से आ रहा है। यदि मनुष्य स्वस्थ प्रतीत होता हो और फुफ्फुसों से रक्त आजाये तो उसे गुप्त राजयक्ष्मा समझो। तीव्र ज्वर और कास में यदि फुफ्फुसों से रक्त आये तो उसे वातश्लेष्मिक ज्वर,

फुफ्फुस प्रदाह युक्त प्लेग या तीव्र राजयक्ष्मा समझना चाहिये।

थूक को अणुवीक्षण परीक्षा के लिये भेज दें कि उसमें रक्त कण, श्वेत कण, पूयकण तथा फुफ्फुसीय तन्तु या कीटाणु तो नहीं। राज्यक्ष्मा, वातश्लैष्मिक ज्वर और फुफ्फुस प्रदाह आदि के कीटाणु विशेष करके देखे जाते हैं।

परीक्षा द्वारा यह भी मालूम कर लें कि थूक में एलब्यूमेन तो नहीं। यह प्रायः सदैव राजयक्ष्मा के कारण आती है। जब थूक में इसके कीटाणु न हों और एलब्यूमेन हो तो भी राजयक्ष्मा समझना चाहिये।

बाह्य दर्शन

फुफ्फुस वक्ष में दोनों ओर फैले हुए रहते हैं। ऊपर अक्षकास्थि से लगभग एक इन्च ऊपर तक रहते हैं, और नीचे वक्षोदर-मध्यस्थ पेशी से कुछ ऊपर तक रहते हैं।

शिखर—अक्षकास्थि से $\frac{3}{4}$–१' इन्च तक ऊपर रहता है। पीछे की ओर सातवीं ग्रीवा कशेरुका के समानान्तर जाता है।

अग्र धारा— शिखर से आरम्भ होकर अक्षक वक्षोऽस्थि सन्धि के पीछे से जाती हुई मध्य रेखा में दूसरी ओर की अग्र धारा से दूसरी उपपर्शुका सन्धि के समानान्तर जा मिलती है। यहां से दोनों ओर की अग्र धारायें नीचे चौथी उपपर्शुका सन्धि के समानान्तर तक इकट्ठी जाती हैं; इसके बाद दाईं ओर की अग्रधारा तो मध्य रेखा में ही छठी उपपर्शुका के समानान्तर तक सीधी नीचे चली जाती है, वहां यह अधो धारा से मिल जाती है। बाईं ओर की अग्रधारा चौथी उपपर्शुका सन्धि के समानान्तर से बाहर की ओर वक्षोऽस्थि के बाहरले किनारे तक जाती है। यहां से यह सीधी नीचे हृदय कोण के समीप पहुँच कर छठी पर्शुका के पीछे अधोधारा से मिल जाती है।

अधोधारा—अग्र धारा के निचले सिरे से आरम्भ होकर बाहिर और पीछे की ओर जाती है; चूचुक रेखा में छठी पर्शुका, कक्षा रेखा में

आठवीं पशुर्का और स्कन्धाऽस्थि रेखा में दसवीं पशुर्का के पीछे से गुजर कर पृष्ठ के पास दसवीं पशुर्का या दशम पृष्ठ कशेरुका तक पहुँचती है।

पाश्चात्य धारा— सातवें ग्रीवा कशेरुका से आरम्भ होकर पृष्ठ वंश के दसवें कशेरुका तक नीचे जाती है।

दाहिना फुफ्फुस दो दरारों से तीन खण्डों में और बायां एक दरार से दो खण्डों में विभक्त है। मध्य दरार दोनों में एक जैसी है, इससे दोनों फुफ्फुसों के दो खण्ड (ऊर्ध्वखण्ड और अधः खण्ड) बन जाते हैं परन्तु दाहिने फुफ्फुस में एक छोटी सी दरार कक्षा में मध्य दरार से से आरम्भ होकर अग्रधारा तक जाती और ऊर्ध्व खण्ड को दो भागों में (ऊर्ध्व और मध्य खण्डों में) विभक्त करती है।

दरारों का बाह्य दर्शन—मध्य दरार पाश्चात्य धारा से दूसरे पृष्ठ कशेरुका के समानान्तर आरम्भ होकर आगे और नीचे की ओर चूचुक रेखा में छठी पशुर्का के पीछे अधोधारा से आ मिलती है। दाहिने फुफ्फुस की ऊर्ध्व दरार मध्य दरार के मध्य से अर्थात् कक्षा रेखा में आरम्भ होकर सीधी आगे की ओर चौथी पशुर्का के समानान्तर अग्रधारा से आ मिलती है। जब हाथ को सिर पर रखें तो स्कन्धास्थि की वंशानुगा धारा उस ओर की मध्य दरार को दर्शाती है।

वृन्त—अर्थात् जहां वायु प्रणालिय , रक्त वाहिनियां तथा वात नाड़ियां आदि फुफ्फुस में से अन्दर, बाहर आती जाती है-यह स्थान चौथे, पांचवें और छठे पृष्ठ कशेरुका के समानान्तर है अथवा स्कन्धास्थि के अंस प्राचीरक से आरम्भ होकर अंस कोण तक जाता है।

Trachea **टेंटुवा**—छठे ग्रीवा कशेरुका के पाश्चात्य प्रवर्धन से आरम्भ होकर चौथे पृष्ठ कशेरुका के अन्त तक जाता है। जहां यह दो वायु प्रणालियों एक दाईं और एक बाईं में विभक्त हो जाता है।

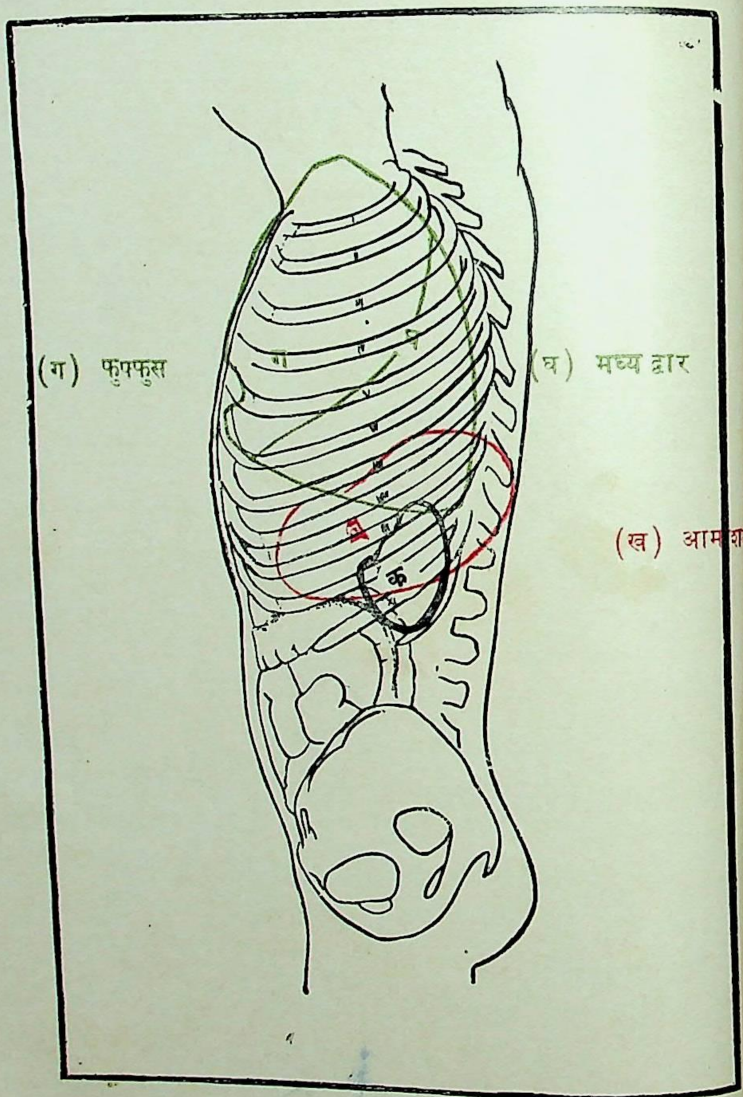
फुफ्फुसावरण—बन्द थैली के समान होता है, और फुफ्फुस को चारों ओर से आवृत्त करता है। इस तरह इसकी दो तहें बन जाती हैं। एक फुफ्फुस के ऊपर और दूसरी वक्ष के नीचे। फुफ्फुस के ऊपर वाली तह फुफ्फुस के साथ चिपटी रहती है और उसकी दरारों में भी घुसी रहती है। वक्ष के नीचे वाली तह शिखर से आरम्भ होकर उसके साथ साथ मध्य में दूसरी ओर के फुफ्फुसावरण से आ मिलती है और यहां से यह दोनों तहें इकटठी फुफ्फुस की अग्रधारा के साथ साथ फुफ्फुस के अधोभाग से $\frac{1}{2}$ इञ्च नीचे तक चली जाती है। इसकी अधोधारा फुफ्फुस से नीचे २-४ इञ्च अर्थात् चूचुक रेखा में आठवीं, कक्षा रेखा में दसवीं, और स्कन्धरेखा में बारहवीं पर्शुका के पीछे से गुजरती हुई बारहवें पृष्ठ कशेरुका तक जाती है। उपर्युक्त से स्पष्ट है कि फफुफुसों के नीचे फुफ्फुसावरण की दो तहों में अन्तर रहता है, चूचुक रेखा में २ इञ्च, कक्षा रेखा से ४ इञ्च और स्कन्ध रेखा में १$\frac{1}{2}$ इञ्च। जब फुफ्फुसावरण में तरल, रक्त व पूय आदि भरते हैं तो पहले इसी स्थान में भरते हैं।

स्पर्शन

छाती के आगे, पार्श्व और पीछे की ओर हाथ फेरकर देखें वह विषम है या सम, दोनों ओर छाती एक समान फैलती है या न्यूनाधिक? छाती का प्रसार देखने के लिए अपने दोनों हाथ छाती पर इस प्रकार रखें कि दोनों अंगुष्ठ मध्य रेखा में वक्षोऽस्थि पर मिलें। अब रोगी को श्वास लेने के लिए कहें और देखे कि वह ठीक प्रसार करती है या नहीं। वक्ष का पार्श्व अधिक ऊभरा हुआ तो नहीं, यथा आर्द्रफुफ्फुसावरण प्रदाह में। यदि ऐसा ही तो दोनों ओर की चौड़ाई को समान स्थान पर नाप कर तुलना करें।

शब्द स्पर्श (Vocal Fremitus)—छाती पर आगे पीछे दोनों

चित्र ७



(क) प्लीहा

ओर समान स्थानों पर हाथ को सपाट रखकर रोगी से एक, दो, तीन उच्चारण करायें। इससे हाथ को एक दो तीन उच्चारण से उत्पन्न तरङ्ग प्रतीत होगी। इसको "शब्द तरङ्ग" अथवा "शब्द स्पर्श" कहते हैं। दोनों ओर के शब्द स्पर्श की तुलना करें कि वह किसी स्थान पर घटा या बढ़ा हुआ तो नहीं। शब्दोच्चारण पर वायु से तरगें उत्पन्न होकर टेंटुवा और श्वास प्रणाली द्वारा वायु कोष्ठों में पहुँचती है। वहां से फुफ्फुस और वक्ष की दीवारों को पार करके वैद्य के हाथ तक पहुँचती हैं। यदि मार्ग में अर्थात् टेंटुवा या वायु प्रणाली में रुकावट हो जाय या फुफ्फुस के कोष्ठों में अथवा फुफ्फुसावरण में तरल भर जाय तो शब्द की तरङ्ग के मार्ग में भी रुकावट आ जायगी और शब्द तरङ्ग हाथ तक नहीं पहुँचेगी। शब्दास्पर्श फुफ्फुसों के ठोस हो जाने या उनमें कोटर हो जाने पर बढ़ जाता है। रोगों के क्षीण होने पर अर्थात् वक्ष की दीवार पतली हो जाने पर भी शब्दस्पर्श कुछ बढ़ जाता है। शुष्क फुफ्फुसावरण प्रदाह, आर्द्र फुफ्फुसावरण प्रदाह (जब तरल बहुत थोड़ा हो) अथवा फुफ्फुसों की वायु कोष्ठ विस्तृति (एम्फाईज़ीमा = Emphysema) में शब्द तरङ्ग घट जाता है। तथा वायु प्रणालियों में रुकावट आ जाने, फुफ्फुसावरण में तरल, पूय, रक्त या वायु भर जाने अथवा फुफ्फुसावरण के अत्यधिक मोटा हो जाने के कारण शब्द स्पर्श प्रतीत नहीं होता।

स्पर्श द्वारा यह भी देखें कि हाथ को कोई और घर्षणवत् शब्द तो नहीं प्रतीत होता, शुष्कफुफ्फुसावरण प्रदाह में दोनों फुफ्फुसावरणों की रगड़ के कारण एक शब्द सा पैदा होता है। इसे हाथ से स्पर्श द्वारा प्रतीत कर सकते हैं। इसे 'घर्षण स्पर्श' (Friction Fremitus) कहते हैं।

ठेपन

वक्ष के आगे, पीछे, नीचे, ऊपर सर्वत्र ठेपन करके देखें कि शब्द कैसा है। गुञ्जन है या नहीं ? दोनों ओर फुफ्फुसों के समान स्थानों

१. फुफ्फुस के खण्ड ठोस हो गये हैं (प्रायः शोथ के कारण ऐसा होता है)–यथा फुफ्फुस प्रदाह तथा राजयक्ष्मा आदि रोग में।

२. फुफ्फुसावरण तरल, रक्त, पूय आदि से पूर्ण हैं या मोटे हैं अथवा परस्पर जुड़े हैं। फुफ्फुसप्रदाह और फुफ्फुसावरण प्रदाह में परस्पर भेद शब्द स्पर्श तथा शब्द श्रवण से होता है। फुफ्फुसप्रदाह में शब्द स्पर्श और शब्द श्रवण बढ़ जाते हैं, तथा फुफ्फुसावरण प्रदाह में घट जाते हैं।

श्रवण

प्रायः फुफ्फुसों की श्रवण परीक्षा सब परीक्षाओं के अन्त में की जाती है। परन्तु बालकों में आरम्भ में ही करनी चाहिये। श्रवण करते हुये इस बात का ध्यान रक्खें कि स्टैथस्कोप आप के कानों में और रोगी के वक्ष पर ठीक बैठा हुआ हो। स्टैथस्कोप के वक्षवर्तीया कर्णवर्ती किसी भाग में वायु न जाने पाये और न उसकी नाली से कपड़ा, हाथ या अन्य कोई वस्तु छूने पाए। दोनों ओर फुफ्फुसों पर समान भागों में श्रवण करके परस्पर तुलना करनी चाहिये।

श्रवण से निम्नोक्त बातें देखी जाती हैं:—

१—वायु के फुफ्फुसों में आने और जाने से जो शब्द पैदा होता है वह कैसा है, स्वस्थ या अस्वस्थ। यदि अस्वस्थ है तो किस प्रकार का है।

२—श्वास के साथ किसी प्रकार के अन्य सहगामी शब्द तो नहीं, जो स्वस्थावस्था में नहीं होते केवल रुग्णावस्था में उत्पन्न हो जाते हैं।

३—शब्दोच्चारण के समय यदि स्टैथस्कोप वक्ष पर लगाया जाय तो वह उच्चारण उसके द्वारा सुनाई देता है। इसको शब्द "श्रवण" (Vocal Resonauce) कहते हैं। देखें कि यह दोनों ओर समान है या न्यूनाधिक।

Bronchial Breathing

श्वासोच्छ्वास के शब्द

यदि स्टैथस्कोप को स्वस्थ स्वर-यन्त्र पर लगायें तो निश्वास

की परस्पर तुलना करें कि उनका ठेपन एक समान है या नहीं। इसके शिखर और अधोधारा को ठेपकर देखें इनका परिमाण न्यूनाधिक तो नहीं ? भिन्न भिन्न स्थानों पर निम्नोक्त विधियों से ठेपा जाता है। अग्र भाग देखने के लिये रोगी को समान स्थान पर लिटायें या कुर्सी पर सीधा बिठायें। पृष्ठ भाग देखने के लिए (यदि सम्भव हो) उसे चौकड़ी मार कर बाहुओं को पार्श्व से लगाकर बैठायें।

अक्षक से ऊपर भाग पर मृदु ठेपन से, अक्षक पर केवल प्रहारांगुलि से मध्यम ठेपन से, अक्षक के नीचे मध्य ठेपन से, पीछे की ओर स्कन्धास्थि से ऊपर मृदु ठेपन से, वृन्त और स्कन्धास्थि के नीचे पार्श्व पर मध्य ठेपन से, तथा स्कन्धास्थि के ऊपर कठोर ठेपन से ठेप कर देखें। स्वस्थ अवस्था में भी सब स्थानों पर ठेपन से यह मालूम होगा कि वह समान रूप से "गुञ्जन शब्द" नहीं देते, कहीं अधिक और कहीं कम, परन्तु दोनों फुफ्फुसों के समान स्थान एक ही प्रकार से गुञ्जन शब्द देने वाले हों। यदि ऐसा नहीं तो फुफ्फुसों में विकृति है। यदि ठेपन शब्द "अति गुंजन" है तो इससे वायुकोष्ठों की विस्तृति (एम्फाईज़ीमा) समझें। यह कोष्ठविस्तृति पुरानी खांसी, श्वास आदि रोगों में, तथा हर समय फूंक मारने वालों (शीशियां बनाने वाले, सुनार आदि) को हो जाती है। अत्यधिक 'गुञ्जन' अर्थात् अर्धरिक्त शब्द खंडीय फुफ्फुस प्रदाह (Pneumonia) से पीड़ित खण्ड से ऊपर या तरलमय फुफ्फुसावरण प्रदाह के ऊपर स्थित खण्ड में होता है। राजयक्ष्मा की अन्तिम अवस्था में फुफ्फुसों के कोटरों पर ठेपन से अति अधिक गुंजन 'भाण्ड ध्वनि' वत शब्द पैदा होता है ऐसी अवस्था में यदि रोगी को मुंह खोल कर और मुंह बन्द करके श्वास लेने पर ठेपा जाय तो ठेपन शब्द में अन्तर होगा।

"गुञ्जन शब्द" का कम हो जाना अर्थात् अर्ध-ठोस या ठोस शब्द निम्नोक्त बातों को दर्शाता है :—

और उच्छ्वास बिलकुल स्पष्ट पूरे पूरे और समान सुनाई देते हैं और दोनों शब्दों के बीच में कुछ अन्तर होता है। ये शब्द धौंकनी की तरह होते हैं। इनको "प्रणालीयश्वास" (Bronchial breathing) कहते हैं यह केवल स्वरयंत्र, बड़ी वायुप्रणाली में से वायु के गुजरने से पैदा होता है।

जब स्टैथस्कोप को स्वस्थवक्ष पर लगायें तो निश्वास सारा सुनाई देता है और उच्छ्वास का पहला-तिहाई भाग। निःश्वास और उच्छ्वास के बीच में कोई अन्तर नहीं होता तथा उनका शब्द बड़ा मृदु, कोमल और सरल होता है इसको "कोष्ठीयश्वास" (Vesicular Breathing) करते हैं यह वायुकोष्ठों में ही पैदा होता है और फुफ्फुसों पर सर्वत्र सुनाई देता है।

प्रणालीय या कोष्ठीय श्वास के बीच में श्वास के और भेद भी होते हैं। निःश्वास और उच्छ्वास में अन्तर नहीं होता, परन्तु उच्छ्वास लम्बा होता है अर्थात् $\frac{1}{3}$ से अधिक या निश्वास के बराबर पूरा सुनाई देता है श्वास का शब्द भी सरल के स्थान पर कुछ कर्कश होता है और धीरे धीरे बढ़ता हुआ कोष्ठीय से प्रणालीय बन जाता है। प्रणालीय से बढ़कर शब्द ऐसा हो जाता है जैसे कि वायु कन्दरा, कोटर या शून्य स्थान से गुजरे इसे "कन्दरीय" (Tubular Breathing) या कोटरीय शब्द कहते हैं। खण्डीय फुफ्फुस प्रदाह (Lober Pneumonia) से पीड़ित खण्ड के ऊपर या आर्द्र फुफ्फुसावरण प्रदाह में तरल के ऊपर फुफ्फुस का श्वास शब्द अति स्पष्ट और कर्कश सुनाई देता है। कई रोगों में श्वास शब्द कम सुनाई देता है या बिलकुल सुनाई नहीं देता, यथा फुफ्फुसावरण मोटा हो या उसमें थोड़ा तरल हो तो श्वासोच्छ्वास शब्द कम, यदि अधिक हो तो बहुत थोड़ा, और अत्यधिक हो तो बिलकुल सुनाई नहीं देता।

सहगामी शब्द—स्वस्थावस्था में श्वास के साथ अन्य कोई शब्द

नहीं होते परन्तु रुग्णावस्था में अन्य शब्द भी उत्पन्न हो जाते हैं और श्वास के साथ सुनाई देते हैं। यह तीन प्रकार होते हैं।

(१) करकरापन (Crepitaions) (२) कूजन (Ronchii) (३) घर्षण (Friction Sound)।

१. करकरायन—यह एक प्रकार के आर्द्र शब्द हैं जो तरल वस्तुओं में से वायु के गुजरने या चिपटनशील वस्तु के परस्पर अलग होने से उत्पन्न होते हैं। यह चार प्रकार के हैं।

(क) मृदु (ख) मध्य (ग) कठोर और (घ) मिश्रित।

(क) मृदु करकरायन—चिपटनशील वस्तु के परस्पर विभेद से उत्पन्न होता है। इसका बिलकुल ठीक उदाहरण देना तो कठिन है पर यह कह सकते हैं कि यदि कड़े बाल को कान के पास लाकर मरोड़ा जाय तो जो शब्द होगा, या चिपकी हुई अंगुलियों को कान के पास लाकर पृथक् करने से जो शब्द पैदा होता है उसी के समान यह भी होता है। वायु कोष्ठों में जब शोथ उत्पन्न होती है, तो उनमें स्राव होता है, श्वास लेते समय यह स्रावयुक्त कोष्ठ जब पृथक् होते हैं तो मृदु करकरायन उत्पन्न होती हैं यह करकरायन खण्डीय फुफ्फुसप्रदाह की प्रथम अवस्था में अथवा राजयक्ष्मा के आरम्भ में सुनाई देते हैं।

(ख) मध्य और (ग) कठोर करकरायन वायु के तरल में से गुजरने पर उत्पन्न होती है। जब स्थान छोटा हो और तरल थोड़ा हो तो मध्य और जब स्थान बड़ा हो और तरल अधिक हो तो कठोर करकरायन उत्पन्न होती है। जब तीनों प्रकार के मृदु, मध्य अथवा कठोर एक ही रोगी में अथवा दो इकट्ठे सुनाई दें तो (घ) मिश्रित करकरायन कहलाती हैं। यह तीनों, और मिश्रित करकरायन एक ही रोग की भिन्न २ अवस्थाओं में उत्पन्न होती हैं। यथा फुफ्फुसप्रदाह के आरम्भ में मृदु करकरायन, फुफ्फुसप्रदाह की तीसरी अवस्था में अर्थात् जब ठोस स्थान द्रवित होने लगता है तो पहले मध्य करकरायन सुनाई देती है

इसके पश्चात् यदि वह स्थान द्रवीभूत हो जाय तो कठोर करकरायन होती है, और बीच बीच में मिश्रित होती है, इसी तरह राजयक्ष्मा में पहले मृदु, फिर मध्य फिर मिश्रित और कठोर बन जाने पर कठोर होती है। कठोर करकरायन फुफ्फुसों में पूय, रक्त, सीरम और जलादि के कारण भी होती है।

२. कूजन—ये शुष्क शब्द है—इनके दो भेद हैं:—

(क) सूक्ष्म और (ख) स्थूल।

(क) सूक्ष्म कूजन—पतली बारीक और "काकली" वत् होती है। यह सदा सूक्ष्म वायु प्रणालियों के शोथ युक्त होने, उनकी दीवारों के कफलिप्त होने, अथवा उनके छिद्र तङ्ग हो जाने के कारण उत्पन्न होती हैं। ये प्रणालीय फुफ्फुस प्रदाह, (Broncho-Pneumonia) तीव्र-कास और तमक श्वासादि रोगों में सुनाई देती हैं।

(ख) स्थूल कूजन—मोटी, मधुर और कपोत-कूजन वत् होती है। यह स्थूल वायुप्रणाली के शोथयुक्त, उन की दीवारों के कफलिप्त अथवा उनके छिद्रों के संकीर्ण हो जाने के कारण होती है। यह सदा तीव्र कास में होती है।

३. घर्षण शब्द—फुफ्फुस आवरण जब खर हो जाते हैं तो उन दो खर आवरणों के परस्पर घर्षण से 'घर्षण शब्द' उत्पन्न होता है। यह दो प्रकार का होता है मृदु और कर्कश। मृदु घर्षण आर्द्र फुफ्फुसा-वरण प्रदाह की प्रारम्भिक अवस्था में होता है जब तरल नहीं बना होता और फुफ्फुसावरण स्निग्ध होते हैं। कर्कश घर्षण शुष्क फुफ्फुसावरण प्रदाह में होता है।

शब्द श्रवण—रोगी की छाती पर स्टैथस्कोप लगा कर उस से एक, दो, तीन, शब्द उच्चारण कराएं और सुनें तो ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई समीप खड़ा बोल रहा हो। शब्द श्रवण दोनों फुफ्फुसों के

समान स्थानों पर एकसा होना चाहिये। यह अनेक रोगों में बढ़ जाता है, कईयों में घट जाता है, और कई में बिलकुल नष्ट हो जाता है। इसका बढ़ना प्रगट करता है कि फुफ्फुस ठोस (शोथ युक्त) है। जैसे जैसे शोथ बढ़ता जाता है यह भी बढ़ता जाता है और ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई कानों में ही बोल रहा हो, ऐसी अवस्था में अत्यन्त मन्दस्वर से कहा हुआ शब्द भी सुनाई देता है।

शब्द श्रवण का घट जाना प्रगट करता है कि फुफ्फुसावरण का कोई विकार है, जब यह मोटा हो जाय या इसमें थोड़ा तरल हो तो उच्चारित शब्द कम सुनाई देता है, जब तरल अधिक हो जाय तो बहुत कम और अत्यधिक हो जाय तो बिलकुल ही सुनाई नहीं देता। जब वायु प्रणालियों में कफ आदि कोई वस्तु मार्ग को रोक दे और उसमें से वायु आ जा न सके तो भी शब्द श्रवण प्रतीत नहीं होता।



अध्याय ४

रोग परीक्षा (४)

रक्त व रक्त वाहक संस्थान

रक्त वाहक संस्थान की परीक्षा करते समय विशेष प्रश्नों की ओर ध्यान देना चाहिये :—

(१) उसके हृदय प्रदेश में पीड़ा, तथा संवेदना आदि तो नहीं होती है ? यदि होती है तो कहां होती है ? रोगी से कहे कि हाथ लगा कर बतलाए। तथा किस समय होती है, सदैव रहती है या किसी किसी समय केवल श्रम करने पर ? पीड़ा उस स्थान पर स्थिर रहती है या वाम स्कन्ध अथवा वाम बाहु की ओर जाती है, यथा हृदयावपीड़न (Angina) में ?

(२) धड़कन तो नहीं होती ? होती है तो सदैव या किसी किसी समय-यथा श्रम करने पर ?

(३) शिर में चक्कर तो नहीं आते ? कभी बेसुध तो नहीं होता ? यदि होता है तो किस समय-श्रम करने पर या वैसे भी ?

(४) श्वास तो नहीं चढ़ता ? चढ़ता है तो किस समय, सदैव, वा, कभी कभी या श्रम करने पर।

(५) निद्रा आती है या नहीं ? यदि आती है तो गाढ़ या स्वप्नमय-(हृदय रोग में स्वप्न सदा भयानक आते हैं-कहीं से गिरना, हिंसक जन्तुओं से डरना आदि) निद्रा अकस्मात् भग्न तो नहीं हो जाती ? इस बात का ध्यान रहे कि उत्तरात्मक प्रश्न नहीं पूछने चाहियें।

(६) हाथ, पैर कभी शोथयुक्त या ठण्डे तो नहीं होते (ऐसा हृदयावसाद के समय या हृदयदौर्बल्य में होता है)।

(७) थूक में रक्त तो नहीं आता।

दर्शन

रोगी का वर्ण देखें। नीला, पीला, या भुसभुसा तो नहीं। वर्ण देखने के लिये अधो पलक के अन्दर, नख व तालु पृष्ठ को देखते हैं। ग्रीवा में रक्तवाहिनी फड़कती तो नज़र नहीं आती? स्वस्थावस्था में नहीं दिखनी चाहिये। अंगुलियों के सिरे मोटे या नीले तो नहीं, अथवा नाड़ी स्पन्दन तो नजर नहीं आता? अंगुलियें मोटी उस अवस्था में होती हैं जब हृदय के कपाट तङ्ग होते हैं, और नीली उस समय, जब हृदय-कार्यावरोध हो रहा हो। हृदय प्रदेश को नङ्गा करके देखें। यदि धड़कन नज़र आती है तो कितने स्थान पर और कैसी। स्वस्थावस्था में बाएं पांचवें पर्शुकान्तर में मध्यरेखा से ३ इञ्च बाहर की ओर और चूचुक से लगभग १ इञ्च नीचे थोड़े से स्थान पर धड़कन नजर आती है और यह अधिक से अधिक १ इञ्च स्थान घेरती है। जब धड़कन अधिक स्थान घेरे हुये हो या नीचे और बाहर की ओर हो तो हृदय को रुग्ण समझना चाहिये।

कई बार भय अथवा जोश से हृदय अधिक धड़कने लगता है जिसे रोगी प्रतीत कर सकता है। इस स्थान के अतिरिक्त वक्ष में अन्य स्थानों पर यथा बृहद् धमनी के किसी भाग के समीप, या वक्षोऽस्थि के ऊपर ग्रीवा में, या कौड़ी प्रदेशादि में धड़कन प्रतीत हो तो इसे रुग्ण अवस्था समझनी चाहिये। यह देखें कि धड़कन नियमित है या अनियमित। हृदय प्रदेश आगे की ओर उभरा हुआ या पीछे की ओर घुसा हुआ तो नहीं।

स्पर्शन

रक्तवाहक संस्थान के स्पर्शन में हृदयप्रदेश का स्पर्शन और नाड़ी स्पर्शन (नाड़ी परीक्षा) सम्मिलित है।

नाड़ी परीक्षा

नाड़ी—प्रायः सदैव दक्षिण या वाम हस्त के अङ्गुष्ठ मूल में बाह्य प्रकोष्ठिका धमनी को तीन मध्यमाङ्गुलियों से देखी जाती है। नाड़ी स्पर्शन के समय रोगी की बाहु ढीली, और कोहनी किसी स्थान पर टिकी हुई होनी चाहिये। नाड़ी स्पर्शन में निम्नोक्त बातें देखी जाती हैं:-

(१) गति (Rate per minite)– द्रुत है या मन्द।
(२) यति (Rhythm)—सम है या विषम।
(३) आकृति (Volume)—स्थूल है या कृश।
(४) संहिति (Condition of Blood Vessels)—मृदु है या कठोर।
(५) उत्पात (Tension)—तीव्र है या मन्द।
(६) रक्तभार (Blood Pressure)—न्यून है या अधिक।

(१) गति (Rate per minite)—स्वस्थावस्था में नाड़ी की गति प्रति मिनट ७२ से ८० तक होती है। जितना बड़ा हृदय होगा उतनी ही गति कम होगी। अतः ठिगनों में लम्बों की अपेक्षा, स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा, बालकों में बड़ों की अपेक्षा नाड़ी की गति अधिक होती है। गर्भ के हृदय की गति अतितीव्र होती है १२० से १४० तक। स्थूल दृष्टि से गर्भ की धड़कन यदि १२० हो तो लड़का और यदि १४० हो तो उसे लड़की समझना चाहिये। परन्तु यह आवश्यक नहीं, क्योंकि सम्भव है कि लड़की का शरीर ही बड़ा हो। तथा अन्य अनेक कारण हैं जिनका गति पर प्रभाव पड़ता है।

जितना ही हृदय बल शाली होगा उतनी ही गति कम होगी और जितना दुर्बल होगा उतनी ही अधिक होगी। अत्यन्त क्षीणावस्था में गति अतितीव्र हो जाती है।

जितनी शरीर की उष्णता अधिक होगी (ज्वरों में) उतनी ही गति

तीव्र होगी, ज्वर में प्रत्येक डिग्री के पीछे प्रति मिनट "८" के हिसाब से गति बढ़ जाती है। परन्तु दण्डक ज्वर, आन्त्रिक ज्वर, पञ्च दैनिक, त्रिदैनिक आदि संतत ज्वर तथा शीर्षसौषुम्न ज्वर व वातश्लैष्मिक आदि ज्वरों में नाड़ी की गति ताप की अपेक्षा कम बढ़ती होती है। स्वस्थावस्था में बैठने, उठने, चलने-फिरने और व्यायामादि करने से गति बढ़ जाती है। लेटने और खड़े होने में प्रतिमिनट ४-६ का अन्तर पड़ जाता है, परन्तु राजयक्ष्मादि रोगों में या जिनमें रक्तभार कम होता है अन्तर अत्यधिक होता है अर्थात् गति अपेक्षया तीव्र हो जाती है और जिनमें रक्तभार अधिक हो उनमें गति अपेक्षया कम हो जाती है और अन्तर कम, अर्थात् रक्तभार के अनुसार अन्तर न्यूनाधिक होता रहता है।

हृदय की गति आयु अनुसार न्यूनाधिक होती है। गर्भावस्था में तथा नवजात शिशु में "१४०" प्रति मिनट, आयु बढ़ने से शनैः शनैः यह कम होती जाती है। पहले वर्ष तक "१२०" तीसरे वर्ष तक "१००" ७ से १४ व्रर्ष तक "६०" १४ से २१ वर्ष तक "८०" २१ से ६० तक "७०" तथा वृद्धावस्था में "८०" प्रति मिनट।

(२) यति (समता-विषमता Rhythm)—नाड़ी सम है या विषम, तथा समता और विषमता समय के अनुसार है या वेग के अनुसार है।

समयानुसार—अर्थात् नाड़ी स्पन्दन ठीक हो रहा है या कभी मन्द और कभी तीव्र। नाड़ी-स्पन्दन पूरे एक मिनट तक गिनना चाहिये। अथवा कभी कभी नाड़ी बीच में चलते चलते नाड़ी लुप्त तो नहीं हो जाती।

वेगानुसार—प्रत्येक स्पन्दन का वेग समान है या असमान। कई बार ऐसा भी होता है कि एक स्पन्दन मृदु या लुप्त हो जाता है और दूसरा अति वेग-युक्त होता है।

(३) आकृति (Volume)—रक्त की उस मात्रा को परिमाण या आकृति कहते हैं जो रक्तवाहिनियों में सञ्चार करती रहती है। साधा-

रण परिमाण में स्पन्दन साधारण प्रतीत होता है और अधिक में अधिक तथा न्यून में न्यून।

(४) संहति (Cnditions of Artries)—धमनी की दीवार की अवस्था को संहति कहते हैं अर्थात् दीवार मृदु है या कठोर इसको देखने के लिये उस पर तीनों अंगुलियां धीरे धीरे फेरें। स्वस्थावस्था में धमनी की दीवार प्रतीत नहीं होती परन्तु जब धमनी कठोर हो जाती है तो बड़ी अंगुलियों के नीचे रज्जुवत् प्रतीत होती है। धमनी वृद्धावस्था, वृक्क रोग, यकृत रोग, उपदंश, तथा जीर्ण-अजीर्णादि रोगों में कठोर हो जाती है। यह उक्ति है कि मनुष्य की आयु उतनी ही व्यतीत हो चुकी है जितनी उसकी धमनियाँ कठोर हैं। अर्थात् एक युवा पुरुष जिसकी धमनियें कठोर हैं, उस वृद्ध पुरुष की अपेक्षा-जिसकी धमनियें मृदु हैं-वैद्यक दृष्टि में अधिक वृद्ध है।

(५) उत्पात (Tension) नाड़ी को अंगुलियों से इतनी जोर से दबाएं जिससे कि अंगुली को स्पन्दन प्रतीत होना बन्द हो जाय, यह उत्पात को दर्शाता है। अर्थात्—जितने अधिक शक्ति से दबाने से स्पन्दन बन्द होगा उत्पात भी उतना ही अधिक और जितना कम दबाने से बन्द होगा, उतना ही कम होगा।

स्थूल आकृति और तीव्र उत्पात-जीर्ण वृक्क रोग, वातरक्त आदि तथा अधिक रक्तभार, को दर्शाता है।

स्थूल आकृति और मन्द उत्पात—तीव्र ज्वर, बृहत् धमनी रोग, तथा तीव्र संक्रमण को दर्शाता है।

मन्द आकृति और तीव्र उत्पात—अधिक रक्तभार के रोगियों में हृदयावसाद अवस्था को दर्शाता है।

मन्द आकृति और मन्द उत्पात—अतिक्षीणावस्था तथा हृदयावसाद अवस्था को दर्शाता है।

(६) रक्तभार—जब रक्तवाहिनियों में रक्त-संचरण करता रहता है तो यह रक्तवाहिनियों की दीवारों पर दबाव डालता है और अंगुलियों के जितने दबाव से रक्तसञ्चार बन्द हो जाता है उतना ही अधिक रक्तभार होता है। दूसरे शब्दों में "रक्तोत्पात" जिसका वर्णन पीछे कर आये हैं, रक्तभार पर ही निर्भर है। रक्तभार बातों पर अवलम्बित है।

१. हृदय कितने वेग से रक्त को धकेलता है।

२. धमनियां कितनी कठोर हैं। ये दोनों बातें जितनी अधिक होंगी "रक्तभार" भी उतना ही अधिक होगा।

३. रक्त कितनी मात्रा में संचरण कर रहा है।

साधारणतया रक्तभार-धमनी अंगुलियों से दबा कर मालूम किया जा सकता है। परन्तु निश्चित रूप से जानने के लिये रक्तभारमापक यन्त्र (Sphygmomonometer) की सहायता लेनी चाहिये।

ज्यों ज्यों आयु बढ़ती जाती है रक्तभार भी बढ़ता जाता है। विविध रोगों में रक्तभार न्यूनाधिक हो जाता है। इसका अतिन्यून, या अत्यधिक हो जाना भयावह है। रक्तभाराधिक्य से मस्तिष्कादि की धमनियों के फटने का डर रहता है जिस से अर्धाङ्गवात या मृत्यु तक होने का भय होता है। रक्तभार दो प्रकार का होता है।

(१) जो हृदय संकोच के समय होता है उसे "आकुंचन रक्त भार" (Systolic Blood Pressure)—कहते हैं। (२) जो हृदय प्रसार के समय होता है उसे "प्रसार रक्तभार"—(Diastolic Blood Pressure) कहते हैं।

सामान्यतः आकुंचन रक्तभार इस प्रकार होता है:—

आयु १०—१५ वर्ष=१००—११० शतांशमीटर-पारा
 १५—२५ ,, =११५—१२५ ,,
 २५—५० ,, =१३५—१४५ ,,
 ५० से अधिक=१४५—१५५ ,,

प्रसार रक्तभार १०—१५ वर्ष की आयु में ६०—७५ होता है और फिर धीरे धीरे ६५ तक हो जाता है। १०० से अधिक होना ठीक नहीं।

रक्तभार मापक यन्त्र प्रयोग विधि :—रोगी को बिठादें या लिटादें। यदि लिटादें तो अच्छा होगा। उसकी भुजा पर यन्त्र का भुजवर्ती भाग लपेट दें और भारदर्शक भाग को रोगी की भुजा की समतल मेज पर रखें। रक्तभार को देखने की दो विधियां हैं—

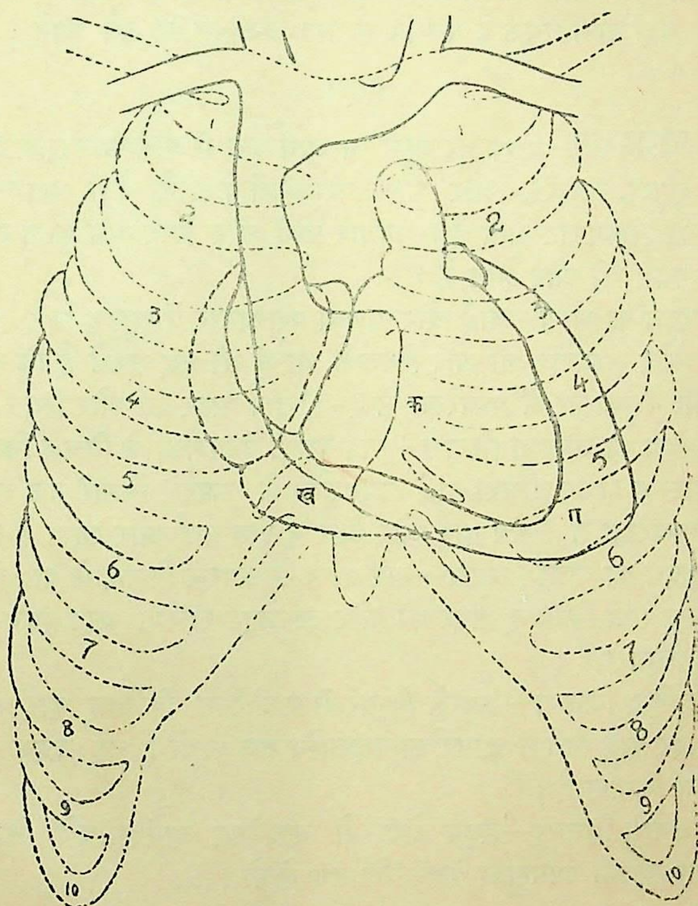
(१) नाड़ी पर हाथ रखें और यन्त्र से वायु फूंकते जायें, इससे भुजवर्ती भाग फूलता जायेगा और भुजा पर दबाव डालेगा जिससे रक्तसंचार बन्द हो जायगा और नाड़ीस्पर्श नहीं होगा। अब वायु पहुँचानी बन्द कर दें और वायु निकलने का द्वार खोल दें, इससे थोड़ी थोड़ी वायु बाहर निकलने लगेगी। जब नाड़ी पुनः स्पर्श होने लगे उसे उसी समय भारदर्शक पढ़लें, यही आकुंचन रक्त भार होगा। इससे केवल आकुंचन रक्त भार ही मालूम हो सकता है।

(२) इसमें नाड़ी स्पर्श न करके कोहनी के ऊपर स्टैथस्कोप रखकर प्रगण्डीया धमनी को सुना जाता है। वायु के दबाव पड़ने से धमनी के ऊपर शब्द पैदा होता है और फिर धमनी की फड़क बन्द होने पर बन्द हो जाता है। अब पूर्वोक्त रीति से वायु द्वार खोलदें। जब फिर शब्द सुनाई दे तो भारदर्शक से भार नोट करलें यह आकुंचन भार होगा। इसके पश्चात् शब्द में अन्तर पड़ जायगा। शब्द कभी अधिक होगा और कभी मरमरवत् सुनाई देगा। इन बातों पर ध्यान न देते हुए जब शब्द एकदम धीमा, मृदु या लुप्त हो जाय तो पुनः भार नोट करलें यह प्रसार भार होगा।

भारदर्शक पढ़ने में तीक्ष्ण दृष्टि होनी चाहिये क्योंकि थोड़ी ही देर में हवा निकलने से भार में पर्याप्त अन्तर पड़ जाता है।

यदि दुबारा पढ़ने की आवश्यकता प्रतीत हो तो भार को शून्य पर लाकर पुनः उपर्युक्त विधि से देखना चाहिये।

चित्र ८



क—स्वस्थ हृदय

ख—दक्षिण हृदय वृद्धि

ग—वाम हृदय वृद्धि

नाड़ी की गति का चित्र लेने के यन्त्र भी होते हैं। परन्तु उनका वर्णन यहां अनावश्यक है क्योंकि वे प्रायः व्यवहार में नहीं आते।

हृदय

बाह्यदर्शन—हृदय का बहुत सा भाग वक्ष में बाईं ओर वृक्षोऽस्थि तथा दूसरी, तीसरी, और चौथी पर्शुकाओं के पीछे टेढ़ा पड़ा रहता है। यह शंक्वाकार होता है। आधार पीछे और ऊपर तथा कोण नीचे और आगे की ओर होता है।

हृदय का कोण—बाईं ओर पांचवीं पर्शुकान्तर में चूचुक से १$\frac{1}{4}$ इंच नीचे और $\frac{1}{4}$ अन्दर की ओर स्थित है, या यूं भी कह सकते हैं कि बाईं पांचवीं पर्शुकान्तर में मध्यरेखा से ३–३$\frac{1}{2}$ इंच बाहर की ओर स्थित है।

हृदय का ऊपरला किनारा—बाईं दूसरी उपपर्शुका के निचले किनारे से आरम्भ होकर तीसरी दाईं उपपर्शुका के ऊपरले किनारे तक जाता है। मध्यरेखा से १ इंच दाईं ओर और २ इञ्च बाईं ओर रहता है।

हृदय का बायाँ किनारा—बाएं कोण से ऊपरले किनारे के बाएं सिरे तक एक रेखा किञ्चित् बाहर की ओर उन्नतोदर खेंचो। यही हृदय का बायाँ किनारा है।

दाहिना किनारा—ऊपरले किनारे से एक रेखा किञ्चित् दाईं ओर उन्नतोदर दाईं सातवीं उपपर्शुका-वक्षसन्धि तक खेंचो। यह हृदय का दाहिना किनारा है।

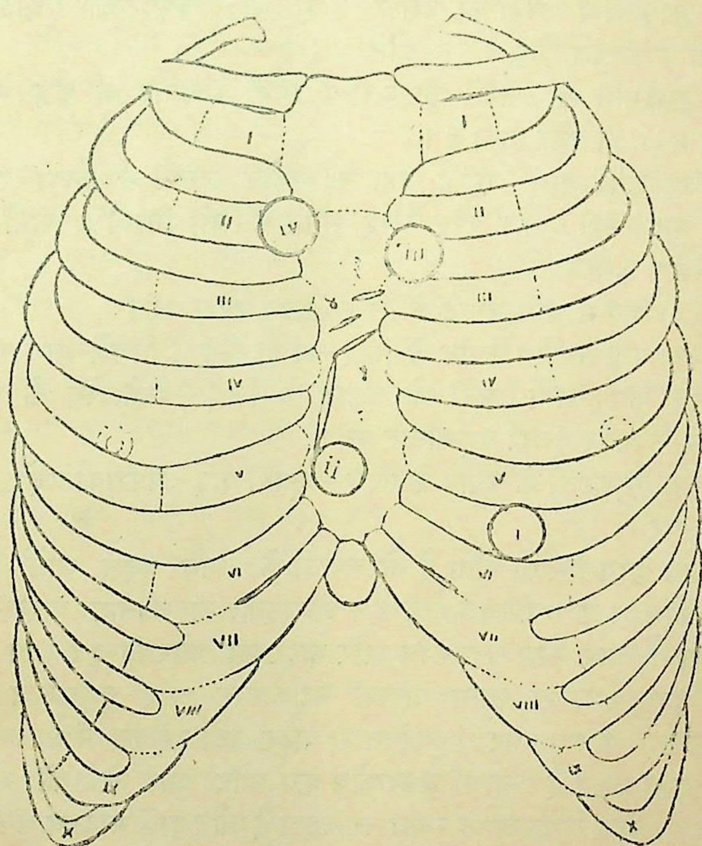
निचला किनारा—हृदय कोण से एक रेखा दाएं निचले किनारे अर्थात् सातवीं उपपर्शुका वक्ष-संधि तक खेंचो।

कपाटों के बाह्य चिह्न

बायां मध्यस्थ कपाट—चौथी उपपर्शुका के समानान्तर कुछ वक्षो-ऽस्थि के पीछे मध्यरेखा से किञ्चित् बाईं ओर होता है।

दायां मध्यस्थ कपाट—दाएं चौथे पर्शुकान्तर के समानान्तर वक्षो-

चित्र ९



१–बायाँ मध्यस्थ कपाट	i–बाएं मध्यस्थ कपाट का श्रवण प्रदेश
२–दायाँ मध्यस्थ कपाट	ii–दाएं मध्यस्थ कपाट का श्रवण प्रदेश
३–फुफ्फुसीया धमनीकपाट	iii–फुफ्फुसीया धमनी के कपाट का श्रवण पदेश
४–बृहद्धमनी कपाट	iv–वृहद्धमनी कपाट का श्रवण प्रदेश

ऽस्थि के पीछे बायाँ कपाट से नीचे लम्बाई के रुख होता है।

फुफ्फुसीया धमनी का कपाट—बाईं तीसरी उपपर्शुका वक्षोऽस्थि सन्धि के ऊपरले सिरे के पीछे होता है।

वृहद्धमनी का कपाट—फुफ्फुसीया धमनी के कपाट के कुछ नीचे और मध्य की ओर होता है।

जहां इनके बाह्य चिह्न हैं वहां स्टैथस्कोप लगाने से इनका शब्द स्पष्ट सुनाई नहीं देता। स्पष्ट शब्द सुनने के लिये निम्नोक्त स्थानों पर स्टैथस्कोप लगायें।

(१) बाएं मध्यस्थ कपाट के लिये—हृदय कोण पर।

(२) दाएं मध्यस्थ कपाट के लिये—वक्षोऽस्थि के निचले भाग पर।

(३) फुफ्फुसीया धमनी के कपाट के लिये—वक्षोऽस्थि के बाएं किनारे के बाहर दूसरी पर्शुकान्तर पर।

(४) बृहद्धमनी के कपाट के लिये—दूसरी दाईं उपपर्शुका वक्षोऽस्थि सन्धि पर।

जब हृदय विस्तृत होता है तो कपाटों के स्थान बदल जाते हैं। क्षेपककोष्ठ ही प्रायः विस्तृत होते हैं। और इन्हीं का जानना आवश्यक है। बायाँ क्षेपक कोष्ठ सदा नीचे और बाहर की ओर विस्तृत होता है, अतः हृदय कोण का स्थान पांचवीं पर्शुकान्तर और चूचुकरेखा के अन्दर रहने के स्थान पर चूंचुकरेखा से बाहर छटी पर्शुका में या इससे नीचे चला जाता है। दायाँ क्षेपककोष्ठ दाईं ओर और नीचे की ओर बढ़ता है, हृदय कोण अपने स्थान पर रहता है और दायें मध्यस्थ कपाट का श्रवणप्रदेश वक्षोऽस्थि से नीचे और दाईं ओर हो जाता है।

इन कपाटों के स्थानों पर स्टैथस्कोप लगाकर सुनना चाहिये कि शब्द ठीक सुनाई देते हैं या नहीं। स्वस्थावस्था में सब स्थानों पर दो शब्द सुनाई देते हैं। पहला शब्द दीर्घ, मन्द और मधुर होता है जिसकी ध्वनि बहुत कुछ 'लूउब्' ध्वनि से मिलती है। यह शब्द रक्त के ग्राहक

कोष्ठों से क्षेपककोष्ठों में वेग सहित घुसने से और मध्यस्थ कपाटों के बन्द होने से हृदयाकुञ्चन के समय उत्पन्न होता है। दूसरा शब्द लघु, उच्च और तीव्र "डप्" के समान होता है। यह शब्द धमनियों के कपाटों के बन्द होने से उत्पन्न होता है, जो हृदयप्रसार के आरम्भ में सुनाई देता है।

चूंकि दोनों मध्यस्थ कपाट और इसी प्रकार दोनों धमनी कपाट इकट्ठे बन्द होते हैं इस लिये पहला और दूसरा शब्द भी एक एक ही होता है, जब दोनों कपाट अलग-अलग बन्द हों तो शब्द भी अलग-अलग होते हैं अतः द्विगुण शब्द सुनाई देता है। यथा "लूब्" "डप" के स्थान पर "लूब्–डडप्" सुनाई देता है। इससे यह समझना चाहिये कि पीछे बन्द होने वाला हृदय की ओर का कपाट दुर्बल है और जिस स्थान पर यह द्विगुण शब्द स्पष्ट सुनाई दे वही कपाट पीछे बन्द होता है। "लूब्" के बाद थोड़ा सा अन्तर रहता है और फिर "डप्" होता है, और फिर 'डप्' के कुछ काल बाद 'लूब' होता है। 'लूब् और डप्' अन्तर थोड़ा तथा "डप् और लुब" में अधिक होता है।

हृदय की परीक्षा करते समय देखा जाता है कि "लूब्" और "डप्" शब्द थीक-ठीक सुनाई देते हैं या नहीं? उनमें कोई विकार तो नहीं? वे मन्द या तीव्र तो नहीं? सामान्यतः स्थूल रूप से यूं कह सकते हैं कि यदि पहले शब्द में कोई विकृति होगी तो मध्य कपाटों के स्थानों पर स्पष्ट सुनाई देगी और उन्हीं के अथवा क्षेपक कोष्ठों के रोगों को दर्शायेगी। यदि दायां भाग विकृत होगा तो विकार दाईं ओर अर्थात् वक्षोऽस्थि के अधोभाग में, और यदि बायां विकृत होगा तो हृदय कोण पर स्पष्ट सुनाई देगा। उदाहरणार्थः-हृदय कोण पर यदि पहला शब्द तीव्र हो तो समझना चाहिये कि दाएं क्षेपक कोष्ठ की दीवार मोटी है और वह कोष्ठ अधिक वेग से काम कर रहा है। जब शब्द बिलकुल सुनाई न दे, तो या तो तुम्हारे सुनने में दोष है या हृदय अति दुर्बल है।

हृदय शब्दों में विकार—विकार शब्दों के आरम्भ, मध्य या अन्त में होते हैं। इनके अतिरिक्त शब्दों के साथ कभी कभी घर्षण शब्द भी सुनाई देते हैं, यह शुष्कहृदयावरणप्रदाह में होते हैं। इनकी पहचान स्पष्ट है, प्रथम तो यह घर्षण शब्द हैं, दूसरे आकुंचन तथा प्रसार दोनों समय होते हैं। इन विकारों को मर्मर के नाम से पुकारा जाता है। यह मर्मर दो प्रकार के होते हैं।

(१) व्यापारिक—(Haemic Murmur) हृदय में विकार न हो परन्तु रक्त-न्यूनतादि के कारण हृदय के व्यापार में भेद पड़ जाय और शब्द में विकृति आ जाय। अर्थात् मर्मर उत्पन्न हो जाय। दोष के दूर होने पर मर्मर भी लुप्त हो जाता है।

(२) ऐन्द्रिक (Organic Murmur) हृदय में स्थायी रूप से विकृति आ जाने के कारण शब्द में स्थाई रूप से मर्मर उत्पन्न हो जाता है।

अन्य प्रकार से भी इस मर्मर के दो भेद हैं।

(१) रोधक—जो अवरोध के कारण रक्त के संकीर्ण मार्ग से गुजरने से उत्पन्न होता है।

(२) प्रत्यागमक जो कोष्ठ से गये हुए रक्त के पुनः वापस लौटने से उत्पन्न होता है।

इन दोनों अवस्थाओं में विशेष प्रकार के मर्मर शब्द पैदा होते हैं।

(१) व्यापारिक मर्मर शब्द—सदा आकुंचन के समय उत्पन्न होते हैं तथा दीर्घ और मृदु होते हैं। ये प्रायः हृदय आधार पर ऊपर की ओर सुनाई देते हैं। इनकी विशेषता यह है कि ये एक से अधिक कपाट स्थानों पर उत्पन्न हो सकते हैं मानों बहुत से कपाट विकृत हैं तथा यह स्थानिक होते हैं-(कपाट स्थान से इधर उधर दूरी पर सुनाई नहीं देते)।

व्यापारिक मर्मर प्रायः फुफ्फुसीया धमनी के श्रवण स्थान पर अधिक तथा स्पष्ट सुनाई देते हैं अथवा हृदय कोण पर।

ऐन्द्रिक मर्मर—आकुंचन और प्रसार दोनों समय उत्पन्न होते हैं

अर्थात् विकृति के अनुसार आकुञ्चन के समय या प्रसार के समय, अथवा दोनों समय तथा जो कपाट विकृत हो केवल उसी के स्थान पर स्पष्ट सुनाई देते हैं और वहीं ही नहीं प्रत्युत वहां से कुछ दूर तक भी सुनाई दे सकते हैं। बायें मध्यस्थ कपाट के मर्मर हृदय कोण से कक्षा और स्कन्धास्थि के निचले किनारे तक सुनाई देते हैं। दायें मध्यस्थ कपाट का मरमर नीचे की ओर वक्षोऽस्थि के निचले भाग से उदर की ओर जाते हैं। बृहद्धमनी कपाट से रोधक शब्द ऊपर और प्रत्यागमक नीचे, फुफ्फुसीया धमनी से किंचित् बाईं ओर।

रोधक शब्द यदि आकुंचन के समय होगा तो 'लूउब्-डक्' के स्थान पर 'फूूडप' या 'रूप-डफ' हो जायगा और यदि प्रसार के समय होगा तो 'लूउब-डप' या 'रूप-डप' हो जायगा।

प्रत्यागमक शब्द यथाक्रम फूूडप्, फूूडफ और लूफ़डफ़ सुनाई देगा।

परीक्षा करके यह देखें कि विकार किस कपाट पर है और किस समय स्पष्ट सुनाई देता है (आकुंचन के या प्रसार के समय) तथा रोधक है या प्रत्यागमक। प्रत्येक मर्मर की परीक्षा में निम्नोक्त बातें देखी जानी चाहिये :

(१) मर्मर किस हृदय-कपाट पर अथवा किस श्रवण प्रदेश पर स्पष्ट सुनाई देता है। जहाँ स्पष्ट सुनाई देता है उसी कपाट को विकृत समझना चाहिये।

(२) मर्मर आकुंचन के समय सुनाई देता है या प्रसार के समय। यदि हो सके तो यह भी ज्ञात करने का यत्न करें कि यह आकुंचनीय मर्मर (लूउब) के स्थान पर है या उसके पहले या पीछे। इसी प्रकार प्रसारी मर्मर (ढ्प) के स्थान पर है या उससे पूर्व या उससे पीछे।

(३) मर्मर हृदय के केवल उस एक कपाट स्थान पर सुनाई देता है या वहां से कुछ दूरी पर भी सुनाई देता है। व्यापारिक मर्मर केवल हृदयप्रदेश पर सुनाई देता है दूर नहीं।

(४) मर्मर का स्वरूप क्या है कर्कश (खर) अथवा कोमल (मृदु) ?

रक्त-परीक्षा

स्वस्थावस्था में रक्त में लालकण, श्वेतकण, रक्ताणु और रक्तवारि-यह चार चीजें होती हैं। रक्तवारि में अनेक प्रकार के लवण द्राक्षोज (Glucose) वसा (Fat) यूरिया (Urea) कोलेस्ट्रीन आदि वस्तुएं होती हैं, यह चीजें भिन्न रोगों में घटती-बढ़ती रहती हैं इनके अतिरिक्त रक्त में अनेक प्रकार के कीटाणु, जीवाणु आदि भी आ जाते हैं, इनकी परीक्षा-विधि इस पुस्तक की सीमा से बाहर है। रक्त-परीक्षा विशेषज्ञों का काम है, जिस चीज की परीक्षा अभीष्ट हो उसके अनुसार विशेषज्ञ को आदेश करके उसकी रिपोर्ट मंगवालें। अति संक्षेप से थोड़ा थोड़ा-सा वर्णन रक्त कणों की परीक्षा का करेंगे।

इनके अतिरिक्त रक्त में विशेष प्रकार के पदार्थ एग्लूटिनीन (Agglutinin) अन्टीबाडीज़ (Antibodies) आदि उत्पन्न हो जाते हैं। जिनके द्वारा आन्तरिक ज्वर (Typhoid, Paratyphoid etc.) उपदंश (Syphilis) आदि रोगों की परीक्षा की जाती है।

रक्तकण—(लालकण) इनकी संख्या स्वस्थावस्था में प्रति घन सहस्रांश मीटर (cmm) पुरुषों में ५० लाख और स्त्रियों में ४५ लाख होती है। रक्त कणों में रक्तता इसके अन्दर रहने वाला रक्त रञ्जक के कारण होता है। लालकणों का न्यूनाधिक रक्त-वर्ण का होना रक्त-रञ्जक (Haemoglobin) की मात्रा पर निर्भर है। लालकणों की संख्या के कारण रक्त का वर्ण लाल होता है। पाण्डुरोग, रक्तक्षरण (रक्तस्राव), रक्त अर्श, रक्तपित्त आदि शरीर को क्षीण, दुर्बल करने वाले रोगों में एवं विलोहितता (Anaemia) में रक्त कण कम हो जाते हैं इनमें रक्त रञ्जक भी कम हो जाते हैं तथा इनका आकार और परिमाण भी बदल जाता है। लालकण स्वस्थावस्था में गोल, दोनों ओर से बीच में पिचके

हुये और सींगी रहित होते हैं। विलोहितता में यह रक्ताणु सींगी युक्त तथा परिमाण से बढ़े हुये भी दृष्टिगोचर होते हैं, इनका वर्णन तद् तद् रोगों में किया जायगा।

रक्तकणों में रक्तरञ्जक जब सम्यक् मात्रा में हों तो उसे शत प्रतिशत रक्तरञ्जक कहते हैं और यही स्वास्थ्य का चिह्न है, जैसे जैसे स्वास्थ्य बिगड़ता जाता है वैसे वैसे रक्तरञ्जक भी कम होते जाते हैं। इनकी न्यूनता प्रायः शतांशों में मापी जाती है अर्थात् रक्तरञ्जक अमुक प्रतिशत (यथा ५०%, ६०% आदि) मात्रा में हैं। पूरा पूरा जानने के लिये ग्रामों में भी मापा जाता है, स्वस्थावस्था में प्रति १०० घन शतांश मीटर में १३–१५ मिलीग्राम (13–15 mgs. per 100 ml) होते हैं।

किसी रोग में रक्तरञ्जक लालकणों की अपेक्षा अति न्यून, किसी में किंचित् न्यून, और किसी में अधिक भी हो जाते हैं। इसको मापने के लिये रंगों का बना बनाया चित्र आता है जिसमें शत प्रतिशत रक्तरञ्जक के रङ्ग से लेकर बीस प्रतिशत रङ्ग तक के टुकड़े बने होते हैं इनको "रक्तरञ्जक मापक"[1] कहते हैं। एक विशेष शोषक पत्र पर जो इसी काम के लिये इनके साथ होता है रक्तबिन्दु लेते हैं। इस प्रकार वह पत्र रक्त से रंग जाता है। अब इस पत्र का उपर्युक्त यन्त्र से मिलान करके देखते हैं। जिस टुकड़े से यह रंग मिल जाय उसको पढ़ लेते हैं। इससे यह मालूम हो जाता है कि रक्त में रक्तरञ्जक कितने प्रतिशत है। इनके अतिरिक्त इसके मापने की अन्य विधियें भी हैं। एक विधि नीचे लिखी जाती है।

रक्तरञ्जक (Haemoglobin) की रक्त में प्रतिशत मात्रा निकालने की विधि—रक्त में (Haemoglobin) की मात्रा निकालने की साधारणतया निम्न विधियाँ हैं :

---

1 Haemoglobinometer.

(१) साहली की विधि (Sahli's Method).

(२) (Tallquivist Method), टाल ।

उपरोक्त दोनों परीक्षाओं में साहली विधि (Sahli's Method) का प्रयोग अधिकतर होता है। इस विधि में हम साहली हैमोग्लोबिनोमीटर (Sahli's Haemoglobinometer) का प्रयोग करते हैं। इसमें एक नलिका होती है जिसमें रक्त रंजक (हैमोग्लोबिन) की मात्रा की जानकारी के हेतु चिह्न बने रहते हैं। इस नलिका के एक तरफ चिह्न प्रतिशत मात्रा में रक्त रंजक को दर्शाते हैं तथा दूसरी तरफ ग्राम में दर्शाते हैं अर्थात् १०० c.c. रक्त में कितने ग्राम हेमोग्लोबिन हैं, यह ज्ञात हो जाता है। यह तालिका हैमोग्लोबिनोमीटर के बीच में रक्खी जाती है जिसके दोनों तरफ रंग के स्तम्भ होते हैं जो कि विशेष प्रकार के पीत वर्ण के होते हैं।

विधि=सर्वप्रथम हैमोग्लोविनो मीटर ट्यूब में नीचे के निशान तक $\frac{N}{10}$ हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड Hcl विलयन होते हैं। तत्पश्चात् पिपेट (Haemoglobinometer pipette) में २० घन शतांश मीटर तक रक्त को अंगुली से लेते हैं तथा इस रक्त को तुरन्त हैमोग्लोबिनो-मीटर ट्यूब में जिसमें नलिका हाईड्रोक्लोरिक $\frac{N}{10}$ (Hcl) विलयन है, में फूंक देते हैं। रक्त का अम्ल मिलाकर ऐसिड हिमेटिन (Acid Haematin) बनाते हैं। रक्त व अम्ल को किसी काञ्च के डण्डी (रॉड) से भली प्रकार हिलाकर मिला देते हैं। तत्पश्चात् ड्रोपर की सहायता से ट्यूब में एक एक बूंद करके परिश्रुत जल मिलाते जाते हैं और काँच रॉड से भली प्रकार मिश्रित करते हैं। तथा ट्यूब के इस द्रव के वर्ण की तुलना उसके दोनों तरफ स्थित वर्ण स्तम्भ से करते हैं। परिश्रुत जल की बूंदें तब तक खून में मिलाई जाती हैं जब तक की ट्यूब के द्रव का वर्ण समीप स्तम्भ के वर्ण के तुल्य नहीं हो जाता। समान वर्ण

चित्र १०

रक्तकण श्वेताणु

रक्त-



(१) वहुरूप मींगगीयुक्त श्वेताण

(२) क्षुद्रलसीकाणु

(३) बृहतलसीकाणु

(४) अम्लरंगेच्छु श्वेताणु

होने पर जल मिलाना बन्द कर देते हैं तथा ट्यूब पर निशान को पढ़ लेते हैं यही अंक हैमोग्लोबिन की प्रतिशत मात्रा तथा १००० सी० सी० में रक्त रंजक कितना है, यह दर्शाता है।

श्वेताणु—रक्त में प्रतिसहस्रांश घन मीटर ६००० से ८००० तक होते हैं यह चार प्रकार के होते हैं:—

१. बहुरूप मींगीयुक्त श्वेताणु (Polymorphonuclear)—इनकी संख्या प्रतिशत ६५ से ७० तक होती है।

२. क्षुद्रलसीकाणु (Small lymphocytes)—प्रतिशत २० से २५ तक।

३. बृहल्लसीकाणु (Large lymphocytes)—प्रतिशत ५ से १० तक।

४. बृहत् स्वच्छ श्वेताणु अथवा बृहत् मींगीयुक्त श्वेताणु (Large hyalines or Large mononuclears)—प्रतिशत ३ से ५ तक।

५. अम्लरंगेच्छुश्वेताणु (Eosinophil)—प्रतिशत १ से २ तक।

भिन्न भिन्न रोगों में श्वेताणुओं की संख्या रक्त में घटती बढ़ती रहती है और इनके भेदों का परस्पर निपात भी बदलता रहता है। किसी रोग में किसी प्रकार के श्वेताणु घटते या बढ़ते हैं, और किसी में किसी प्रकार के तथा इनके अस्वाभाविक स्वरूप भी रक्त में उपस्थित हो जाते हैं। इनके ज्ञान की विधि अन्त में दर्शाई गई है।

रक्तवारि—में रोगाणु और उनका विष होता है। कभी कभी श्वेताणु, लालकण या रक्तवारि में भी रोगाणु रहते हैं। इस कारण काचपट्टी पर रक्तबिन्दु को रखकर या फैलाकर अणुवीक्षण द्वारा देखते हैं। देखने से पूर्व रंग लेते हैं विशेष विशेष रोगाणुओं के लिये बिना रंगे भी देखते हैं।

रक्तवारि में रोगाणुओं के विष से एक विशेष क्रिया (अग्लूटिनेशन) विडाल्स टेस्ट[1] द्वारा देखी जाती है:—

1. Widal's test.

रक्त को लेकर उसका सीरम पृथक् करते हैं। फिर इसको विभिन्न कीटाणुओं के भिन्न भिन्न घोलों से मिलाकर पिप्पट में २४ घण्टे समशीतोष्ण स्थान पर रखा जाता है। इस सीरम के प्रभाव से जिस घोल से कीटाणु पृथक् होकर एक स्थान पर एकत्रित हो जायं, वही रोग रोगी में विद्यमान होता है। घोल में कीटाणु ५० में १, १०० में १'२०० आदि आदि भिन्न भिन्न निपातों में होते हैं। जितने कम कीटाणुओं वाले (उच्च) घोल में यह क्रिया सिद्ध हो उतना ही रोग का निश्चय अधिक होता है अर्थात् यदि ३०० या ४०० में १, में यह क्रिया सिद्ध हो तो रोग अवश्यमेव होगा। और यदि केवल ५० में १ वाले घोल में हो तो रोग के होने की सम्भावना कम है।

यह क्रिया (विडाल्स टेस्ट) रोगारम्भ से १० दिन बाद करनी चाहिये। इससे पूर्व की हुई परीक्षा प्रायः सिद्ध नहीं होती। ७ दिन से पहले तो सिद्ध होती ही नहीं।

उपदंश के लिये रक्त-परीक्षा भिन्न रीति से (Compliment fixation test) अर्थात् (वास्सरमैन्स टेस्ट)[1] द्वारा की जाती है।

रक्त में *निम्नोक्त बातें देखी जाती हैं :*

१. लालकणों की संख्या, उनका परिमाण और आकार।

२. उनमें रक्तरञ्जक की मात्रा।

३. श्वेतकणों की संख्या और उनके भेदों का परस्पर प्रतिशत निपात।

४. रक्त सूक्ष्मकण (Blood platelets) की संख्या।

५. लालकण, श्वेतकण, और रक्तवारि में रोगाणुओं की उपस्थिति।

६. विडाल्स टेस्ट—आन्त्रिक ज्वर आदि के लिये।

७. उपदंश के लिये वास्सरमैन्स टेस्ट अथवा काहनटेस्ट।

८. रक्त में शर्करा (द्राक्षौज) की मात्रा; स्वस्थावस्था में अनाहार में ०'०६ से ०'१२% होती है। भोजन के बाद ०'१५ प्रतिशत हो जाती

1. Wasserman Reaction.

है। यदि ०·१८ प्रतिशत से अधिक हो जाये तो रक्त में से शर्करा निकल कर मूत्र में आ जाती है।

९. रक्त में यूरिया की मात्रा, स्वस्थावस्था में ०·०२ से ०·०५ प्रतिशत तक होती है। जितनी ही अधिक होती जायगी उतनी ही भयावह है। रोगी को ०·१ प्रतिशत की अवस्था में एक वर्ष से अधिक जीने की आशा नहीं होती और ०·६ प्रतिशत पर भी मर जाता है। अतः जब ०·०५ से बढ़ने लगे तभी उसे कम करने का यत्न करना चाहिये। अधिक प्रोटीन खाने वालों (मांसाहारियों) के रक्त में, कार्वोज खाने वालों (शाकाहारियों) की अपेक्षा अधिक यूरिया होता है।

१०. रक्त में पित्तरञ्जक की मात्रा (Bilirubin) स्वस्थ पुरुष के रक्त में पित्तरञ्जक अल्पमात्रा में होता है। (२५०,००० में १ भाग) परन्तु कामला में इसकी मात्रा अधिक हो जाती है। जब इसकी मात्रा ५०००० में १ से अधिक हो जाय तो कामला उत्पन्न होता है यह बढ़कर २००० में १ तक भी पहुँच जाती है। दूसरे शब्दों में स्वस्थावस्था में (1.0 mg. per 100 ml.) रक्तवारि और जब यह ५ हो जाती है तो कामला उत्पन्न होता है। और बढ़ते बढ़ते १०० तक पहुँच जाती है।

११. रक्त में जमने की शक्ति कितनी है—(Blood Coagulation time)—साधारणतया रक्त एक, दो या अढ़ाई मिनट में जम जाना चाहिये किन्तु अनेक रोगों में विशेषकर जब रक्ताणु कम हो जायें तब रक्त बहुत देर तक नहीं जमता।

१२. रक्त का खल निधान (Blood Sedimentation) रक्तवारि में यदि ऐसी औषधी डाली जाय यथा सोडियम साइट्रेट जिससे रक्त न जमने पाये तब उसमें रक्त कण आदि शनैः शनैः नीचे बैठने लगते हैं, इसी को कण-निधान या खल-निधान कहते हैं। एक विशेष ट्यूब में नियुक्त मात्रा में रक्त लिया जाता है और इसमें पांचवां भाग ३.८% सोडियम साइट्रेट विलयन मिलाया जाता है। एक घण्टे के

पश्चात् देखते हैं कि उसमें किस सीमा तक कण आदि बैठ गये हैं। स्वस्थ पुरुष में ३–५ mm और स्त्री में ४–७ mm बैठते हैं। इनका अधिक निधान गर्भ–अवस्था के ४–५ महीना बाद होता है या राजयक्ष्मा या आमवातिक ज्वर अथवा किसी स्थान विशेष में शोथ के कारण बढ़ जाता है।

१३. रक्त का अभियोजन—जब किसी मनुष्य का रक्त अन्य मनुष्य में प्रविष्ट किया जाय तो अनेक बार पर पुरुष का रक्त दूसरे पुरुष में जाकर उसके कणों का नाश करके उसे मार डालता हैं—एतदर्थ रक्त प्रविष्ट करने से पूर्व देख लेना पड़ता है कि रक्त का दाता तथा ग्राहक दोनों का रक्त परस्पर विरोधी तो नहीं अपितु सम भाव वाला है।

श्वेत कणों के भेदों की प्रतिशत गणना करना अर्थात् श्वेत कणों के निपात की गणना (Differential count of Leucocytes):—

विभिन्न रोगों में विभिन्न विभिन्न श्वेत कणों की वृद्धि हो जाती है। अतः श्वेत कणों के भेदों की प्रतिशत गणना करने से कुछ रोगों के निदान करने में पर्याप्त सहायता मिलती है। यह गणना निम्न विधि से करते हैं।

रक्त की स्लाइड (पट्टी) बनानाः—सर्वप्रथम रक्त की बिन्दु के लेने से पूर्व स्लाइड तैयार की जाती है। उसे पहले एल्कोहल या ईथर से धोते हैं पुनः स्लाइड को स्प्रिटलेम्प पर थोड़ा सा ताप दिखाते हैं जिससे स्लाइड चिकनाई-रहित हो जाती है। इस तरह की दो स्लाइड लेते हैं। रोगी की अँगुली को स्प्रिट से स्वच्छ कर पिन या सूई को चुभोकर रक्त निकालना चाहिये। रक्त की एक या दो बूँदें स्लाइड पर एक सिरे से कुछ हटकर रखनी चाहिएं। फिर एक दूसरी स्लाइड को रक्त वाली स्लाइड के ऊपर रखकर रक्त को एक लाइन में कर ४५° के कोण से दूसरी स्लाइड को रक्त वाली स्लाइड पर आगे की तरफ ले जाते हैं। इस प्रकार रक्त फैल जाता है। रक्त (की इस फिल्म) को सुखा लेते हैं। तत्पश्चात् रक्त की फिल्म का रंजन किया जाता है।

रंजन विधि (Staining of Blood Film) :—

सामान्यतः श्वेत कणों के भेदों की गणना करने के लिये लेशमैन स्टेन (Leishman) का प्रयोग किया जाता है। सर्व प्रथम रक्त की स्लाइड को रंजन पात्र (Staining Tray) में रखते हैं। स्लाइड के ऊपर लगभग ६-१० बूंदें लेशमैन स्टेन की डालते हैं तथा एक मिनट तक प्रतीक्षा करते हैं। एक मिनट के समाप्त होते ही उस पर दुगुनी बूँदें अर्थात् करीब १८ बूँदें (Distilled water) की मिला देते हैं। तथा इसको ७ से १० मिनट तक इसी प्रकार रक्खा रहने देते हैं। तत्पश्चात् इस रंजित स्लाइड को स्रवित जल (Distilled water) से धोकर सुखा लेते हैं। फिर स्लाइड पर सीडारवुड आयल (Cedar-wood oil) लगाकर आईल इमरशन लेन्स द्वारा सूक्ष्म दर्शक यन्त्र से विभिन्न श्वेत कणों की पृथक् पृथक् गणना करते हैं। कम से कम २०० श्वेत कणों की गणना करनी चाहिये तब प्रतिशत मात्रा निकालनी चाहिये।

श्वेत कणों की परस्पर पहचान (Identification of Different Leucocytes):—

(१) बहुरूप मींगीयुक्त श्वेताणु (Polymorph Leucocyte) पोलीमार्फ श्वेतकण इसमें मींगियों न्युक्लियस (Nucleus) की संख्या ३ से ८ तक हो सकती है। जीवनमूल साइटोप्लाज्म (Cytoplasm) में सूक्ष्म सूक्ष्म कण होते हैं तथा सामान्य रंजन में ये सूक्ष्मकण नहीं रंग पाते। सामान्यरक्त में उनकी संख्या ५५% से ७५% तक होती है।

(२) अम्लरंगेच्छ श्वेताणु इयोसीनोफिल (Eosinophil) इसमें अधिकांश दो मींगिये न्युक्लियस (Bilobed Nucleus) होती हैं। तथा इसके कण अम्ल रंगों में रक्तवर्ण के हो जाते हैं एवं स्पष्ट तथा बड़े कण (Numerous course, strongly eosinophil granular) दीखते हैं। ये रक्त में २% से ५% होते हैं।

(३) बेसोफिल (Basophil):—इसमें मींगी (न्युक्लियस) अनिय-

मिताकार होती है कभी कभी द्विभाग में विभक्त बाईलोब्ड न्युक्लियस (Bilobed Nucleus) होता है। तथा क्षारीय रंग से रंगकर नील वर्ण के बड़े कण हो जाते हैं। ये ·०५% से १% रक्त में मिलता है।

(४) एक मींगीयुक्त वृहत् श्वेताणु (Monocyte):—इसमें एक मींगी (न्युक्लियस) होता है यह लोबिया के समान होती है अर्थात् वृक्क के आकार का होता है तथा सुन्दर व जालीदार होता है। सैल तथा न्युक्लियस के बीच में कुछ रिक्त स्थान होता है। ये रक्त में २% से ४% तक होता है।

(५) एक मींगीयुक्त क्षुद्र लसीकाणु (Lymphocyte) लिम्फोसाईटः इसमें एक मींगी (न्युक्लियस) होती है जो रंगने पर गहरे नीले वर्ण की हो जाती है तथा सम्पूर्ण सैल को घेरे रहती है। ये रक्त में २०% से ३०% तक मिलते हैं।

श्वेताणुओं की संख्या की गणना (Total W. B. C. Counting): श्वेतकणों की संख्या की गणना एक घनशतांश मीटर (1 cu. mm): में की जाती है। हीमोसाईटोमीटर (Haemocytometer) के द्वारा श्वेतकण एवं रक्तकणों की गणना की जाती है। सर्वप्रथम श्वेतकणों की गणना का वर्णन करेंगे।

हीमोसाईटोमीटर (Haemocytometer) में निम्नोक्त चीजें श्वेतकण पिपेट, रक्तकण पिपेट एवं काउण्टिंग चैम्बर (Counting chamber) होता है तथा कवर स्लिप (coverslip) होते हैं। श्वेतकण की गणना में श्वेतकण पिपेट का ही उपयोग होता है। काउण्टिंग चैम्बर में निश्चित वर्ग के खाने खींचे रहते हैं। वर्ग खानों का क्रम भी दो प्रकार से होता है।

(१) Counting chamber थामस रूलिंग (Thomas Ruling):- इसमें १६ बड़े खाने एक वर्ग में होते हैं तथा प्रत्येक बड़े खाने में १६ छोटे खाने और होते हैं। इस सम्पूर्ण का क्षेत्रफल १ वर्ग मिली-

मीटर (1 sq.mm) होता है तथा एक छोटे खाने का क्षेत्रफल $\frac{1}{400}$ वर्ग मिलीमीटर ($\frac{1}{400}$ sq. mm) होता है। काउण्टिंग चैम्बर पर कवरस्लिप ढ़कने से बीच की दूरी की चौड़ाई $\frac{1}{10}$ मिलीमीटर ($\frac{1}{10}$ mm) होता है। इस प्रकार एक छोटे खाने का आयतन कवरस्लिप से ढ़कने के बाद $\frac{1}{4000}$ घन शतांशमीटर ($\frac{1}{4000}$ cu. mm) आयतन हो जाता है तथा सम्पूर्ण खानों का आयतन $1 \times \frac{1}{10} = \frac{1}{10}$ cu. mm. आयतन होगा। इसमें सम्पूर्ण वर्ग में श्वेतकरण गिने जाते हैं।

(२) न्यूबर्सरुलिंग (Neuber's Ruling) इसमें उपर्युक्त Thomas ruling में संशोधन किया गया है। अन्तर यह है कि पहली Thomas ruling में श्वेतकणों एवं रक्त कणों की गणना का प्रबन्ध एक ही स्थान पर है किन्तु इसमें श्वेतकण तथा रक्त कणों की गणना का प्रबन्ध पृथक् पृथक् है। रक्तकणों की गणना के लिये Thomas ruling के समान ही प्रबन्ध होता है। इसमें बड़ा वर्ग २५ वर्ग में विभक्त रहता है तथा प्रत्येक वर्ग १६ छोटे वर्ग में विभाजित रहता है। इसमें एक छोटे वर्ग का क्षेत्रफल पहले (Thomas) के समान $\frac{1}{400}$ वर्ग शतांशमीटर ($\frac{1}{400}$ sq. mm) ही होता है। किन्तु न्युबर्स रूलिंग में श्वेत कणों की गणना के लिये चारों कोनों पर चार बड़े वर्ग खाने होते हैं। प्रत्येक कोने का खाना (१ वर्ग शतांश मीटर) १६ खानों में विभक्त रहता है। प्रत्येक कोने के वर्ग का क्षेत्रफल 1 sq. mm होता है।

इसमें चारों कोने के बीच के खाने में स्थित श्वेतकरण गिने जाते हैं। थामस रूलिंग (Thomas Ruling) में केवल १ वर्ग शतांश मीटर (1 sq. mm) अथवा $\frac{1}{10}$ घन शतांशमीटर $\frac{1}{10}$ cu. mm में श्वेतकरण गिने जाते हैं किन्तु अधिक सन्तोषप्रद कुछ उत्तर प्राप्त करने के लिये न्यूबर्सरूलिंग (Neuber's Ruling) में चौगुने क्षेत्रफल अर्थात आयतन $\frac{4}{10}$ घन शतांशमीटर ($\frac{4}{10}$ cu. mm) में श्वेतकरण गिने जाते हैं। संक्षेप में यही दोनों रूलिंग में अन्तर समझा जा सकता है।

श्वेतकरण पिपेट :—इस पिपेट में ऊपर की तरफ एक वल्व होता है। इसमें तीन चिह्न होते हैं। पिपेट पर एक चिह्न ०.५ लिखा रहता है, दूसरा चिह्न १.० लगा रहता है तथा तीसरा चिह्न वल्व के ऊपर होता है जहाँ पर ११.० लगा रहता है। इसमें साधारणतः ०.५ चिह्न तक रक्त लिया जाता है तथा ११.० चिह्न तक श्वेतकरण घोल (W.B.C. Solution) लिया जाता है। इस प्रकार रक्त को एक निश्चित अनुपात में पतला (Dilute) कर लिया जाता है। यह अनुपात वैसे तो १:२२ का होना चाहिये (०.५ तथा ११.० में यह अनुपात है।) किन्तु पिपेट के नीचे का एक अंश तक सूक्ष्म भाग (Capillary portion) होता है इसमें स्थित घोल (Solution) रक्त के साथ नहीं मिल पाता है। अतः वास्तव में यह अनुपात १:२० का रह जाता है। अगर रक्त १.० चिह्न तक लेंगे तो अनुपात १:१० का होगा। अधिकांश घोल एवं रक्त का अनुपात १:२० ही रक्खा जाता है।

श्वेतकरण गणना करने की विधि:—सर्व प्रथम रोगी की अँगुली को स्प्रिट से साफ करके पिन या सूई द्वारा अँगुली को छेदते हैं। रक्त की बूँदें निकलने लगती हैं पहली बूँद को पिपेट में नहीं लेना चाहिये। उसे रूई से पोंछ दें। तत्पश्चात् रक्त को पिपेट में ०.५ चिह्न तक खींच लें। बीच में कोई बुलबुला नहीं रहना चाहिये। तुरन्त एक शीशी में रखे श्वेत करण घोल (Acetic Acid 3.c.c+water 97cc) को वल्व के ऊपर स्थित चिह्न ११.० तक खींच लें। तथा तुरन्त भली प्रकार पिपेट को हिलाते रहें जिससे रक्त और घोल भली प्रकार मिल जावें। इस घोल में रक्त करण घुल जाते हैं, केवल श्वेतकरण रह जाते हैं जिनकी हमने गणना करनी है। तत्पश्चात् इसको स्वच्छ काउंटिंग चैम्बर में लेते हैं। इसके ऊपर उसकी कवरस्लिप इस प्रकार रक्खदे यथा:—पिपेट के मिश्रित घोल को हिलाकर उसमें से एक बूँद निकाल देते हैं तथा तत्पश्चात् धीरे से चैम्बर व कवरस्लिप के बीच में मिश्रित

घोल को फूँकते हैं। इस प्रकार करने से द्रव बीच में फैल जाता है। तत्पश्चात् सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से श्वेत कणों की खानों की बीच में गणना करते हैं। थामस रूलिङ्ग (Thomas Ruling) में सम्पूर्ण बड़े खाने अर्थात् पूरे वर्ग में गणना की जाती है जिसका क्षेत्रफल १ वर्ग शतांश मीटर। (1 sq. mm) हैं तथा न्यूबर्स (Neuber's Ruling) में चारों कोने के खानों में श्वेत कणों की गणना की जाती है जिनका सब मिलाकर क्षेत्रफल ४ वर्ग शतांशमीटर (4 sq. mm) होता है।

Calculation:—(१) थामस रूलिंग के आधार परः—मानो हमने सम्पूर्ण वर्ग खाने में श्वेतकण (W.B.C) क गिने तो परिणाम इस प्रकार निकाला जावेगा :

सम्पूर्ण वर्गखाने में श्वेतकण की संख्या, क

अर्थात् $\frac{१}{१०}$ घन मिलीमिटर द्रव में श्वेत कण, क

सम्पूर्ण वर्ग का आयतन = $\frac{१}{१०}$ घन शतांश मीटर ($\frac{1}{10}$ cu. mm)

∴ १ घन शतांश मीटर 1 cu. mm. द्रव में श्वेत कण = क × १०

∴ वास्तव में १ घन " रक्त में श्वेत कण = क × १० × २०

परन्तु रक्त व घोल में रक्त का अनुपात १ से २० का है अतः कुल श्वेत कण = क × २००

अर्थात् यदि गिने श्वेत कणों को २०० से गुणा कर दिया जावे तो १ घन शतांश मीटर (1 cu. mm) रक्त में श्वेत कणों की संख्या ज्ञात हो जावेगी।

(२) न्युबर रूलिंग के आधार पर गणना (Calculation in Neuber's Ruling): मानो चारों कोने के खानों में श्वेताणुओं की संख्या 'ख' है चारों खानों का क्षेत्रफल मिलाकर ४ वर्ग शतांशमीटर (4 sq. mm) है। अतः आयतन ($\frac{4}{10}$ cu. mm) होगा क्योंकि चैम्बर पर स्थित कवरस्लिप तथा खानों के बीच की चौड़ाई $\frac{१}{१०}$ शतांश मीटर ($\frac{1}{10}$mm) है।

४ वर्ग खानों में श्वेतकणों की संख्या 'ख'

अर्थात् $\frac{४}{१०}$ शतांशमीटर ($\frac{4}{10}$ cu. mm) द्रव में ,, ,, 'ख'

अतः १ घन शतांशमीटर (I cu. mm) ,, ,, ,, =ख × $\frac{१०}{४}$

=ख × $\frac{५}{२}$

अर्थात् रक्त में श्वेत कणों की संख्या = ख × $\frac{५}{२}$ × २०

=ख × ५ × १० = ख × ५०

अर्थात् चारों कोने के खानों के बीच में श्वेतकण जितने गिने गये हैं उसमें ५० से गुणा करने से 1 cu. mm रक्त में श्वेत कणों की संख्या प्राप्त हो जायगी। सामान्यतः स्वस्थ व्यक्ति में श्वेत कणों की संख्या ५००० से ७५०० तक एक घन शतांश मीटर रक्त में होती है।

रक्तकणों की गणना करना (Total R.B.C. Counting):– इसमें श्वेत कणों की गणना में प्रयोग में आने वाले Haemocytometer का ही उपयोग किया जाता है। रक्त कणों की गणना के लिये पिपेट दूसरी होती है जिसे रक्तकण पिपेट कहते हैं। इसमें एक रक्तवर्ण का चिह्न पड़ा रहता है तथा श्वेतकण पिपेट में श्वेत वर्ण का चिह्न पड़ा रहता है। इस प्रकार दोनों का भेद स्पष्टतः ज्ञात हो जाता है। इसके अतिरिक्त रक्तकण पिपेट का वल्व श्वेतकण की अपेक्षा बड़ा होता है।

रक्तकण पिपेट में एक चिह्न ०·५ का होता है जहाँ तक रक्त लिया जाता है। तथा बल्व के ऊपर चिह्न १०१ लिखा रहता है। चिह्न १०१.० तक रक्तकण घोल (Hayem diluting fluid) लेते हैं। इस प्रकार रक्त एवं घोल में अनुपात १:२०० का हो जाता है।

रक्तकण गिनने में काउण्टिंग चैम्बर में थामस रूलिंग (Thomas Ruling) अथवा न्यूबर्स रूलिंग (Neuber's Ruling) में कुछ अन्तर नहीं पड़ता। केवल श्वेतकणों की गणना में अन्तर पड़ता है। इसे विशदरूप से श्वेतकणों की गणना के प्रकरण में बतलाया जा चुका है। रक्तकणों की गणना में ८० छोटे खाने अर्थात् ५ बड़े खानों में रक्तकणों की संख्या गिनली जाती है। प्रत्येक छोटे खाने में R.B.C

गिनते हैं। इस प्रकार ८० छोटे खानों में R.B.C. गिने जाते हैं तथा सब का योग कर लेते हैं।

रक्तकणों की गणना के लिये रक्त लेने के विषय में श्वेतकणों की गणना के समान ही विधि अपनाते हैं तथा उन्हीं सावधानियों का ध्यान रखते हैं जो यहां लिख आये हैं:—रक्त कण पिपेट में ०.५ चिह्न तक रक्त लेते हैं तथा १०१.० तक घोल (Diluting Fluid) लेते हैं। इस द्रव में श्वेतकण घुल जाते हैं केवल रक्त कण ही रह जाते हैं। तत्पश्चात् रक्त और घोल को भली प्रकार हिलाकर तथा एक बूँद निकालकर पूर्वोक्त विधि से द्रव को काउन्टिंग चैम्बर एवं कवरस्लिप के बीच में फैला देते हैं तथा सूक्ष्म दर्शक यन्त्र की सहायता से ५ बड़े खानों में अर्थात् ८० छोटे खानों में रक्त कणों की संख्या गिनते हैं।

Calculation:—मान लो ८० छोटे खानों में हमने ४५० रक्त कण गिने। इसको इस प्रकार लिखा जा सकता है:

८० छोटे खानों में रक्त कणों की संख्या = ४५०

∴ १ छोटे खाने में ,, ,, = ४५० × $\frac{१}{८०}$

अर्थात् $\frac{१}{४०००}$ घन शतांश मीटर ($\frac{1}{4000}$ cu. mm)

द्रव में रक्तकण =४५० × $\frac{१}{८०}$

एक छोटे खाने का क्षेत्रफल = $\frac{1}{400}$ sq. mm

तथा आयतन होगा = $\frac{1}{4000}$ cu. mm

अतएव १ घनशतांश मीटर (1 cu. mm) द्रव में रक्तकण =
४५० × ($\frac{१}{८०}$ × ४०००)

अर्थात् १ घन शतांश मीटर (1 cu. mm) रक्त में रक्तकण
=४५० × ($\frac{१}{८०}$ × ४००० × २००)
=४५० × १ × ५० × २००)

(क्योंकि घोल व रक्त का अनुपात १.२०० का है) =४५० × १००००

अर्थात् संक्षेप में सूत्र इस प्रकार हुआ कि पाँच बड़े खाने अर्थात् ८० छोटे खानों में जितने रक्तकण गिने गये हैं, उनके आगे चार शून्य बैठाने से १ घन मिलीमिटर रक्त में रक्त कणों की संख्या प्राप्त होगी।

अध्याय ५

रोग-परीक्षा (५)

मूत्र

मूत्र संस्थान सम्बन्धी विशेष प्रश्न पहले अध्याय में, और वृक्कों की परीक्षा दूसरे अध्याय में उदरस्थ अङ्गों की परीक्षा का वर्णन करते हुए लिखी जा चुकी है। इस अध्याय में केवल मूत्र परीक्षा ही लिखी जायगी।

पूर्ण परीक्षा के लिये मूत्र २४ घण्टे का अर्थात् दिन रात का लेना चाहिये उसमें मूत्र के सब अवयव विद्यमान होते हैं समय समय का मूत्र भिन्न-भिन्न रहता है। रोगी को समझा दें कि प्रातः शौचादि से निवृत्त होकर उसके बाद सारे दिन रात तथा अगले दिन प्रातःकाल का मूत्र (शौच के समय का मूत्र भी) किसी स्वच्छ पात्र में इकट्ठा करे। पात्र का मुख खुला न रखे और धूप में भी न रखे अन्यथा उसमें परिवर्तन आ जायगा। साधारणतया तत्काल त्यक्त मूत्र की परीक्षा करनी चाहिये। देर होने से उसमें परिवर्तन आ जाने का भय होता है। आम विचार है कि हर प्रकार की परीक्षा के लिये प्रातः का मूत्र ही परीक्षार्थ लेना चाहिये, विशेष युक्तियुक्त नहीं। भोजनोत्तर प्रथम वार त्यक्त मूत्र मधुमेह के लिये उपयोगी होता है, विशेषकर अलब्यूमिन हर समय के मूत्र में उपस्थित होती है अधिकतर प्रातः के मूत्र में।

मूत्र परीक्षा तीन प्रकार से होती है—भौतिक, रासायनिक और आणवीक्षणिक। केवल वे विधियां यहाँ वर्णन की जायंगी, जिन्हें वैद्य सुगमता से व्यवहार में ला सकते हैं।

भौतिक-परीक्षा—में निम्नोक्त बातें देखी जाती हैं :

(१) *मात्रा*—दिन और रात्रि दोनों समयों का मूत्र पृथक्-पृथक् मापें। प्रातः नियत समय पर (७बजे) मूत्र त्यागें इसे जमा न करें। तदनन्तर सारे दिन का मूत्र इकट्ठा करें (ठीक सायं ७ बजे का मूत्र भी इसी में रहे) इसके बाद प्रातः ७ बजे तक का मूत्र पृथक् इकट्ठा करें और दोनों की मात्रा की तुलना करें। रात के मूत्र की मात्रा से दिन के मूत्र की मात्रा द्विगुण या त्रिगुण होनी चाहिये। यदि रात्रि की मात्रा दिन के बराबर या उससे कुछ कम हो तो जीर्ण-वृक्करोग समझना चाहिये। दिन रात की कुल मात्रा १$\frac{1}{2}$ सेर से कुछ अधिक होती है, स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा कुछ कम होती है। स्वस्थावस्था में गर्मियों में स्वेद अधिक आने से या कम पानी पीने से घट जाती है, तथा पानी अधिक पीने से अथवा स्वेद के न आने से (जाड़ों में) बढ़ जाती है।

मधुमेह, हिस्टीरिया शार्करिकवृक्क तथा अन्य रोगों में जिन में रक्तभार बढ़ जाता है, मूत्र की मात्रा बढ़ जाती है, तथा तीव्रज्वर, अतिसार, वमन, मस्तिष्क क्षोभ (कनकशन) और तीव्र वृक्क शोथ तथा जीर्णहृदयादि रोगों में जिन में रक्तभार कम हो जाय मूत्र की मात्रा कम हो जाती है।

(२) *वर्ण*—साधारणतः मूत्र का वर्ण कुछ मैला पीला सा होता है। स्वस्थावस्था में समय समय पर बदलता रहता है। यदि मूत्र अम्लीय और थोड़ा आये तो वर्ण गाढ़ा और यदि क्षारीय और अधिक आये तो फीका होता है।

मूत्र का वर्ण अधिकतर मूत्ररञ्जक[1] पर निर्भर होता है, इसकी अधिकता से मूत्र का वर्ण गाढ़ा और इसकी न्यूनता से मूत्र का वर्ण हलका होता है, साधारणतः मूत्र में मूत्ररञ्जक थोड़ा होता है। ज्वरों में यह बढ़ जाता है, अतः उनमें मूत्र का वर्ण भी अधिक पीला अथवा सन्तरे का सा हो जाता है।

स्वास्थ्य में मूत्र त्यागते समय साफ़ अर्थात् पारदर्शक होता है परन्तु

---

१ मूत्ररञ्जक पित्तरञ्जक से निकलता है।

कुछ देर पड़ा रहने से अनेक बार अपारदर्शक हो जाता है। भिन्न भिन्न अवस्थाओं में मूत्र का वर्ण बदलता रहता है। इनका संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है।

जलवत् फीके रंग का मूत्र—मूत्राधिक्य में अथवा मूत्ररञ्जक के घट जाने पर होता है यथा बहुत पानी पीना, मधुमेह, उदकमेह, हिस्टीरिया आदि रोगों में।

सन्तरे के वर्ण का मूत्र—मूत्र के कम आने से, मूत्ररञ्जक के अधिक आने से, अथवा पित्तरञ्जक के मूत्र में उपस्थित होने के कारण होता है, यथा परिश्रम के बाद, तीव्रज्वर, कामला आदि रोगों में।

कत्थे के वर्ण का (नसवारी) मूत्र—मूत्र में रक्तरञ्जक अथवा रक्त से उपस्थित होने के कारण होता है। गाढ़ा नसवारी (किञ्चित्कृष्ण) मूत्र में कृष्णरञ्जकों (दुष्टव्रण-सारकोमा में) के उपस्थिति के कारण होता है।

मूत्र का हरितकृष्ण वर्ण जीर्ण कामला में होता है।

हरित पीत वर्ण कामला के कारण रक्त में पित्त की उपस्थिति होती है। और जब यही रंग कुछ दूधिया हो जाय तो उसमें पूय या बसा समझनी चाहिये।

हरित नीलवर्ण—टाइफस में हो जाता है। भिन्न-भिन्न औषधियों के प्रयोग से भी वर्ण बदल जाता है जैसे मैथिलीन ब्ल्यू से नीला सैन्टोनीन से हरा, सनाय से भूरा और कार्बोलिक एसिड से हरा।

(३) द्रवता—स्वस्थावस्था में मूत्र पानी की तरह द्रव होना चाहिये। मधुमेह या कामला में गाढ़ा हो जाता है। मूत्राशय में बह्वङ्कुरार्बुद (जिस अर्बुद में छोटे छोटे बहुत से अंकुर होते हैं) के कारण मूत्र में रक्त सीरम मिलता रहता है। जिस से मूत्र बाहर आते ही जम जाता है।

(४) गन्ध—स्वस्थावस्था में एक विशेष प्रकार की गन्ध आती है जो किसी किसी रोग में बदल जाती है जैसे मधुमेह में गंध शुष्क घास की सी हो जाती है। भिन्न-भिन्न औषधियों के प्रभाव से भी गंध बदल जाती है।

(५) गुरुत्व—मूत्रमापक (यूरीनोमीटर) से देखा जाता है। स्वस्थावस्था में मूत्र का आपेक्षिक घनत्व १०१५ से १०२५ तक होता है यदि बहुत गाढ़ा हो तो १०३० तक भी पहुँच जाता है। बालकों में बड़ों की अपेक्षा गुरुत्व अधिक होता है। ठण्डा हो जाने पर भी गुरुत्व बढ़ जाता है। अल्प घनत्व जीर्ण वृक्क शोथ या बहुमूत्र (उदकमेह) का सूचक है।

(६) निधान (Sediment) दर्शन—साधारणतः त्यागने के समय मूत्र साफ और पारदर्शक होता है। थोड़ी देर के बाद कुछ श्लेष्मल पदार्थ मूत्र से अलग हो जाते हैं, यह या तो नीचे बैठ जाते हैं या बीच ही में अवलम्बित रहते हैं। जब मूत्र में रक्त हो तो यह अवलम्बित पदार्थ धूसर वर्ण का सा प्रतीत होता है।

साधारणतः फास्फेट्स, यूरेट्स और यूरिकाम्ल ऐसी चीजें हैं जो मूत्र में अलग होकर नीचे बैठ जाती हैं।

फास्फेट्स—क्षारीय मूत्र में निक्षिप्त होते हैं। पूय भी इसी तरह नीचे बैठ सकती है। इसकी परस्पर पहचान करने के लिये कांच नलिका में नीचे बैठा हुआ पदार्थ (निधान) में "डायीलयूट ऐसिटिक एसिड" डालें यदि फास्फेट्स होंगे तो लीन हो जायेंगे और यदि पूय होगी तो वैसे ही पड़ी रहेगी।

यूरेट्स—अत्यम्लीय एवं बहुत गाढ़े मूत्र में बैठ जाते हैं। स्वस्थावस्था में भी मूत्र के ठण्डा होने पर यूरेट्स नीचे बैठ जाते हैं। यद्यपि वह स्वयं विवर्ण होते हैं, परन्तु मूत्ररञ्जक के साथ मिले रहने से पीत-रक्त या सन्तरे के रंग जैसे प्रतीत होते हैं अर्थात् जितने मूत्ररञ्जक अधिक होंगे उतना ही यूरेट्स का रंग गाढ़ा होगा। प्रायः ये "सुर्खी" की तरह नजर आते हैं।

यूरिकाम्ल—बहुत थोड़ी मात्रा में होता है इसका वर्ण लाल मिर्च के समान होता है इसको पहचानने के लिये अणुवीक्षण की सहायता लेनी पड़ती है।

आक्जलेट्स का निक्षेप भी कभी २ होता है परन्तु केवल दर्शन से ये नहीं पहचाने जा सकते, अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता की जरूरत पड़ती है।

यह न समझ लेना चाहिये कि जो चीज नीचे बैठ गई है वह मूत्र में अधिक है। उदाहरणार्थ यूरिकाम्ल निधान से यह न समझ लेना चाहिये कि यूरिकाम्ल अधिक आरहा है। सम्भवतः मूत्र अधिक अम्लीय हो या यूरिकाम्ल को लीन करने वाली चीजें मूत्र में कम हैं और इस कारण यूरिकाम्ल निधान रूप में पृथक् हो गया है।

रसायनिक परीक्षा

प्रतिक्रिया—मूत्र की प्रतिक्रिया प्रायः किञ्चिदम्लीय हुआ करती है। इसके अम्लत्व का कारण अम्लों की विद्यमानता नहीं प्रत्युत अम्लीय लवणों की विद्यमानता है। कभी कभी इसकी प्रतिक्रिया उभयात्मक होती है अर्थात् यह लाल लिटमस को नीला कर देता है और नीले को लाल, क्योंकि इसमें अम्लीय और क्षारीय दोनों प्रकार के लवण विद्यमान होते हैं जो एक दूसरे को उदासीन नहीं करते। भोजन के बाद कुछ काल के लिये स्वस्थावस्था में मूत्र क्षारीय हो जाता है मूत्र का साधारण अम्लीय या क्षारीय होना हानिकारक नहीं, परन्तु अत्यधिक अम्लीय या अत्यधिक क्षारीय होना रुग्णावस्था को दर्शाता है।

मूत्र में उपस्थित द्रव्यों की परीक्षा—कई द्रव्य ऐसे हैं। जो रुग्णावस्था में घट बढ़ जाते हैं। पहले इनका ही वर्णन किया जायगा। वर्णन में केवल द्रव्य ज्ञान अर्थात् इनकी विद्यमानता की परीक्षा ही बताई जायेगी। मात्रा ज्ञान का वर्णन नहीं किया जायगा।

क्लोराईड्स (हरिद्)—मूत्र में दो प्रकार के हरिद् पाये जाते हैं—सोडियम क्लोराईड[1] (साधारण लवण) और पुटैशियम क्लोराईड[2]।

1. Sodium Chloride. 2. Potassium Chloride.

इनमें से सोडियम क्लोराईड बहुत अधिक होता है और पुटैशियम क्लोराईड बहुत थोड़ा। स्वस्थावस्था में ये लगभग १२ ग्राम (१ तोला) प्रतिदिन निकलते हैं। रुग्णावस्था में घट बढ़ भी जाते हैं। विषम ज्वर के अतिरिक्त शेष सब ज्वरों में घट जाते हैं। विषम ज्वर में जब ज्वर चढ़ा हुआ होता है तो बढ़ जाते हैं। और जब ज्वर उतरा हुआ होता है तब घट जाते हैं। खंडीय फुफ्फुस प्रदाह (Pneumonia) में अत्यधिक घट जाते हैं यहां तक कि कभी कभी बिलकुल रहते ही नहीं। फुफ्फुस प्रदाह को फुफ्फुसावरण प्रदाह को फुफ्फुसावरणपूयता से भेद करने की यह सब से अच्छी विधि है। टाइफस और आमवातिक ज्वर में भी यह बहुत ही कम हो जाते हैं। फुफ्फुस प्रदाह में ज्वर उतरने के बाद तथा जलोदर और आर्द्र फुफ्फुसावरण प्रदाह आदि के तरल के लीन होते समय भी ये बढ़ जाते हैं।

परीक्षा विधि—मूत्र को गरम करके छान लो, इस तरह अलब्यूमेन और स्फुरित पृथक् हो जाते हैं। छने हुए मूत्र में समभाग ३ प्रतिशत स्वच्छ सिलवरनाईट्रेट[1] (रजत नत्रित) का बिलयन डालो। स्वस्थावस्था में बहुत सा श्वेत निधान नीचे बैठ जाता है। जितने लवण कम होंगे उतना ही कम निधान नीचे बैठेगा और यदि नाममात्र ही लवण होंगे—तो रंग केवल दूधिया अर्थात् श्वेत सा हो जायगा।

फास्फेट्स[2] (स्फुरित)—मूत्र में दो प्रकार के फास्फेट्स होते हैं। क्षारीय[3] (सोडियम- पुटैशियम तथा अमोनियम फास्फेट्स) तथा भौम[4] (कैलशियम और मेग्नेशियम)। क्षारीय फास्फेट्स कभी नीचे नहीं बैठते, केवल भौम फास्फेट्स क्षारीय या उदासीन मूत्र में अनघुल बन कर नीचे बैठ जाते हैं, गरम करने से और भी जल्दी अनघुल बन

1. Silver Nitrate 3%. 2. Phosphates. 3. Alkaline Sodium. Potassium and Ammonium Phosphates. 4, Earthy Phosphates. Calcium and Magnacium Phosphates.

जाते हैं स्वस्थावस्था में २-३ माशे फास्फेट्स प्रतिदिन मूत्र में आते हैं, परन्तु भिन्न भिन्न भोजनों के प्रभाव से घटते बढ़ते रहते हैं। वृक्क रोगों में अन्य लवणों के साथ ये भी घट जाते हैं। वातिक संस्थान को क्षीण कर देने वाले रोगों में ये बहुत ही बढ़ जाते हैं। ज्वरों में घटते बढ़ते रहते हैं।

परीक्षण विधि—मूत्र को काच नलिका (टेस्ट ट्यूब) में गरम करो। इस से अलब्यूमेन और फास्फेट्स अनघुल बन जाते हैं। इसमें २-४ बून्द मृदु शुक्ताम्ल (डाल्यूट एसिटिक एसिड[1]) डालो यदि फास्फेट्स होंगे तो लीन हो जायेंगे और यदि अलब्यूमेन होगी तो उसी प्रकार अनघुल बनी रहेगी।

दूसरी विधि—काच नलिका में कुछ मूत्र लो और इस में अर्धभाग, नाईट्रिक एसिड[2] (नात्रिकाम्ल) मिला दो, फिर १-२ बिन्दु आमोनियम मालिबडेट[3] डालो। इसमें दोनों प्रकार के स्फुरित अनघुल बनकर नीचे बैठ जायेंगे।

सल्फेट्स[4]—(गन्धित) मूत्र में कई रूपों में पाया जाता है। अधिक भोजन करने से बढ़ जाता है। ज्वरों में तथा उदरविकारों में (जिनमें कोष्टबद्धता हो तथा अपानवायु बहुत पैदा हो) बढ़ जाते हैं। परीक्षा लिखनी अनावश्यक है क्योंकि इससे कोई अधिक लाभ नहीं।

आक्ज़लेट्स[5]—(काष्ठित) यह प्रायः कैलशियम आक्जलेट्स[6] (खटिक काष्ठित) के रूप में मिलते हैं। मूत्र में एसिड सोडा फास्फेट्स[7] की विद्यमानता आक्ज़लेट्स को लीन रखती है, यदि यह घट जाय तो आक्ज़लेट्स नीचे बैठ जाते हैं। चूंकि यह फास्फेट्स मूत्र में थोड़ा होता है अतः प्रायः आक्ज़लेट्स बैठ ही जाते हैं इनकी परीक्षा केवल अणु-

---

1. Dilute Acetic acid. 2. Nitric acid. 3. Ammonium Molybdate. 4. Sulphates. 5. Oxalates. 6. Calcium Oxalates. 7. Acid Sodium Phosphates.

वीक्षण द्वारा ही की जा सकती है। अम्लपित्त में यह बढ़ जाते हैं। गोभी, पालक, कुलफा आदि शाक भोजनों से भी बढ़ जाते हैं।

यूरिया[1]—तथा अन्य नत्रजनीय पदार्थ यूरिक एसिड[2] और यूरेट्स[3] आदि मूत्र में विशेष निपात में पाये जाते हैं। नत्रजनीय भोजन के कम खाने से ये घट जाते हैं, और अधिक खाने से बढ़ जाते हैं स्वस्थावस्था में जब साधारण भोजन किया जाय, २४–४८ ग्राम नत्रजन मूत्र में निकलती है। इसमें यूरिया ८५ प्रतिशत, अमोनिया २–५ प्रतिशत, यूरिक एसिड ०.७५–१.५ प्रतिशत, तथा अन्य यूरेट्स आदि पदार्थ ७–१० प्रतिशत होते हैं।

यूरिया स्वस्थावस्था में २५–४० ग्राम प्रति दिन निकलता है अर्थात् मूत्र में १.५–२ प्रतिशत या ७–९ ग्रेन प्रति औन्स होता है। अधिक नत्रजनीय भोजन, अधिक जल, मधुमेह, ज्वर तथा फ़ारफ़ोरस और संखिये के विष प्रभाव इसे बढ़ा देते हैं। अल्प नत्रजनीय भोजन करने से और यकृत रोग, तथा वृक्क रोगों में यह घट जाता है। यह ध्यान रहे कि जब तक भोजन में उपस्थित नत्रजन की मात्रा का विचार न किया जाय, यूरिया की कुल उपस्थित मात्रा के ज्ञान से कोई लाभ नहीं।

अमोनिया[4]—साधारण भोजन करने से स्वस्थावस्था में ०.३–१.२ ग्राम प्रतिदिन निकलता है। अम्ल पदार्थों के खाने से तथा रक्त में अधिक अम्ल बनने से बढ़ जाता है। मधुमेह की अन्तिमावस्था में, क्लोरोफॉर्म के विष से, तथा गर्भावस्था की अत्यधिक वमन अवस्था में बहुत बढ़ जाता है।

यूरिक एसिड[5]—मूत्र में क्षार के साथ मिल कर यूरेट्स के रूप में उपस्थित होता है। ये यूरेट्स दो प्रकार के होते हैं उदासीन और अम्लीय। स्वस्थावस्था में ०.४ से ०.७ तक प्रति दिन तक निकलते हैं। तीव्र ज्वरों में तथा ग्रन्थिक श्वेताणुवृद्धि (acute Lymphatic

---

1 Urea. 2. Uric acid. 3. Urates. 4. Ammonia. 5. Uric acid.

Leukaemia) में बढ़ जाते हैं। आमवात रोग में तथा कुनीन खाने के बाद घट जाते हैं। यह ध्यान रहे कि इनका मूत्र में बैठ जाना सदा इसकी अधिक मात्रा का सूचक नहीं। यूरिकएसिड की अधिक मात्रा हो या अन्य किसी कारण से मूत्र के अम्लीय होने से ये अलग हो जाते हैं।

अन्य नत्रजनीय पदार्थों में से प्यूरीन बेसिस[1] जो मींगी के विश्लेषण से बनते हैं, यूरिकएसिड से बहुत मिलते हैं। भेद इतना ही है कि ये क्षारीय हैं। इनका न्यूनाधिक होना भी यूरिकएसिड के समान ही है। अन्य नत्रजनीय पदार्थ क्रिएटिनीन[2], हिप्यूरिक[3] एसिड आदि यद्यपि स्वस्थावस्था में होते हैं परन्तु इनके ज्ञान से विशेष लाभ नहीं।

रुग्णावस्था में मूत्र में उपस्थित द्रव्य—

(१) प्रोटीन[4]—रुग्णावस्था में रक्तवारि की तीनों प्रोटीनें (सीरम एलब्यूमेन, सीरम ग्लाबुलिन, और फाईबिनजनक) मूत्र में मिलती हैं इन सब के लिये एक ही शब्द "एलब्यूमेन" प्रयुक्त होता है, सीरम एलब्यूमेन ही अधिकतर पाया जाता है, रासायनिक परीक्षा से इसकी विद्यमानता का ज्ञान किया जाता है।

अलब्यूमेन[5] की परीक्षा विधि—मूत्र यदि अस्वच्छ हो तो छान लें। यदि फिर भी अस्वच्छ रहे तो मूत्र में कीटाणु की विद्यमानता समझनी चाहिये, बहुत देर तक घुमाने से (Centrifugalisation) ये तल पर अलग बैठ जाते हैं। अब इस मूत्र को परीक्षा नालिका में $\frac{2}{3}$ भाग तक भर दें, और ऊपरले सिरे के मूत्र को स्पिरिट लैम्प पर उष्ण करें यदि उस भाग में आविलता उत्पन्न हो जाय तो उस में अलब्यूमेन या फास्फेट्स होंगे। इसमें थोड़े से बिन्दु डाल्यूट एसिटिक एसिड[6] (मृदु शुक्ताम्ल) के डालें, यदि फास्फेट्स होंगे तो लीन हो जायेंगे और यदि अलब्यूमेन होगी तो आविलीनता बनी रहेगी।

---

1. Purin Basis. 2. Creatanin. 3. Hippuric acid. 4. Protein. 5. Albumin. 6. Dilute Acetic acid.

दूसरी विधिः—काचनलिका में कुछ स्वच्छ नाईट्रिक एसिड[1] (नत्रिकाम्ल) डालें, इस पर शनैः शनैः ड्रापर—प्रणालिका (dropper) द्वारा मूत्र को इस तरह डालें कि वह नत्रिकाम्ल में लीन न होने पाये प्रत्युत उसकी तह के ऊपर तैरता रहे। यदि अलब्यूमेन होगी तो आध मिनट में दोनों तरलों की सन्धि पर श्वेत चक्र प्रतीत होने लगेगा। इस परीक्षा से ०.००२ प्रतिशत तक अलब्यूमेन मालूम हो जाती है।

प्रोटीन (एलब्यूमेन) की मूत्र में मात्रा ज्ञात करना :—

साधारणतः मूत्र में एलब्यूमेन की मात्रा एक यन्त्र से की जाती है जिसे (Esbach's Albuminometer) (एसबेक एल्ब्युमीनोमीटर) कहते हैं। यह एक नलिका के आकार का होता है जिसमें प्रतिशत के हिसाब से चिह्न लगे रहते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें दो चिह्न और होते हैं जिन पर U तथा R लिखा रहता है। सर्व प्रथम एल्ब्युमीनोमीटर में U चिह्न तक मूत्र लेते है तथा तत्पश्चात् R चिह्न तक एसबेक्स घोल (Esbach's Reagent) लेते हैं तथा एल्ब्युमीनोमीटर के ऊपरी सिरे को कार्क से बन्द कर भली प्रकार हिलाते हैं। जिससे घोल व मूत्र भली प्रकार मिल जावें। एल्ब्युमीनोमीटर को १८ से २४ घण्टे तक किसी शीत स्थान में रक्खा रहने देते हैं। परिणामस्वरूप नलिका में नीचे तलहट बैठ जाती है। जिस चिह्न तक यह बैठी रहती है उसे पढ़ लेते हैं। मानो नलिका में ०.३ चिह्न तक तलहट जमा है। तो इसका परिणाम इस प्रकार होगा। अर्थात् मूत्र में 3 gms per 100 ml एल्ब्यूमिन है। दूसरे अर्थों में प्रतिशत निकालने के लिये इसे १० से भाग कर दें अर्थात् एल्ब्युमिन 0.3% होगा।

(२) रक्त—मूत्र में रक्त या रक्तरञ्जक भी आ सकते हैं परन्तु इनका परस्पर भेद अणुवीक्षण द्वारा ही किया जा सकता है, रक्त की विद्यमानता के ज्ञान के लिये निम्नोक्त परीक्षा विधि प्रयुक्त की जाती है।

1. Nitric acid.

परीक्षा नलिका में एक इञ्च तक मूत्र लें और उसमें २ बिन्दु टिञ्चर गायकम्[1] की डालें इससे मूत्र श्वेत हो जायगा। अब समान भाग ओज़ोनिक ईथर[2] डालें, यदि रक्त उपस्थित होगा तो रंग नीला हो जायगा।

यदि रोगी आयोडाइड्स[3] खा रहा हो तो भी रंग नीला पड़ जायगा अतः इस बात का सदा ध्यान रखें। जब यह परीक्षा करनी हो तो कुछ दिन पहले से ही "आयोडाइड्स" देना बन्द कर दें। आयोडाइड्स की अवस्था में नीलवर्ण दोनों तरलों की सन्धि में, तथा एक दम पैदा होता है। परन्तु रक्त की अवस्था में ऐसा नहीं होता, उसमें शनैः शनैः और सारे तरल में पैदा होता है।

मूत्रपूय की अवस्था में इसी परीक्षा से नील वर्ण के स्थान पर हरित नीलवर्ण पैदा होता है।

(३) शर्करा—कई प्रकार की शर्करायें मूत्र में पाई जा सकती हैं परन्तु हमारा प्रयोजन केवल ग्लूकोज़[4] (द्राक्षौज) से है जो कि मधुमेह का आवश्यक लक्षण है और इसी को ही शर्करा कहा जाता है।

परीक्षा विधिः—टेस्ट ट्यूब में एक इञ्च फेह्लिङ्ग विलयन[5] भर दें और कुछ बिन्दु मूत्र के डाल कर उष्ण करें। यदि शर्करा पर्याप्त होगी तो लाल या पीले रंग का निक्षेप तरल से अलग हो जायगा। यदि इस प्रकार रंग न बदले तो समभाग तक मूत्र और डाल कर उष्ण करके दो मिनट रख छोड़ें यदि ०.८% तक भी शर्करा होगी तो रंग बदल जायगा। इसको "फेह्लिङ्ग टैस्ट" कहते हैं।

इस परीक्षा में निम्नोक्त बातों का ध्यान रखें।

---

1. Tincture guaiacum. 2. Ozonic ether. 3. Iodides. 4. Glucose. 5. Fehling solution.

१. मूत्र में अलब्यूमेन न हो, यदि हो तो १–२ बिन्दु एसिटक एसिड डालकर उष्ण करके छान लें।

२. जिस मूत्र में आमोनिया हो (मूत्र के बहुत देर तक पड़े रहने से पैदा हो जाता है) तो भी परीक्षा ठीक नहीं होती अतः ताजा मूत्र लेना चाहिये।

३. यदि शर्करा अधिक हो तो रंग नसवारी हो जाता है।

४. यदि मूत्र में यूरिकएसिड या इसके साथ अन्य द्रव्य, या दुग्धौज[1] आदि होंगे अथवा रोगी क्लोरल[2], क्लोरोफार्म,[3] ग्लिसरीन[4] सेलिसिलेट्स[5] आदि का प्रयोग कर रहा होगा तो भी लाल या पीले रंग का निक्षेप बैठ जायगा। अतः ऐसी अवस्थाओं में मूत्र का आपेक्षिक घनत्व देखना चाहिये, मधुमेह में मूत्र का आपेक्षिक घनत्व १०२५ से बढ़कर १०३०–१०५० तक हो जाता है।

५. फेह्लिंग विलयन सदा नया होना चाहिये पुराने से परीक्षा संदिग्ध हो जाती है।

दूसरी विधि बैनिडिक्ट्स[6] परीक्षा[7]–घन शतांश मीटर बेनिडिक्ट्स बिलयन में ८ बून्द मूत्र डालकर १–२ मिनट तक उबालें। यदि शर्करा होगी तो लाल, पीला या हरे रंग का निक्षेप पृथक् हो जायगा।

यह परीक्षा फेह्लिंग परीक्षा से अच्छी है। यूरिया, यूरिकएसिड और उसके सहयोगी, तथा क्लोरोफार्म आदि इस परीक्षा में संदेह पैदा नहीं करते।

तीसरी विधि नाईलेन्डेर्स[7] परीक्षा–१० भाग मूत्र में १ भाग निलेन्डर्स विलयन डाल कर अच्छीं तरह मिला दें और २–३ मिनट तक उबालें, यदि शर्करा होगी तो सूक्ष्म कृष्ण निक्षेप परीक्षा नलिका के तल पर बैठ जायगा। यह परीक्षा सर्वोत्तम है। यूरिया आदि द्रव्यों का इस

---

1. Lactose. 2. Chloral. 3. Chloroform. 4. Glycerine. 5. Salicylates. 6. Benedicts. 7. Nylauders test.

पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, केवल शर्करा से ही सिद्ध होती है। फेह्लिंग, बेनिडिक्ट्स और निलेन्डर्स विलयन के अवयव परिशिष्ट में देखें।

मूत्र में शर्करा की मात्रा ज्ञात करना:—

मूत्र में शर्करा की मात्रा ज्ञात करने की अनेक विधियाँ हैं किन्तु व्यवहार में अधिकता कावेण्डाईन सक्रोमीटर (Cawandine Saccharometer) के द्वारा प्रायः शर्करा की मात्रा ज्ञात की जाती है। सेक्रोमीटर में एक घोलमापक सिलिन्डर होता है जिसमें तीन चिह्न F१ F२, DF, लगे रहते हैं। इसके अतिरिक्त सेक्रोमीटर नलिका होती है जो कि ऊपर के सिरे पर दो तरफ से खुली रहती है। एक द्वार बड़ा छिद्र युक्त होता है जिस के द्वारा सेक्रोमीटर नलिका में मूत्र एवं परिश्रवित जल डाला जाता है। दूसरा द्वार मोड़युक्त पतली ट्यूब (नलिका) के रूप में सूक्ष्म छिद्र के द्वारा खुलता है। इस छिद्र के द्वारा शर्करा मात्रा जानने के लिये मूत्र एवं परिश्रवण जल के घोल को बूँद बूँद करके पोर्सीलेनडिश (Porcelain dish) में स्थित घोल में मिलाया जाता है। इस सेक्रोमीटर नलिका पर शर्करा की प्रतिशत मात्रा के चिह्न लगे रहते हैं एवं दो अन्य विशेष चिह्न U एवं DU चिह्नित होते हैं। U चिन्ह नलिका के नीचे के हिस्से में लगा रहता है तथा DU ऊपरी सिरे के समीप लगा रहता है।

शर्करा की प्रतिशत मात्रा सेक्रोमीटर के द्वारा निकालने की विधि इस प्रकार है— सर्व प्रथम घोल मापक सिलिन्डर में नीचे के चिह्न तक Fehlings solution N0. 1 (फैलिंग सोलुशन नं० १) लेते हैं तथा F तक Fehling Solution N0. II (फैलिंग सोलुशन नं० २) लेते हैं। एवं DF चिह्न तक परिश्रुत जल (Distilled water) लेते हैं। उपरोक्त घोल मिश्रण को Porcelain Dish में उलट देते हैं। तत्पश्चात् सेक्रोमीटर नलिका में नीचे स्थित U चिह्न तक मूत्र लेते हैं तथा ऊपर स्थित DU चिह्न तक परिश्रुत जल लेवे हैं। सेक्रोमीटर को

भली प्रकार हिलाते हैं जिससे उसमें लिये गये मूत्र एवं जल भली प्रकार मिल जावें। तद्उपरान्त पोर्सीलेनडिश Porcelain Dish में स्थित घोल को स्टेन्ड पर रखकर स्पिरिट लेम्प (Spirit Lamp) पर गर्म करते हैं। घोल के कुछ गर्म होने पर उसमें सेक्रोमीटर में स्थित द्रव को बूँद बूँद करके डालते जायें तथा साथ साथ घोल के ताप देने की क्रिया भी चलती रहती है। इस प्रकार सेक्रोमीटर के द्रव को बूँद बूँद करके मिलाने से पोर्सीलेनडिश (Porcelain Dish) के घोल में वर्णपरिवर्तन प्रारम्भ हो जाता है क्रमशः वर्ण में परिवर्तन होता रहता है। शर्करा यदि उपस्थित होता है तो नीला वर्ण बदल कर हरा, पीला बाद में भूरा लाल हो जाता है, जब शर्करा अत्यधिक हो तो तथा भूरे लाल वर्ण का घोल तथा अवशेष जल का वर्ण बिलकुल नीला नहीं रहता अवक्षेप पृथक् हो जाता है। इस अन्तिम परिवर्तन के होने पर सेक्रोमीटर में उस चिह्न को नोट कर लें जहाँ तक उसमें द्रव शेष रहा है। उस चिह्न का अंक ही मूत्र में शर्करा की प्रतिशत मात्रा को दर्शाता है। यह स्मरण रहे कि उपरोक्त परिवर्तन के होते ही सेक्रोमीटर के द्रव को मिलाना बन्द कर देना चाहिये एवं सेक्रोमीटर के चिह्न को नोट कर लेना चाहिये।

उदाहरणतः उपरोक्त परिवर्तन होने पर सेक्रोमीटर में द्रव २ चिह्न तक शेष रह गया है। तो समझे कि शर्करा की मूत्र में मात्रा २ प्रतिशत है।

एसिटोन (Acetone) की मूत्र में परीक्षा करना :—

मूत्र में साधारणतः ऐसिटोन अत्यल्प अंश में आता है जिसको साधारण परीक्षाओं से ज्ञात करना सम्भव नहीं है। विशेषतः छोटे बच्चों के मूत्र में इसका कुछ अंश सामान्यतः प्राप्त होता है। रुग्ण अवस्था में यह विकृति मधुमेह (Diabetes mellitus) के उपद्रव स्वरूप, गर्भावस्था के टाक्सीमिया (Toxemias) तथा संज्ञहरण (Anaes-

thesia) के प्रयोग के बाद मूत्र में मिलती है। मूत्र में इसकी परीक्षा इस प्रकार की जाती है :—

१० घन सैन्टीमीटर ताज़ा मूत्र ले। उसमें ऐमोनियम सल्फेट (Ammonium Sulphate) डाल कर इसके घन विलयन अर्थात् सतृक्त घोल Saturated solution) बना ले। तत्पश्चात् इसमें तीन बूँद सोडियम नाइट्रोप्रूसाइड (Sodium Nitro pruside) के घोल को मिलाते हैं एवं इसमें दो घन सैन्टीमीटर तीव्र ऐमोनिया (Strong Liq. Ammonia Foit) मिलाते हैं। यदि ऐसिटोन उपस्थित हो तो पोटेशियम परमैंगनेट की तरह का लाल वर्ण प्राप्त हो जाता है।

(४) *पित्त*—मूत्र में पित्तरञ्जक और पित्ताम्ल उपस्थित होते हैं ये चीजें रुद्धकामला के कारण रक्त द्वारा मूत्र में आजाती हैं। जिस मूत्र में यह उपस्थित होंगे उसका रंग हरित या धूसर होगा, और वह मूत्र गाढ़ा होगा। हिलाने पर ऊपर हरे रंग की झाग बन जायगी और ऊपर स्थिर रहेगी, झटपट बिलीन नहीं होगी।

पित्तरञ्जक की परीक्षा—किसी शीशे की कटोरी में थोड़ा सा मूत्र डालें। इस कटोरी के पार्श्व पर शनैः शनैः सावधानी से प्रणालिका (ड्रापर) द्वारा अशुद्ध नाईट्रिकएसिड (नत्रिकाम्ल) डालें इससे मूत्र में तरह तरह के रंग पैदा हो जाते हैं, सबसे नीचे पीला, इसके ऊपर लाल, फिर जामुनी और सबसे ऊपर हरा रंग होता है। यही हरा रंग ही पित्तरञ्जक की विद्यमानता को दर्शाता है। यदि हरा रंग उपस्थित न हो तो पित्त का अभाव समझना चाहिये।

दूसरी विधि—आयोडीन[1] के १० प्रतिशत मद्यसार[2] विलयन को मूत्र पर डालें। यदि पित्तरञ्जक होगा तो इससे मूत्र और विलयन सन्धि पर सुन्दर हरित वर्ण का घेरा बन जायगा।

पित्ताम्ल की परीक्षा—मूत्र पर बहुत बारीक गन्धक चूर्ण बखेर दें,

1. Iodine. 2. Rectified spirit.

यदि पित्ताम्ल होंगे तो वह नीचे बैठ जायगा और यदि नहीं होंगे तो तैरता रहेगा।

(५) पूय—यदि मूत्र में पूय अवलम्बित रहती है। इसका फास्फेट आदि से भेद करना कठिन है केवल अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा ही पहचानी जा सकती है।

परीक्षा—१. रक्तपरीक्षा की तरह इसकी भी टिञ्चर गायकम् और ओजोनिक ईथर से परीक्षा करें। इससे हरितवर्ण उत्पन्न हो जाता है।

२. मूत्र के निक्षेप पर यदि कास्टिक सोडा[1] डाला जाय तो पूय रस्सी की तरह लम्बी और गठित प्रतीत होती है।

(६) इनके अतिरिक्त मूत्र में कभी-कभी ऐसी चीजें भी पैदा हो जाती है जो भयानक उपद्रवों की सूचक हैं। जैसे-ऐसिटोन,[2] डाई-ऐसेटिक एसिड[3] आदि मधुमेह की संन्यासावस्था के सूचक हैं। ऐसिटोन तथा डाईऐसेटिक ऐसिड (ऐसिटो ऐसिटिक ऐसिड)[4] की परीक्षा।

एक कांच की परीक्षा नलिका में १० सी. सी. मूत्र लें, इसमें ५ ग्राम अमोनियम सल्फेट[5] डालकर इसी का घन विलयन बना लें, अब इसमें ३ बिन्दु ५% सोडियम नाइट्रोप्रूसाईड[6] और २ सी. सी. स्ट्रांग अमोनिया[7] डालें। यदि उसमें गुलाबी सा वर्ण उत्पन्न हो जाए तो यह ऐसिटोन तथा ऐसिटोऐसिटिक ऐसिड दोनों की विद्यमानता को दर्शाता है।



1. Caustic Soda. 2. Acetone. 3. Diacetic acid. 4. Aceto-acetic acid. 5. Ammonium Sulphate. 6. Sodium Nitroprusside. 7. Strong Ammonia.

अध्याय ६

सूक्ष्मजन्तु और संक्रमण

स्वास्थ्य की विपरीत अवस्था को अस्वास्थ्य, रोग या व्याधि कहते हैं।

स्वास्थ्य—उस अवस्था को कहते हैं जब शरीर के अवयव प्राकृतिक अवस्था में रहते हों और अपने अपने कार्य को अविकृत रूप से भली भांति सम्पन्न कर रहे हों तथा उन अवयवों के कार्य-ग्रस्त होने का हमें ज्ञान तक न हो, एवम् कार्य और विश्राम दोनों अवस्थाओं में हम सुख और आनन्द का अनुभव कर रहे हों, [स्वे तिष्ठति इति स्वस्थः।] अर्थात् जो मनुष्य अपनी प्राकृतिक अवस्था में रहे तथा सु=सुखमय+आस्थ्य=शरीर की अवस्था।

"समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥"

सु० सू० अ० १५।४१.

अर्थात् जब दोष सम अवस्था में हों, और शरीर की अग्नियें (पाचक भौतिक, शारीरिक आदि) भी सम अवस्था में हों, एवं शरीर के धातु और मल को क्रियायें ठीक प्रकार से काम कर रही हों, तथा शरीर, इन्द्रियें और मन आनन्द का अनुभव करते हों, उस अवस्था को स्वस्थ अवस्था कहते हैं।

जब किसी कारण से ये अवयव विकृत हो जायें ततः उनके अशुभ कर्म से सुख आनन्द भङ्ग हो जाये तो उसे अस्वास्थ्य कहते हैं। रोग के अर्थ भी यही हैं, जो रुजा (पीड़ा) उत्पन्न करे व्याधि (वि=विशेष+आधि=मन या शरीर की व्यथा)—जिससे शरीर या मन को दुःख हो।

व्याधि निम्न कारणों से हो सकती हैं :

(१) शरीर अथवा मन पर आघात से, इसे आगन्तुक व्याधि कहते हैं।

(२) आहार व्यवहार और आचार के दुष्प्रयोग से अर्थात् इनके मिथ्या हीन या अतिसेवन से।

(३) अनेक वस्तुएं ऐसी हैं जिनके किञ्चिन्मात्र सेवन से शरीर में क्लेश उत्पन्न हो जाता है। इनको विष कहते हैं। विष सेवन से जो व्याधि उत्पन्न होती है उसे भी किसी वस्तु विशेष का मिथ्या एवं अनुचित सेवन समझना चाहिये। कुछ विष ऐसी हैं जो अत्यल्प मात्रा में औषध रूप में प्रयुक्त होती हैं और कुछ वस्तुएं ऐसी हैं जो किसी भी मात्रा में शरीर के लिये अनुकूल नहीं होतीं। यह विष दो प्रकार के होते हैं :

(क) स्थावर (वनस्पति वर्ग के विष)

(ख) जङ्गम (प्राणि वर्ग के विष)

स्थावर और प्राणि वर्ग दो श्रेणियों में विभक्त होते हैं :

(१) स्थूल–यथा सर्प, वृश्चिक, वर्टक, मूशक आदि प्राणी वर्ग से तथा मल (संखया), रसकपूर, अहिफेन आदि वनस्पति वर्ग से।

(२) सूक्ष्म–यह अति सूक्ष्म होते हैं जिनको साधारण नग्न आँखों से नहीं देख सकते। इनको देखने के लिए विशेष अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता लेनी पड़ती है। कुछ तो इतने सूक्ष्म होते हैं कि जो अति उत्तम सूक्ष्म दर्शक यन्त्र द्वारा भी नहीं देखे जा सकते। इनका अस्तित्व अन्य साधनों द्वारा यथा संसर्जन् आदि द्वारा सिद्ध किया जाता है। इनको रोगाणु सूक्ष्म अणु अथवा सूक्ष्म जन्तु कहते हैं।

यह जन्तु स्वयं तो हमारे लिए हानिकारक नहीं अर्थात् रोग उत्पन्न नहीं करते किन्तु इनसे विष उत्पन्न होता है, जो रोगोत्पत्ति का कारण होता है।

इन जन्तुओं से विष दो प्रकार से पैदा होता है : (१) बहिर्गत विष

(Exotoxin) जो जीवाणुओं के जीतेजी उनमें उत्पन्न हो होकर उनके शरीर से बाहर निकलता रहता है, अथवा (२) अन्तर्गत विष (Endotoxin) जो इनके शरीर के अन्दर ही रहता है और उनके मर जाने के पश्चात् उनके शीर्ण और विश्लेषण से बाहर आता है।

इससे स्पष्ट है कि जब तक जन्तु शरीर में प्रवेश न कर पायें तब तक रोग उत्पन्न नहीं होते, आयुर्वेद के अनुसार इनके प्रवेश को आगन्तुक व्याधियों में समाविष्ट करते हैं।

यहां यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि जन्तुओं के भी दो भेद होते हैं।

(क) प्राणी वर्ग से इनको जीवाणु संज्ञा दी गई हैं। यह जीवाणु प्राणी वर्ग के सबसे सूक्ष्म एकसेल युक्त जीव होते हैं, जो अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा ही देखे जाते हैं। इनके कुछ उदाहरण निम्नोक्त हैं :

(१) मलेरिया ज्वर (विषम ज्वर=Plasmodium) यह जीवाणु तीन प्रकार के होते हैं। उनका वर्णन विषम ज्वर में आयेगा।

(२) कालाआजार और लोकल सोर का जीवाणु (Leishmania)

(३) अतिनिद्रा रोग का जीवाणु (Trypanosomi)।

(४) अमीबिक प्रवाहिका (Amoeba)।

(५) बेलनटिडियम कोलाय (Balantidium Coli) के कारण प्रवाहिका।

(६) अतिसार जियार्डिया लाम्बल्या (Giardia Lamblia) के कारण।

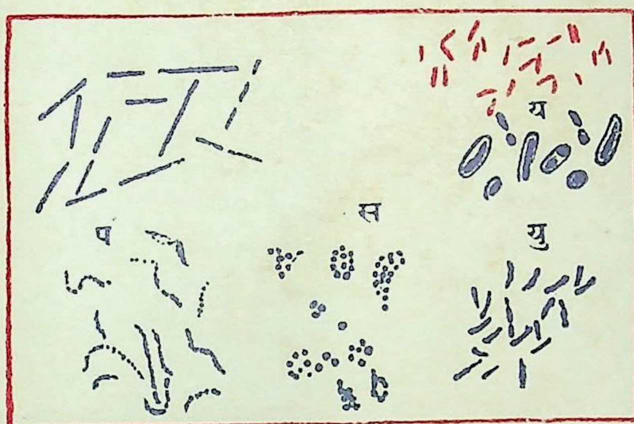
(७) स्पाइरोकीटा जाति के जीवाणु (Spirochaetal Infections) के कारण। यथा

(क) उपदंश (Syphilis=सिफीलिस)।

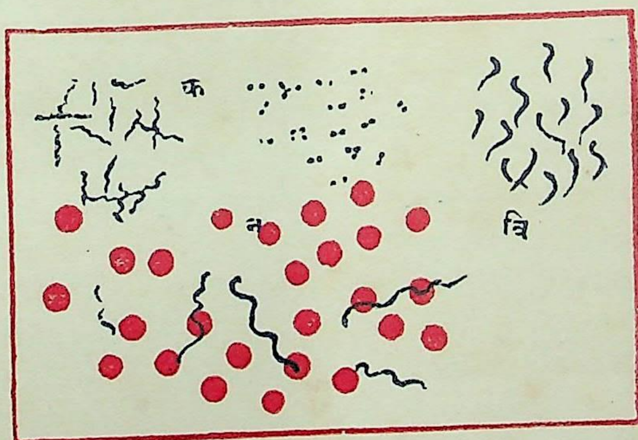
(ख) कामला विशेष।

(ग) पुनरावर्तक ज्वर (Relapsing Fever)।

चित्र ११



(य) यक्ष्मा कीट (शलाकाकार)
(स) बिन्दुकाकार (समूह में)
(प) ,, (पंक्तिबद्ध)
(यु) ,, (युग्म)



(न) निद्रा व्यधि
(क) कण्डराकार (उपदंश)
(वि) विराम चिन्ह (विसूचिका)

(घ) मूशक दंशक ज्वर, इत्यादि ।

इनके अतिरिक्त अन्य अनेक सूक्ष्म जन्तु हैं जो मनुष्य के शरीर में प्रवेश करके रोग उत्पन्न करते हैं तथा कई जन्तु प्राणी ऐसे होते हैं जो शरीर (आन्त्र) में रहते हैं किन्तु रोग उत्पन्न नहीं करते ।

वक्तव्य—मनुष्य शरीर में प्रविष्ट होकर रोग उत्पन्न करने वाले कई जन्तु प्राणी ऐसे हैं जो सूक्ष्म नहीं होते, आँखों से नजर आते हैं। वह प्रायः विष उत्पन्न नहीं करते अपितु अन्य प्रकार से रोग उत्पन्न करते हैं यथा रक्त वाहिनियों तथा लसिका वाहिनियों में रहकर उनका मार्ग बन्द कर देते हैं अथवा आन्त्र में रहकर रक्त चूसते रहते हैं या शरीर के अन्य भागों में शोथ आदि विकृति उत्पन्न करते हैं। कई दृश्य जीवाणु ऐसे हैं जो साथ-साथ विष भी उत्पन्न करते हैं ।

(ख) वनस्पति वर्ग – इनको कीटाणु (Bacteria) संज्ञा दी गई है, यह भी एकसेल से बने हुए होते है। स्थूलतः ये दो प्रकार के होते हैं :

(१) बैसीलस (Bacilus)—ये शलाकाकार होते हैं, यथा प्लेग का बैसीलस, राजयक्ष्मा का बैसीलस, (ट्यूबरकुलर बैसीलस) कुछ शलाकाकार मुड़े हुए होने से विराम चिह्न (,",,) से नजर आते हैं जैसे विशूचिका का कीटाणु (कालरा विब्रियो)

(२) काकस (Coccus) ये बिन्दु आकार के होते हैं। ये बिन्दु आकार कीटाणु (काकस) (१) कई समूह रूप में रहते हैं जिनको स्टैफिलोकाकस (Staphylo Coccus) कहते हैं। (२) कई पंक्तिबद्ध रूप में रहते हैं, उनको स्ट्रैप्टोकाकस (Strepto Coccus) कहते हैं और जो दो दो या इकट्ठे रहते हैं उनको डिप्लोकाकस (Diplo Coccus) कहते हैं ।

वक्तव्य—बक्टीरिया दो प्रकार के होते हैं। एक वह जो शरीर में जाकर रोग उत्पन्न करते हैं, इन्हें रोगोत्पादक कीटाणु कहते हैं, और इन्हीं से इस पुस्तक का सम्बन्ध है । दूसरे वह जो हमें किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाते प्रत्युत उनमें कई हमारे लिए लाभदायक और आवश्यक हैं। यथा—दूध को जमाने वाले कीटाणु, खमीर उठाने वाले (आसव

अरिष्ट बनाने वाले) और खाद को उपयुक्त बनाने वाले कीटाणु।

संक्रमण

रोग उत्पादक सूक्ष्म जन्तुओं के शरीर में प्रवेश को संक्रमण उपसर्ग या संसर्ग कहते हैं।

वे व्याधियां जो इन सूक्ष्म जन्तुओं के शरीर में प्रविष्ट होने के कारण होती हैं उनको औपसर्गिक, सांसर्गिक अथवा संक्रामक संज्ञा दी गई है।

प्रसंगाद् गात्रसंस्पर्शात् निःश्वासात् सहभोजनात्।
सहशय्यासनाच्चापि　　वस्त्रमाल्यानुलेपनात्॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च।
औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्॥ सु.नि. ५।३३-३४
मसूरिकाश्च रोमान्तिका ग्रन्थिवीसर्प एव च।
उपदंशश्च कण्ड्वाद्याः औपसर्गिकसंज्ञकाः॥
स्पर्शेकाहार शय्यादि सेवनात् प्रायशो गदाः।
सर्वे संचारिणो नेत्रत्वग्विकाराः विशेषतः॥ अष्टा सं०
कण्डूकुष्ठोपदंशाश्च भूतोन्मादव्रणज्वराः।
औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्॥
त्वगक्षिरोगापस्मार-राजयक्ष्मामसूरिका।
दर्शनात् स्पर्शनात् दानात् संक्रामन्ति नरान्नरम्॥ सु.सू. ६।१६

१. त्वचाद्वारा—

(१) प्रसंगद्वारा—एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से अधिक समय तक घनिष्ट संपर्क को प्रसङ्ग कहते हैं, जैसे शिशु का माता और धात्री के साथ, पति-पत्नी का परस्पर सहवास। प्रसंगद्वारा उत्पन्न होने वाले रोग कुष्ठ, दद्रु आदि त्वक्रोग।

(२) संस्पर्शद्वारा—केवल मात्र रोगी से एक बार सम्पर्क को संस्पर्श कहते हैं यथा उपदंश, विसर्प, आदि हैं।

(३) वस्त्रादि द्वारा—रोगी के दूषित वस्त्रों को दूसरे आदमी के

धारण करने से रोग एक दूसरे आदमी में सरजाता है। यथा कण्डू, पामा आदि।

(४) धूल, कण आदि द्वारा—धूल में अनेक प्रकार के सूक्ष्म जन्तु रहते हैं और हम नित्यप्रति धूल में रमण करते हैं पर रोग नहीं होता। किन्तु जब त्वचा पर व्रण हो तो दूषित धूलकण द्वारा कीटाणु व्रण पर पहुँच कर संक्रमण पैदा कर देते हैं, यथा व्रणों में पूय उत्पत्ति टेटेनस (Tetanus) के कीटाणु प्रायः सड़कों की धूल में रहते हैं जो सद्योजात व्रण द्वारा शरीर में प्रविष्ट होकर कालान्तर में टेटेनस (Tetanus) रोग उत्पन्न कर देते हैं।

अन्त्रआदा (Hookworm) के कीटाणु प्रायः आर्द्र खेतों की मिट्टी में रहते हैं ये अहत त्वचा के छिद्रों द्वारा शरीर में प्रवेश करते हैं।

२. *निःश्वास या वायु द्वारा*—

(१) आसन्नता द्वारा—रोगी के निकटतम रहने के कारण उसके श्वास से अथवा थूक और श्लेष्मा के कणों से सूक्ष्म जन्तु आसन्न अर्थात् निकटतम परिचारकों में प्रविष्ट होकर रोग उत्पत्ति का कारण बनते हैं। यथा प्रतिशाय वातश्लेष्मिक ज्वर (Influenza) श्वसनकज्वर (Pneumonia), राजयक्ष्मा, आदि के कीटाणु नासा या फुफ्फुसों में जाकर रोग पैदा कर देते हैं, यथा मसूरिका, शीर्षसौषुम्न ज्वर (Cereberal fever) आदि में कीटाणु नासा में पहुँचकर वहाँ की श्लेष्मिक कला द्वारा रक्त अथवा वात वाहिनी में प्रविष्ट होकर रोग का हेतु बनते हैं।

(२) रोगी के जन्तुओं से परिपूर्ण नासाश्लेष्म और थूक, रूमाल वस्त्रादि पर लग जाते हैं जब ये रूमाल वस्त्रादि अन्य व्यक्ति प्रयोग करते हैं तो वहाँ से सूक्ष्म जन्तु नासा में प्रवेश कर रोग उत्पन्न करते हैं। यथा प्रतिशाय, वातश्लेष्मिक ज्वर, मसूरिका, शीर्षसौषुम्न ज्वर आदि।

(३) रोगी से सूक्ष्म जन्तु नासा, श्लेष्म और ष्ठीवन द्वारा बाहर निकलते रहते हैं यदि रोगी असावधानता से थूके और छिरके तो ये

कीटाणु मिट्टी में मिलकर वायु द्वारा रोगी तक पहुँच कर श्वास मार्ग में विविध व्याधियाँ उत्पन्न करते हैं—राजयक्ष्मा इस प्रकार से रोग फैलने का स्पष्ट उदाहरण है।

३. *खानपान द्वारा*—खान-पान द्वारा रोग दो प्रकार से उत्पन्न होते हैं, एक तो जन्तुओं से दूषित खाद्य वस्तुओं के उपयोग से यथा विशूचिका, आन्त्रिक ज्वर आदि, दूसरे ऐसे अर्धपक्व मांस के खाने से जिसमें जन्तु उपस्थित हों यथा (उदरावेष्टा)।

खान-पान द्वारा संक्रम प्रसार सदैव रोगी के या संक्रम वाहकों के मल, वमन, अथवा मूत्र से दूषित खाद्यपदार्थों द्वारा ही होता है। रुग्ण अवस्था में रोगी के मल, मूत्रादि में कीट उपस्थित होते हैं, तथा रोग मुक्ति के कई-कई दिन, सप्ताह, अथवा महीनों बाद तक भी मल, मूत्रादि में कीटाणु आते हैं।

वक्तव्य—संक्रम वाहक ऐसे व्यक्ति को कहते हैं जिसमें रोग के लक्षण उपस्थित न हों, किन्तु उसके नासा, कण्ठ, अन्त्रादि स्थानों में कीटाणु रहते हों और वहीं से मल, मूत्र, श्लेष्मादि द्वारा बाहर निकल निकल कर रोग फैलाने का साधन बन रहे हों, ऐसे मनुष्य या तो रोग भोगकर उससे मुक्त हो चुके होते हैं, अथवा कीटाणु उसके अन्दर प्रविष्ट होकर और वृद्धि पाकर भी रोगी की रोग क्षमता के कारण रोग उत्पन्न करने में असमर्थ होते हैं किन्तु उनके नासा, कण्ठ, अन्त्रादि स्थानों में वास करते हैं। ऐसे मनुष्य बहुत भयानक होते हैं। रोगी से तो सावधान रहा जा सकता है परन्तु इन गुप्तचर संक्रमवाहकों से सावधान रहना असम्भव है।

वमन, मल, मूत्रादि से कीटाणु निम्न प्रकार से भक्ष्य पदार्थों तक पहुँच कर उन्हें दूषित कर रोगोत्पत्ति का कारण बनते हैं :

(१) रोगी या संक्रमवाहक के मल, मूत्र और वमन आदि के छींटें आहार पर पड़ जाँय।

(२) अथवा जहाँ मल, वमन, मूत्र पड़ा था उस स्थान को शुद्ध नहीं किया गया हो, अभी तक वहाँ कीटाणु नष्ट न हुये हों ऐसे स्थान पर खाद्य पदार्थ यदि गिर जायें तो दूषित हो जाते हैं।

(३) रोगी के मल, मूत्र, वमन आदि को स्पर्श करने के बाद हाथों को भली प्रकार शुद्ध किये बिना भोजन को स्पर्श करने से दूषित हो जाता है। परिचारकों में तथा परिचारकों द्वारा भी रोग ऐसे ही फैलता है।

परिचारक और संक्रमवाहक अपने हाथों को भली भांति शुद्ध किए बिना खाद्य पदार्थों को छूकर उन्हें दूषित कर देते हैं। ग्वाले, दूध, मिठाई बेचनेवाले तथा तरकारी और फल विक्रेता एवं रसोइये और परोसने खिलाने वाले इसी प्रकार रोग प्रसरण का कारण बनते हैं।

(४) रोगी के दूषित पात्रों में भोजन परोसने अथवा भोजन करने से भी भोजन दूषित हो जाता है।

(५) मल, वमन आदि पर से मक्षिका, पिपीलिका, मच्छर आदि जन्तु अपने पक्ष और पाडों द्वारा कीटाणुओं को ले जाकर आहार द्रव्यों पर बैठ उन्हें दूषित कर देते हैं।

कूड़ा कर्कट के ढेर, कीटाणु तथा मक्षिका, मच्छर आदि की उत्पत्ति और वृद्धि का कारण होते हैं और इसी प्रकार रोग फैलाने में विशेष सहायक होते हैं।

(६) रोगी व संक्रमवाहक की दूषित वस्तु वा पात्रों को ऐसे स्थान पर धोया जाय जहाँ से यह गन्दा पानी पीने वाले पानी में मिलकर उसे दूषित कर देता है।

(७) मल वमनादि गन्दी नाली द्वारा अथवा वर्षा के पानी के द्वारा बहकर नदी और नालों में मिलकर उनके जल को दूषित कर देते हैं। मलिन स्वभाव वाले मल को ही सीधा नदी-नालों आदि में फेंक देते हैं।

(८) तीर्थों और मेलों में विशूचिका आदि रोग प्रायः इन्हीं दो मार्गों (नं० ५ और ६) से प्रसरण पाकर महामारी का रूप धारण कर लेते हैं।

(६) शाक, फल आदि पदार्थों को दूषित जल से धोने से शाक फल आदि दूषित होकर रोग फैलाने का कारण बनते हैं।

(१०) बड़े बड़े नगरों में विशेषकर उनकी संकीर्ण गलियों और मकानों में जहाँ पीने के पानी के नल और गंदे पानी की गटर और नल साथ-साथ जाते हों, ऐसा होना सम्भव है कि कहीं गटर और नलों में त्रुटि होने के कारण गन्दा पानी झर झर कर पीने वाले पानी में मिल कर उसे दूषित कर देता है।

(११) यदि गन्दगी के ढेर किसी कूप के निकट हों और कुआँ उथला (कम गहरा) हो तो वर्षा के दिनों में गन्दगी का पानी झर झर कर कुओं में मिलकर उसे दूषित कर देता है।

(१२) विरल अवस्था में मल के सूक्ष्म (शुष्क) कण वायु द्वारा आहार वस्तु तक पहुँच उसे दूषित कर देते हैं। यह स्मरण रहे कि कणों के शुष्क होने पर कीटाणु प्रायः मर जाते हैं।

(४) दंश और दष्ट द्वारा

(१) मच्छर, पिस्सू, खटमल, जूं आदि दंशक जन्तु एक व्यक्ति का रक्त लेकर उसके कीटाणु को दूसरे व्यक्ति के शरीर में पहुँचाकर संक्रमण प्रसार का कारण बनते हैं यथा विषमज्वर, काला आजार, प्लेग के जीवाणु। इन जन्तुओं को जो रुग्ण व्यक्तियों से दूसरे व्यक्तियों तक सूक्ष्म कीटाणुओं को ले जाते हैं उनको मध्यवर्तिन जन्तु कहते हैं। विशेष प्रकार के अथवा जीवाणु कीटाणुओं के लिये विशेष प्रकार के मध्यवर्तिन जन्तु होते हैं यथा विषमज्वर (Malaria) एनाफिलीज (Anapholes) जाति के मच्छरों द्वारा फैलता है। प्लेग मूशक की मक्खी द्वारा और कालाआजार खटमल द्वारा। यह ध्यान देने योग्य बात है कि मध्यवर्तिन जन्तुओं में कीटाणु आकर अपना नया जीवन चक्र काटता है (यह जीवन चक्र मानव शरीर में नहीं काटा जा सकता।) इस नये जीवन चक्र से वह कीटाणु वृद्धि को प्राप्त होते हैं तथा इस योग्य बनते हैं

कि मानव शरीर में प्रविष्ट होकर रोग उत्पन्न कर सकें। एक बार वृद्धि पाकर सदा के लिये रोग फैला सकते हैं।

(२) कुत्ते, विडाल, मूशक आदि प्राणी भी अपने दष्ट (काटने) द्वारा रोग फैलाने का कारण बनते हैं। अलर्क विष से पीड़ित कुत्ता जब दूसरे कुत्ते को काटता है तो उसमें दष्ट द्वारा अलर्क विष के कीटाणु प्रवेश कर देता है। इसी प्रकार रोग एक दूसरे कुत्ते में फैलता जाता है। जब संक्रमित कुत्ता किसी व्यक्ति को काटता है तो रोग उस व्यक्ति में उत्पन्न हो जाता है। मूशक-दंशक ज्वर मूशक से मनुष्य में आता है इत्यादि।

जन्तुओं की वृद्धि

इन सूक्ष्म जन्तुओं में नर और मादा का भेद नहीं होता और न इनमें बढ़ने के लिये सहवास की ही आवश्यकता है। एक कीटाणु ½ से १ घंटे के अन्दर अन्दर बढ़कर फट जाता है और उससे दो कीटाणु बन जाते हैं। यही क्रम जारी रहता है। प्रायः बहुत से कृमि आध घंटे में विभक्त हो जाते हैं। यदि एक घंटा भी समझ लें तो हिसाब लगाने से मालूम होगा कि २४ घंटे में एक जन्तु से एक करोड़ साठ लाख जन्तु बन जाते हैं, और आधे घंटे के हिसाब से ३ पद्म बन जाते हैं।

कीटाणुओं की वृद्धि के लिये अनुकूल ताप, क्षेत्र, भोजन और परिस्थिति का होना आवश्यक है। हमारे दुर्भाग्य से शरीर का ताप ही उनके लिये अनुकूल ताप है। शरीर का मल और मरी हुई सैलें उनका अभीष्ट भोजन हैं शरीर के अस्वस्थ, दुर्बल, और रुग्ण अङ्ग जन्तुओं की वृद्धि के लिये समुचित क्षेत्र हैं। अंधेरा और आर्द्र स्थान इनके लिये उपयुक्त परिस्थिति का काम देते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि जो लोग दुर्बल वा क्षीण हैं, व्यायाम नहीं करते, कोष्ठबद्धता, अजीर्ण आदि से पीड़ित रहते हैं तथा पौष्टिक आहार नहीं करते और अंधेरे आर्द्रस्थानों में रहते हैं उनमें यदि कीटाणु प्रविष्ट हो जायें तो सब सामग्री अनुकूल

होने के कारण कीटाणु बहुत शीघ्र बढ़कर रोग उत्पन्न कर देते हैं। इसके विपरीत जो मनुष्य पौष्टिक-आहार और व्यायामादि का सेवन करते हैं, स्वच्छ-वायु, प्रकाशयुक्त मकानों में रहते हैं, और स्वास्थ्य के नियमों का समुचित पालन करते हैं उनमें यदि कीटाणु प्रवेश कर भी जायें तो सामग्री प्रतिकूल होने के कारण उन्हें बढ़ने का अवसर नहीं मिलता।

कीटाणु भी मनुष्यवत् दुर्बल और सबल होते हैं। दुर्बल कीटाणु शरीर में प्रवेश होते ही मर जाते हैं और सबल अपनी शक्ति अनुसार देर तक लड़ने के बाद नाश हो जाते हैं अथवा वृद्धि पाकर रोग उत्पन्न कर देते हैं।

कीटाणुओं का विष मनुष्य शरीर के लिये तो हानिकारक है ही, किन्तु इन कीटाणुओं का भी परम सहायक अस्त्र है। विष के उदासीन कर देने से अथवा नाश कर देने से कीटाणु शीघ्रता से नष्ट हो जाते हैं।

जब कीटाणु शरीर में प्रविष्ट होते हैं तो हमारे शरीर की सैलों से इनका युद्ध होता है। शरीर की सैलों का यह यत्न होता है कि इनको किसी प्रकार नष्ट कर दिया जाय जिससे रोग न होने पाये। इस कार्य के लिये रक्त के श्वेताणु विशेषतया नियुक्त हैं, शरीर की शेष सारी सैलें इनकी सहायता करती हैं। ये सब प्रतिविष बनाती हैं जो कि कीटाणुओं के विष को उदासीन करके उन्हें निःशस्त्र कर देती हैं।

रोगोत्पत्ति – रोगाणुओं के प्रविष्ट हो जाने पर शरीर की सैलों वा रोगाणुओं में युद्ध होता है। जब रोगाणु बलवान् होंगे, इनके लिए क्षेत्र और भोजन अनुकूल होगा, तथा सैलें दुर्बल होंगी, एवं प्रतिविष थोड़ा होगा और हमारा स्वास्थ्य एवं हमारी युद्ध-सामग्री (स्वच्छ वायु, सूर्य-प्रकाश और बलदायक भोजन) कम होगी तो रोगाणुओं की जीत होगी, रोग उत्पन्न हो जायगा और अन्त में मृत्यु तक हो सकती है।

यदि कीटाणु दुर्बल होंगे अथवा मनुष्य शक्तिशाली होगा तो-कीटाणु प्रवेश करने पर नष्ट हो जायेंगे और रोग उत्पन्न नहीं होने पाएगा।

यदि कीटाणु बहुत दुर्बल न हुए अथवा मनुष्य की शक्ति एकदम बलवान् न हुई तो कीटाणु वृद्धि पाकर रोग उत्पन्न कर देंगे। अर्थात् कीटाणु की शक्ति-अनुसार रोग साधारण, तीव्र या अतितीव्र हो सकता है। जब तक कीटाणु शरीर में रहते हैं, कीटाणु और शरीर की सेलों में युद्ध चलता रहता है। यही युद्ध ज्वर आदि के रूप में प्रकट होता है। अन्ततोगत्वा यदि कीटाणुओं की जीत हो गई तो रोगी मर जाता है, और यदि शरीर के सेलों की जीत हुई तो रोग शान्त हो जाता है और रोगी बच जाता है।

रोग-क्षमता—शरीर की उस शक्ति को जो इन कीटाणुओं का नाश कर देती है "रोगक्षमता" या "रोगनाशक" शक्ति (Immunity) कहते हैं। ये रोग-क्षमता दो प्रकार की होती है।

(१) स्वाभाविक और (२) कृत्रिम।

(१) स्वाभाविक रोग क्षमता—उसे कहते हैं जो किसी मनुष्य में स्वतः उपस्थित हो; इसको व्यक्तिगत रोग क्षमता भी कह सकते हैं। इसका उदाहरण यह दिया जा सकता है कि महामारी के दिनों में कई व्यक्ति शीघ्र ग्रस्त हो जाते हैं और कई ऐसे होते हैं जिन्हें रोग छू तक नहीं पाता। यहाँ यह भी कह देना उचित प्रतीत होता है कि जिस प्रकार भिन्न व्यक्तियों में व्यक्तिगत रोग क्षमता न्यूनाधिक होती है, उसी प्रकार भिन्न भिन्न व्यक्तियों में रोगग्राह्यता (अक्षमता) भी न्यूनाधिक होती है। एक का अभाव दूसरे का सूचक है। अर्थात् जिस पुरुष में रोग क्षमता का अभाव होगा उस पुरुष में रोग ग्राह्यता अधिक होगी। ऐसे व्यक्ति शीघ्र रोग-ग्रस्त होकर काल कवलित हो जाते हैं।

स्वाभाविक रोग क्षमता की अनेक बातों पर निर्भर है, परन्तु यह बताना अत्यन्त दुष्कर है कि यह किन किन कारणों पर अवलम्बित है, तथा कौन सा कारण कितने कितने अंश तक रोगक्षमता का उत्तरदायी है। इतना कहा जा सकता है कि प्रदेश, जाति, पैतृकप्रभाव, परिस्थिति,

स्वभाव, भोजन, रहन-सहन और वायु रोगक्षमता के मुख्य साधन हैं।

प्रदेश— अनुसार रोगक्षमता का एक उदाहरण यह है कि बंगाल-आसाम में काला आजार ज्वर होता है, वहाँ लोकल या ओरिएन्टल सोर (Local or Oriential Sore) नहीं होता। बम्बई, मारवाड़, या पंजाब और प्रदेशों में लोकल या ओरिएन्टल सोर होता है किन्तु काला आजार नहीं होता।

जाति— यह देखा गया है कि पहाड़ी लोग यथा गोरखे और उत्तरी हिमालय के निवासी गद्दी कश्मीरी पठान आदि जब बम्बई कलकत्ता आदि बड़ बड़े नगरों में आते हैं तो शीघ्र ही राजयक्ष्मा से ग्रस्त हो जाते हैं। इन बड़े नगरों के स्थायी निवासियों को राजयक्ष्मा कम होता है और होता है तो इतना तीव्र नहीं होता।

वक्तव्य—यह ध्यान रखने योग्य है कि प्रदेश और जाति अनुसार रोगक्षमता एकदम निश्चयात्मक नहीं, जाति और देश का प्रभाव विशेष व्याधियों के प्रति हुआ करता है हर एक व्याधि के प्रति नहीं।

पैतृकप्रभाव— इसको आयुर्वेद में आदि-बल-प्रवृत्ति कहते हैं यह माता के रज (मातृज्य) और पिता के वीर्य (पितृज्य) से प्राप्त होती है। यथा आमवातिक ज्वर (Rheumatic Fever)।

पैतृज्य प्रवृत्ति संक्रामक रोगों की अपेक्षा अन्य शारीरिक रोगों में अधिक मिलती है, यथा आमवात (Gout) रक्तपित्त (रक्तस्राव-Haemophilia)।

सहज (जन्मबल प्रवृत्ति)—ये माता-पिता के रज और वीर्य द्वारा तो प्राप्त नहीं होती परन्तु माता के स्वास्थ्य आहार आदि के कारण, विशेषकर गर्भावस्था में जन्म से जो रोग-क्षमता मिलती है उसे सहज रोगक्षमता कहते हैं। इसके आयुर्वेदानुसार दो भेद किए हैं—रसकृत और दौहृदोपचारकृत।

परिस्थिति—यह तो स्पष्ट है कि खुले हवादार मकानों में रहनेवालों

में संकीर्ण और बन्द स्थानों में रहने वालों की अपेक्षा रोग क्षमता बहुत अधिक होती है।

स्वभाव, भोजन और रहन-सहन—यह भी सुप्रसिद्ध है कि स्वच्छ स्वभाव वाले मिताहार सेवी तथा नित्य व्यायाम करने वालों में रोग क्षमता बहुत अधिक होती है।

रोग क्षमता के अन्य कारणों में से सबसे बलवान् और प्रधान कारण ये ही हैं। आयुर्वेद में वर्णित दोष-बल-प्रवृत्ति (मिथ्या आहार आचार-कृत और समुत्पन्न) तथा स्वभाव-बल-प्रवृत्ति (कालजा या परिरक्षणकृत और अकालजा या अपरिरक्षणकृत) इसी के अन्तर्गत हैं।

आयु—कुछ रोग ऐसे हैं जो बाल्यावस्था में अधिक होते हैं, कुछ युवावस्था में, कुछ प्रौढ़ावस्था में और कुछ वृद्धावस्था में।

उपार्जित रोग क्षमता—जब किसी रोग विशेष के प्रति रोगक्षमता शरीर में पहले से उपस्थित न हो परन्तु बाद में किसी व्याधि से पीड़ित होने के बाद उत्पन्न हो जाय अथवा जिसे कृत्रिम रूप से शरीर में उत्पन्न कराई जाये उसे उपार्जित रोग क्षमता कहते हैं। यह दो प्रकार की है।

(१) रोग मुक्ति के पश्चात् उत्पन्न—कुछ व्याधियाँ ऐसी हैं जो एक बार होकर दुबारा नहीं होतीं और यदि होती भी हैं तो निर्बल रूप में होती हैं, यथा शीतला, रोमान्तिका (Measles) आन्त्रिक ज्वर (Typhoid) इत्यादि। इन व्याधियों में कीटाणुओं के विष को उदासीन करने के लिये शरीर में प्रतिविष उत्पन्न हो जाता है, जो कई वर्षों तक शरीर में उपस्थित रहता है, यह रोग पुनराक्रमण से बचाये रखता है। जब तक शरीर में यह प्रतिविष उपस्थित रहता है तब तक यदि उस रोग के कीटाणु शरीर में प्रवेश कर भी जायें तो वे रोग उत्पन्न करने में असमर्थ होते हैं। शीतला के बाद उसका प्रतिविष दीर्घकाल तक—लगभग आजीवन—उपस्थित रहता है, तथा रोग उत्पन्न नहीं होने देता।

जैसे मनुष्यों में शीतला होती है इसी प्रकार पशुओं में भी शीतला

होती है, जिसे गो-शीतला कहते हैं इन दोनों मनुष्य शीतला तथा गो-शीतला का प्रतिविष एक ही है। अतः गो-शीतला हो जाने (शीतला का टीका) के बाद ६-७ वर्ष तक शीतला नहीं होती और यदि होती है तो निर्बल रूप में।

इस प्रकार उत्पन्न अर्थात् रोग मुक्ति के बाद उत्पन्न रोग क्षमता पृथक् पृथक् रोगों के लिए भिन्न भिन्न काल के लिये होती है यथा वातश्लेष्मिक ज्वर (Influenza) और श्वसनाशक ज्वर (Pneumonia) में उत्पन्न रोग क्षमता अल्पकाल के लिये होती है। आन्त्रिक ज्वर में रोगक्षमता उसकी अपेक्षा अधिक और शीतला में सबसे अधिक काल तक रहती है।

कृत्रिम रोगक्षमता—उसे कहते हैं जो शरीर में, कीटाणुओं के विष या मृत कीटाणु अथवा अति दुर्बल कीटाणुओं को प्रवेश करके उत्पन्न की जाय अथवा अन्य पशु-प्राणियों में प्रतिविष उत्पन्न किया जाय और उस प्राणी के (प्रतिविष से परिपूर्ण) रक्तवारि को मानव शरीर में प्रविष्ट करके रोग क्षमता उत्पन्न की जाये।

कीटाणुओं के विष प्रवेश से उत्पन्न रोग-क्षमता को अंग्रेजी भाषा में अनलस रोग क्षमता (Active Immunity) कहते हैं। कीटाणुओं को शरीर से बाहर अनेक प्रकार के माध्यमों (जो कीटाणुओं का कृत्रिम भोजन होता है) में पालते हैं और उनकी वृद्धि करते हैं ज्यों ज्यों उनकी संख्या अधिक होती जाती है, उनका विष भी अधिक होता है। इस विष को, यदि वह बहिर्गत विष हो तो, यन्त्रों द्वारा कीटाणुओं से अलग करके उसका समघोल बना लेते हैं। यदि वह अन्तर्गत विष हो तो मृत, अथवा अति दुर्बल मृतप्रायः कीटाणुओं का समघोल बना लेते हैं। यह स्मरण रहे कि कीटाणु का विलयन तो नहीं हो सकता अर्थात् इनका लवण जैसा घोल (Solution) तो नहीं बनता किंतु इनका अवलम्बन (Emulsion) सा बन जाता है इस अवलम्बन में विष

अथवा कीटाणु सदा नियत प्रमाण में होते हैं। इस कीटाणुओं के विलयन घोल को अथवा मृत कीटाणुओं के अवलम्बन को वैक्सीन (Vaccine) कहते हैं, रोगानुसार इस वैक्सीन की एक मात्रा, दो मात्रा या वर्धमान मात्राओं में सूचिका द्वारा शरीर में प्रवेश की जाती है। थोड़ी मात्रा में यह विष शरीर में जाकर शरीर की सलों को ठीक उसी प्रकार सचेत और उत्तेजित कर देता है जिस प्रकार कि किसी प्रदेश में डाकुओं की उपस्थिति अथवा शत्रु के आक्रमण के भय से लोग सावधान और चौकस होकर अस्त्र-शस्त्र एकत्रित कर मुकाबले के लिए तैयार हो जाते हैं, वैक्सीन की अल्प मात्रा में शरीर की सलें प्रतिविष उत्पन्न करके रोगाक्रमण के लिए तैयार हो जाती हैं। यदि इस काल में रोग कीटाणु प्रवेश कर जायें तो प्रतिविष की उपस्थिति के कारण एवं शरीर की सलों की उत्तेजना के कारण रोग उत्पन्न नहीं होने पाता और यदि हो भी जाय तो मन्द वेग का होता है।

अन्य प्राणियों में प्रतिविष उत्पन्न करके उनके रक्तवारि को शरीर में प्रवेश करने से जो रोगक्षमता उत्पन्न होती है उसे अलस रोग-क्षमता (Passive Immunity) कहते हैं।

प्रतिविष परिपूर्ण सीरम—कोई भी विष अधिक मात्रा में तो घातक होता है परन्तु अल्प मात्रा में वह घातक नहीं होता। यदि विष की अल्प मात्रा आरम्भ करके धीरे धीरे बढ़ाई जाए तो शरीर उसे सहन करने योग्य हो जाता है। यहाँ तक कि अभ्यास से वह प्राणी विष की इतनी मात्रा लेकर भी स्वस्थ रहता है जितनी कि अन्य कई प्राणियों के प्राणनाश के लिए पर्याप्त हो। ठीक यही बात कीटाणुओं के विष के सम्बन्ध में भी घटती है, इसी सिद्धांत पर प्रतिविष परिपूर्ण रक्तवारि (Serum-सीरम) तैयार किया जाता है।

वैक्सीन के प्रकरण में कथित विधि अनुसार कीटाणुओं के विष, मृत अथवा मृतप्रायः कीटाणुओं को एकत्रित कर उसका घोल बनाते

हैं और इसकी अत्यल्प मात्रा एक घोड़े या अन्य उपयुक्त प्राणी में दी जाती है जिससे उसे कुछ भी हानि नहीं होती। धीरे-धीरे इस वैक्सीन की मात्रा को बढ़ाते जाते हैं कुछ समय बाद घोड़ा वैक्सीन की इतनी मात्रा को सहने लगता है जितनी कि अन्य कई घोड़ों के लिए प्राण विनाशक हो। कुछ ही समय बाद वह इससे भी अधिक मात्रा सहने योग्य हो जाता है, तब बिष देना बन्द कर देते हैं। अब उसके रक्त में विष को उदासीन करने वाली वस्तुएं जिन्हें प्रतिविष कहते हैं, अति अधिक मात्रा में उपस्थित होती है। इस प्रतिविष को प्राप्त करने के लिए घोड़े की एक बड़ी शिरा (ग्रैविकशिरा) काटकर कैनुला द्वारा रक्त को एक शुद्ध वर्तन में यथावश्यक मात्रा में इकट्ठा कर लेते हैं और फिर शिरा को बांध देते हैं जिसे घोड़ा भी न मरे और रक्तवारि भी मिल जाय। थोड़ी देर में रक्त जम जाता है जिससे रक्तवारि (सीरम) अलग हो जाता है और छिछड़े अलग। अब इस रक्तवारि (सीरम) को जो प्रतिविष से परिपूर्ण है, प्रयोगार्थ शीशियों में भर लेते हैं। इस विधि से भिन्न-भिन्न रोगों के लिए भिन्न-भिन्न सीरम बनाये जाते हैं। आवश्यकतानुसार रोग विशेष का प्रतिविष सीरम (Antitoxic Serum) मानव शरीर में प्रवेश किया जाता है। जिससे बना बनाया प्रतिविष शरीर में उपस्थित होकर रोग क्षमता उत्पन्न कर देता है।

वैक्सीन और सीरम, शरीर में रोगक्षमता उत्पन्न करने के अतिरिक्त रोग शान्त्यर्थ भी प्रयुक्त होते है। सीरम चिकित्सा विशेषकर निम्नोक्त रोगों में काम आती है :

(१) रोहिणी (Diphtheria) (२) अग्निविसर्प (Erysipelas) (३) धनुर्वात (Tetanus) (४) प्रवाहिका (Dysentry) (५) शीर्ष सौषुम्नज्वर (Cerebrospinal Fever) इत्यादि।

वक्तव्य – प्रवाहिका और शीर्ष सौषुम्नज्वर के लिये नवीन औषधियों (Sulpha Group and Penicillin) के आविष्कार के बाद इनके सीरम का महत्व बहुत कम हो गया है।

रोग परिपाक काल—कीटाणु शरीर में प्रविष्ट होते ही रोग पैदा नहीं करते प्रत्युत पहले बढ़ते रहते हैं, और जब इतने बढ़ जाते हैं कि उनका विष रोग पैदा करने योग्य हो जाए, तब रोग पैदा होता है। इस जन्तु प्रवेश काल से लेकर रोगोत्पत्ति तक के काल को "परिपाक काल" (Incubation Period) कहते हैं।

सम्प्राप्ति—जन्तु और उनका विष शरीर के अङ्गों में विकार उत्पन्न करके व्याधि का कारण बनते हैं, जो जो विकार और जिस जिस प्रकार विकार उत्पन्न होते हैं उसे रोग सम्प्राप्ति कहते हैं।

पूर्वरूप—परिपाक काल के अन्त में व्याधि के स्पष्ट लक्षण उत्पन्न होने से पूर्व कुछ अव्यक्त से लक्षण प्रगट होने लगते हैं, जिनसे सन्देह पड़ जाता है कि किसी रोग का आक्रमण होने वाला है, इन लक्षणों को पूर्वरूप कहते हैं। पूर्वरूप से यह ज्ञात करना प्रायः कठिन होता है कि कौनसी व्याधि—विशेष होने वाली है।

लक्षण—परिपाक काल की समाप्ति पर रोग के व्यक्त और स्पष्ट लक्षण दृष्टिगोचर होने लगते हैं। इन्हीं लक्षणों को देखकर व्याधि की मीमांसा की जाती है। इसको आयुर्वेद में कई नामों से पुकारा गया है, यथा-रूप, लक्षण, आकृति, आयतन, निमित्त इत्यादि।

उपद्रव—यदि रोग बलवान हो अथवा चिकित्सा सावधानी से न की जाय तो उस रोग में अन्य लक्षण तथा अन्य रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अनेक बार एक व्याधि कुछ काल व्यतीत होने पर क्रम स्वरूप दूसरी व्याधि उत्पन्न कर देती है, इन्हें उपद्रव कहते हैं। यथा मधुमेह में प्रमेह पीड़िका, रक्तभार आधिक्य, तथा वृकशोथ आदि। अथवा अन्तः सौषुम्न ज्वर (Poliomyelitis) से अङ्ग आघात अथवा पक्षाघात इत्यादि।

"व्याधेरुपरि यो व्याधिर्भवत्युत्तर कालजः।
उपक्रमाविरोधी च स उपद्रव इत्युच्यते॥"

अर्थात् एक व्याधि के बाद कालान्तर में जो दूसरी व्याधि उत्पन्न होती है, उन दोनों की चिकित्सा भी विभिन्न नहीं होती है, उसको उपद्रव कहते है।

रोग उत्पादक सूक्ष्म जन्तु निम्नोक्त प्रकार से रोग उत्पन्न करते हैं:

(१) सूक्ष्म जन्तु सारे शरीर में विद्यमान न होकर केवल एक स्थान में होते हैं और वही विष उत्पन्न होकर रक्त में मिलता रहता है और रोग के लक्षण उत्पन्न करता है।

(२) रोग उत्पादक कीटाणु रक्त में प्रविष्ट होकर भ्रमण करते रहते हैं इनकी वृद्धि भी वहीं होती है, विष भी रक्त के अन्दर तथा शरीर की सब सलों में उत्पन्न होता है। दूसरे शब्दों में संक्रमण स्थानीय न होकर सार्वशारीरिक होता है।

कीटाणुओं से रोग उत्पत्ति के अनुसार रोग की चार अवस्थायें मानी गई हैं :

(१) टॉक्सीमिया (Toxaemia) विष रक्तता।

(२) बैक्टीरिमिया (Bacteriaemia) कीट रक्तता।

(३) सेप्टीसीमिया (Septicaemia) पूय उत्पादक कीटाणुओं की रक्त में विद्यमानता।

(४) पयीमिया (Pyaemia) पूयरक्तता।

इन सबको आयुर्वेद में सन्निपात के अन्तर्गत माना गया है।

टॉक्सीमिया (Toxaemia)

जब कीटाणुओं का विष (Toxin) अत्यधिक मात्रा में रक्त में उपस्थित हो उसे टॉक्सीमिया (Toxaemia) रक्तविषता कहते हैं। इसका स्पष्ट उदाहरण रोहिणी (Diphtheria) धनुर्वात् (Tetanus) में मिलता है। रोहिणी रोग गले में होता है और धनुर्वात् में स्थान विशेष के व्रण या आघात में होता है। टॉक्सीमिया के लक्षण उनके जन्तु अनुसार भी भिन्न भिन्न होते हैं यथा रोहिणी में विशेष कर हृदय

अथवा वात नाड़ियों पर विशेष प्रभाव पड़ता है। परिणाम स्वरूप हृदय के अवरोध से मृत्यु या पक्षाघात हो जाने की सम्भावना होती है। धनुर्वात का विष मस्तिष्क में गतिउत्पादक क्षेत्र पर अपना प्रभाव डाल कर मांसपेशियों के संकोच और अकड़न यथा अन्त्रआयाम्, बहिर्आयाम् आदि लक्षण प्रगट करता है। इतना होते हुए भी कीटाणुजन्य विष से उत्पन्न टॉक्सीमिया में चन्द एक लक्षण सामान्य होते हैं यथा शीत से ज्वर का आना, शिरशूल, अङ्गमर्द, अरुचि, वमन, स्वेद आदि।

अनेक बार टॉक्सीमिया में यह मालूम नहीं होता कि कौनसा स्थान रुग्ण है जहाँ से टॉक्सीन उत्पन्न होकर रक्त में मिलकर लक्षण उत्पन्न कर रहे हैं यथा संधिवात (Rheumatoid Arthritis) में संधियों में शोथ, पीड़ा और ज्वर आदि लक्षण होते हैं। किन्तु यह मालूम नहीं होता कि विष कहाँ उत्पन्न होता है। कभी तो विष का स्रोत गलग्रन्थि होती है और कभी दन्तपूय अथवा कभी नासारन्ध्रों में पाक।

बैक्टीरीमिया (Bacteraemia)

उस अवस्था को कहते हैं जिसमें विशेषकर कीटाणु अत्यधिक मात्रा में रक्त में भ्रमण कर रहे हों। वैसे तो बहुत से कीटाणु ऐसे हैं जो किसी न किसी अवस्था में रक्त में विद्यमान होते हैं यथा आन्त्रिक ज्वर (Typhoid) और श्वसनासक ज्वर (Pneumonia) में आरम्भ में कीट सारे रक्त में उपस्थित होते हैं, बाद में स्थान विशेष आन्त्र तथा फुफ्फुसों में स्थित होकर रोग उत्पन्न करते हैं।

सेप्टीसीमिया (Septicaemia)

सेप्टीसीमिया का शब्द तभी प्रयुक्त होता है जब पूय उत्पादक कीटाणु रक्त में मिल जाते हैं यथा स्टेफिलोकाकस ऑरियस (Staphylococcus aureus), स्ट्रेप्टोकाकस पायोजिनस (Streptococcus pyogenus) कभी कभी न्युमोकाकस (Pneumococcus),

गानोकाकस (Gonococcus)। प्रायः स्थानिक संक्रमण से ही सेप्टीसीमिया होता है, यथा गलशोथ से, गर्भाशय से (प्रसूतिका ज्वर में) अथवा व्रण से या शल्य कर्म (Operation) व्रण से कीटाणु रक्त में में प्रवेश पाकर उपद्रव स्वरूप सेप्टीसीमिया होता है।

लक्षण—भिन्न जन्तुओं से उत्पन्न सेप्टीसीमिया में लक्षण भी भिन्न भिन्न होते हैं। तदानुसार व्याधि का वेग और काल भी पृथक पृथक् होता है। सेप्टीसीमिया में जब स्थानिक संक्रमण के लक्षण सर्वथा लुप्त या अव्यक्त हों तो उसे भयानक अवस्था समझना चाहिए। कुछ लक्षण ऐसे भी हैं जो सर्वसाधारण में समान रूप में होते हैं।

समान्य लक्षण—ज्वर सदा तीव्र अविसर्गी रूप में (विषम) होता है। १००° से १०४° तक चढ़ता उतरता रहता है, अनेक बार शीत देकर चढ़ता है, कोष्ठबद्धता आधमान उपस्थित होते हैं, विरल रोगी में अतिसार होता है, पीड़ा अङ्ग मर्द आम तौर पर अनुपस्थित होते हैं, परन्तु संधिशूल और संधिशोथ किसी किसी रोग में देखने में आते हैं। रोगी को क्षीणता और दुर्बलता अधिक होती है। नाड़ी तीव्र और हलकी होती है। अनेक बार विष प्रभाव हृदय की मांस पेशियों पर पड़कर हृदय को दुर्बल कर देता है। रक्त न्यूनता तीव्रता से बढ़ती जाती है। रोमरक्तस्राव (रक्तपित्त) भी देखने में आता है। सेप्टीसीमिया में यह विशेषतः होती है कि रक्तपरीक्षा करने पर श्वेताणु बहुत बढ़े हुये होते हैं। स्वस्थ अवस्था में जो ६-८ हजार प्रति सहस्रांश मीटर (c.m.m.) होने चाहिये वे बढ़कर १६-२०-३० हजार तक चले जाते हैं और उनमें बहुरूप मींगी युक्त श्वेताणु अपेक्षया बढ़ जाते हैं। स्वस्थावस्था में ६५% होते हैं और इस रोग में बढ़कर ८०–८५ तथा ९०% तक पहुँच जाते हैं।

सेप्टीसीमिया का परिणाम सदा भयानक होता है, नवीन आविष्कारों के कारण यथा (Penicillin), सल्फाड्रग्स (Sulfa-Drugs)

और स्ट्रेप्टोमायसीन (Streptomycin) आदि से मृत्यु संख्या अत्यल्प और रोग शान्ति अत्यधिक रोगियों में होती है।

पाईमिया (रक्तपूयता)

पाईमिया (Pyaemia) सेप्टीसीमिया की उस अवस्था को कहते है जिसमें शरीर में स्थान-स्थान पर विद्रधियें बन जायँ और पूय पड़ जाय।

यह स्मरण रहे कि पाईमिया तो सेप्टीसीमिया ही है, परन्तु सब सेप्टीसीमिया पाईमिया नहीं होते। पाईमिया में प्रायः आरम्भ में ही विद्रधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, किन्तु किसी किसी रोगी में कभी कभी आरम्भ में साधारण सेप्टीसीमिया होकर बाद में पाईमिया हो जाता है।

पाईमिया का आदि कारण (स्रोत) विस्फोट दुष्ट व्रण अस्थिमज्जा शोथ आस्टियो-माईलिटिस (Osteomyelitis) उपान्त्रशोथ आदि हैं। विशेष उत्पादक कीटाणु (Staphylococcus aureus) और (Streptococcus) हैं।

प्रसारानुसार पाईमिया तीन प्रकार का माना गया है :

(१) रक्तगत पाईमिया—दुष्टव्रण, अस्थिमज्जा शोथ या दन्तपूय, मूत्रमार्ग अथवा वायुमार्ग में पूय अथवा पूयमय कण्डू आदि रोगों में पूय उत्पादक कीटाणु रक्त में शिरा द्वारा मिलकर शरीर के विभिन्न अङ्गों में विद्रधियां उत्पन्न कर देते हैं यथा फुफ्फुस, वृक, संधि, अस्थि तथा कभी कभी मस्तिष्क अथवा हृदय की मांसपेशियों में विद्रधि उत्पन्न हो जाती है।

इसमें लक्षण उग्र सेप्टीसीमिया के से होते हैं तथा जिस स्थान से पूयरक्त में मिला था वहाँ के रोग के लक्षण भी उपस्थित होते हैं।

(२) संयुक्त शिरा द्वारा पूय उत्पादक कीटाणु उपातन्त्र, गुदा, बृहदान्त्र, पित्ताशय अथवा अन्य अन्न मार्ग सम्बन्धी अङ्गों में जहाँ कहीं पूयात्मक शोथ हो वहाँ से पूय उत्पादक कीटाणु रक्त में मिल जाते हैं, इसमें विद्रधियें केवल यकृत में उत्पन्न होती हैं, सारे शरीर में नहीं।

लक्षण तीव्र संक्रामक ज्वर के समान उपस्थित होते हैं यथा तीव्र अविसर्गी विषम ज्वर, दुर्बलता, तीव्र हलकी नाड़ी इत्यादि। तथा उदर शूल, साधारण कामला और यकृत वृद्धि भी पाई जाती है, यदि रोग ज्ञान शीघ्र न हो सके तो परिणाम भयानक होते हैं।

(३) हृदय कपाटों की कला में पूय-आत्मक शोथ होने पर वहाँ से सूक्ष्म सूक्ष्म अल्पांश भाग उखड़ उखड़ कर रक्त की धमनियों द्वारा शरीर के भिन्न भिन्न भागों में पहुँचकर वहाँ विद्रधि उत्पन्न कर देते हैं प्रायः यह रोग बांये हृदय के मध्यस्थ कपाटों में होता है। वहाँ से संक्रमण धमनी द्वारा जा कर प्लीहा, वृक्क, मस्तिष्क तथा शाखाओं में विद्रधि उत्पन्न होती है जब कभी दांये हृदय में शोथ हो तो विद्रधियाँ फुफ्फुसों में होंगी।

अध्याय ७

ज्वर

ज्वर—यह एक पारिभाषिक शब्द है जो शरीर की उस अवस्था को दर्शाता है जिसमें शरीर का ताप बढ़ जाता है, स्वेद, मल, मूत्रादि स्रावों का ह्रास हो जाता है, तथा साधारणतया नाड़ी की गति भी तीव्र हो जाती है। यदि इसके अर्थ को और भी संक्षिप्त किया जाय तो ज्वर शब्द से केवल शरीर की ताप वृद्धि का बोध होता है और यही कारण है कि ज्वर नाम प्रायः उन सब व्याधियों को दिया जाता है जिनमें कि प्रधान लक्षण केवल तापवृद्धि ही है। चूँकि ज्वर प्रायः सूक्ष्म जन्तुओं के विष के कारण से ही होता है इसलिये ज्वर शब्द साधारण संक्रामक (जन्तुओं से होने वाले) ज्वरों को ही प्रकट करता है।

यह विष शरीर में ताप वृद्धि को दो प्रकार से पैदा करता है—

(i) विष रक्त में सञ्चरण करता हुआ मस्तिष्क के ताप केन्द्र में पहुँच कर उसे क्षुब्ध करता है, जिससे वह शरीर की सैलों को उत्तेजित करता है और ताप वृद्धि होती है।

(ii) विष रक्त में सञ्चरण करता हुआ शरीर के प्रत्येक सैल में पहुँचता है जो क्षुब्ध होकर अधिक क्रिया करती हैं जिससे ताप बढ़ जाता है।

सम्प्राप्ति—ज्वर कीटाणुओं के विष को उदासीन करने का शरीर की ओर से एक प्रकार का यत्न है, अर्थात् सैलें उत्तेजित होकर शीघ्रता से काम करती हैं। जिससे ज्वर पैदा होता है। मानों ज्वर कीटाणुओं और सैलों के युद्ध का सूचक है। जब सैलें और कीटाणु दोनों बलवान

हों तो युद्ध बड़े जोर का होता है अर्थात् ज्वर भी तीव्र होता है परन्तु जब कीटाणु कमजोर हों और शरीर की सैलें भी निर्बल हों तो ज्वर कम होता है। बालकों में सैलें नई होतीं हैं जोश नया होता है, अतः ज्वर भी तीव्र होता है। वृद्धों तथा अतिक्षीण रोगियों में सैलों के क्षीण होने के कारण युद्ध वेग से नहीं होता अतः ज्वर मन्द होता है। ऐसी अवस्था जिसमें रोग तो प्रचण्ड हो, परन्तु रोगी में ज्वर न हो, इससे यह स्पष्ट होता है कि एक तरफ से रोगाक्रमण को रोकने का कोई उपाय नहीं हो रहा है, यह अवस्था बहुत भयानक होती है।

जब शरीर इस यत्न में सफल होता है तो विष को उदासीन कर देता है और उस विष को स्वेद, मूत्र और मल के द्वारा बाहर निकाल देता है। इसी कारण ज्वर उतरते समय अत्यधिक स्वेद आता है, मूत्र बहुत सा आता है और कभी कभी मल भी उतरता है।

जब ज्वर बहुत देर तक रहे तो रक्त कण बहुत मरते हैं, रक्त की न्यूनता हो जाती है और दुर्बलता बढ़ जाती है। जितने अधिक रक्ताणु मरते हैं उतनी ही अधिक रक्त न्यूनता और दुर्बलता होती है, रक्त कणों के मरने से प्लीहा वा यकृत का कार्य बढ़ जाता है और विष को उदासीन करने के लिए भी यकृत को अधिक कार्य करना पड़ता है। अतः यकृत और प्लीहा दोनों बढ़ जाते हैं। जहां रक्तकण बहुत शीघ्रता से मर रहे हों—यथा मलेरिया और काला आजार उनमें प्लीहा अत्यधिक बढ़ जाती है। यदि प्लीहा वा यकृत बहुत काल तक बढ़े रहें तो उनमें सौत्रिक तन्तु पैदा हो जाते हैं और वे कठोर हो जाते हैं, और वे स्थायी रूप से बढ़ जाते हैं।

ज्वरों में प्रायः कोष्ठ बद्धता होने की सम्भावना होती है तथा शरीर के अन्य मल भी नहीं निकलते जिससे यकृत वा अन्य पाचक अङ्ग विकृत हो जाते हैं। जिह्वा मलिन, शुष्क और विरस हो जाती है। तीव्रावस्था में दांतों वा ओष्ठों पर मल जमा हो जाती है।

जिस रोग में स्वेद अधिक आता हो, उसमें कुछ दिनों के बाद स्वेद ग्रन्थियों के मुख पर छोटे-छोटे श्वेत दाने पित्त (घाम) के समान निकल आते हैं। यह बात विशेष करके गर्मियों में बहुत स्पष्ट देखने में आती है। बहुत से वैद्य इन्हें आन्त्रिक ज्वर की ही पिड़िकायें समझ लेते हैं यह उनकी भूल है। आन्त्रिक ज्वर के अतिरिक्त अन्य ज्वरों में भी ये निकलती हैं।

ज्वर की अवस्थायें--ज्वर की तीन अवस्थाएँ होती हैं—

(१) ज्वर का चढ़ना (२) स्थिर रहना और (३) उतर जाना।

ज्वर दो प्रकार से चढ़ता है—

(१) अकस्मात् यथा–विषमज्वर, मसूरिका, प्लेग आदि। जब ज्वर अकस्मात् चढ़ता है तो प्रायः शीत लगकर चढ़ता है।

(२) शनैः शनैः यथा आन्त्रिकज्वर, प्रणालीय फुफ्फुस प्रदाह, यक्ष्मा आदि में।

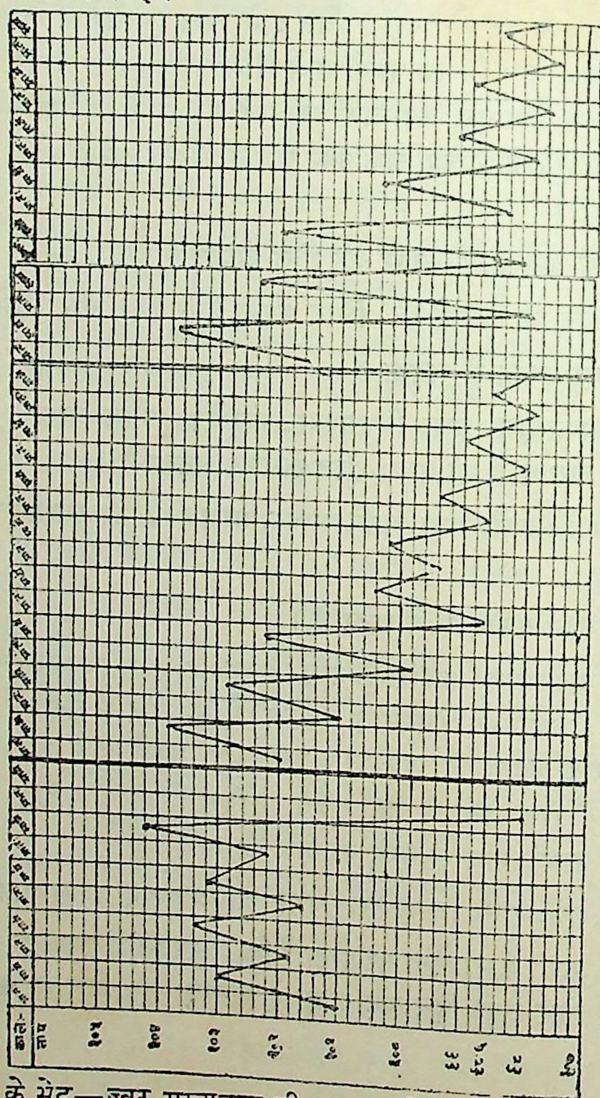
ज्वर तीन प्रकार से उतरता है।

(१) अकस्मात् (क्राइसिस) यथा विषमज्वर, श्वसनक ज्वर (न्यूमोनिया) आदि में। जब ज्वर अकस्मात् उतरता है तो जोर से पसीना आता है, मूत्र अधिक आता है, दुर्बलता बहुत बढ़ जाती है। अकस्मात् ज्वर उतरने पर तीव्र रोगों में जहाँ हृदय टॉक्सीमिया के कारण दुर्बल हो तो हृदय कार्यावरोध से मृत्यु का भय रहता है।

(२) शनैः शनैः (लाईसिस) यथा आन्त्रिकज्वर यक्ष्मा आदि में।

(३) कभी कभी ऐसा भी होता है कि ज्वर दिन में एक बार अकस्मात् उतर कर फिर उसी दिन चढ़ जाता है परन्तु पूर्व दिन से कम, इसी

प्रकार प्रतिदिन उतर उतर कर चढ़ता है परन्तु क्रमशः कम हो हो कर बिल्कुल उतर जाता है ।



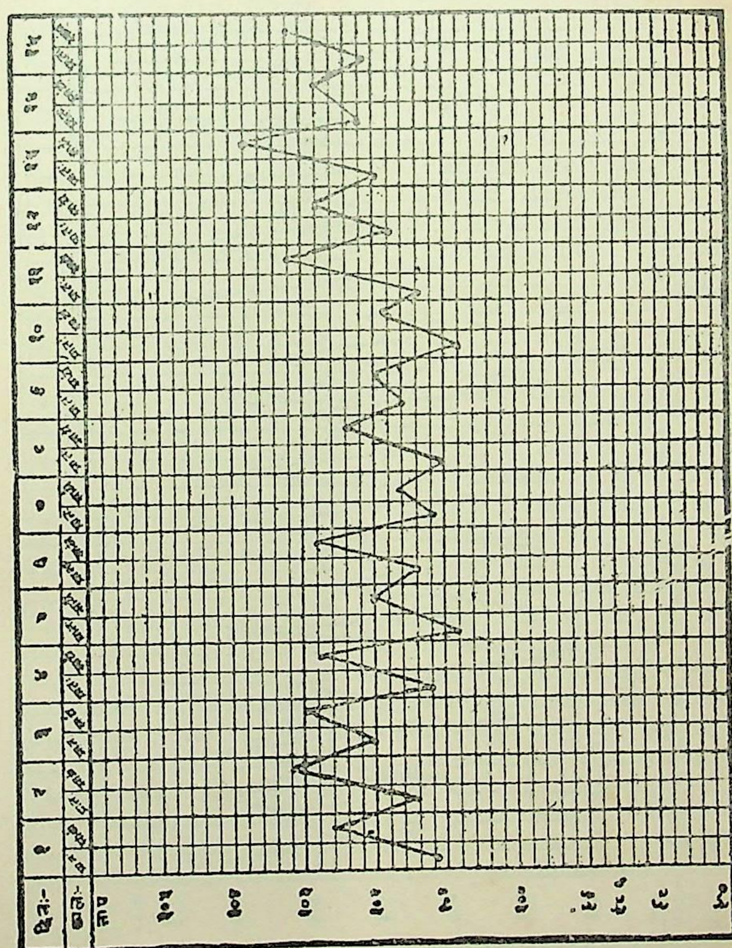
चित्र १२
ज्वर उतरने के ३ भेद

ज्वर के भेद—ज्वर मुख्यतया तीन प्रकार के होते हैं ।

चित्र १३

(१) सन्तत—जो कई दिन तक सम अवस्था में रहे अर्थात् दिन भर में २ अंश से अधिक का अन्तर न पड़े।

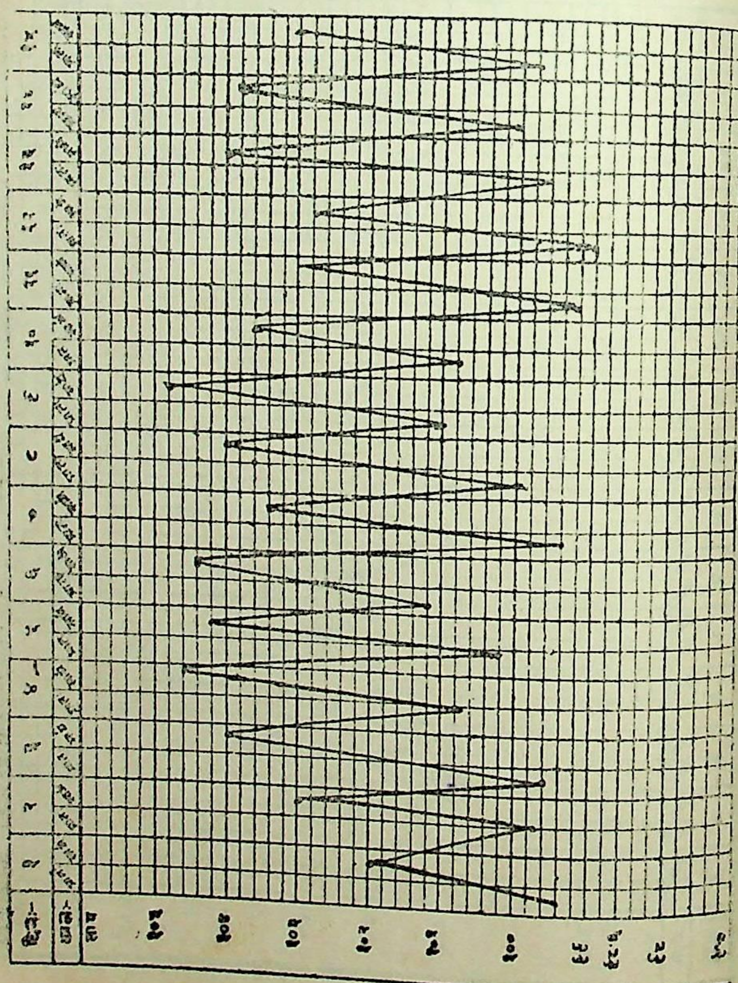
सन्तत ज्वर



चित्र १४

(२) अविसर्गी ज्वर—जिसमें ज्वर सदा चढ़ा रहे परन्तु दिन रात में २ अंश से अधिक अन्तर पड़े।

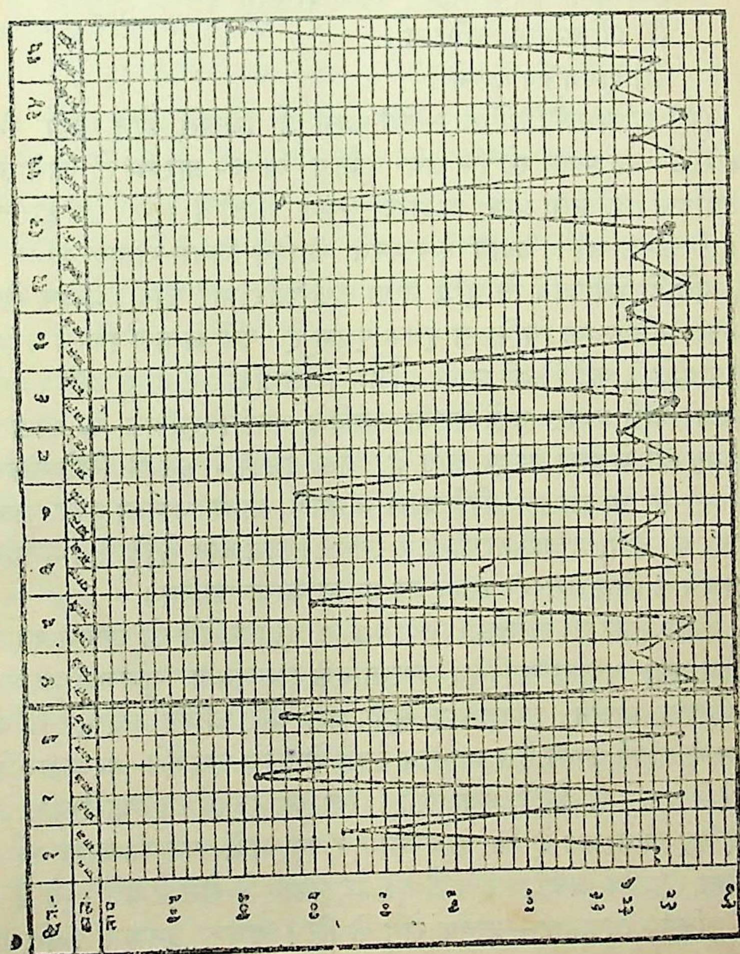
अविसर्गी ज्वर



चित्र १५

(३) विसर्गी ज्वर—जिसमें ज्वर २४ घंटे में एक बार अवश्य उतर जाय या स्वस्थ रेखा (नार्मल ९८.४) तक पहुँचे, विषम ज्वर विसर्गी ही

विसर्गी ज्वर



होते हैं, इसके आगे कई भेद होते हैं तृतीयक, चातुर्थिक, तृतीयक विपर्यक (आयुर्वेद में सतत का भी वर्णन है "अहोरात्रे सतत को द्वौ कालावनुवर्तते") इनका वर्णन विषक ज्वर के अधिकार में जायेगा।

ज्वरों की सामान्य चिकित्सा—इसके दो भाग हैं—

(i) प्रतिबन्धक चिकित्सा।

(ii) शमन चिकित्सा।

(१) प्रतिबंधक चिकित्सा—उसे कहते हैं जिससे होने वाला रोग रुक सके। यह ध्यान रहे कि जब पूर्वरूप या रूप प्रारम्भ हो जाये तब प्रतिबन्धक चिकित्सा प्रायः सदा असम्भव होती है और कई हालतों में हानिकारक भी। उपाय ऐसे करने चाहिये जिनसे रोगाणु प्रविष्ट न हों, यदि हो भी जायें तो वृद्धि न पा सकें और मारे जायें। प्रत्येक रोग के लिये प्रतिबन्धक चिकित्सा पृथक् पृथक् है। कई रोगाणु किसी प्रकार प्रविष्ट होते हैं कई किसी प्रकार। जिस जिस प्रकार रोगाणु प्रविष्ट होते हों उसी उसी प्रकार उन्हें रोकना चाहिये यथा विशूचिक के कीटाणु भोज्यद्रव्यों के द्वारा अन्दर जाते हैं, अतः इनको रोकने के लिये संक्रम के दिनों में बाज़ार की कोई चीज़ न खायें, पानी उबाला हुआ पीयें, बाज़ार का मेवा, कच्ची तरकारी न खायें। विषम-ज्वर के दिनों में मच्छर से बचने के लिये मशहरी आदि का प्रयोग करना चाहिए।

दोनों प्रकार की रोगक्षमता-स्वाभाविक तथा कृत्रिम-को उत्पन्न करना चाहिए तथा बढ़ाना चाहिये। स्वाभाविक रोगक्षमता सुपाच्य पुष्टिकर ऋत्वनुकूल भोजन, स्वच्छवायु, सूर्यप्रकाश और उचित व्यायामादि के सेवन से बढ़ाई जाती है। यह सब रोगों के लिये एक है। हर प्रकार के रोगों से बचने के लिये, तथा अपने स्वास्थ्य रक्षार्थ वा आरोग्यता के लिये यह आवश्यक है कि आजीवन हम इन बातों पर आचरण करें। जिनका स्वास्थ्य अच्छा रहता है वह हर प्रकार के रोग से बचे रहते हैं।

कृत्रिम रोगक्षमता—प्रत्येक रोग के लिये पृथक् पृथक् है। किसी

में उसकी वैक्सीन (कीटाणुओं का विष) से शरीर में प्रतिविष उत्पन्न करके तथा कई रोगों में सीरम प्रतिविष का इंजेक्शन करके और किसी में अन्य साधनों से कृत्रिम रोगक्षमता उत्पन्न की जाती है। कई औषधियें भी प्रतिबन्धक चिकित्सा का काम देती हैं, यथा विषम ज्वर को रोकने के लिए कुनीन।

(२) *शमन चिकित्सा*—ज्वर शरीर की ओर से कीटाणुओं के नाश के प्रयास का सूचक है। शरीर के अन्दर कीटाणुओं और सेलों में युद्ध चल रहा होता है, ज्वर इसी युद्ध का सूचक है। चिकित्सा का यही लक्ष है कि कीटाणुओं का नाश और शरीर के सेलों की विजय हो। रोग निदान हो जाने पर यदि उस रोग की विशेष औषधि का ज्ञान है, तो उसका प्रयोग कर कीटाणुओं का नाश कर रोग को समूल उच्छेद करने का यत्न करना चाहिए।

जीवाणुओं (प्राणि वर्ग) के लिये उचित औषधियों का ज्ञान पहले से ही था, जिनके प्रयोग से वह मर जाते हैं, यथा मलेरिया के लिये क्विनाइन, काला आजार के लिये यूरिया स्टेबेमीन (Urea Stibamine) उपदंश के लिये न्योआर्सिनोबिलान (N.A.B.) तथा बिस्मथ इत्यादि। अब गत् २० वर्ष से अनेक औषधियों का आविष्कार हो चुका है जो कीटाणुओं (वनस्पति वर्ग) का नाश कर देती हैं। इनका विस्तृत वर्णन आगे आएगा। यथा निमोनिया के लिए पेनिसिलीन व सल्फा औषधियां, गनोरिया के लिए पेनिसिलीन आदि। यदि आवश्यकता हो तो सीरम और वैक्सीन का भी प्रयोग कर सकते हैं। इन सबका वर्णन यथा स्थान इस पुस्तक में आएगा। जब तक ज्वर का निदान नहीं हो पाता तब तक ज्वर की साधारण चिकित्सा करनी चाहिए जो सब ज्वरों में समान है।

ज्वरों की सामान्य चिकित्सा—जिन रोगों का निदान न हो सके तथा जिनकी शान्ति के लिये विशेष औषधियां ज्ञात न हों उन सब में

निम्नोक्त विधि से चिकित्सा व उपचार करना चाहिए :

(i) विश्राम।

(ii) परिचार (क) स्वच्छता (ख) अङ्गप्रोच्छन (ग) व्यवस्था (घ) संक्रम अवरोध।

(iii) स्वच्छ वायु।

(iv) स्वेद और मल की प्रवृत्ति।

(v) आहार।

(vi) लाक्षणिक चिकित्सा।

(vii) उपद्रव चिकित्सा।

(१) **पूर्णविश्राम**—ज्वरावस्था में परिश्रम सर्वथा त्याज्य हैं। कुछ रोग तो ऐसे हैं, जिनमें एकदम पूर्ण विश्राम की आवश्यकता होती है, यथा टाइफाईड, निमोनिया, राज यक्ष्मा आदि। मानसिक शान्ति और चिन्ता से निवृत्ति रोग मुक्ति के विशेष सहायक साधन हैं। इसके विपरीत मानसिक शान्ति का अभाव और चिन्ता रोग के वेग को बढ़ाते हैं।

(२) *परिचार*—रोगी की सम्यक् परिचर्या करने से रोग का आवेग बहुत कम हो जाता है और उपद्रव होने की सम्भावना कम होती है। परिचारक को अनुरक्त, दक्ष और बुद्धिमान् होना चाहिये—

"अनुरक्तः शुचिर्दक्षो बुद्धिमान् परिचारकः"

परिचर्या—में निम्नोक्त बातों का समावेश है :

(क) स्वच्छता—शय्या नरम, स्वच्छ और पर्याप्त चौड़ी होनी चाहिए। रोगी के वस्त्र और चादर को स्वच्छ रखें। मैला हो जाने पर तथा मल मूत्र और वमन से दूषित हो जाने पर तत्काल बदल डालें। बेसुध रोगी के नीचे आयल क्लाथ (Oil Cloth) बिछाना चाहिए ताकि मल-मूत्र से उसकी चादर और अन्य कपड़े दूषित न होने पायें और बार बार न बदलने पड़ें। रोगी के ओढ़ने का विशेष ध्यान रखना पड़ता है, समय, ऋतु और रोग के अनुसार ओढ़ना पतला, मोटा अथवा गरम होना

चाहिए। तीव्र ताप में रोगी की शीत वायु से रक्षा की विशेष आवश्यकता होती है कि कहीं उसको निमोनिया न हो जाए।

(ख) अङ्गप्रोच्छन—रोगी का प्रतिदिन साधारण शीतजल से अङ्ग प्रोच्छन करना चाहिए-इससे स्वेद के स्रोत खुले रहते हैं और पसीना बराबर आता रहता है, और विष का निस्सरण होता रहता है तथा टाक्सीमिया की सम्भावना कम रहती है।

यह स्मरण रहे कि जिस रोगी के स्वेद स्रोत सम्यक् काम कर रहे हों, मूत्र और मल सुचारु रूप से आते हों उस रोग में अरिष्ट लक्षण उत्पन्न होने का भय अत्यन्त कम होता है, अनिद्रा, घबराहट और बेचैनी बहुत कम देखने में आती है। अङ्गप्रोच्छन या स्पन्जबाथ प्रत्येक रोग में देना चाहिए। साधारण समशीतोष्ण या केवल शीतल जल यथोचित से अङ्गप्रोच्छन करना ही लाभदायक होता है। स्नान अथवा अङ्गप्रोच्छन से निम्नोक्त लाभ देखे जाते हैं:

(क) श्रमित वात तन्तुओं को शान्ति मिलती है तथा निद्रा की ओर प्रवृत्ति होती है।

(ख) रक्त का वेग और सञ्चार बढ़कर रक्तावरोध का भय कम होता है।

(ग) टाक्सीमिया कम होती है तथा ताप का वेग सीमित रहता है और मूत्र अधिक आता है।

(घ) श्वास संचार में सुविधा होती है।

(ङ) शय्या व्रण नहीं होते।

(ग व्यवस्था—रोगी को औषधि, आहार आदि नियमानुसार और व्यवस्थित रूप से देने चाहिए। आहार में थोड़ी उपेक्षा भी घोर उपद्रव उत्पन्न कर सकती है। आहार के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन अगले पृष्ठों में आयेगा।

(घ) संक्रमअवरोध—संक्रामक रोगों में रोगी को पृथक् रखना चाहिए तथा ऐसी सब सावधानियां रखनी चाहिये जिससे कि संक्रमण अन्य व्यक्तियों तक न पहुँचने पाये। परिचारक को स्वतः अपने लिए तो

सावधान रहना परमावश्यक है ही, इसके साथ उसका कर्तव्य यह भी है कि रोग को उसी रोगी तक ही सीमित रखे उससे अन्य व्यक्तियों तक न पहुँचने पाये। प्रत्येक रोग के प्रसार के साधन भिन्न भिन्न होने के कारण सावधानी भी तदनुसार भिन्न भिन्न होती है, यथा टाइफाइड वा विशूचिका में संक्रमण मल-मूत्र द्वारा फैलता है। तदनुसार उससे बचने के उपाय किये जाते हैं।

(३) *स्वच्छ वायु*—रोगी को स्वच्छ और खुली वायु में रखना चाहिये इसके विषय में अभी तक साधारण जनता में भय पाया जाता है। यह भय सर्वथा अयुक्त है। वस्तुतः स्वच्छ और खुली वायु तथा अङ्गप्रोच्छन की स्वस्थ मनुष्य की अपेक्षा रोगी को अधिक आवश्यकता होती है।

(४) *मल-निस्सरण*—स्वेद और मल की प्रवृत्ति की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए, निबन्ध सर्वदा हानिकारक है। लम्बे ज्वरों में तीव्र विरेचन निषिद्ध है, यथा आन्त्रिक ज्वर, राजयक्ष्मा, शीतला आदि में तथा पीड़िका युक्त ज्वरों में भी विरेचन देना त्याज्य है। ऐसे रोगों में विबन्ध निवारणार्थ ग्लिसरीन, जैतून का तेल (Olive Oil) आदि की सिरिन्ज दें, अथवा केवल जल की वस्ति करें। जहां मृदु विरेचन निषिद्ध हो वहाँ बदाम रौगन (बदाम का तेल), लिक्विड पैराफीन, मधुर रेचन आदि औषधियाँ दी जा सकती हैं। साधारण ज्वरों में मूत्रल, स्वेदल आदि दवाइयाँ दी जाती हैं जिससे स्वेद, मूत्र वा मल द्वारा शरीर से रोग का विष बाहर निकलता रहे।

(५) *आहार*—ज्वर में मलावरोध होता है और पाचक संस्थान आमाशयादि शिथिल होते हैं, क्षुधा मन्द होती है, पाचन क्रिया अल्प होती हैं। इसलिए सदा सुपाच्य, हलका तथा मृदु भोजन देना चाहिए, तरल भोजन ही लाभदायक है और एतदर्थ दूध का स्थान ऊंचा है। यदि दूध आधमान या अतिसार करे तो सौंफ, इलायची दालचीनी या पिप्ली आदि डाल कर काढ़ कर दूध देना चाहिए। दूध में सोडा-साइट्रास

(Soda citras) की एक मात्रा ५ से १० ग्रेन प्रति एक कप दूध में मिला कर दें। तथा अन्य लाजमन्ड, यवागू, फटे दूध का पानी, यवयूष (बार्ली वाटर) आदि दिए जा सकते हैं। आयुर्वेद में ज्वरों के आरम्भ में लंघन देना बहुत हितकर बताया गया है।

विकृत आमाशय तथा पाचक संस्थान को आराम देना आवश्यक तथा लाभदायक होता है। साधारण ज्वर इसी क्रिया से शान्त भी हो जाते हैं परन्तु रोगी के बलाबल का सदा ध्यान रख कर लंघन करवाना चाहिए।

जब अवस्था ऐसी हो कि रोगी बहुत क्षीण हो रहा हो, उसके अन्दर कोई भोजन न जा रहा हो और उसका बल बनाये रखना आवश्यक हो, तब ऐसी चीजें दी जाती हैं जो जलवत् हों, अन्त्र की दीवार से शीघ्र लीन होकर रक्त में मिल जावें और शरीर की शक्ति को कायम रख सकें यथा ग्लूकोज़ वाली (Glucose=द्राक्षौज) एक भाग को ४ भाग या कम जल में विलयन बनाकर बार बार पानी के स्थान पर दें। कभी कभी ब्राण्डी भी इसी प्रयोजन के लिए मिला दी जाती है, अथवा ग्लूकोज़ और ब्रान्डी की ठहरने वाली वस्ति कर सकते हैं।

लंघन अथवा अल्पाहार अल्पकालीन ज्वर के लिये तो अधिक हानिकर नहीं होता किन्तु जहाँ ज्वर लम्बा हो जाए वहाँ रोगी को अल्पाहार पर रखना रोगी के साथ अनर्थ करना है। रोगी और रोग का परस्पर युद्ध चल रहा होता है, ऐसी अवस्था में रोगी की शक्ति को बनाये रखना वैद्य का कर्तव्य है। साधारण अवस्था में जब टाक्सीमिया अधिक न हो तो उसे कम से कम आहार की मात्रा इतनी मिलनी चाहिए जो उसके स्वास्थ्य के $\frac{2}{3}$ (दो तिहाई) से कम न हो, पाश्चात्त्य मतानुसार एक साधारण मनुष्य के लिए ढाई से तीन हजार [1]केलोरीज (२५००-३०००

---

[1] Calories (केलोरीज उष्णता को मापने का परिमाण है) जो १ ग्राम (१ माशा) पानी को १ डिग्री गरम करता है अर्थात् एक पुरुष को इतना आहार मिलना चाहिए जो २००० केलोरीज की उष्णता उत्पन्न कर सके।

Calories) शक्ति देने वाली मात्रा चाहिए, तथा रुग्ण अवस्था में १५०० से २००० केलोरीज़ देने वाला आहार चाहिए। आहार तरल और सुपाच्य होना चाहिए। आहार की इतनी मात्रा मिलती रहे तो टाक्सीमिया की सम्भावता कम रहती है, आन्त्रिक ज्वर में व्रण से रक्तस्राव तथा उदरकला शोथ, आधमान आदि लक्षण के उत्पन्न होने का भय बहुत कम हो जाता है। नीचे एक दिन के भोजन का ऐसा नमूना दिया जाता है जिससे २००० केलोरीज उष्णता उत्पन्न होती है।

दूध	= १॥ सेर		= ८६४ केलोरीज
मोसंबी या संतरे का रस	=६		= १८० केलोरीज़
शक्कर	=४ औंस	=२ छटाँक	= ४५२ केलोरीज़
ग्लूकोज	=४ औंस		= ४५२ केलोरीज़
ब्रेड (डबल रोटी)	=२ टुकड़े	=१ औंस	=७० केलोरीज़
		जोड़	२०१८

वक्तव्य—अनेक बार ब्रेड का देना निषिद्ध होता है तब न दें। यदि आवश्यक समझें तो उसके स्थान पर अन्य वस्तुऐं यथा दूध, ग्लूकोज आदि देना चाहिए। ब्रेड के स्थान पर गेहूं का दलिया लाजा का प्रयोग कर सकते हैं। साधारणतया १ औंस ब्रेड की केलोरीज मात्रा १ औंस चावल के बराबर ही है। लाजा को कूटकर दूध में मिलाकर दे सकते हैं अथवा उसको सब्जी के रसे के साथ या मांस रस के साथ भी दे सकते हैं। यदि इतना न पिया जा सके तो दूध की मात्रा कम करके अण्डे को फांटकर दूध में मिलाकर दे सकते हैं। १ अण्डा (८० कलोरीज) दूध के ५ औंस के बराबर होता है। एक समय १ अण्डे से अधिक नहीं देना चाहिए। मच्छी भी दी जा सकती है। १ औंस मांस रस=१६ केलोरीज; १ औंस मच्छी लगभग १ अण्डे के बराबर होती है।

शय्या पर पड़े हुए मनुष्य के लिये शरीर के प्रत्येक १ सेर वजन के लिए दिन भर में ३० केलोरीज चाहिये अर्थात् १ मनुष्य जो १॥ मन

(१२२ पौंड) हो उसे दिन भर में ६०×३०=१८०० केलोरीज की आवश्यकता रहती है।

यह केवल अनुमान के लिये लिखा गया है। वैद्य स्वतः आवश्यकतानुसार हेर फेर कर सकते हैं। सच तो यह है कि रोगी रुग्ण अवस्था में यदि १५०० केलोरीज का भोजन ले ले तो भी उत्तम है, वस्तुतः इतना भोजन लेते ही नहीं। जहाँ तक हो सके भोजन को तरल अवस्था में अथवा अर्ध तरल अवस्था में दें। ऐसा आहार देते रहें जिससे केलोरीज १५०० से २००० तक रहें।

जल—

स्वस्थावस्था में साधारण मनुष्य को प्रतिदिन लगभग १॥ सेर पानी पीने की आवश्यकता होती है, जिससे उसके मूत्र, स्वेद तथा श्वास के वाष्प द्वारा शरीर से निकले हुये जल की पूर्ति हो सके। स्वस्थ मनुष्य को प्रतिदिन किसी न किसी प्रकार से ६ से १२ माशे तक लवण (Sodium Chloride) मिल जाता है, यह मात्रा कुछ तो नमक के व्यक्त प्रयोग से और कुछ भोज्य पदार्थ (तरकारी आदि) द्वारा प्राप्त होता है। ज्वरों में स्वेद और मूत्र अधिक आता है, या आना चाहिये, और इन्हीं के द्वारा लवण शरीर से अधिक निकलता है परिणामतः ज्वरावस्था में शरीर को स्वस्थावस्था की अपेक्षा अधिक जल और नमक की आवश्यकता रहती है। रोगी को इतना जल देना चाहिए जिससे कि उसे ५० औंस (१½ सेर) मूत्र आता रहे। एतदर्थ जिस रोगी को तीव्र ताप आ रहा हो उसे २–३ सेर पानी की आवश्यकता होती है, यदि यह असम्भव नहीं तो कठिन जरूर है कि वह इतना तरल पदार्थ लेता रहे। यह स्मरण रहे कि तीव्र ज्वरों में शरीर के अन्दर जल की अत्यधिक न्यूनता हो जाती है जिसके कारण टाक्सीमिया और अधिक बढ़ जाता है, और रोगी मृत्यु की ओर अग्रसर होता जाता है। वैद्य का परम कर्तव्य है कि येन केन प्रकारेण रोगी को जल थोड़ी थोड़ी मात्रा में अधिक से

अधिक बार दें, और इसके साथ नमक भी देते रहें। यदि रोगी को सुध है और चिकित्सक को उसका सहयोग प्राप्त है तो रोगी को ग्लूकोज वाटर (द्राक्षा की शकर का पानी) और उसमें (स्वाद के लिए) थोड़ा नमक मिलाकर थोड़ा थोड़ा और बार बार देकर जल की न्यूनता की पूर्ति करनी चाहिए। दूध आहार तो है ही, तरल होने के कारण शरीर में जल पूर्ति का विशेष साधन होता है, अतः दूध के अधिक प्रयोग से आहार और तृष्णा दोनों की पूर्ति होती है यदि रोगी बेसुध है, अथवा किसी कारण वह अधिक जल अथवा तरल न ले सके तो उसे तरल पदार्थ किसी अन्य विधि से देना चाहिए। यह स्मरण रहे कि ऐसे रोगी का आहार भी कम हो जाता है, अतः उसको ऐसे पदार्थ मिलने चाहिये जिससे तरल और आहार दोनों की पूर्ति हो जाये। यह पूर्ति चार प्रकार से हो सकती है :

(१) नलिका द्वारा आमाशय में जल प्रवेश करना।

(२) ग्लूकोज लोशन या सेलाईन लोशन का शिरान्तर्गत इंजेक्शन द्वारा।

(३) सेलाईन लोशन का अधस्त्वक् इंजेक्शन द्वारा।

(४) ग्लूकोज लोशन का या सेलाईन लोशन का पोषण वस्ति द्वारा।

चौथी विधि से बहुत थोड़ा जल लीन होता है। तीसरी विधि दुःख पूर्ण है और अधिक देर तक रोगी के पास चिकित्सक की उपस्थिति की आवश्यकता रहती है, इस प्रकार रोगी के शरीर में तरल की मात्रा भी अधिक नहीं जा पाती, यह केवल आतुरालय में ही संभव है, इसलिए इसकी अपेक्षा शिरान्तर्गत इंजेक्शन का ही अधिक प्रयोग होता है। इसके द्वारा दिन में २-३ बार ५०० से १००० c.c. ग्लूकोज सेलाईन देना चाहिए अर्थात् दिन भर में १५०० से २००० c.c. तक दें, तो अति उत्तम है, नहीं तो जितना दे सके उतना ही अच्छा है।

पहली विधि सुगम और अधिक उपयोगी है, इसका प्रयोग अधिक

होना चाहिए, परन्तु इसका प्रयोग थोड़ा होता है। इसकी प्रयोग विधि यह है।

इसके लिए एक विशेष नलिका राईल ट्यूब (Ryle Tube) होती है, इस नलिका का बाहर का सिरा टीप (Funnel) के समान होता है। इसको एक नासा रन्ध्र द्वारा कण्ठ में ले जाते हैं, एक सिरा कण्ठ में जाने के बाद उसे आमाशय की तरफ ले जाना चाहिए इसमें थोड़ी कठिनाई पड़ती है, भय होता है कि आमाशय में जाने के बदले श्वास प्रणालिका में न चली जाय, थोड़ी सावधानी से यह कठिनाई दूर हो सकती है। ज्योंही रबर नालिका श्वास प्रणालिका में घुसे, त्योंही रोगी को थोड़ी खांसी आ जाती है। यदि इस रबर नलिका के बाहरले सिरे को पानी में डुबाया जाय तो यदि नलिका श्वास मार्ग में होगी तो उसमें से पानी के बुदबुदे निकलते हुये दिखलाई देंगे। इस कठिनाई को दूर करने का उपाय यह है कि जब रबर की नलिका कण्ठ के अधोभाग पर पहुँचे तो रोगी के मुँह में थोड़ा दूध या पानी डालें जब वह निगलने का प्रयत्न करे तो ट्यूब को अन्दर की ओर ढकेलें, आमाशय में चली जाएगी। आमाशय नासारन्ध्र से १६ इंच की दूरी पर है। इसी अनुमान से नलिका को अन्दर ले जाकर बाहरी भाग को स्टिकिंग प्लास्टर द्वारा गाल पर चिपकादें और समय समय पर इसी नलिका द्वारा ग्लूकोज सलाइन, साइट्रेटिड दूध, अधपका दूध (Peptonized Milk) आदि दे सकते हैं। इस प्रकार स्निग्ध नलिका २–३ दिन तक लगी रहनी चाहिए। ट्यूब डालने के पहले उसे शुद्ध ग्लिस्रीन या थोड़े घी से स्निग्ध कर लेना चाहिए। दूध या तरल पदार्थ थोड़ा थोड़ा देना चाहिए। दो तीन दिन पश्चात् नलिका को निकालकर पुनः स्वच्छ और स्निग्ध करके यदि आवश्यक हो तो फिर लगाना चाहिए।

इस प्रकार तरल पदार्थ की अधिक मात्रा देने से आन्त्रिक ज्वर और निमोनिया की तीव्र अवस्था को निवारण करने में सहायता मिलती है।

(३) औषधचिकित्सा—जब तक तीव्र ताप से हानि का भय न हो ज्वर उतारने का यत्न नहीं करना चाहिए, रोगनिदान अनुसार उपचार करते रहना चाहिए, यावत् रोग समूल नष्ट हो जावे तथा यह प्रयत्न करें कि उपद्रव उत्पन्न न हों जहां यह सम्भव न हो, लक्षणानुसार चिकित्सा करनी पड़ती है। रोग के विष को निकालने के लिये तथा उसे समावस्था में रखने के लिए मूत्रल, स्वेदल तथा अन्य हितकर औषधियें देनी चाहियें। पाश्चात्त्य मतवाले डाक्टर डायाफोरैटिक मिक्सचर देते हैं (उपसंहार पढ़िये) और वैद्य लोग इसी काम के लिये अभ्रक भस्म, प्रवाल भस्म, मृत्युञ्जयरस, त्रिभुवन कीर्तिरस, ज्वरसंहार आदि रस का प्रयोग करते हैं। यदि कोष्ठबद्धता हो तो ज्वरकेशरी विद्याधर आदि रस दे सकते हैं।

जब ज्वर कुछ काल तक रह जाए तो, ज्वरार्यभ्रक, गदमुरारि लोकनाथ आदि रस देने उपयोगी हैं। षडङ्गपानीय,

"मुस्तपर्पटकोशीरचन्दनोदीच्यनागरैः।
शृतशीतं जलं दद्यात् पिपासाज्वरशान्तये ॥"

द्राक्षादि क्वाथ, मुस्तकादि कषाय, प्रभृति क्वाथ दोषानुसार दे सकते हैं। कुमार्यासव, लोहासव, गुड़, पिप्पली "जीर्णज्वरेऽग्निसादे च शस्यते गुड़पिप्पली' आदि औषधियाँ भी उपयोगी हैं।

(७) लाक्षणिक चिकित्सा—अर्थात् विद्यमान लक्षणों की चिकित्सा करनी चाहिए।

साधारण शिरशूल, अङ्गमर्द आदि लक्षण हो तो उनके निवारणार्थ गोदन्ति मिश्रण (सि० यो०) दशमूल क्वाथ (शा०) सुदर्शन चूर्ण (शा०) या देवदारू आदि क्वाथ (शा०) दें।

(२) दाह, तृषा, अरुचि, उत्क्लेश, वमन आदि युक्त ज्वरों में रसादिवटी (यो० र०) संजीवनीवटी (शा०) कालारिरस-मधु, जल, षडङ्गपानीय (च०) अथवा पटोलपत्रादि क्वाथ (शा०) के अनुपान से—

(३) कफज ज्वर, श्वसनक, कफ कासयुक्त, या पार्श्वशूल युक्त ज्वरों में चन्द्रामृत रस (र० सा०) ज्वर संहार (र० यो०), गोजिह्वादि क्वाथ (सि० यो०) भार्ग्यादि क्वाथ (सि० यो०) के साथ।

(४) हृदयदौर्बल्य, प्रलाप, ठण्डा पसीना आदि अवस्था युक्त ज्वर में हिंगु कर्पूर वटी (औ० सं०) बृहत्कस्तूरी भैरव (भै० र०), तगरादि क्वाथ के साथ (सि० यो०)

(५) अतिसार युक्त ज्वरों में मृत्युञ्जयरस + गङ्गाधररस या महागंधक के साथ मिलाकर बृहद्‌गुडूची आदि क्वाथ के साथ, आदि-आदि।

वक्तव्य:—भिन्न भिन्न ज्वरों में दिये जाने वाले योगों का संग्रह पुस्तक के दूसरे भाग के अन्त में दिया जायगा।

(७) उपद्रव चिकित्सा—लक्षणों की चिकित्सा के साथ साथ जैसे जैसे जो जो उपद्रव उत्पन्न हों उनकी चिकित्सा तत्काल करनी चाहिए। यत्न यह होना चाहिए कि उपद्रव उत्पन्न ही न होने पायें। उपरोक्त कथित चिकित्सा के पांच पाद विश्राम परिचार आदि से, तथा उचित चिकित्सा व सावधान रहने से उपद्रव बहुत कम उत्पन्न होते हैं। यदि होते भी हैं तो उग्ररूप धारण नहीं करते। ज्वर की घोर अवस्था में या जब उचित उपचार व चिकित्सा न की जाये, या मलादि निस्सरण भली प्रकार न होता रहे तभी उपद्रव पैदा हो जाते हैं, इनकी चिकित्सा की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। इनमें से निम्नोक्त ४ उपद्रव मुख्यतः दृष्टिगोचर होते हैं:

(१) अतितीव्र ताप।
(२) निद्रा नाश।
(३) प्रलाप कम्पनादि।
(४) हृदयावसाद तथा परिधिरक्त संचार का अवसाद।
ये उपद्रव तीव्र टाक्सीमिया में ही उत्पन्न होते हैं।

(१) अतितीव्र ताप—१०५° फा० से अधिक ताप को अतितीव्र ताप

कहते हैं। १०४° से जब ज्वर अधिक होने लगे तो उसे तुरन्त कम करने का यत्न करना चाहिए। इसके लिये बाह्योपचार ही उचित चिकित्सा है। उनका वर्णन नीचे किया जाता है।

(i) शिर तथा मस्तिष्क पर बर्फ की थैली अथवा पट्टी रखें, या गुलाब जल सिरका में बरफ डालकर उसकी पट्टी रखें या यूडीकोलोन (Eu-de-colougne) आदि औषधियों की पट्टी रखें।

(ii) शीतल जल से अङ्ग प्रोच्छन करें।

(iii) शीतल जल की वस्ति दें। यह बहुत सुगम है तथा इससे जल्दी ज्वर उतर जाता है।

(iv) रोगी को सह्य-उष्ण जल के टब में लिटा दें, उसका सिर जल से ऊपर रखें फिर उस पानी में शनैः शनैः ठण्डा जल मिलाते जायें जब पानी पर्याप्त ठण्डा हो जाए (९७°–९८°–फा०) तब रोगी को निकालकर, पोंछ कर शय्या पर लिटा दें। यह विधि घरों में बच्चों के लिए या केवल आतुरालयों में प्रयुक्त की जा सकती है।

औषधि चिकित्सा—आयुर्वेद में किसी ऐसी औषधि का वर्णन नहीं जिसके प्रयोग से तत्काल ज्वर कम हो जाए। पाश्चात्त्य चिकित्सा-पद्धति में कुछ औषधियाँ ऐसी हैं जो पसीना लाकर ज्वर को कम करती हैं परन्तु उनका प्रयोग भय से खाली नहीं, उनसे हृदयावसन्नता और हृदय कार्य अवरोध का भय रहता है। अतः उनको सावधानी से प्रयुक्त करना चाहिए। जहाँ सम्भव हो इनका प्रयोग नहीं करें। इन औषधियों के नाम और मात्रा नीचे दी जाती है :

(१) ऐस्परीन (Aspirin) ५–१५ ग्रेन
(२) फिनेसिटीन (Phenacitin) ५–१५ ग्रेन
(३) फेनेज़ोन (एन्टीपायरीन) (Phenazone) ५–१५ ग्रेन
(४) नोवलजीन (Novalgin) ५–१० ग्रेन
(५) एन्टीफेब्रिन (Antifibrin) २–५ ग्रेन यह सबसे अधिक

हृदय अवसादक है।

(६) एमिडोपाइरीन (Amidopyrine) ५-१० ग्रेन यह सबसे कम हृदय अवसादक है।

(१) वक्तव्यः—उपरोक्त सब औषधियां पीड़ा को भी कम करती हैं, और निद्रा भी लाती हैं।

(२) जहां तक सम्भव हो इनका प्रयोग नहीं करना चाहिये, केवल बाह्य उपचार से ही ज्वर कम करना चाहिए ॥

निद्रानाश—तीव्र टाक्सीमिया के कारण से होता है। निद्रा आने से शरीर की सैलों को विश्राम मिल जाता है और वे पुनः नूतन साहस से रोग का सामना करने के योग्य बन जाती हैं। यदि निद्रा न आवे तो सैलों को विश्राम नहीं मिलता, और वे क्षीण होकर सामना करने से रह जाती हैं, रोग अधिक बढ़ जाता है, तथा टाक्सीमिया और भी तेज हो जाता है। इसलिये निद्रा का यत्न रोग आरम्भ से ही करना चाहिए। फुफ्फुस प्रदाह आदि रोगों के विषय में यह सच कहा गया है कि एक घण्टे की नींद सेरों औषधियों के बराबर है।

उचित और युक्त आहार और तरल की मात्रा देने से टाक्सीमिया कम होता है और निद्रा आती है। यह स्मरण रहे कि कोष्ठबद्धता से टाक्सीमिया बढ़ती है, कोष्ठबद्धता और टाक्सीमिया के कारण निद्रा-नाश होती है। अतः कोष्ठबद्धता को दूर करने का उपाय करना चाहिए तथा टाक्सीमिया की निवृत्ति के सब उपाय करने चाहिये जो पहले लिख आये हैं, निद्रा अपने आप आ जायगी। अङ्गप्रोच्छन (Sponge Bath) भी निद्रा के लाने में सहायक होता है।

निद्रा लाने के लिए निम्नलिखित औषधियां प्रयुक्त की जाती हैं:

(i) पैराराल्डिहाइड (Pararaldehyde)—निद्रा लाने के लिये सर्वोत्तम औषधि है, मात्रा १ से २ ड्राम, यह बुरे स्वाद वाली औषधि है, अतः इसे शर्बत अनार, शर्बत नींबू के साथ पानी में घोलकर एक साथ

दो ड्राम अथवा १-१ ड्राम दो बार आधे घण्टे के अन्तर पर दे सकते हैं। दूसरी विधि अच्छी है—५ से १० सी० सी० मांसगत इन्जेक्शन देना बहुत उपयोगी है, टाइफाइड (Typhoid) निमोनिया और सब प्रकार की टाक्सीमिया अवस्था में इसी को देने से ही लाभ होता है। वस्तुतः टाक्सीमिया में निद्रा लाने के लिए सबसे उत्तम और अहानिकर औषधि यही है इसको शुद्ध (स्टेरालाइज्ड) करने की भी आवश्यकता नहीं। इसको ३-४ ड्राम की समभाग निशास्ता (Starch) के साथ ४ औंस पानी में अवलम्बन करके वस्ति रूप से गुदा द्वारा भी दे सकते हैं।

(ii) सल्फोनाल (Sulphanal)-१०--३० ग्रेन सोने से ३-५ घण्टे पूर्व गरम पानी के प्याले में घोलकर फिर ठण्डा करके पिलाना चाहिए जिसे मलावरोध हो, उसे नहीं देना चाहिए।

(iii) क्लोरल हाइड्रास (Chloral Hydras) और पोटेशियम-ब्रोमाइड (Potassium Bromide) की प्रत्येक १० ग्रेन की मात्रा को १ औंस पानी में घोलकर दे सकते हैं, अथवा पोटेशियम ब्रोमाइड (Potassium Bromide) सोडियम ब्रोमाइड (Sodium Bromide) तथा अमोनियम ब्रोमाइड (Ammonium Bromide) १०-३० ग्रेन एकट्ठे मिलाकर दे सकते हैं। यह सब हृदय अवसादक हैं। इनमें सबसे कम हृदय अवसादक अमोनियम ब्रोमाइड है।

(v) एस्परीन (Asprin)—आदि जिनका वर्णन ऊपर अतितीव्र ताप की चिकित्सा में हो चुका है, वे पीड़ाशामक तथा ज्वरसंहारक औषधियाँ भी निद्राकारक हैं परन्तु अत्यधिक अवसादक होने के कारण यह टाक्सीमिया में प्रयुक्त नहीं की जाती।

(v) बारडीट्यूरेट्स (Barditurates)—यथा डायल (Dial), सेकोनाल (Sekonal), लूमीनाल (Luminal), वेरोनाल-(Veronal), एडलीन (Adalin), ओर्टाल (Ortal), मेडीनाल (Medinal) आदि औषधियाँ हैं। कोई एक औषधि ज्वर के कारण-नाश में प्रयुक्त

की जा सकती है प्रायः ये औषधियाँ मानसिक रोगों से उत्पन्न निद्रानाश में अत्यन्त उपयोगी हैं।

(vi) हाइओसीन हाइड्रोब्रोमाईड (Hyoscine Hydrobromide 1/250 gr.) पैथीडीन (Pethidinae Hydrochlor 1/2 ग्रेन) की टिकिया, अथवा मारफिया (Morphine 1/4 to 1/3 gr.) के साथ अथवा इनके इंजेक्शन द्वारा दे सकते हैं। मारफिया का प्रभाव भी हृदय पर बहुत बुरा पड़ता है। अतः इसको केवल शल्य-पीड़ा निवारणार्थ प्रयुक्त किया जाता है। डिलूएडिड (Dilaudid) ओमनो-पान (Omnopon) और कोडीन (Codeine) अहिफेनयुक्त औषधियाँ हैं। यह भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत हैं।

(vii) यदि ज्वर के साथ रक्तभार अधिक हो और निद्रा न आती हो तो सर्पगंधा चूर्ण ४ रत्ती से १ माशा जल के साथ अथवा २ से ४ माशा को ३–४ तोले शीतल जल में घोटकर, छानकर देने से बहुत ही अच्छी निद्रा आती है। इससे रक्तभार (Blood Pressure) कम होता है, अनेक ज्वरों में रक्तभार कम होता है। क्षीण अवस्था में तथा टाक्सीमिया में निद्रानाश निवारणार्थ इस औषधि का देना भयप्रद है।

(३) प्रलाप—भी रक्त में विष (टाक्सीमिया) के कारण होता है। टाक्सीमिया को दूर करने से प्रलाप अपने आप ठीक हो जाता है। कोष्ठबद्धता के निवारण से प्रलाप भी कम हो जाता है। अन्यथा इसके लिए कोई विशेष औषधि नहीं। अति तीव्र ताप के कारण यदि प्रलाप हो तो ताप को कम करने का उपाय करना चाहिए।

हिङ्गु कर्पूर वटी (औ० सं० ज्वराधिकार), ब्राह्मीवटी (औ० सं०) बृहत्कस्तूरी भैरव (भै० र०) आदि से कुछ लाभ होता है। ब्रोमाईड भी एतदर्थ प्रयोग किया जाता है। परन्तु ब्रोमाइड्स का हृदय पर किंचित् अवसादक प्रभाव पड़ता है अतः सावधानी से प्रयोग करें अमोनियम ब्रोमाईड (Ammonium Bromide) १० ग्रेन का प्रयोग कर सकते हैं।

रक्तसंचार का अवसाद—तीव्र संक्रामक ज्वरों में रक्त संचार बन्द हो जाता है, उसके दो विशेष कारण हैं :

(१) सूक्ष्म शिराओं में रक्त संचार अवरोध ।

(२) हृदय गति अवरोध अर्थात् हृदयावसाद ।

इन दोनों में से पहला उपद्रव अधिक पाया जाता है और प्रायः वही मृत्यु का कारण होता है ।

(३) शिरा रक्त सञ्चार अवरोध–शिराओं में रक्त की न्यूनता के कारण हृदय में रक्त कम पहुँचता है परिणामतः रक्तसंचार बन्द हो जाता है, इसे शिरा का संचार अवरोध कहते हैं । शरीर के परिधि की शिरायें विशेषकर सूक्ष्म शिरायें (शिराकायें) टाक्सीमिया के कारण विस्तृत हो जाती हैं और रक्त वहीं रुक जाता है और स्थूल शिराओं में नहीं लौट पाता । ऐसे रोगियों की नाड़ीगति बहुत तीव्र हो जाती है, १४० से १५० और १६० तक । शरीर का वर्ण पाण्डु अथवा नीलाभ हो जाता है । त्वचा शीत और स्वेद युक्त होती है । अन्ततः मृत्यु हो जाती है ।

चिकित्सा—उचित चिकित्सा और उपचार से यह उपद्रव उत्पन्न नहीं होता । इसकी विशेष चिकित्सा टाक्सीमिया की ही चिकित्सा है, अर्थात् ग्लूकोज, ग्लूकोज सलाइन का इंजेक्शन 200 c.c. बार बार ४-६ घण्टे बाद । इनके साथ हृदय को उत्तेजन देने वाली औषधियें देनी चाहियें । यथा—(i) Coramine (ii) Cordiazal (iii) Compher in oil with eather (iv) Veritol (v) Ephednine knoll (vi) Nikethamide (vii) Evertan (viii) Eucortan (organon) (ix) Percortan (ciba) (x) Cortin (xi) Eschetin (xii) Adrenaline (xiii) Pholedrine (Avalon)

अन्तः प्रयोगार्थ आयुर्वेदिक औषधियां—रससिन्दूर, मकरध्वज, बृहत्कस्तूरी भैरव, चन्द्रोदय, ब्राण्डी, शहद, द्राक्षासव, ब्राह्मीवटी, तगरादी क्वाथ आदि या टिञ्चर डिजिटेलस (Tincture Digitalis)

५-१५ बूँद, टिञ्चर नक्स वामिका (Tinct. Nux Vomica) १०–२० बून्द, टिञ्चर स्ट्रोफैन्थस (Tinct. Strophanthus) २–५ बूँद, डिजिफार्टिस (Digifortis) ८–१० बून्द, कार्डियोज़ोल (Cardiozolu) १५ बूँद, ब्रांडी १–२ चमचे आदि औषधियें देनी चाहियें।

(२) हृदयगतिअवरोध—इसका कारण और चिकित्सा भी वही है जो शिरागत-सञ्चार-अवरोध की है इसमें ग्लूकोज इंजेक्शन न देकर हृदय उत्तेजक औषधियों का उपयोग किया जाता है।

अतितीव्र ताप, निद्रानाश, प्रलाप और रक्त संचार अवरोध सभी विष रक्तता–टाक्सीमिया–के लक्षण हैं। जब यह चारों उपद्रव उपस्थित हों तो बहुत भयानक होता है। यथा श्वसनक ज्वर, मन्थर ज्वर, रोहिणी आदि में प्रायः ऐसा हो जाता है।

अध्याय ८

संक्रमण की विशेष चिकित्सा

संक्रमण एक विशाल शब्द है। जिसके अन्तर्गत सब ऐसी व्याधियाँ समाविष्ट हैं जो रोगाणु से उत्पन्न होती हैं, रोगाणु शरीर में सदा बाहर से आते हैं किस प्रकार शरीर में वह प्रवेश पाते हैं उसका वर्णन पृष्ठ १०० से १०५ पर कर आये हैं।

प्रत्येक संक्रामक रोगों के लक्षण भिन्न भिन्न होने के कारण चिकित्सा भी भिन्न भिन्न होती है। ज्वर सदा संक्रमण के ही कारण से होता है। ज्वरों में प्रायः सामान्य लक्षणों की चिकित्सा एक सी होती है। आरम्भ में प्रायः यह कहना कठिन होता है कि कौन से संक्रामक ज्वर का आक्रमण है। अनेक बार तो कई कई दिनों तक रोगनिदान नहीं होने पाता अथवा अन्त तक अर्थात् रोग शांति के पश्चात् या मृत्यु पश्चात् तक रोग निदान नहीं होने पाता, इन अवस्थाओं में चिकित्सा नियम सबके लिये समान हैं।

सेप्टीसीमिया और पाईमिया के लिये भी चिकित्सा प्रायः समान है। लगभग ३० वर्ष पूर्व तक सेप्टीसीमिया और पाईमिया की विशेष चिकित्सा अज्ञात थी, बहुधा इन रोगों का परिणाम अनभीष्ट हुआ करता था। उस समय चन्द एक व्याधियों के लिये विशेष चिकित्सा, प्रतिविष सीरम चिकित्सा ज्ञात थी—यथा टेटीनस, डिफ्थीरिया, मेनिङ्गोकाकस, शीर्षसोपुम्न ज्वर, प्रसूतिका, अमीबिक प्रवाहिका। इनसे लाभ तो अवश्य होता था परन्तु इतना नहीं और न ही ये हर समय और सब स्थानों में प्राप्त हो सकती थी। सन् १९३५ में डोमक (Domagk) ने

एक औषधि प्राँन्टोसील (Prontosil) का आविष्कार किया था जो प्रसूतिका ज्वर के लिये रामवाण प्रमाणित हुई। प्रसूतिका ज्वर, स्ट्रेप्टोकाकस हिमूलिटीकस (Streptococcus Haemolyticus) से उत्पन्न संक्रामक ज्वर है, प्रसूत के गर्भाशय में व्रण होता है, अशुद्धता के कारण ये कीटाणु वहाँ पहुंचकर वृद्धि को प्राप्त होते हैं और वहीं से रक्त में मिलकर सेप्टीसीमिक ज्वर उत्पन्न करते हैं।

इस औषधि के आविष्कार के पश्चात् मेडिकल साइन्स ने पलटा खाया और अनेक औषधियाँ इसी श्रेणी की बनती गईं। इनमें से मुख्य मुख्य ये हैं :

(१) सलफानिलेमाइड (Sulphanilamide)—स्ट्रेप्टोकाकस, सेप्टीसीमिया के लिये।

(२) सलफापाइरेडीन (Sulphapyridine—M & B 693) न्यूमोकाकस (श्वसनक ज्वर) मेनिङ्गोकाकस (शीर्षसौपुम्न ज्वर) बी० कोलाई तथा स्ट्रेप्टोकाकस।

(३) सलफाथायज़ाल (Sulphathiazole) }
(४) सलफाडायज़ीन (Sulphadiazine) }

गानोकाकस (ऊष्ण वात) मेनिङ्गोकाकस, स्टैफिलोकाकस तथा न० १ और नं० २ में वर्णित रोग।

(५) सलफामिरेजीन (Sulphamerazine) नं० ३ और नं० ४ के समान, परन्तु उनसे कम लाभदायक।

(६) सलफासिटेमाईड (Sulphacitamide) }
(७) सलफाट्रायड (Sulphatriad) }

(८) सलफागायनेडीन (Sulphaguenidine) }
(९) सलफासुकसेडीन (Sulpha Suceidine) } अतिसार और बैसीलरी प्रवाहिका के लिये

नं० ८ और ९ यह औषधि आन्त्र से शीघ्र लीन नहीं होती, अतः इसका प्रभाव आन्त्र स्थित कीटाणुओं पर विशेष होता है।

सल्फा श्रेणी की औषधियाँ आन्त्रिक ज्वर (Typhoid Group), मलेरिया (Malaria), राजयक्ष्मा, अमीबिक प्रवाहिका, आदि रोगों में काम नहीं करतीं। जिन रोगों में काम करती हैं उनका वर्णन आगे किया जाएगा।

इनका प्रयोग चिकित्सकों के लिए जानना आवश्यक है। इनका प्रयोग भय से खाली नहीं अनेक उपद्रव पैदा हो सकते हैं। अतः वैद्यों के लाभार्थ इनका आवश्यक वर्णन यहाँ पर उचित प्रतीत होता है।

गुण—निम्नोक्त रोगों के लिए ये औषधियां लाभदायक सिद्ध हुई हैं:

लोबर न्यूमोनिया (Lober Pneumonia)

शीर्ष सौषुम्न ज्वर (Cerebro-Spinal Fever)

अग्नि-विसर्प (Eryseplas)

भूशोष्णवात (Gonorrhoea)

सेप्टीसीमिया (Septicaemia), तथा

स्ट्रेप्टोकाकल (Strepto-coccal)

या स्ट्रेप्टोकाकल (Strepto-coccal Injections), उनसे उत्पन्न विद्रधि, कंठपाक, प्रसूतिका ज्वर, विशूचिका (Cholera) नेत्र-अभिष्यन्द (Conjunctivitis) इत्यादि।

इन औषधियों के प्रभाव से कीटाणुओं की वृद्धि बन्द हो जाती है। कीटाणुओं का जीवन अल्पकालीन है, नवीन सन्तति न होने के कारण वह समाप्त हो जाते हैं। जिन जिन कीटाणुओं पर इनका अधिक प्रभाव होता है वे ऊपर लिख दी गई हैं।

मात्रा और प्रयोगविधि—इन औषधियों का प्रभाव तब होता है, जब ये युक्त प्रमाण में रक्त में उपस्थित होती हैं। इनको यथासम्भव गोलियों के रूप में अथवा गोलियों को कूटकर चूर्णरूप में देना चाहिये। चूर्ण के साथ मधुरक्षार (Soda bicarb-सोडा बाईकार्ब) १५ से ३० ग्रेन तक मिलाकर दे सकते हैं। ये औषधियाँ विषैली हैं, सोडा बाईकार्ब

देने से इनका विष प्रभाव कुछ कम हो जाता है। जहाँ तक हो सके इनको इंजेक्शन द्वारा नहीं देना चाहिए। यदि अवस्था गम्भीर हो अथवा औषधि के प्रभाव की अत्यन्य शीघ्र आवश्यकता प्रतीत हो तो शिरागत् (Intravenus) इंजेक्शन दिया जाना चाहिए। मात्रा इनका (५% Sodium Solution) २० से ४० c.c. तक यथावश्यक दे सकते हैं। यथासम्भव एक ही इंजेक्शन दें। अत्यन्त आवश्यकता के समय दूसरा इंजेक्शन ६ घण्टे के बाद दे सकते हैं। दो से अधिक कदापि नहीं दें। मांसगत् इंजेक्शन कभी न देना चाहिए इससे शकोथ हो जाता है।

सल्फागायनाडीन और सल्फासुक्सेडीन (इनका वर्णन प्रवाहिका में किया जायगा) को छोड़कर प्रायः सबकी मात्रा समान है। एक गोली आधे ग्राम $\frac{1}{2}$gm ($7\frac{1}{2}$ gr) के बराबर होती है।

पहले दिन-पहली और दूसरी मात्रा में ४ गोलियां एक साथ दें। तत्पश्चात् २-२ गोली ४-४ घंटे पश्चात् दें, अथवा ३-३ गोली ४-४ घण्टे बाद चार बार देकर, पुनः २-२ गोली ४-४ घंटे बाद दें। अर्थात् पहले दिन कम से कम १८ गोलियाँ दी जानी चाहियें। तत्पश्चात् २-२ गोली ४-४ घण्टे बाद तीन चार दिनों तक देते जाँय यदि आवश्यकता हो तो यह औषधि ६ दिन तक जारी रख सकते हैं, इसके बाद नहीं। अर्थात् कुल औषधि ३० gramm=६० गोली से ज्यादा नहीं चाहिए। कभी कभी ४० gramm तक दे सकते हैं, किन्तु सावधानी से। यह स्मरण रहे कि जितना लाभ हो सकता है वह ३०-४० गोली तक हो जाता है। अधिक देने से कोई लाभ नहीं प्रत्युत हानि ही है। इसका प्रभाव यदि होना हो तो शीघ्र ही तीन दिनों के अन्दर अन्दर मालूम हो जाता है।

आयु अनुसार मात्रा नीचे दी जाती है।

आयु–	१ वर्ष,	१ से २ वर्ष,	२ से ५ वर्ष,	५ से १० वर्ष	तथा १५ से ऊपर
मात्रा प्रथम दिन की–	३ गोली,	६गोली,	८गोली	१२गोली,	१८से२०गोली

विष प्रभाव—नीचे क्रमशः विष के अनुसार औषधियों के नाम दिये जाते हैं जो सबसे अधिक विषैली हैं, वे सबसे ऊपर तथा जो सबसे कम विषैली हैं, वह सबसे नीचे लिखी गई हैं।

(१) सल्फानीलेमाइड (Sulphanilamide)
(२) सल्फापाईरेडीन (Sulphapyridine)
(३) सल्फाथायज़ाल (Sulphathiazole)
(४) सल्फाडायज़ीन (Sulphadiazine)
(५) सल्फ़ामिरेज़ीन (Sulphamerazine)
(६) सल्फागायनाडीन (Sulphaguanidine)

इन औषधियों से निम्नोक्त विष-प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं :

(१) रक्तकणों में रक्तरञ्जक के परिवर्तन होने के कारण शरीर का नीलाभ हो जाना। यह विशेषकर सल्फानीलेमाइड (Sulphanilamide) के प्रयोग से होता है, शेष सल्फाग्रुप (Sulpha Group) की औषधियों से कम होता है तथा ६९३ के प्रयोग से भी कभी कभी देखने में आता है। औषधि के बन्द करने से जाता रहता है। यह विशेष भय की बात नहीं।

(२) वमन, उत्क्लेश ये अधिकतर ६९३ के बाद होता है, सल्फाथायजाल सल्फाडायज़ीन से होता तो है परन्तु कम और सोडाबाईकार्ब साथ देने से यह लक्षण ठीक हो जाते हैं। और यदि सोडाबाईकार्ब देने पर भी यह लक्षण बने रहें तो इनको बन्द करके सल्फाडायज़ीन दे दें।

(३) पीड़िकायें—शरीर के ऊपर पित्त के समान पांचवे या सातवें दिन छोटी छोटी पीड़िकायें निकल आती हैं। विरल अवस्था में बहुत अधिक तीव्र होती हैं। औषधि के बन्द करने से पहले कम होती हैं और बाद में मिट जाती है।

(४) रक्तदोष- (क) जब यह औषधि सात दिन के बाद भी जारी

रखी जाय और ३० gram (६० गोली) से अधिक खाई जाय तो कभी कभी बहुरूपमींगीयुक्त श्वेताणु(polymorrophs) कम हो जाते हैं। यह एक भयानक लक्षण है ऐसे रोगी के प्रायः मर जाने का भय होता है।

(ख) रक्त न्यूनता (Anaemia) उत्पन्न हो जाती है। यह भी प्रायः ५-६ दिन औषध प्रयोग के बाद अथवा अधिक मात्रा के बाद उत्पन्न हो जाती है। कभी कभी जल्दी भी उत्पन्न हो जाती है या अति तीव्र रक्त न्यूनता होने पर मृत्यु का भय रहता है।

वक्तव्यः—जब कभी औषधि चार दिन के बाद प्रारम्भ रखी जाय तो रक्त परीक्षा कराते रहना चाहिए। यदि श्वेताणु ५००० से कम हों अथवा बहुरूप मींगी युक्त श्वेताणु ५०% से कम हों तो औषधि को तत्काल बन्द कर देना चाहिये।

(५) मूत्र में रक्तस्राव अथवा मूत्राभाव—यह लक्षण विशेषकर सल्फाथायज़ाल और सल्फाडायज़ीन से होते हैं। यह औषधियाँ जब रक्त में जाती हैं तो उनसे एक विशेष प्रकार के स्फुटिक बन जाते हैं जो मूत्र द्वारा बाहर निकलते हैं। जब मूत्र क्षारीय न हो तो ये अनघुल होकर वृक्कों की सूक्ष्म मूत्र नलिकाओं में जमा हो जाते हैं, जिसके कारण उपरोक्त लक्षण उपस्थित होते हैं। यदि सोडाबाईकार्ब दिया जाय और यवमाँड जल (Barley Water) अत्यधिक मात्रा में दिया जाय जिससे दिनभर में मूत्र ५-६ पौंड आता रहे तो स्फुटिक अनघुल नहीं होते अतः ये लक्षण उत्पन्न नहीं होते।

(६) पांचवें, छठे सातवें दिन ज्वर उत्पन्न हो जाता है, और औषधि के बन्द करने पर अपने आप मिट जाता है।

(७) औषधि के विशेषकर सल्फाथायज़ाल और सल्फाडायज़ीन के, सेवन कर चुकने के कई दिन बाद जब औषधि को बन्द किये कई दिन हो चुके होते हैं, तब कभी कभी शिरशूल आदि शीर्षसौषुम्न शोथ के लक्षण (Meningitis) तथा गृध्रसी आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

यह कष्टदायक अवश्य हैं, किन्तु भयानक नहीं। ये साधारण वातशामक (Sedatives) औषधियों से शान्ति हो जाती हैं।

(८) इनके अतिरिक्त कभी-कभी यकृत की कुछ सैलें मर जाती हैं, और वहाँ कोथ उत्पन्न हो जाता है किन्तु बहुत कम यह उपद्रव देखा गया है।

वक्तव्यः—इन उपद्रवों को देखते हुये वैद्य का कर्तव्य है कि इन औषधियों का प्रयोग बन्द कर दे। बिना पूर्ण ज्ञान से इनका प्रयोग करना अवैद्यिक है।

पेनिसिलीन (Penicillin)

संक्रमण को रोकने तथा उसकी चिकित्सा के लिए पेनिसिलीन का दर्जा सल्फानिलेमाइड से भी ऊंचा है। वस्तुतः इसका आविष्कार सन् १९२९ में हुआ था। परन्तु इसका वास्तविक उपयोग सन् १९४४ से आरम्भ हुआ जब यह अत्यधिक मात्रा में बनने लगी और इसके गुणों का और विष प्रभाव का ज्ञान हो गया।

पेनिसिलीन में यह विशेषता है कि यह २–३ घण्टों में ही मूत्र द्वारा शरीर से बाहर निकल जाती है और इसका कोई दुष्प्रभाव या विषप्रभाव नहीं होता, चाहे कितनी ही अधिक मात्रा में क्यों न दी जाय। इसको केवल इंजेक्शन के रूप में ही देते हैं, और सबसे अच्छी विधि मांस अन्तर्गत इंजेक्शन द्वारा ही है। पन्द्रह मिनट के अन्दर ही इसकी पूर्ण मात्रा रक्त में मिल जाती हैं और ३–४ घण्टे तक अपना प्रभाव रखती है। शिरागत् इंजेक्शन देने से विशेष लाभ नहीं होता, तथा जिस रक्तवाहिनी में इंजेक्शन दिया जाय वहाँ शोथ उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है, इसलिए यथासम्भव शिरा द्वारा नहीं देना चाहिये। अधस्त्वक इंजेक्शन देने से पीड़ा होती है और ये शीघ्र लीन भी नहीं होता। मुख द्वारा भी इसको नहीं देते, मुख द्वारा देने से आमाशय के अम्लरस के प्रभाव से तथा आन्त्र में उपस्थित मल के कारण

नष्ट हो जाती है, अतः कार्य नहीं करती। मुख द्वारा देने के लिए विशेष गोलियें बनी हुई हैं, वह बच्चों के लिए ही प्रयुक्त होती है। पेनिसिलीन मांस से लीन होकर रक्त द्वारा यकृत, वृक्क, आन्त्र, क्लोम, हृदय, फुफ्फुस आवरण तथा उदरकला में पहुँच जाती है, यकृत में पहुँच जाने के कारण यह पित्त में उपस्थित होकर पित्त के संक्रमण को नाश कर देती है। नाल द्वारा माता के रक्त से गर्भ में भी पहुँच जाती है। व्रण आघात तथा उरःपूय में इसका स्थानिक प्रयोग किया जाता है। यह स्मरण रहे कि मस्तिष्क, शीर्ष और सौषुम्न में रहनेवाले तरल तथा अस्थि मज्जा तक यह नहीं पहुँच सकती, मस्तिष्क और सौषुम्न के रोगों में इसको सौषुम्न के अन्दर इंजेक्शन द्वारा (Intrathecal Injection) देते हैं।

गुण—इसकी उपयोगिता का विस्तार अति अधिक है परन्तु यह विशेषकर काकस (Coccus) के लिए बहुत लाभदायक है यथा श्वसनक ज्वर (Pneaumo Coccus), उष्णवात (Gonococcus), शीर्षसौषुम्न ज्वर (Meningo Coccus) और अग्निविसर्प (Erysipelas)।

इसका प्रभाव कीटाणुओं पर दो प्रकार से होता है, कीटाणुओं को मारता भी है तथा उनकी वृद्धि को भी रोकता है:—इसमें विशेषता यह है कि पूय, कोथ, तथा सीरम (रक्तवारि) की उपस्थिति में भी पेन-सिलीन काम करता रहता है। जिन जिन रोगों पर इसका विशेष प्रभाव पड़ता है उनके नाम नीचे दिये जाते हैं:

(१) स्टेफिलोकाकस ऑरियस (Staphylococcos Aureus)
(२) स्टेफिलोकाकस एलबस (Staphylococcus Albus)
(३) स्ट्रेप्टोकाकस पायोजीनस (Streptococcus Pyogenes)
(४) स्ट्रेप्टोकाकस विरीडॅन्स (Streptococcus Viridans)
यह सब पूय उत्पादक कीटाणु हैं।
(५) न्यूमोकाकस (Pneumo Coccus)

(६) गानो काकस (Gono Coccus)
(७) मेनिङ्गों काकस (Meningo Coccus)
(८) अग्निविसर्प (Erysipela)

उपरोक्त सब बीमारियों के लिए यह रामबाण सिद्ध हुआ है।

निम्नोक्त बीमारियों में अत्यधिक लाभदायक है किन्तु उतना नहीं जितना उपरोक्त बीमारियों में :

(१) रोहिणी (Diptheria)
(२) धनुर्वात (Tetanus)
(३) उपदंश (Syphilis) इत्यादि।

जिन जिन रोगों में यह अति अधिक लाभदायक है या कुछ उपयोगी है उनके नाम ऊपर दिये जा चुके हैं। शेष में काम नहीं करती, केवल विशेष प्रदर्शनार्थ कुछ व्याधियों के नाम नीचे दिये जाते हैं, जिन में इसका प्रयोग सर्वथा व्यर्थ है।

(१) अन्त्रिक ज्वर (Typhoid & Para-Typhoid)
(२) वातश्लेश्मिक ज्वर (Influenza)
(३) काली खांसी (Whooping Cough)
(४) राजयक्ष्मा (Tuberculosis)
(५) विशूचिका (Cholera)

बेसिलरी प्रवाहिक में जहाँ सल्फा श्रेणी की औषधियाँ अद्भुत काम करती हैं, पेनिसिलीन कुछ काम नहीं करती। इस रोग में भी पेनिसिलीन का प्रयोग व्यर्थ है।

मात्रा—ये औषधि पाउडर रूप में भिन्न भिन्न मात्रा की शीशियों में बन्द आती हैं (१ लाख से १० लाख यूनिट तक) इन शीशियों का मुख रबर-कार्क से बन्द रहता है। आवश्यकतानुसार शीशी के अन्दर नॉरमल सलाइन (Normal saline), डिस्टिल्ड वाटर (Distilled Water) या डेक्सट्रोस सालूशन (Dextrose Solution) में घोल

देते हैं। यथा पेनिसिलीन की ५ लाख यूनिट मात्रा को २० सी० सी० डिस्टिल्ड वाटर डालकर विलीन कर लेते हैं, इस प्रकार अब १ सी० सी० जल में २५ हजार यूनिट पेनिसिलीन रहती है। आवश्यकतानुसार १, २ या ४ सी० सी० दे सकते हैं (अर्थात् २५ हजार या १ लाख यूनिट)। मात्रा १ लाख या इससे ज्यादा भी दे सकते हैं। जब एक बार १ लाख की मात्रा देना हो तो विलीन करने के लिये पानी ४ सीसी पर्याप्त है।

यहाँ मात्रा का विशेष परिचय देना थोड़ा कठिन है। प्रत्येक व्याधि के लिए मात्रा भिन्न-भिन्न होती है, एक युवापुरुष के लिए एक मात्रा २५ हजार यूनिट प्रति ३-३ घन्टे से कम देना निरर्थक है।

श्वसनकज्वर (Pneumonia) में तीव्रता अनुसार पहली मात्रा ५० हजार से १ लाख तक और इसके बाद ३-३ या ४-४ घण्टे बाद २५ या ५० हजार। ४ लाख प्रोकेन पेनिसिलीन विथ सोडियम पेनिसिलीन २ बार दिन में, जब तक ज्वर न उतरे, बाद में १ मात्रा दिन में। इसका प्रभाव शीघ्र मालूम हो जाता है। पहले ही दिन ताप कम हो जाता है। तीन दिन से अधिक देने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। ज्यादा से ज्यादा ५ दिन दे सकते हैं।

गनोरिया (ऊष्णवात) के वास्ते तो यह रामबाण है। नवीन गनोरिया में रोगी को २४ घंटे में आराम हो जाना चाहिए। १ लाख की पहली मात्रा देने से ही रोग जाता रहता है। इसके बाद तीव्रता के अनुसार ८ और १२ घण्टे बाद १-१ लाख की २-३ मात्रा और दे दें। तीव्र अवस्था में पहली २ या ३ लाख की मात्रा के बाद १-१ हजार की ४-४ घण्टे बाद क्रमशः २४ घण्टे तक मात्रा देनी चाहिए या १२ लाख (Diamine Penicilline) की एक मात्रा ही पर्याप्त होती है। जीर्णगनोरिया में कई दिनों तक इंजेक्शन देने पड़ते हैं।

शीर्षसौषुम्न ज्वर (Meningococcus) में इसकी २०-५० हजार

की मात्रा ३-३ घण्टे बाद देने से ४ लाख की एक मात्रा दो बार दिन में विशेष लाभ होता है। इसी प्रकार ५ दिन तक देना चाहिए, इस रोग में सुषुम्ना के अन्तर्गत इंजेक्शन से अधिक लाभ होता है।

पूयउत्पादक कीटाणुओं (स्ट्रेप्टोकाकस, स्टेफिलोकाकस) के लिए ४ लाख की मात्रा दिन में दो बार ५ दिन तक देना चाहिए।

जितनी मात्रा ऊपर लिखी जा चुकी है, इससे भी अधिक मात्रा कई दिनों तक देने से भी कोई हानि नहीं होती।

साधारण पेनिसिलीन को सदा शीतस्थान (Refrigerator) या बर्फ में रखें। गर्मी से यह नष्ट होकर अपना प्रभाव खो बैठता है। प्रोकेन पेनिसिलीन विथ सोडियम जी पेनिसिलीन को शीतस्थान रिफ्रीजेटर में रखने की जरूरत नहीं यदि रखा जाये तो अत्युत्तम है। जो इंजेक्शन बना लिया जाय उसे दो दिन में समाप्त कर देना चाहिए और उसे भी शीत स्थान में रखें।

साधारण पेनिसिलीन का प्रभाव ३-३½ घण्टे तथा प्रोकेन पेनिसिलीन का प्रभाव २४ घण्टे तक रहता है। इसका प्रभाव न केवल अधिक देर तक ही रहता है बल्कि यह ऊष्णता को भी सहन कर सकती है। इसे विशेष शीत स्थान में रखने की आवश्यकता नहीं।

यह केवल मांस अन्तर्गत इंजेक्शन द्वारा ही दी जा सकती है। इसके इंजेक्शन से उस स्थान पर थोड़ी पीड़ा होती है और उस स्थान को तत्काल थोड़ा मलना चाहिए। पेनिसिलीन को मरहम, लेप, चूसने वाली गोली, नेत्र बिन्दु रूप में तथा उड़नशील वस्तु में मिलाकर सूँघने को भी देते हैं। पेनिसिलीन ५०००० यूनिट की मात्रा की टिकियें भी होती हैं, ये बच्चों में प्रयुक्त होती हैं।

सल्फानीलामाइड के साथ मिलाकर व्रण और आघात पर डालने के काम भी आता है।

विषप्रभाव—यह ऊपर लिखा जा चुका है कि इसके विष प्रभाव

अत्यल्प हैं, जो थोड़े बहुत होते हैं उनका वर्णन यहां नीचे किया जाता है।

(१) प्रतिश्याय प्रायः बिना ज्वर के–कभी थोड़ा-थोड़ा ज्वर भी होता जाता है। इसकी विशेष चिकित्सा की आवश्यकता नहीं पड़ती।

(२) कभी-कभी शीत पित्त अथवा कोठ उत्पन्न हो जाते हैं।

औषधि के बन्द करने पर ये उपद्रव अपने आप शान्त हो जाते हैं।

(३) किसी-किसी विरल रोगी में, लाखों में किसी एक व्यक्ति में इसके प्रति असह्यु ष्णता होती है। उनमें हृदय अवसाद होकर मृत्यु तक होते देखी गई है। इसलिए पहले थोड़ी मात्रा में देकर देख लिया जाता है, यदि उससे शीत-पित्त लक्षण उत्पन्न हो, या हृदय में किंचिन्मात्र भी कमजोरी प्रतीत हो, तो फिर उसे न दें।

वक्तव्यः—आजकल इसका बहुत दुरुपयोग होने लगा है, यह स्मरण रहे कि अधिक प्रयोग से इसका प्रभाव कम हो जाता है।

स्ट्रेप्टोमायीसीन (Streptomycin)

सन् १९४४ में इस औषधि के गुणों के सम्बन्ध में ज्ञान हुआ तब से इसका प्रयोग बढ़ता गया। इसका प्रयोग भारतवर्ष में १९४८ के प्रारम्भ में शुरू हुआ है। इसका प्रभाव अनेक ऐसे कीटाणुओं पर होता है जो पेनिसिलीन के प्रभाव की सीमा के परे हैं। निम्नोक्त कीटाणुओं के लिये यह विशेष उपयोगी है:

(१) बी कोलाई (B. Coli)
(२) बेसिलस टाइफोसस (Bacillus Typhosus)
(३) बेसिलस पारा टाइफोसस (B. Para typhosus)
(४) बेसिलस डिसेन्ट्री (Bacillus Dysenteriae)
(५) बेसिलस पायोसाइनस (B. Pyocyanus)
(६) बेसिलस इन्फ्लुएन्जा (B. Influenza) वातश्लेष्मिकज्वर।
(७) ,, परट्रूसस (B. Pertussus) काली खांसी।
(८) ,, ट्यूबरकुलोसिस (B. Tuberculosis) राजयक्ष्मा।

(९) स्टेफिलोकाकस आरियस की कुछ जातियाँ (Stephylo-coccus aureus)

(१०) ब्रूसेला मेलिटेनसिस (Brucella Melitensis)

(११) ब्रूसेला एबोर्टस (Bru. Abortus)

(१२) ब्रूसेला स्यूस (Bru. Suis)

(१३) पास्ट्यूरेला टूलारेंसिस (Pasteurella Tularensis)

(१४) ,, पेस्टिस (Past. Pestis)

वक्तव्य—आज कल राजयक्ष्मा रोग में इसका प्रयोग बहुत होता है, इसका राजयक्ष्मा अधिकार में करेंगे।

इसके अधिप्रयोग से इसका प्रभाव कम हो जाता है। बहुत प्रयोग के बाद प्रभावहीन हो जाता है।

अनुभव से यह ज्ञात हुआ है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में इसका प्रभाव भिन्न-भिन्न पड़ता है तथा रोग की तीव्रता-अनुसार भी इसका प्रभाव भिन्न-भिन्न देखने में आया है, एक ही कीटाणु की कई जातियाँ होती हैं स्ट्रेप्टोमायीसीन का प्रभाव भी उनकी जाति-अनुसार भिन्न-भिन्न पड़ता है, किसी में कम और किसी में अधिक काम करती है।

प्रयोग और मात्रा—स्ट्रेप्टोमायीसीन का ०.५ तथा १ ग्राम को १ c.c. सेलाइन सालूशन या डिस्टिलड वाटर में लीन करके देते हैं मात्रा प्रति दिन रोग अनुसार एक या दो बार दिन में दे सकते हैं। मांस अन्तर्गत इंजेक्शन द्वारा देते हैं। त्वचा में देने से स्थानिक शोथ हो जाती है। शिरागत इंजेक्शन देने के लिए बहुत हलका विलियन बनाना चाहिये तथा आहिस्ता आहिस्ता देना चाहिये, एक ग्राम को १००० c.c. में घोलकर देना चाहिये। इन कठिनाइयों के कारण रक्त द्वारा इसका प्रयोग बहुत कम होता है, तथा कोई विशेष लाभ भी नहीं होता। मांस अंतर्गत इंजेक्शन द्वारा यह रक्त में १ से २ घण्टे में मिल जाती है, यदि मात्रा अधिक हो तो लीन होने में तीन घण्टे लग जाते हैं।

आधा, एक या दो ग्राम १ या २ c.c. जल में घोलकर ४-४ घण्टे बाद देना चाहिये। इसे दिन में १ या २ बार दे सकते हैं। प्रायः २ बार ही देते हैं।

मस्तिष्क आवरण शोथ (Meningitis) में सौषुम्नान्तर्गत् द्वारा (Intrathecaly) यह दिन में एक बार दी जाती है, इसके साथ ४-४ घण्टे बाद शिरान्तर्गत् भी देते हैं।

इसका विलियन फुफ्फुसावरण में या उदरकला में भी दे सकते हैं तथा व्रण के ऊपर भी लगा सकते हैं एवं श्वास द्वारा भी दे सकते हैं। श्वास द्वारा देने से किसी प्रकार का क्षोभ उत्पन्न नहीं होता, मुख द्वारा देने से यह आमाशय या आन्त्र द्वारा बहुत कम लीन होती है और नाश भी नहीं होती है अतः बेसिलरी प्रवाहिका में विशेष लाभदायक है। यह मूत्र द्वारा बाहर निकलती है। यदि दिन में एक इंजेक्शन दिया जाय तो २४ घण्टे के अन्दर औषधि का ६० से ८० भाग मूत्र द्वारा बाहर निकल जाता है।

वक्तव्य—यह औषधि विशेषकर मूत्र मार्ग के रोगों के लिये बहुत अधिक उपयोगी है तथा शीर्षावरण शोथ में भी अत्यन्त उपयोगी है।

विष प्रभाव—जब मात्रा अधिक हो और दिन में बार बार और जल्दी जल्दी दी जाय तो इसके दुष्परिणाम प्रतीत होते हैं, अन्यथा बहुत कम देखने में आते हैं:—

(१) शिरशूल, त्वचा का रक्त वर्ण होना और गर्मी का आभास होना, वमन, उत्क्लेश, शरीर पर घाम समान पीड़िकायें, ज्वर, भ्रम, सिर में चक्कर, कानों में आवाजें, कभी कभी बहरापन भी हो जाता है, अनेक बार अतिसार, मूत्र में अल्ब्यूमिन की उपस्थिति तथा रक्त-भार की न्यूनता देखी गई है।

प्रोकेन पेनिसिलीन और स्ट्रेप्टोमायीसीन दोनों इकट्ठी मिली मिलती हैं, अनेक कम्पनियों ने इनके पृथक पृथक नाम रखे गये हैं, परन्तु पेनिसिलीन विथ स्ट्रेप्टोमायीशीन के नाम से मिल सकती है।

क्लोरोमायीसिटीन (Chloromycetin)

इस औषधि का वैज्ञानिक नाम क्लोरेम्फेनिकॉल (Chloromphe-nicol) है। जिन रोगों में यह लाभप्रद सिद्ध हुई है, उनके नाम नीचे दिये जाते हैं। इसके विषप्रभाव 'नहीं' के बराबर हैं इस कारण इसका प्रयोग करने में विशेष भय नहीं होता। मूत्र द्वारा यह शरीर से बाहर निकलती है। कभी कभी आरम्भ में अधिक मात्रा देने से वमन, उत्क्लेश या रक्त वाहिनी आघात (रक्त संचार बन्द) हो जाता है। औषधि आरम्भ करते समय इस बात की ओर ध्यान रखना उचित है।

प्रयोगविधि—सामान्यतः (१) पहिली मात्रा १ ग्राम ४ केप्शूल तत्पश्चात् ५०० मिलीग्राम (२ केप्शूल) हर चार चार घण्टे बाद दिन और रात जारी रखें। अथवा आरम्भ से २ केप्शूल (० .५ ग्राम) की मात्रा हर ४-४ घण्टे तक दें, जब तक रोग लक्षण कम न हो जायें, उसके बाद ०.२५ ग्रेन हर ६-६ या ८-८ घण्टे बाद जब तक जरूरत हो दे सकते हैं। इस बात का विशेष ध्यान रखें कि दो मात्रा के बीच का अन्तर ८ घण्टे से अधिक न हो। यह दवा सदा मुख द्वारा दी जाती है जब कभी रोगी मूर्च्छा अथवा किसी अन्य कारण मुख द्वारा न ले सके तो कैप्स्यूल को खोलकर गुदा में दे देनी चाहिये यह अन्त्रमार्ग से शीघ्र लीन होकर रक्त में मिल जाती है। बच्चों में आयु के अनुसार मात्रा अपेक्षतया अधिक देनी चाहिये। इंजेक्शनार्थ भी यह औषधि मिलती है। बच्चों के लिये पेय रूप में मिलती है इसे क्लोरोमायीसीटीन पामिटेट (chloromycetin Palmitate) कहते हैं। मात्रा १ वर्ष बच्चे के लिये १ चम्मच हर ४-४ घण्टे बाद।

निम्नोक्त रोगों में यह लाभदायक है :

(१) आन्त्रिक ज्वर (Typhoid fever) के लिये यह औषधि अति उपयोगी सिद्ध हुई है। शेष सब औषधियों का स्थान इससे नीचे

है। दो तीन दिन में अपना प्रभाव शुरू कर देती है, ज्वर कम होने लगता है; ज्वर प्रायः ३–५ दिन में स्वस्थ रेखा पर आ जाता है, मात्रा ०.५। प्रयोग विधि–०.५ग्राम (७½ ग्रेन) की मात्रा हर ४–४ घण्टे बाद (एक दिन में ३ ग्राम) देते जांय, ज्वर उतरने के तीन दिन बाद तक भी यही मात्रा जारी रखें। उसके ०.५ ग्राम दिन में दें, ज्वर उतरने के ४–५ दिन बाद तक दवाई की आवश्यकता प्रतीत होती है। यदि दुर्भाग्यवश फिर रोग का पुनः आक्रमण हो जाये तो पूर्ववत विधि से ३ ग्राम प्रतिदिन दें।

(२) लध्वान्त्रिक ज्वर (Parra typhoid) माल्टा फीवर में मात्रा और प्रयोग विधि वही है जो टाइफायड में लिखी गई है।

(३) पिटकरशना रोग (Herhes Zoster) के आरम्भ होते ही इस औषधि के देने से कभी-कभी बहुत लाभ होता है, पीड़ा और जलन कम हो जाती है पीड़िकाएं भी कम निकलती हैं अथवा निकलती ही नहीं। रोग शान्ति के बाद उपद्रव रूप में उत्पन्न वातिका पीड़ा में इसका कोई लाभ नहीं। मात्रा सामान्य।

(४) टाइफस ज्वर में भी बहुत लाभकारी है परन्तु इतनी नहीं जितनी आरियोमाइसिन।

(५) काली खांसी।

(६) पाषाण गर्दन इत्यादि

इसी जाति की अन्य औषधिएं भी उपबन्ध हैः—सिंथोमाइसीन (Synthomycin), एक्रोमाइसीन (Achromycin)

आरियोमाईसिटीन (Auroomycitin)

यह औषधि स्वर्ग वर्ग की है। इसका प्रभाव अनेक ऐसे कीटाणुओं पर पड़ता है जो शल्फानोमाइड्स, पेनिसिलीन तथा स्ट्रेप्टोमाइसीन से प्रभावित नहीं होते। कई ऐसे कीटाणुओं के प्रति भी इस

का प्रभाव देखा गया है जो सल्फानेमाइड, पेनिसिलीन और स्ट्रेप्टो- माइसीन से प्रभावित होते हैं।

टाइफस ज्वर, माल्टाफीवर, मूषक विषज कामला (Spirochaetal Jaundice) स्ट्रेप्टोकाकस, फिकेलिस (Streptc coccus Fecalis) आदि डानोवान बाडी (कालाजार आदि) के लिये यह औषधि विशेष उपयोगी है। ये अन्त्र द्वारा लीन होती है लीन होने में २–४ घंटे लग जाते हैं और १२ घंटे तक इसका प्रभाव रहता है।

यह औषधि टाइफस जाति के ज्वरों के लिये तो सर्वोत्तम है। उपरोक्त रोगों के अतिरिक्त पुनरावर्त्तक ज्वर (Relapsing Fever), काली खांसी (Whooping Cough), लोहित ज्वर (Scarlet-Fever), तथा कई बार न्युमोनिया में एवं अमीबिक डिसेंट्री में भी यह पर्याप्त लाभ करती है। अभी तक काली खांसी के लिए केवल यही औषधि है जो कुछ न कुछ काम करती है। यद्यपि इसकी अपेक्षा काली खांसी के लिये पालीमिक्सीन अच्छी है परन्तु पालीमिक्सीन अति अधिक विषैली होने के कारण उपयुक्त नहीं होती।

मात्रा—यह भी २५० मिलीग्राम के केप्शूल के रूप में मिलती है। पहले दिन २–२ केप्शूल हर चार घंटे बाद दिन में ४ बार दूसरे दिन और उसके बाद १-१ केप्शूल ४-४ घंटे बाद।

यह औषधि इंजेक्शनार्थ भी उपलब्ध है, केवल अति घोर अवस्था में इसे प्रयुक्त करते हैं, जब रोगी औषधि मुख से न ले सकता हो। जभी रोगी मुख द्वारा लेने के योग्य हो जाय, इसके इंजेक्शन बन्द कर दें, और मुख द्वारा देना आरम्भ कर दें।

टेरामाईसिन (Terramycin)—भी उपर्युक्त औषधियों की जाति में से है। उपयोग और मात्रा भी प्रायः वही है जो अरियो- माईसीटीन का है।

इससे कभी कभी विष प्रभाव भी उत्पन्न होते हैं यथा उत्क्लेश,

वमन, अतिसार, या कभी कभी शीतपित्तवत पीड़िकाएं–यह विष प्रभाव विशेषकर तब होते हैं जब औषधि इंजेक्शन द्वारा दी जाय। यदि विषजन्य उपद्रव उत्पन्न हो जायें तो औषधि कुछ दिन बंद करके पुनः थोड़ी मात्रा से आरम्भ करे, शनैः शनैः बढ़ाते जाएं।

पोलीमिक्सीन (Polymyxin)

इसको ईराप्सीन (Aeropsin) भी कहते हैं। यह औषधि काली खांसी में बहुत लाभदायक है वस्तुतः दो दिन में ही यह अपना चमत्कार दिखा देती है। माल्टा फीवर, इंफ्लूएन्जा तथा न्यूमोनिया के लिए भी लाभदायक देखी गई है इसमें विशेष त्रुटि यह है कि यह वृक्कों के लिए अत्यन्त हानिप्रद है। इससे तीव्र वृक्कशोथ उत्पन्न होते देखा गया है। अतः इसका प्रयोग अत्यन्त सावधानी से करना चाहिए यदि इसका उपयोग नहीं हो तो अच्छा है यदि प्रयोग करना ही पड़े तो नित्य प्रति मूत्र परीक्षा द्वारा यह देखते रहें कि वृक्क में हानि तो उत्पन्न नहीं हो रही है।

मात्रा—यह मुख द्वारा एवं मांसांतर्गत इंजेक्शन द्वारा पर्युक्त होती है। भिन्न-भिन्न रोगों में इसकी मात्रा भिन्न-भिन्न होती है, ०·४ से ०·८ मिलीग्राम हर ४ घंटे बाद।

———

अध्याय ६

दंशक ज्वर

इस अध्याय में उन प्रायोभावी ज्वरों का वर्णन किया जायगा जो किसी प्रकार के मच्छर, मक्खी, पिस्सू आदि दंशक कीटों के काटने से फैलते हैं। उन ज्वरों के नाम नीचे लिखे जाते हैं :

(१) विषम ज्वर
(२) काला आजार
(३) बालुमक्षिका ज्वर
(४) दण्डक ज्वर
(५) तीन दिन, पांच दिन तथा सात दिन के ज्वर
(६) पुनरावर्तक ज्वर
(७) अतिनिद्रा ज्वर
(८) मूषकविषज ज्वर
(९) अग्नि रोहणी
(१०) टाइफस
(११) मूषक विषज कामला

विषम ज्वर

पर्याय—विषम ज्वर, मलेरिया (Malaria), मौसमी बुखार।

परिचय—यह बारी से आने वाला ज्वर है, जो मच्छरों के काटने से होता है। इसमें शीत पूर्वक ज्वर चढ़ता है और चन्द घंटे रहकर प्रायः पसीना आकर उतर जाता है। कुछ काल ज्वर आने के बाद प्लीहा वृद्धि और रक्त न्यूनता हो जाती है।

कारण—इसका कारण विशेष प्रकार के जीवाणु हैं जिनको विषम ज्वर के जीवाणु या "प्लैज्मोडियम" (Plasmodium) कहते हैं। यह तीन प्रकार के होते हैं—(१) चातुर्थिक ज्वर के जीवाणु। (Plasmodium Malariae) (२) तृतीयक ज्वर के जीवाणु (Plasmodium (Vivax or Ovale) और (३) तृतीयक विपर्यय ज्वर के जीवाणु (Plasmodium Falciparum।

ये जीवाणु एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक विशेष प्रकार के मच्छरों द्वारा फैलते हैं।

मच्छर की अनेक जातियाँ होती हैं। उन जातियों में भी कई उप-जातियाँ होती हैं। सब प्रकार के मच्छर मनुष्य शरीर में ज्वर उत्पन्न नहीं करते, केवल चन्द एक जातियाँ ऐसी हैं जो मनुष्य को काटती हैं और एक व्यक्ति का रक्त चूस कर वहाँ से कीटाणु लेकर दूसरे व्यक्ति तक पहुँचाती हैं। उन जातियों की भी उपजातियाँ होती हैं। यह एक विशेष विषय है जो इस पुस्तक की सीमा के बाहर है। इस पुस्तक में केवल मुख्य मुख्य मच्छरों के नाम यथा-स्थान दिए जायेंगे जो मनुष्य में ज्वर उत्पन्न करते हैं।

विषम ज्वर एनाफिलीज़ जाति के मच्छरों की विशेष उपजातियों द्वारा प्रसार पाता है। यह बता देना उचित प्रतीत होता है कि एनाफिलीज़ की कुछ ऐसी उपजातियाँ भी हैं जो मनुष्य को नहीं काटतीं और वे पशुओं को काटती हैं उनका पशुरक्त ही अभीष्ट भोजन है। और कुछ ऐसी हैं जो मनुष्य को काटती हैं उनको मनुष्य-रक्त अभीष्ट है। वही मच्छर ज्वर के फैलाने का कारण बनते हैं।

मच्छर सदा गन्दी नालियों, कूड़ा कर्कट के ढेरों, जलाशयों आदि में और सदा अंधेरे शीतयुक्त गन्दे मकानों के कोनों में रहते हैं। मच्छरों की वृद्धि अण्डों द्वारा होती है और मच्छर अपने अण्डे सदा स्थिर जल अथवा आर्द्र स्थानों में देते हैं। अण्डों से जब मच्छर बनते

हैं तो कई अवस्थाओं में से गुजरते हैं:—

(i) अण्डा फटकर उसमें से मच्छर लार्व रूप में बाहर निकलता है। यह लार्व पानी की स्तर के ऊपर ऊपर रहते हैं। इसके बाद यह बढ़कर प्यूपा बन जाता है प्यूपा पानी की स्तर के नीचे रहता है। २-३-४ दिनों बाद प्यूपा फटकर इससें से मच्छर असली रूप में बाहर निकल आता है। इस समय तक प्यूपा सतह के ऊपर तक आ जाता है। प्यूपा के फटने के बाद मच्छर कुछ काल तक प्यूपा के ऊपर बैठ कर तैरता रहता है और जब पंख सूख जाते हैं तो उड़ जाता है।

यह कहना कठिन है कि मच्छर की आयु कितनी होती है। देखा गया है कि उनको आर्द्रता और आहार ठीक-ठीक मिलता रहे तो कई महीनों तक जिन्दा रहते हैं। उष्ण और शुष्क वायु में यह मर जाते हैं। समशीतोष्ण वायु और आर्द्र स्थानों में यह बढ़ते हैं और वृद्धि पाते हैं। शीतवायु में चैतन्य नहीं होते, सुस्त होते हैं, और वृद्धि नहीं पाते। मच्छरों में विशेषता यह है कि वह अपने जन्म स्थान से दूर नहीं जाते। अधिक से अधिक आधे मील तक उड़कर जाते हैं, और अण्डे देने के लिए यथासंभव उसी स्थान पर आ जाते हैं। यदि मच्छर दूर जाते भी हैं तो स्वयम् नहीं जाते अपितु सामान इत्यादि साधनों द्वारा, रेलवे और जहाजों द्वारा दूर देश तक पहुँचते हैं।

मच्छर में जब रोग का जीवाणु पहुँच जाय तो आजीवन उसमें उपस्थित रहता है। मच्छरों का जीवन अधिक से अधिक ८-९ महीने माना गया है किन्तु साधारणतया २-३-४ महीने ही इसका जीवन है।

मच्छर रोशनी में और दिन में नहीं काटते, रात को और अन्धेरे में ही काटते हैं। मादा एनाफ़िलीज़ मच्छर ही मनुष्य को काटता है नर नहीं, नर शाकाहारी है। जब यह मादा एनाफ़िलीज़ मच्छर रोगी को काटता है तो रोगी का रक्त चूस लेता है। रोगी के रक्त में जीवाणु उपस्थित होते हैं, वह भी रक्त के साथ मच्छर के अंदर प्रविष्ट हो जाते हैं।

यह जीवाणु पुरुष के शरीर में दो स्वरूप में पाये जाते हैं। एक अलिङ्ग रूप में और दूसरा लिङ्ग रूप में अर्थात् नर और मादा रूप में। यही नर और मादा रूपी जीवाणु मच्छर के शरीर में जाकर जीवाणु बन जाते हैं। कीटाणु पहले मच्छर के आमाशय में जाते हैं। आमाशय से आमाशय की दीवार में चले जाते हैं और वहीं वृद्धि पाते हैं, यहाँ से लाला ग्रन्थियों में पहुँचते हैं, वहाँ से मनुष्य के शरीर में पहुँचते हैं। जब मच्छर मनुष्य को काटते हैं तो यह जीवाणु लाला द्वारा व्रण के रास्ते मनुष्य के शरीर में प्रवेश करते हैं।

यह सारी क्रिया १० दिन में होती है, अर्थात् जिस दिन से मच्छर रोगी को काटता है, उससे १० दिन तक नर और मादा जीवाणु परस्पर मिलकर सन्तति की वृद्धि होकर लाला ग्रन्थि तक पहुँचती है। १० दिन के बाद ही मच्छर रोग फैलाने का कारण बनता है। इसके बाद आजीवन यह जीवाणु मच्छर में उपस्थित रहते हैं और वह मच्छर रोग फैलाने का कारण बना रहता है।

जो जीवाणु लाला में उपस्थित होते हैं उनमें लिङ्ग भेद नहीं होता, उनको स्पोरोझ्काइट्स (Sporozoites), कहते हैं। यह स्पोरोझ्काइट्स मनुष्य शरीर में रक्त के अन्दर जाकर रक्ताणुओं में प्रविष्ट हो जाते हैं क्रमशः बढ़ते रहते हैं, पहले सात दिन तो इनका नामोनिशान नहीं मालूम होता उसके बाद यह रक्त कणों में दृष्टिगोचर होने लगते हैं। वहीं रक्त कणों के अन्दर रक्तरञ्जक को ही अपना भोजन बनाकर वृद्धि पाते हैं। कुछ समय बाद (१०–१५ दिनों बाद) विषम ज्वर के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

परिपाक काल — चातुर्थिक ज्वरका परिपाक काल १५–२० दिन, सीमा एक महीना। तृतीयक और तृतीयक विपर्यय का परिपाक काल १०–१२ दिन, सीमा ८–२३ दिन। तृतीयक ज्वर तथा चातुर्थिक ज्वर में विषम ज्वर की अपूर्ण प्रतिरोधक चिकित्सा परिपाक काल ८–६ महीने तक हो

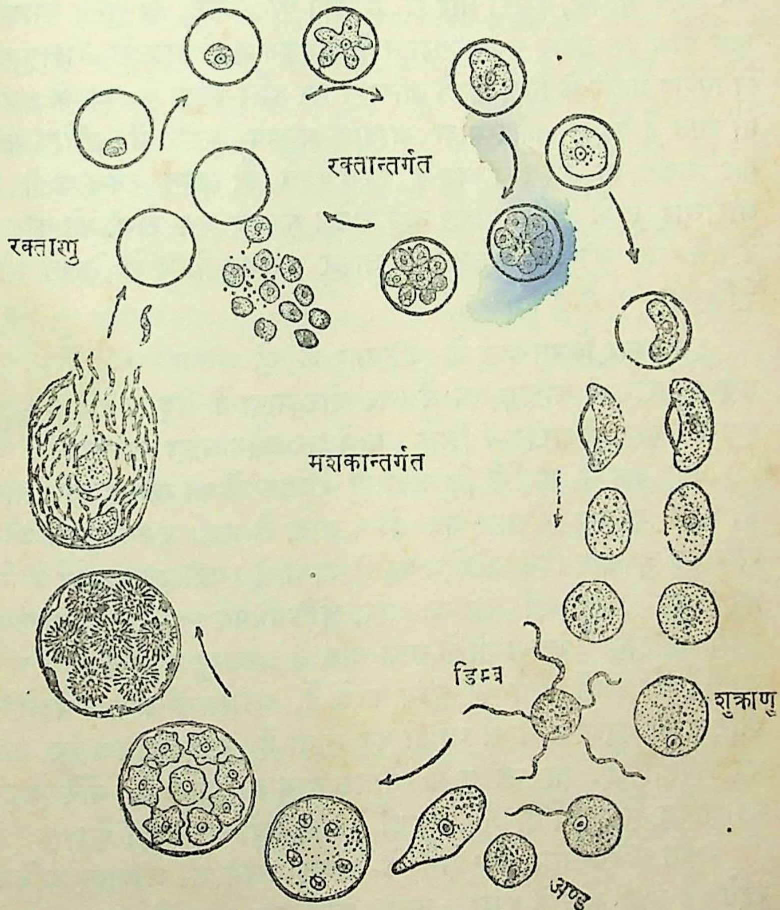
भी जाता है अर्थात् मच्छर काटने के ८-९ महीने बाद तक ज्वर नहीं आता उसके बाद ज्वर आता है।

सम्प्राप्ति—मानव शरीर में यह जीवाणु प्रविष्ट होकर रक्त में रक्ताणुओं के अन्दर चले जाते हैं वहाँ १०-१५-२० दिन तक वृद्धि पाते हैं। परिपाक काल के अन्त में विषमज्वर के लक्षण उत्पन्न होते हैं। पहली बार जब ज्वर होता है, तो जीवाणुओं की संख्या अति न्यून होती है जल्दी नहीं दीखते, बहुत खोज के बाद रक्त में उनकी उपस्थिति प्रमाणित की जा सकती है।

यह जीवाणु रक्ताणु के अन्दर एक से ८-१२-२४ हो जाते हैं, जब रक्ताणु फटते हैं तो बाहर निकल आते हैं, तभी ज्वर होता है। ये जीवाणु पुनः नये रक्ताणुओं में प्रविष्ट हो जाते हैं। वहाँ नियत समय तक रक्ताणुओं में रहकर और उन्हीं को अपना भोजन बनाकर वृद्धि को प्राप्त होते हैं। यह नियत समय चातुर्थिक ज्वर के जीवाणु के लिये ७२ घंटे हैं और तृतीयक तथा तृतीयक विपर्यय के जीवाणुओं के लिये ४८ घंटे हैं। अर्थात् चातुर्थिक ज्वर के जीवाणु ७२ घंटे में रक्ताणुओं के अन्दर १ से ६-१२ (सामान्यतः ८-९) बन जाते हैं और तृतीयक का जीवाणु ४८ घंटे में १ से १४-२४ (सामान्यतः १८-२०) और तृतीयक विपर्यय के जीवाणु १ से ८-२४ बन जाते हैं। ठीक नियत समय के बाद जब ये वृद्धि प्राप्त कर चुकते हैं, तो रक्ताणुओं को फाड़कर बाहर निकल आते हैं और पुनः अपने चक्र के लिए नये रक्ताणुओं में प्रविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक बार अधिकाधिक पहले से दस-बीस गुणा रक्ताणु नष्ट होते हैं। जब जब ये रक्ताणुओं को फाड़कर बाहर निकलते हैं, तभी तभी शीत लगती है और ज्वर चढ़ता है, उसी समय रक्ताणुओं के फटने से जीवाणुओं का विष रक्त में मिलता है। इनको मीरोजाइट्स (Merozoites) कहते हैं। मच्छर में यही स्पोरोजाइट्स कहलाते थे। स्पोरोजाइट्स तथा मीरोजाइट्स

चित्र १६

विषमज्वर जीवाणु का जीवन चक्र



अलिङ्ग रूप में रहते हैं। इनमें नर और मादा का भेद नहीं होता, एक फटकर १२ या २४ बन जाते हैं। यही मीरोजाइट्स बार-बार रक्ताणुओं

में प्रवेश करके उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं। और उसी प्रकार प्रतिबार अधिकाधिक रक्ताणु नाश हो जाते हैं। पहली बार से दूसरी बार १०-२० गुणा अधिक, दूसरी बार से तीसरी बार उतने ही गुणा ज्यादा। कुछ काल इस प्रकार चक्कर काटने के बाद इन मीरोजाइट्स जीवाणुओं से विशेष प्रकार के लिङ्ग रूपी जीवाणु नर और मादा के रूप में पृथक् हो जाते हैं यह नर और मादा जीवाणु मनुष्य शरीर में संयोग नहीं कर सकते यह रक्त में भ्रमण करते रहते हैं, किन्तु रक्त कणों में मीरोजाइट्स के भाँति प्रविष्ट नहीं होते। मच्छर जब रोगी को काटता है तभी यह जीवाणु मच्छर में जाकर पूर्वोक्त विधि से मिलते और वृद्धि प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार विषम ज्वर के जीवाणु के दो जीवन चक्र हैं—एक मनुष्य शरीर में अलिङ्ग रूप में (नर और मादा के भेद से रहित) और दूसरा मच्छर के शरीर में लिङ्ग रूप में नर और मादा के रूप में।

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि जीवाणु रक्तकणों को खाकर वृद्धि पाते हैं, बहुत शीघ्रता से रक्त-क्षय होता जाता है अतः रक्तन्यूनता और शरीरिक दुर्बलता दिन प्रतिदिन बढ़ती जाती है। प्लीहा का कार्य है कि वह विनष्ट रक्त कणों को खा जाए, चूंकि विषम ज्वरों में रक्त-कण बहुत नष्ट होते हैं रक्त-कणों के साथ-साथ ये जीवाणु भी प्लीहा में चले जाते हैं जो उसके सैलों को क्षुब्ध करते हैं, प्लीहा के कार्य के बढ़ने से और उसके क्षुब्ध होने से प्लीहा बढ़ जाती है। यदि अधिक देर तक यह अवस्था रहे, तो प्लीहा में सौत्रिक तन्तु बन जाते हैं, परिणामतः प्लीहा दृढ़ हो जाती है और स्थायी रूप से बढ़ी रह जाती है।

यकृत के रक्तमय अङ्ग होने के कारण उसमें भी जीवाणु अधिक रहते हैं तथा ज्वर के कारण उसका कार्य बढ़ जाता है अतः वह भी बढ़ जाता है और अधिक काल तक क्षुब्ध रहने पर इसमें भी सौत्रिक वृद्धि हो जाती है और यह भी स्थायी रूप में बढ़ जाती है।

रक्तकणों के नाश के कारण रक्तरञ्जक अधिक मुक्त होते हैं, रक्तरञ्जकों से पित्तरञ्जक बनता है, अतः वह भी अधिक मात्रा में तैयार होता है और यकृत उस सारे पित्तरञ्जक को पित्त बनाने में प्रयुक्त नहीं कर पाता, शेष पित्तरञ्जक रक्त में मिलकर शरीर में कामलावत् वर्ण उत्पन्न कर देता है। शेष रक्तरञ्जक जो पित्तरञ्जक नहीं बनते, उनसे कृष्णरञ्जक बनकर मूत्र में निकलते हैं और मूत्र का वर्ण कृष्णलोहित कर देते हैं या कपोलों पर आँखों के नीचे बैठ जाते हैं। अधिक रक्ताणु नाश से अधिक प्रोटीन मुक्त होती है और उससे अधिक यूरिया बनता है, इस कारण मूत्र का रङ्ग गाढ़ा हो जाता है। रक्तकण नाश के कारण रक्त-न्यूनता हो जाती है, रक्तरञ्जक अपेक्षतया बहुत घट जाते हैं, अतः रोगी का वर्ण भेक वर्ण हो जाता है। विषमज्वर में श्वेताणु भी कम हो जाते हैं परन्तु बृहत्लसीकाणुओं का निपात बढ़ जाता है।

विषमज्वर भारतवर्ष में बहुत होता है, और संपूर्ण वर्ष रहता है, वर्षा, शरद् और वसन्त ऋतु में अधिक होता है। जिस वर्ष वर्षा अधिक होती है उस वर्ष रोग भी अधिक फैलता है। स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध, युवा सभी को समान रूप से होता है, परन्तु जलाढ्य स्थानों में जहाँ यह अधिक होता हो, रहनेवाले पुरुषों में बड़ी आयु में रोग-क्षमता अधिक हो जाती है अर्थात् जलाढ्य स्थान के वासियों में बड़ी आयु में विषम ज्वर कम होता है।

लक्षण—प्रत्येक प्रकार के विषम-ज्वर के ताप की तीन अवस्थायें होती हैं—शीत अवस्था, उष्ण अवस्था और स्वेद अवस्था। इन अवस्थाओं की तीव्रता तथा इनका काल प्रत्येक विषम ज्वर के प्रकारानुसार भिन्न-भिन्न होता है।

ज्वर की तीन अवस्थाएँः—ज्वर चढ़ने से कुछ काल पहले रोगी को शिरः पीड़ा, अङ्गमर्द, उत्क्लेश आदि लक्षण प्रतीत होते हैं। फिर अकस्मात् शीत से ज्वर चढ़ता है।

(१) शीत अवस्था—इस समय रोगी को अत्यन्त शीत लगती है, जिससे वह कांपता है, यहाँ तक कि उसकी शय्या भी हिलती प्रतीत होती है। दाँत किटकिटाते हैं, कई कम्बल तथा रजाई डालने से भी उसकी शीत कम नहीं होती। शरीर बाहर से ठंडा प्रतीत होता है, परन्तु अन्दर का ताप (यदि गुदा में देखा जाय) १०४° या १०५° फा० होता है। नाड़ी की गति तीव्र, आकृति न्यून और उत्पात अधिक होता है।

(२) उष्ण अवस्था—शीत अवस्था समाप्त होने के बाद रोगी को उष्णता प्रतीत होने लगती है, मुख लाल सुर्ख हो जाता है, त्वचा उष्ण, शुष्क और रक्ताभ होती है, नाड़ी की गति तीव्र, आकृति और वेग अधिक होता है, तथा ज्वर अति तीव्र १०३°-१०५° फा० तक हो जाता है। कभी-कभी विशेषतः बच्चों में १०६° फा० तक पहुँच जाता है। यह अवस्था ३–४ घंटे तक रहती है।

(३) स्वेद अवस्था—अब पसीना आने लगता है। पहले कुछ बिंदु मस्तक और शिर तथा ग्रीवा पर आते हैं और फिर सारे शरीर से पानी की तरह पसीना बहने लगता है। इसके बाद रोगी को शान्ति प्रतीत होती है और ज्वर शीघ्रता से स्वस्थ रेखा या उससे भी नीचे उतर जाता है। इस समय रोगी को बहुत-सा मूत्र आ जाता है जिसका रंग बहुत गाढ़ा होता है। कभी-कभी शौच भी आ जाता है।

ज्वर के बाद रोगी दुर्बलता अनुभव करता है और प्रायः उसे नींद आ जाती है। कुछ देर बाद जब उसकी निद्रा खुलती है, तो अपने आपको स्वस्थ किन्तु दुर्बल अनुभव करता है।

यद्यपि ज्वर का आरम्भ रक्ताणुओं के फटने पर होता है परन्तु आरम्भ में ज्वर के वेग समय के चक्र के अनुसार नहीं आते, ज्वर के स्वरूप में रोगी की प्रकृति बहुत भेद डालती है। आरम्भ में ज्वर किसी रोगी में लगातार रहता है तो किसी में प्रतिदिन आता और उतरता रहता है किसी किसी में आरम्भ से ही विषम ज्वर का ताप अपने

असली स्वरूप में अर्थात् चौथे दिन अथवा तीसरे दिन (बारी) से आता है। तृतीयक विपर्यय में तो विशेषकर यही बात देखी गई है कि ज्वर आरम्भ में अनियमित रूप से आता है कुछ काल के बाद ज्वर अपना असली स्वरूप धारण करता है। तृतीयक ज्वर अपने असली स्वरूप में जल्दी आ जाता है। कभी-कभी तो आरम्भ से ही १ दिन छोड़कर दूसरे दिन बारी से आता है। चतुर्थक ज्वर तृतीयक की अपेक्षा भी शीघ्रता से अपना रूप धारण कर लेता है कभी कभी प्रारम्भ से ही चतुर्थक रूप में आता है। अनेक रोगियों में, विशेषकर बालकों में, जब चिकित्सा न की जाय तो कई महीनों तक इसी प्रकार चतुर्थक रूप में आता रहता है।

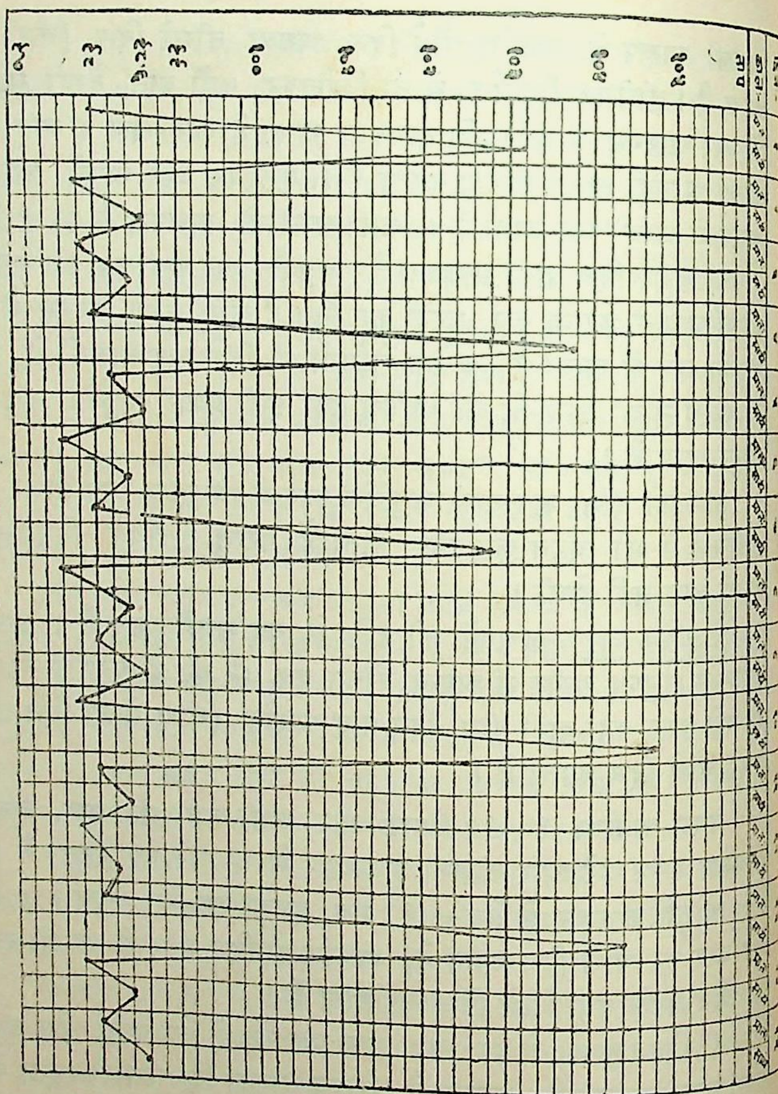
ताप की तीन अवस्थाएं चातुर्थिक ज्वर में बिलकुल स्पष्ट होती हैं। तृतीयक में भी बहुत कुछ स्पष्ट होती हैं परन्तु तृतीयक विपर्यय में इतनी स्पष्ट नहीं होती।

चातुर्थिक ज्वर—लक्षणों की दृष्टि से यह सबसे मृदु है। इसका जीवाणु मनुष्य शरीर में अपना जीवन चक्र ७२ घंटे में पूरा करता है। जिससे ज्वर की बारी तीन दिन बाद अर्थात् (बीच में दो दिन छोड़ कर) चौथे दिन आती है।

प्रथम अवस्था १०–१५ मिनट और कभी-कभी घंटा भर, दूसरी अवस्था ३–४ घंटे और तीसरी अवस्था १ से १½ घंटे तक रहती है।

चातुर्थिक ज्वर के भेद—(१) जब इसका एक वेग चल रहा हो, तो ज्वर हर चौथे दिन आता है, अर्थात् दो दिन मध्य के खाली रहते हैं और पहले तथा चौथे दिन ज्वर होता है।

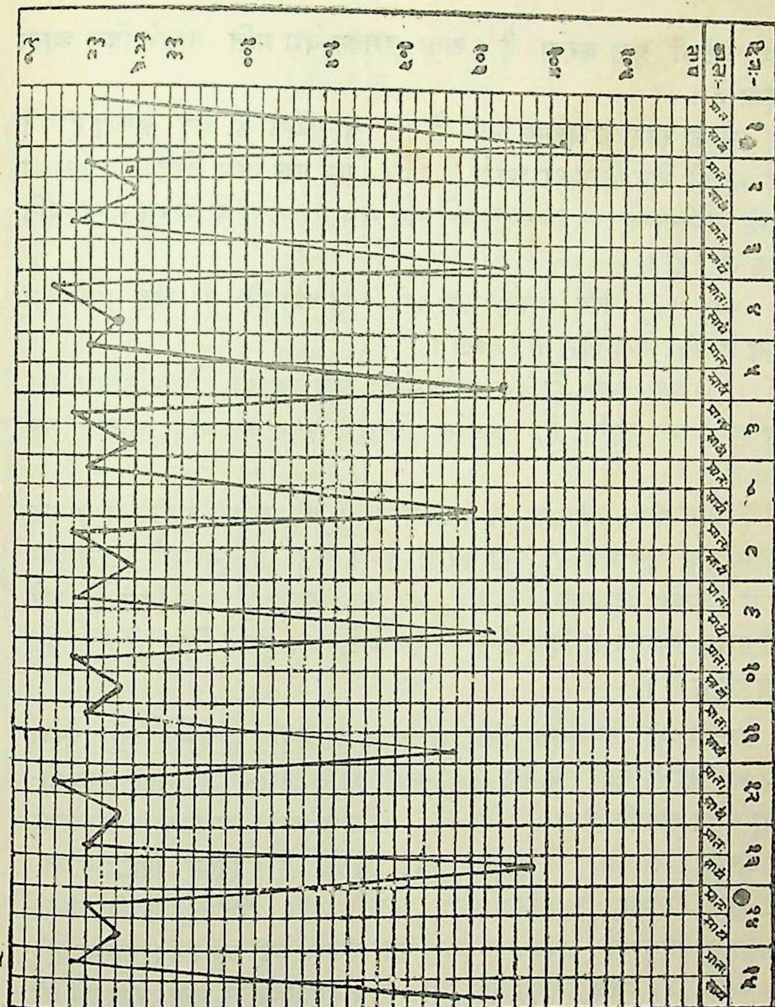
(२) जब इसके दो वेग साथ साथ चल रहे हों तो पहले और दूसरे दिन ज्वर चढ़ता और उतरता है। परन्तु तीसरा दिन खाली रहता है। अर्थात् यथा क्रम दो दिन चढ़ता और एक दिन खाली रहता है। दूसरे शब्दों में मध्य के दो दिन ज्वर होता है और पहले तथा चौथे दिन



चित्र १७ चातुर्थिक ज्वर

नहीं होता। इसे आयुर्वेदिक ग्रंथों में "चातुर्थिक विपर्यय" कहते हैं।

"विषम-ज्वर एवान्यश्चातुर्थिक विपर्ययः।
स मध्ये ज्वरयत्यह्नी आदावन्ते च मुञ्चति॥"



चित्र १८ तृतीयक ज्वर

(३) जब इसके तीन वेग साथ-साथ चलेंगे तो प्रतिदिन ज्वर चढ़-कर उतर जायेगा अर्थात् विसर्गी ज्वर का सा रूप बन जाएगा।

तृतीयक ज्वर—इसका जीवाणु मनुष्य शरीर में अपना जीवन-चक्र

४८ घंटे में पूरा करता है। अतः इसका वेग प्रति तीसरे दिन आता रहता है।

इसके ताप के लक्षण वही हैं जो चातुर्थिक के, भेद इतना ही है कि वह दो दिन छोड़कर आता है और यह एक दिन छोड़कर। इसकी तीनों अवस्थाओं से १०-१२ घंटे का समय लगता है परन्तु ताप अति तीव्र नहीं होता।

भेद—(१) जब इसका एक वेग चल रहा हो तो ज्वर एक दिन होता है और एक दिन नहीं होता।

(२) जब इसके दो वेग साथ-साथ चल रहे हों, तो प्रतिदिन ज्वर चढ़कर उतर जाता है, अर्थात् विसर्गी ज्वर का रूप धारण कर लेता है।

(३) तृतीयक विपर्यय—इसका जीवाणु भी मनुष्य शरीर में अपना जीवन-चक्र ४८ घंटे में पूरा करता है। अतः प्रति-तीसरे दिन ज्वर आता है और लगातार ३६ घंटे तक चढ़ा रहता है, एक दिन १२ घंटे नहीं होता और उसी दिन के शेष १२ घंटे तथा दूसरे दिन पूरे २४ घंटे चढ़ा रहता है।

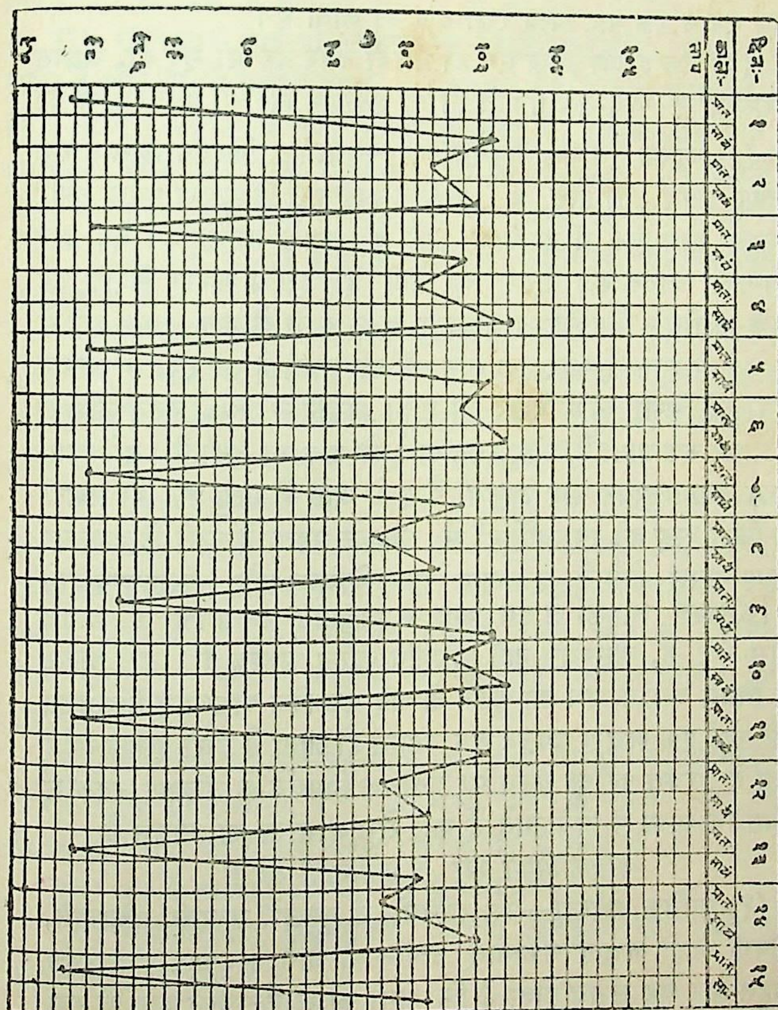
इसकी भी उपर्युक्त प्रकार से तीन अवस्थाएं हैं इसमें शीतावस्था स्पष्ट नहीं होती यहाँ तक कि कभी-कभी शीत लगती भी नहीं। उष्णावस्था बहुत लम्बी होती है। २४-३६ घंटे तक चली जाती है स्वेदावस्था भी अस्पष्ट सी होती है। स्वेद थोड़ा आता है। इसमें शिरः पीड़ा, कटि-शूल, वमन, उत्क्लेश आदि लक्षण तीव्र होते हैं, कभी कभी कामला हो जाती है। उपर्युक्त दोनों की अपेक्षा यह अधिक भयानक है।

भेद—(१) जब इसका एक वेग साधारण रूप से चल रहा हो तो एक दिन १२ घंटे (प्रातः से सायं) ज्वर नहीं होता फिर उसी रात एवं दूसरे सारे दिन और रात चढ़ा रहता है।

(२) जब इसके दो वेग साथ-साथ चल रहे हों तो ज्वर अविसर्गी

चित्र १९

तृतीयक विपर्यय ज्वर



या संतत सा बन जाता है, अर्थात् सदा स्वस्थ रेखा से ऊपर रहता है। परन्तु तीसरे, चौथे दिन कभी न कभी अवश्य ही कुछ काल तक के लिये एक न एक बार स्वस्थ रेखा तक आ जाता है।

(३) जब इसका केवल एक ही वेग हो और वह भी मृदु हो, अर्थात् ज्वरावस्था १२–१६–१८ घंटे हो तो यह तृतीयक ज्वर सा प्रतीत होता है।

(४) घातक तृतीयक विपर्यय ज्वर—तृतीयक विपर्यय के साधारण लक्षण इसमें तीव्र होते हैं। अधिक रक्तनाश के कारण पाण्डु और कामला तीव्र रूप में उपस्थित होते हैं। इसके अतिरिक्त यह ज्वर यदा-कदा घातक रूप धारण कर लेता है, इसका कारण विशेष यह है कि तृतीयक विपर्यय का जीवाणु कुछ काल के बाद समूह रूप में एकत्रित हो जाते हैं और एक गांठ सी बन जाती है जो रक्त में भ्रमण करती हुई किसी अङ्ग विशेष की सूक्ष्म धमनिका अथवा रक्त केशिका में आकर रुक जाती है, और रक्त मार्ग को बन्द कर देती है। परिणाम-स्वरूप स्थानानुसार घोर उपद्रव पैदा हो जाते हैं मृत्यु तक हो सकती है। जिस अङ्ग की रक्तवाहिनी में रुकावट पड़ती है उसी के अनुसार लक्षण उत्पन्न होते हैं, ये लक्षण इतने विभिन्न और असामान्य होते हैं कि केवल लक्षणों से इस बात का अनुमान करना कि यह घातक विषम ज्वर है, असम्भव नहीं तो अति कठिन अवश्य है। पहले अनेक बार विषम ज्वर के वेग आ चुकने के बाद एक दिन अकस्मात् निम्नोक्त में से कोई एक लक्षण उपद्रव रूप उत्पन्न हो जाता है तभी इसका संदेह पड़ता है। रक्त परीक्षा करने पर तृतीयक विपर्यय के जीवाणु रक्त में अत्याधिक मात्रा में पाये जाते हैं यही रोग मीमांसा का साधन है।

घातक विषम ज्वर के प्रायोभावी भेद।

(१) वातिक अवस्था—ऐसे रोगियों में मूर्च्छा, सन्यास, पक्षाघात, उत्क्षेपण आदि लक्षण अकस्मात् उत्पन्न हो जाते हैं। ज्वर तीव्र होता है बहुत बार यह संशय होता है कि रोगी को शीर्षसौषुम्न ज्वर हो रहा

है, अथवा मदात्य रोग या उन्माद-सा प्रतीत होता है। रक्त-परीक्षा से निदान स्पष्ट हो जाता है।

(२) शीत काय अवस्था—अकस्मात् रोगी का शरीर ठण्डा पड़ जाता है और ठण्डे पसीने आते हैं। नाड़ी की गति तीव्र तथा दुर्बल हो जाती है। रक्त-भार अत्यन्त कम हो जाता है। कभी-कभी वमन, अतिसार और उदर शूल के लक्षण भी विद्यमान होते हैं। यद्यपि बाहर से शरीर शीत प्रतीत होता है, परन्तु अन्दर का ताप १०३°–१०४°–१०५° फा० होता है। इस रोग का निदान भी रक्त-परीक्षा से ही होता है।

(३) हृदरोग—रोगी का श्वास चढ़ा हुआ, बेचैनी व हृदय धड़कन होती हैं तथा कभी-कभी हृदय अवसाद के लक्षण उपस्थित होकर रोगी की मृत्यु भी हो सकती है इसका कारण हृदय रक्त वाहिनियों में जीवाणु समूह के आ जाने से रक्तसंचार का बंद हो जाना है।

(४) उदररोग—अन्त्र की दीवार में उपर्युक्त कारणों से रक्त-संचार बन्द हो जाता है परिमाणतः उदर शूल, अतिसार, प्रवाहिका, वमन आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। कभी-कभी तो पित्ताशय शूल, उपान्त्र, शोथ जैसे लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं, वमन, अतिसार, श्लेष्मा, और रक्त-युक्त मल के उतरने से विशूचिका अथवा प्रवाहिका का संदेह हो जाता है।

(५) रक्त पित्तवत लक्षण—नाक, मुख, गुदा, मूत्रमार्ग या योनिमार्ग से रक्तस्राव होने लगता है। कभी-कभी त्वचा के नीचे रक्तस्राव हो जाता है यहाँ भी निदान केवल रक्तपरीक्षा से होता है।

(६) मूत्र में अल्ब्यूमिन और रक्त आने लगता है।

(७) फुफ्फुसप्रदाह (न्यूमोनिया) अथवा फुफ्फुसावरण प्रदाहवत लक्षण पैदा हो जाते हैं।

वक्तव्यः—चाहे किसी प्रकार के लक्षण उत्पन्न क्यों न हों

निम्नोक्त तीन बातों का होना आवश्यक है :

(१) उससे पूर्व विषम ज्वर के वेगों की विद्यमानता।

(२) अति तीव्र ताप की उपस्थिति।

(३) परीक्षा से रक्त में तृतीयक विपर्यय के जीवाणु की उपस्थिति।

विषम-ज्वर की चिकित्सा सम्यकतः न करने पर रोगी में रक्त न्यूनता और दुर्बलता बहुत बढ़ जाती है, उसका वर्ण भेकवर्ण का हो जाता है, क्षुधा मन्द और अजीर्ण के लक्षण उपस्थित हो जाते हैं, पांव पर शोथ आ जाती है, और मन कार्य करने से रह जाते हैं, प्लीहा बढ़कर दृढ़ हो जाती है, और यकृत-दारी (Cirrhosis of Liver) हो जाती है। प्लीहा और यकृत के बढ़ जाने से तद्नुसार अन्य लक्षण यथा कामला, जलोदर, प्लीहा में रक्तस्राव से प्लीहाशूल आदि लक्षण हो जाते हैं तथा प्लीहा के बढ़ने और भारी हो जाने के कारण प्लीहा स्थानाच्युत हो सकती है अथवा इसमें आने-जाने वाली नाड़ियों में मरोड़ आकर तीव्र प्लीहाशूल हो सकता है।

रोगमीमांसा— जब लक्षण स्पष्ट रूप से उपस्थित हों तो विषम ज्वर की पहचान सुगम होती है। बारी से आने वाले ज्वर सदा विषम ही होते हैं।

आरम्भ में ज्वर के वेग जब अनियमित रूप से आते हैं अथवा एक साथ जब एक से अधिक वेग चल रहे होते हैं तथा जीर्ण अवस्था या घातक-अवस्था में इसकी पहचान कठिनता से होती है। वास्तविक निदान रक्त में इसके जीवाणुओं की उपस्थिति से ही होता है किन्तु अनेक बार इसकी सिद्धि कठिन होती है विशेषकर आरम्भ में जब कुनीन आदि औषधियाँ दी जाएं परन्तु वे सफल न हों तो रक्त परीक्षा व्यर्थ है। विषम-ज्वर नाशक औषधियों के देने के बाद रक्त में जीवाणु नहीं मिलते।

घातक विषम-ज्वर में जीवाणु सदा और सुगमता से मिल ही जाते

हैं, तीव्र तृतीयक विपर्यय में विषम-ज्वर के जीवाणु प्रायः मिल ही जाते हैं। यदि कभी न भी मिलें और लक्षणों से निदान स्पष्ट हो अथवा विषमज्वर की अत्यधिक सम्भावना हो तो चिकित्सा में विलम्ब नहीं करना चाहिए। वस्तुतः उपशय-उनुपशाय रोग-मीमांसा का परम सूचक है अर्थात् कामाक्वीन के तीन दिन तक देने और दो बार कुनीन इंजेक्शन और तीन दिन पैलुड्रीन देने के बाद यदि ज्वर न उतरे तो समझ लेना चाहिये कि वह विषम-ज्वर नहीं है।

रोग परिणाम—भारतवर्ष में विषम-ज्वर से और इसके उपद्रवों से मृत्यु भी अत्यधिक होती है, विशेषकर तृतीयक विपर्यय के ज्वर की यदि चिकित्सा न की जाये, तो घातक हो जाता है।

विषम-ज्वर में अन्य रोग उपद्रव रूप में उत्पन्न हो जाते हैं यथा श्वसनक ज्वर, आन्त्रिक ज्वर, क्षयरोग आदि। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि यदि विषम-ज्वर पृथ्वी की धरातल से लुप्त हो जाए तो दो तिहाई श्वसनक ज्वर भी इस धरातल से उठ जाएगा। विषम-ज्वर की चिकित्सा पूर्णतया और सम्यकतया ज्ञात है। दुर्भाग्य से ग्रामों में जहाँ यह रोग अधिकता से होता है, अशिक्षा और दरिद्रता के कारण चिकित्सा ठीक-ठीक नहीं हो पाती वहीं मृत्यु संख्या अधिक होती है।

चिकित्सा

प्रतिबन्धक चिकित्सा—वास्तिविक प्रतिबन्धक चिकित्सा मच्छरों से बचकर रहना है। यह सरकार का कर्तव्य होना चाहिये कि मच्छरों को मारने के सब उपाय करे। कूड़ा-करकट के ढेर न रहने दें, स्थिर पानी के डबरे, पल्वल, पोखर, आदि जहाँ मच्छर अण्डे देते हैं और पलते हैं, उनकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। उनको खाली कराकर वहाँ मिट्टी भरा देनी चाहिये। यदि वह सुखाये या दूर न किये जा सकें तो उन पर डी. डी. टी. (D. D. T.), घासलेट (मट्टी का तेल) आदि औषधियाँ डालें उनके डालने से अण्डे नष्ट हो जाते हैं और

मच्छर मर जाते हैं, एतदर्थ अभ्यस्त कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता है। यह कार्य सरकार ही कर सकती है।

जहाँ मच्छर अधिक हों या जहां विषम-ज्वर अधिक हो वहां मशहरी लगाकर सोयें विशेषकर वर्षा ऋतु में।

विषम-ज्वर से बचने के लिए कोई ऐसी औषधि नहीं है जो एक बार देने से या कुछ दिन देने से विषमज्वर सदा के लिये या लम्बे काल के लिए न होने पाये। जब तक औषधि का प्रयोग करेंगे विषम-ज्वर से बचते रहेंगे ऐसी औषधियों के नाम यह हैं—

(१) पैलूड्रीन (Paludrine) का ०·१ ग्राम (१ गोली) २-३ या ४ बार सप्ताह में देने से विषमज्वर नहीं होता।

(२) मेपाक्रीन (Mepacrine) का १½ ग्रेन रोज देने से विषम-ज्वर नहीं होता।

(६) कुनीन (Quinine) ५-१० ग्रेन प्रतिमात्रा सप्ताह में तीन बार देने से विषम-ज्वर नहीं होता।

यदि यह औषधियाँ अधिक दिनों तक देनी पड़ें तो बीच बीच में सप्ताह सप्ताह भर बन्द कर सकते हैं। यह स्मरण रहे कि इन औषधियों को चिरकाल तक इस प्रकार देने से कोई हानि नहीं होती। इन सब में पेलूड्रीन का स्थान उच्च है।

शमनचिकित्सा—ज्वर की अवस्था में रोगी को शय्या पर लिटा देना चाहिए अन्यथा जब ज्वर न आता हो और विषम ज्वर के जीवाणु शरीर में उपस्थित हों तो यथासम्भव रोगी को घर के अन्दर रखें बाहर कार्य पर न जाने दें।

सबसे प्रथम रोगी को विरेचन देना चाहिये इससे लाभ होता है। विरेचन देने के बाद विषम-ज्वरनाशक चिकित्सा करनी चाहिए। विरेचन देने के पश्चात् कुनीन, पेलूड्रीन आदि शीघ्र लीन होते हैं।

ज्वर के समय ज्वर उतारने की विशेष चिकित्सा की आवश्यकता

नहीं होती। समय पर ज्वर अपने आप उतर जाता है। हां! यदि ज्वर अतितीव्र हो तो उसको कम करने के उपाय करने चाहिये।

ज्वर के अन्य लक्षण यदि दुखःदायक हों तो उनको दूर करने के उपाय अवश्य करने चाहिये उनमें से प्रधान लक्षण निम्नोक्त हैं:

(१) शिरशूल—विषम ज्वर में शिरशूल का कारण शरीर से अपर प्रोटीन (Foreign Protein) तथा अन्य विषैली चीजों का बनना है। अनेक बार विषम-ज्वर में केवलमात्र शिरशूल ही एक लक्षण होता है अन्य ज्वरादि कोई लक्षण नहीं होते। यह शिरशूल ललाट पर ही प्रतीत होता है अथवा अर्धावभेदक सी पीड़ा होती है। यह पीड़ा सदा नियत समय पर आती तथा बन्द होती है। प्रतिदिन यह प्रायः सूर्योदय या उससे कुछ पहले आरम्भ होकर मध्याह्न तक रहती है। अथवा अन्य नियत समय पर आती व जाती है। नियत समय पर सिर दर्द का होना और लुप्त होजाना इसकी पहचान है। इसकी चिकित्सा आरम्भ में तीव्र विरेचन के बाद निम्नोक्त करनी चाहिए:

(१) Aspirin (एस्पिरीन)	gr.-3-5
Caffien citras (कैफीन साइट्रास)	gr.-2-3
Quiuine bi-hydrochlor (कुनीन बाइहाइड्रोक्लोर)	gr. 5

Such 2 or 3 dozes (२ या ३ मात्रा)

नोटः— इस योग में कुनीन के स्थान पर पेलूड्रीन की ०·१ ग्राम की या मैपाक्रीन की १½ ग्रेन गोली डाल सकते हैं।

एक मात्रा शिरशूल के आरम्भ होने से आधा घण्टा पहले, दूसरी मात्रा ३ या ४ घण्टे के बाद और तीसरी पुनः ४ घण्टे के बाद। प्रायः तीसरी मात्रा की आवश्यकता बहुत कम पड़ती है, यदि पहली मात्रा से ही शिरशूल जाता रहे तो उसी दिन दूसरी मात्रा भी न दें। साधारण-तया तीन दिन की चिकित्सा से शिरशूल जाता रहता है।

आयुर्वेद में एतदर्थ—

लक्ष्मी विलास रस (भै० र०) १-२ र०

पिप्पली चूर्ण ३-६ र०

शृङ्ग भस्म ४-८ र०

गुड़ पुराना २-४ माशा यथावश्यक गोलियाँ बनाने के लिये। एसी ४ मात्रा प्रतिदिन।

शिरशूल के दूर होने पर विषम-ज्वर की चिकित्सा करनी अनिवार्य है। शिरशूल का उपद्रव दूर हो जाता है किन्तु शरीर में गुप्त रूप से विषम-ज्वर शेष रह जाता है जो कभी भी प्रदर्भूत हो सकता है। उसकी चिकित्सा करनी चाहिये।

(२) वमन—विषम-ज्वर में ताप के साथ अथवा ताप के बाद वमन उत्क्लेश प्रायः होते हैं और कभी कभी कौड़ी प्रदेश में जलन, पीड़ा और भारीपन प्रतीत होता है, वमन में पीत और हरित वर्ण का पित्त निकलता है। इनकी विशेष चिकित्सा की आवश्यकता नहीं होती साधारण क्रिया से यह उपद्रव ठीक हो जाते हैं। यथा निब्बू पर थोड़ा नमक डालकर चाटने से, सोडा बाईकार्ब (मधुर क्षार) १$\frac{1}{2}$ से २ माशे देने से, ताप उतरने के बार शिकंजबीन, मोसंबी, नारङ्गी और मीठे निब्बू का रस, ग्लूकोज का प्रयोग इसमें विशेष लाभदायक है, मोसंबी के रस में या शिकंजबीन आदि में ग्लूकोज देने से भी बहुत लाभ होता है, अन्यथा गन्ने का रस, साधारण शक्कर का शर्बत निब्बू डालकर या बिना निब्बू के दे सकते हैं।

आहार—ताप की अवस्था में सदा दूधवत् जैसा तरल और मृदु आहार देना चाहिए, अथवा मोसंबी, नारंगी आदि का रस दें तथा शिकंजबीन, नारियल का पानी, गन्ने का रस आदि दे सकते हैं, कोई-कोई चिकित्सक खिचड़ी, दलिया, ब्रेड (डबल रोटी), दूध देते हैं, यदि रोगी पचा ले तो देने से हानि नहीं।

ताप उतरने के बाद और विरेचन के पश्चात् साबूदाना, पतलीदाल तथा पतली खिचड़ी दें। अच्छा तो यह है कि जब ताप के दो वेग न निकल जायें, रोगी को ठोस से ठोस आहार न देना चाहिए। ठोस आहार देने से रोगी को पुनः ज्वर हो जाने का भय रहता है।

औषधि चिकित्सा—विषम-ज्वर की चिकित्सा में यह विशेष ध्यान दें कि विबन्ध न हो, यदि हो तो विरेचन द्वारा दूर करते रहें। विषम-ज्वर के लिए विशेष औषधियाँ निम्नोक्त हैं :

पेलूड्रीन (Paludrine)—विषम-ज्वर के लिए सबसे उत्तम औषधि है। इसके विषय में निम्नोक्त बातें बता देना आवश्यक हैं :

(क) प्रतिदिन ०·१ ग्राम की तीन गोलियां ०.३ ग्राम की १ मात्रा प्रायः तीन या चार दिन तक देने से ८५-८६ प्रतिशत् विषम-ज्वर के रोगी रोग मुक्त हो जाते हैं। अथवा ०·३ ग्राम की एक गोली प्रातः तीन दिन तक दें।

(ख) तृतीयक विपर्यय में यह बहुत लाभदायक है। इसके प्रयोग से तृतीयक विपर्यय के वेग सदा के लिए बन्द हो जाते हैं, परंतु चतुर्थक और तृतीयक में तात्कालिक ज्वर शान्त तो कर देती है परन्तु कभी-कभी वेगों की पुनरावृत्ति सदा के लिए नहीं रोकती। कुछ काल के बाद पुनः वेग आने लगते हैं।

(ग) जीर्ण विषम-ज्वर में जहाँ वेग बार-बार कुछ-कुछ दिनों के बाद आ रहे हों, वहाँ तीन या चार दिन उपरोक्त विधि से औषधि देने के बाद ०·१ ग्राम (१½ ग्रेन) की मात्रा सप्ताह में पहले दो, बाद में १ बार कई महीनों तक दें। तृतीयक विपर्यय में १ महीने तक देना पर्याप्त है। चतुर्थक में ४ महीने तक और तृतीयक में ६ महीने तक देने की आवश्यकता रहती है।

(घ) पेलूड्रीन की विशेषता यह है कि इसकी रक्त में उपस्थिति मीरोजाइट्स और स्पोरोजाइटस को (रक्त कणों में प्रवेश करने से पूर्व) मार डालती है।

(ङ) गेमिटोसाइड्स (लिङ्गरूपी) जीवाणु को यह नहीं मार सकती परन्तु इसके प्रयोग से वह वृद्धि नहीं पाते यहाँ तक कि मच्छरों के रक्त चूसने पर उनके शरीर में जाकर भी वृद्धि नहीं पा सकते।

(च) पेलूड्रीन की, ०·१ ग्राम की १-१ गोली को दिन में चार बार या दो गोली दो बार, ०·३ ग्राम की १ गोली १ बार दिन में तीन दिन तक देने से बहुत लाभ होता है।

(छ) यह विशेष विषैली नहीं इससे कुनीनवत् कान में शाँ-शाँ नहीं होती, सिर में चक्कर नहीं आते और न मैपाक्रीनवत् शरीर पर पीलापन आता है। अलबतः इसमें वमन और उत्क्लेश होता है, इसके साथ अधिक पानी लेने से एवं खाली पेट न खाने से यह लक्षण भी नहीं होते।

इसको गर्भवती स्त्री तथा बालकों में बिना भय के प्रयोग कर सकते हैं

(२) मैपाक्रीन (Mepacrine hydrochloride)–यह एक प्रकार की रङ्गवाली औषधि है। हर प्रकार के मलेरिया के लिए, विशेषकर तृतीयक विपर्यय के लिए आरम्भ में अत्यन्त उपयोगी है। लिङ्गरूपी जीवाणुओं में इसका कोई प्रभाव नहीं होता। एक गोली भोजन (कुछ खाने) के बाद दिन में तीन बार लगातार पांच दिन तक देना चाहिए। तीव्रावस्था में दो गोली तीन बार दिन में दो दिन तक, पश्चात् १ गोली तीन बार दिन में २-३ दिन तक, इसके बाद १-१ गोली २-३ दिन तक, इस प्रकार कुल सात दिन तक दवाई करें। इस औषधि के साथ पानी या अन्य तरल पेय पदार्थ अधिक मात्रा में पीने को दें। इसका प्रयोग भी बालकों और गर्भवती स्त्रियों में बिना भय के कर सकते हैं।

वक्तव्यः—इसके प्रयोग से शरीर का रंग पीला पड़ जाता है, इससे यह न समझना चाहिए कि पीलापन यकृत के विकार से या अन्य किसी कारण से कामला हो रही है। कभी-कभी इसके प्रयोग से विशेषकर (Plasmoquine) प्लाज्मोक्वीन के साथ इसे देने से उदर-शूल, वमन,

अतिसार या वास्तविक कामला हो भी जाती है किन्तु वह इतनी भयानक नहीं होती।

यदि इसके ४ दिन के प्रयोग से शरीर पर पीला रङ्ग न आये तो समझ लें कि औषधि का निकास नहीं हो रहा है, तथा वह शरीर में जमा हो रही है, इसलिए औषधि को बन्द कर देना चाहिए। अति क्षीण मनुष्यों में इसके प्रयोग से किञ्चित उन्माद के लक्षण देखे गये हैं, किन्तु दवाई बन्द करने से अपने आप बन्द हो जाते हैं इसके इंजेक्शन भी आते हैं, उनको क्वीनीनवत् प्रयोग कर सकते हैं।

(३) क्लोरोक्वीन (Chloroquine) पर्याय रिसोचीन (Risochin) कामाक्वीन (Camaquine)—ये तीनों औषधियें एक दूसरे का स्थानापन्न हैं। ज्वर अवस्था में देने से न मिटनेवाला ज्वर चला जाता है। क्लोरोक्वीन और रिसोचीन की ०·३ ग्राम की दो टिकिया एक साथ दें, ६ घण्टे बाद दूसरी एक टिकिया दें, तत्पश्चात प्रतिदिन १-१ टिकिया तीन दिन तक दें।

कामाक्वीन की ०·२ ग्राम की ३ टिकिया एक दम दें, इसके २४ घण्टे बाद १ प्रातः १ सायं ३ दिन तक दें।

(४) कुनीन (Quinine)—अत्यन्त लाभदायक है। विषम-ज्वर के जीवाणु कुनीन से मर जाते हैं, इसकी ५-१० ग्रेन की ३ मात्रा प्रतिदिन देनी चाहिए। इसमें सोडा बाईकार्ब १०-१५ ग्रेन प्रतिमात्रा मिलाकर चूर्ण रूप में, अथवा गुटिका रूप में जल, दूध, चाय या शिकंजबीन आदि से दे सकते हैं। मिक्सचर (कुनीन का विलयन) के रूप में भी दे सकते हैं। कुनीन के विभिन्न योग मिलते हैं—

(१) कुनीन सल्फेट (Quinine Sulphate) यह सम भाग डाइल्यूट सलफ्यूरिक एसिड (Dilute Sulphuric Acid) मृदुगन्धकाम्ल में घुल सकती है। प्रायः मिक्सचर के रूप में ही इसे बरतते हैं। मात्रा २०-३० ग्रेन दिन में।

Quinine Sulphate gr.3o.
Acid Sulphuric dilute m. xxx
Aqua add 1. oz.
Make this into mixture

Sig:—one third part every 4 hourly three times a day.

(२) कुनीन बाईसल्फेट (Quinine Bisulphate)—यह प्रायः गुटिका रूप में प्रयुक्त होती है मात्रा ५ ग्रेन की ३–४ या ६ गोली, २-२ गोली २–३ बार दिन में।

(३) कुनीन हाईड्रोक्लोराइड (Quinine Hydrochloride)—इसे सम भाग डाइल्यूट हाइड्रोक्लोरिक एसिड (Hydrochloric Acid) मृदु लवणाम्ल में घोलना चाहिए। कभी-कभी इसे मिक्सचर रूप में भी बरतते हैं, मात्रा २०–३० ग्रेन प्रतिदिन। यह प्रायः सूचिवेध चिकित्सा में काम आती है तब इसकी मात्रा १० ग्रेन एक बार दिन में दी जाती है।

(४) कुनीन बाईहाइड्रोक्लोर (Quinine Bihydrochlor)—गुटिका रूप में प्रयुक्त होती है मात्रा ५ ग्रेन की १ या २ टिकिया ३ बार दिन में।

(५) कुनीन हाइड्रोब्रोमाइड (Quinine hydrobromide)—इसे बहुत कम बरता जाता है। इससे औरों की अपेक्षा खुश्की कम होती है, यह मृदु स्वभाव वाले के लिए प्रयुक्त होती है। मात्रा ५ ग्रेन की १ या २ टिकिया ३ बार दिन में।

(६) यूकुनीन (Euquinine), ईथलचीन (Ethylchin), अरिस्टोचीन (Aristochin), बच्चों के लिए प्रयुक्त होती हैं। यह कड़वी नहीं होतीं, अम्लों में लीन हो जाती हैं। लीन होने से इसका विलयन कड़वा हो जाता है। अतः चूर्ण रूप में ही प्रयुक्त होती हैं और सोडा बाईकार्ब या मिल्क शूगर मिलाकर देनी चाहिये। मात्रा १ वर्ष के बालक के लिए २ ग्रेन ३ बार दिन में।

दुर्भाग्यवश कुनीन बहुत खुश्की और गर्मी पैदा करती है अर्थात कानों में घूँ-घूँ, शिर में चक्कर और मन को अवसादित कर देती है। जब तक घूँ-घूँ आदि लक्षण उत्पन्न हों तब तक कुनीन से अधिक लाभ नहीं होता। अनेकों को यह सात्म्य ही नहीं बैठती तब इसके स्थान पर अन्य औषधियाँ देनी पड़ती हैं।

यह सब प्रकार के विषम-ज्वर में सामान्य रूप में लाभदायक है। गेमिटोसाइड्स (लिंगरूपी मलेरिया जीवाणुओं) पर कुनीन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जब तीव्र विषम-ज्वर में या जिस विषम-ज्वर में कोई औषधि काम न करे तो कामाक्वीन, क्लोरोक्वीन, एवं कुनीन का इंजेक्शन अवश्य काम करता है। तृतीयक विपर्यय के घातक उपद्रव में इसका ही आसरा लेना पड़ता है। इंजेक्शनार्थ कुनीन बाई हाइड्रोक्लोर की ५–६ ग्रेन, १ सी. सी. अथवा १० ग्रेन २ सी. सी. पानी या सेक्रोज़ (Saccharose) विलयन में मिलती है। इसका इंजेक्शन मांस अन्त-र्गत करना चाहिए सबसे उत्तम स्थान कूल्हा (चूतड़) है इसके दो ही इंजेक्शन देने चाहिये। पहले दिन १ और दूसरे दिन दूसरा, तीसरा इंजेक्शन नहीं देना चाहिये न ही जरूरत पड़ती है। उत्तम यह है कि इंजेक्शन करते समय उस इंजेक्शन में ५–१० सी. सी. सलाइन या ग्लूकोज़ मिला दें।

कुनीन के इंजेक्शन देने में विशेष सावधानी बरतनी चाहिए विशेष कर शुद्धता की। जरा-सी असावधानी पर इंजेक्शन के स्थान पर शोथ होकर पीप पड़ जाती है। इसके इंजेक्शन से स्थानिक सेलों को हानि पहुँचती हैं, अतः एक ही स्थान पर जल्दी जल्दी दूसरा इंजेक्शन नहीं देना चाहिये नहीं तो वहां पर शोथ हो जाता है।

तीव्र विषम ज्वर में दो इंजेक्शन देने के बाद कुनीन से पेलूड्रीन इत्यादि कोई भी औषधि तीन दिन तक दें। यदि इतने पर भी

ताप न उतरे तो समझ लीजिए कि विषम-ज्वर है ही नहीं। कुनीन के प्रयोग में यह जरूरी है कि उदर साफ रहना चाहिए।

इसका प्रयोग गर्भवती स्त्रियों और शिशुओं के लिए भय से खाली नहीं गर्भावस्था में देने से गर्भपात का भय रहता है।

(४) पामाक्वीन या प्लाज्माक्वीन (Pamaquin or Plasmoquine) यह भी क्वीनीन वत् सिनकोना से तैयार होती है किन्तु कुनीन से भिन्न है। इसका प्रभाव विशेष कर गेमिटोसाइड्स (लिङ्गरूपी विषम ज्वर जीवाणु) पर होता है. जिन पर अन्य कोई औषधि काम नहीं करती इसका प्रभाव चातुर्थिक और तृतीयक पर उपर्युक्त सब औषधियों की अपेक्षा कम होता है। तृतीयक विपर्यय पर तो कोई प्रभाव होता ही नहीं।

मात्रा—$\frac{1}{6}$ ग्रेन की गोली तीन बार दिन में कुछ खाने के बाद, चार-पांच दिन के प्रयोग से गेमिटोसाइट्स नाश हो जाते हैं, तब इसे बन्द कर देना चाहिए और अन्य उपरोक्त विषम-ज्वर नाशक औषधियों में से किसी एक का प्रयोग विधिपूर्वक करे।

इसका सगर्भ गर्भाशय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। स्वाद रहित होने के कारण बड़े-छोटे सब बिना हिचकिचाहट के ले लेते हैं।

विष प्रभाव—यह अन्य सब विषम ज्वर नाशक औषधियों की अपेक्षा अधिक विषैली है, विषलक्षण निम्नोक्त हैं:—

ओष्ठ, हाथ-पांव की अंगुलियों का नीलवर्ण हो जाना, उदर शूल, वमन, हृदय की अनियमित गति, कामला, वृकविकार और सबसे भयानक रक्तकणों के नाश के कारण रक्त मेह है। इसके अतिरिक्त दृष्टि पटल पर इसके विष प्रभाव के कारण दृष्टि नाश भी हो जाती है।

अन्य विषम ज्वर नाशक औषधियों के साथ-साथ प्रयोग करने से इसका विष प्रभाव और भी बढ़ जाता है, विशेषकर कुनीन के साथ। पेट भरा होने पर दवाई देने से विष प्रभाव कम होता है।

(५) आयुर्वेदिक औषयियाँ—आयुर्वेद में विषम ज्वर के जीवाणुओं

का नाश करने के लिये विशेष कोई एक औषधि नहीं है। निम्नोक्त औषधियां प्रायः प्रयोग की जाती हैं:—

(१) सुदर्शन चूर्ण (शा० सं०)

(२) सप्तपर्णघन वटी, ज्वरांकुश, ज्वर संहार अथवा त्रिभुवन कीर्ति, पटोलादिकषाय के अनुपान के साथ।

(३) सप्तपर्णी, त्रायमाणा, कुटकी, चिरायता, करंज, पर्पट, मुस्तक, गिलोय, पनीर डोडा (पेशावरी) सब सम भाग लें। इन सब औषधियों का घनसार बनाकर इनमें प्रति गोली मल्ल $\frac{1}{800}$ रत्ती, कुनीन आधी रत्ती, लोह भस्म आधी रत्ती मिलाकर गोली बनायें, एक गोली चार से पांच रत्ती की होनी चाहिए। दो गोली तीन-चार बार दिन में देने से तीन-चार दिन में ज्वर चला जाता है। इसका प्रयोग जीर्ण विषम ज्वर पर विशेष लाभकारी है। यदि ज्वर बार-बार आता रहे तो ज्वर उतरने के सात दिन बाद तक औषधि जारी रखें एक सप्ताह बन्द करें पश्चात् पुनः तीन दिन तक दें, इसी प्रकार यह क्रम ६ सप्ताह तक जारी रखें।

मल्ल स्फटिका निर्माण विधि—सोमल १० तोले को नीम्बू के रस में १ दिन घोटे, फिर लाल फटकरी १० तोले मिला खरलकर मिट्टी की छोटी हांडी में भर ऊपर दूसरी हांडी उलटी रखकर डमरुयन्त्र बनालेवें, सन्धि को अच्छी रीति से बन्द करें।

फिर चूल्हे पर चढ़ाकर ६ घण्टे तक मन्दाग्नि दें, बार-बार हांडी पर गीला कपड़ा बदलते रहें स्वांग शीतल होने पर सावधानी से खोल कर ऊपर की हांडी में से पुष्प निकाल लेवें। नीचे तल में बचे हुए भाग को फेंक दें।

अनुपान विधि इस पुष्प के १ चावल भर साथ में २–६ रत्ती स्फटिक भस्म मिलाकर गर्म जल के साथ देवें।

विषम ज्वर में रक्तमेह (Haemoglobin urea)

पर्याय कृष्ण मेहिक ज्वर यह भी तृतीयक विपर्यय के घातक

उपद्रवों में से एक है। तृतीयक विपर्यय की चिकित्सा जब सम्यक्तया न की जाय यथा कुछ कुनीन थोड़ी मात्रा में लेकर, ताप निकल जाने के बाद बन्द करदें, फिर ताप आने पर पुनः कुनीन लेना शुरू करदें, इसी प्रकार जीर्ण विषम ज्वर में अनियमित रूप से कुनीन का सेवन करने से विशेषकर जब ऐसी अवस्था में प्लैज्मो क्वीन (Plasmoquine) दे दी जाय तो रक्तकण नष्ट होने लगते हैं अतः अकस्मात् मूत्र में यही विश्लिष्ट रक्त आने लगता है, मूत्र का रङ्ग काला या भूरा नसवारी हो जाता है। यह उपद्रव विशेषकर उन प्रदेशों में होता है, जहाँ विषम ज्वर बड़े जोरों से होता हो और उन व्यक्तियों को होता है जो उस प्रदेश का निवासी न हो बाहर से आया हो। रोगारम्भ के पहले दिन तो विषम ज्वर के जीवाणु पाये जाते हैं, उसके बाद नहीं। यह स्मरण रहे कि मैपाक्रीन और पैलूड्रीन के प्रयोग के बाद यह उपद्रव देखने में नहीं आया।

इसका कारण रक्त कणों का अत्यधिक मात्रा में नाश होना है। यह रक्त नाश अकस्मात् क्यों आरम्भ हो जाता है इसका सन्तोषजनक उत्तर अभी तक नहीं मिल सका सम्भवतः औषधि का दुरुपयोग और विषम-ज्वर के जीवाणु दोनों ही इस उपद्रव के जिम्मेदार हैं।

लक्षण—रोगी को इस प्रकार अनुभव होने लगता है कि जैसे उसे विषम आने लगा हो वह उसको रोकने के लिये कुनीन लेता है, परन्तु ताप अपनी पूर्णशक्ति से शीत, शिरशूल, वमन, अतितृषा, हिक्का आदि लक्षणों सहित आ उपस्थित होता है। मूत्र कष्ट से आता है और इसका रङ्ग रक्त मिश्रण के कारण भूरा-काला होता है। रक्त कणों के नाश के कारण विलोहिता और कामला हो जाती है इस रोग की कई अवस्थायें हैं:—

(१) साधारण—जिसमें रक्त मेह के एक वेग के बाद सदा के लिये रोग मुक्ति हो जाती है।

(२) तीव्र—जिसमें रक्तनाश बढ़ता जाता है और मूत्र का वर्ण अधिकाधिक काला होता जाता है। कभी-कभी बीच-बीच में मूत्र साफ भी हो जाता है, अन्ततः तीव्र वेग रोगी को ले मरता है।

(३) मूत्राभाव—रक्त मेह के बाद मूत्र आना बन्द हो जाता है और रोगी कूच कर जाता है।

प्रायः ३०-४० प्रतिशत रोगी मर जाते हैं।

चिकित्सा—इसकी वास्तविक चिकित्सा प्रतिबन्धक चिकित्सा ही है अर्थात् यत्न यह हो कि उपद्रव होने ही न पाये। यह ज्ञात हो जाने पर कि यह विषम ज्वर है, विशेषकर तृतीयक विपर्यय है तो उसकी पूरी-पूरी चिकित्सा करनी चाहिये। कुनीन द्वारा अधूरी चिकित्सा ही इसका मूल कारण है। पेलूड्रीन और मैपाक्रीन के आविष्कार से यह विचार होता है कि यह उपद्रव अब कम देखने को मिलेगा। यदि एक बार यह उपद्रव हो जाए तो ऐसी किसी औषधि या उपाय का अभी तक ज्ञान नहीं जो रक्त कणों के नाश को रोक सके। एक बार यह रोग उत्पन्न हो जाय तो अपने आप बन्द हो तो हो, चिकित्सक कुछ नहीं कर सकता। चिकित्सक का कर्तव्य है कि वह ग्लूकोज सलाइन पर्याप्त मात्रा में तथा अन्य पुरुष के रक्त के प्रवेश से रोगी की शक्ति बनाये रखे और अन्य लक्षणों विधि-पूर्वक चिकित्सा करे।

काला आजार

पर्याय—काला आजार (Kala Azaar) कृष्णज्वर।

परिचय—यह एक चिरस्थायी संक्रामक रोग है, जिसमें अनियमित मन्द ज्वर आता रहता है प्लीहा वृद्धि, यकृतवृद्धि, रक्तन्यनता और क्षीणता इसके विशेष लक्षण हैं।

कारण—यह रोग उष्ण देशों में विशेषतः बंगाल, बिहार, आसाम और लङ्का आदि प्रदेशों में अधिक होता है। यूरोप निवासियों को

यह रोग बहुत कम होता है। इसके वास्तविक रोग उत्पादक जीवाणु को (Leishmania Danovani) लीशमेनिया डानोवानी कहते हैं। लोकल सोर (ओरियण्डल सोर) भी इसी जाति के जीवाणु से होता है। जिसको लोकल सोर हो, उसे काला आजार नहीं होता और जिसे काला आजार हो उसे लोकल सोर नहीं होता अतः पंजाब, दिल्ली आदि प्रान्तों में जहाँ लोकल सोर अधिक होता है, काला आजार नहीं होता, और बंगाल, बिहार, आसाम आदि प्रान्तों में जहाँ काला आजार होता है लोकल सोर नहीं होता। यह जीवाणु बालुमक्षिका द्वारा एक से दूसरे व्यक्ति तक जाता है।

विषम-ज्वर के जीवाणु की तरह काला आजार का जीवाणु भी बालुमक्षिका के शरीर में एक अलग जीवन चक्र बनता है।

सम्प्राप्ति—इसका जीवाणु (लीशमेनिया डानोवन) बीच में फटकर एक से दो हो जाता है, इस प्रकार वृद्धि पाता है। ये अस्थि, मज्जा, फुफ्फुस, अन्त्र दीवार, आदि शरीर के अङ्गों की रक्त वाहिनियों और लसिका वाहिनियों में पाये जाते हैं प्लीहा और यकृत में अधिक होते हैं, जिससे वे क्षुब्ध होकर बढ़ जाते हैं और सौत्रिक तन्तुमय हो जाते हैं। हृदय विस्तृत हो जाता है। अन्त्र की दिवार में प्रवाहिकावत् व्रण बन जाते हैं

परिपाक काल—१ माह से ४ माह, सीसा $१\frac{१}{२}$ साल।

लक्षण—अनियमित ज्वर होता है। ज्वर का आरम्भ कभी विषम ज्वरवत् अकस्मात्, कभी टाइफाइडवत् शनैः शनैः और कभी कभी अनियमित रूप से होता है। ज्वर सदा अनियमित अविसर्गी रूप से आता है। विषम-ज्वर के विशेष लक्षणों का स्पष्ट अभाव होता है। ज्वर पहले तीन चार सप्ताह तक आता है। कुछ काल बाद कालाआजार ज्वर दिन में दो बार होने लगता है, यही इसका विशेष चिह्न है। कुछ काल बन्द होकर पुनः आने लगता है। इस प्रकार एक दो बार ज्वर के वेग आकर

स्थायी रूप से मन्द-मन्द आने लगता है। स्वेद अधिक आता है और शाखाओं में पीड़ा होती है। रक्त-न्यूनता और क्षीणता दिनों-दिन बढ़ती जाती है, त्वचा का रङ्ग काला पड़ जाता है। इस बीच में प्लीहा-वृद्धि और यकृत-वृद्धि हो जाती है। बहुत शीघ्र प्लीहा बढ़कर नाभी या नाभी से भी आगे तक बढ़ती तथा कठोर हो जाती है।

आरम्भ की ज्वर-अवस्था में प्रायः रोगनिदान नहीं होने पाता अर्थात् जब तक कि रोगी को ज्वर के पुनराक्रमण नहीं होते और इसके विशेष लक्षण उत्पन्न नहीं होते। यह विशेष लक्षण निम्नोक्त हैं :

(१) ८ प्रतिशत रोगियों में ज्वर अनियमित और अविसर्गी आता है।

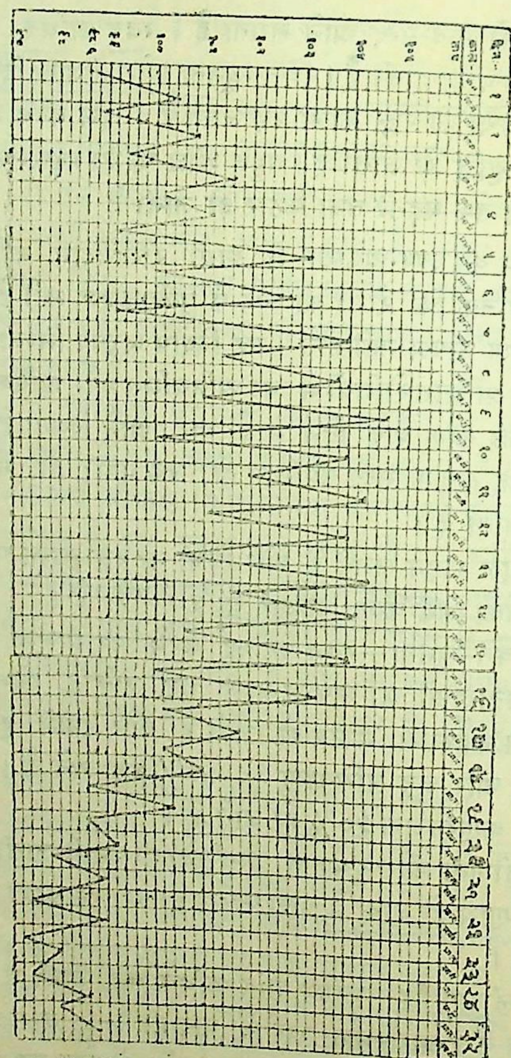
(२) कुछ काल बाद दिन में दो बार आने लगता है, यह जरूरी नहीं, कि यह लक्षण सदा उपस्थित हो, जब कभी हो, तो रोग-निदान सुगम हो जाता है।

(३) बाल झड़ने लगते हैं और त्वचा का रङ्ग काला पड़ जाता है। इसी से इसका नाम काला आजार या कृष्ण ज्वर है।

(४) रक्त-न्यूनता—रक्त-परीक्षा करने पर मालूम पड़ता है कि श्वेताणु रक्ताणुओं की अपेक्षा बहुत घट जाते हैं, श्वेताणु २ से ४ हजार प्रति सहस्रांस मीटर हो जाते हैं और इसमें बृहत्लसिकाणु १०-१२% और क्षुद्र लसिकाणु ३०-४०% बढ़ जाते हैं। रक्ताणु २० लाख और कणरञ्जक ५०% हो जाते हैं।

(५) क्षीणता और दुर्बलता जल्दी-जल्दी बढ़ती जाती है। शरीर का रंग कृष्णाभ हो जाता है, इसी कारण इसका नाम कृष्ण ज्वर (काला-आजार) है।

(६) प्लीहा-वृद्धि—प्लीहा अति अधिक बढ़ जाती है और कठोर प्रतीत होती है। आरम्भिक ज्वर के बाद ही १-२ मास प्लीहा बढ़ी नजर आती है। बहुधा सर्वप्रथम प्लीहा-वृद्धि ही रोग का संदेह उत्पन्न करती है।



काला आजार
चित्र २०

(७) यकृत वृद्धि ।

(८) अतिसार– इस रोग में भूख तो ठीक लगती है । परन्तु अन्न-

जीर्ण नहीं होता परिणामतः अतिसार हो जाता है। कभी-कभी मल में रक्त और आंव भी आने लगती है।

(६) अत्यधिक स्वेद, शाखाओं में पीड़ा, कास, हृदय-धड़कन और रक्तभार कम हो जाता है।

उपद्रव—इस रोग के चिरस्थायी होने के कारण तथा क्षीणता और दुर्बलता के अधिक होने से इस रोग में राजयक्ष्मा फुफ्फुसप्रदाह, अतिसार, प्रवाहिका आदि रोग हो जाते हैं और रोगी को ले मरते हैं। रक्तपित्त (नाक, मुख, गुदा द्वारा रक्त-स्राव) रक्तन्यूनता तथा कामला अनेक बार देखे जाते हैं। कामला तीन मास के अन्दर आरम्भ होकर चिरकाल तक बनी रहती है।

रोगमीमांसा —जहां ज्वर पुनरावर्तक वत् हो और प्लीहा और यकृत बढ़े हुए हों तथा उपरोक्त लक्षणों में से अनेक उपस्थित हों वहां रक्त-परीक्षा करा लेनी चाहिए। रोगी का १ सी० सी० रक्त सीरम लें उसमें से एक या दो बूंद साधारण कामलीन मिलाएँ, चंद मिण्टों में सीरम सफेद होकर जम जायेगा। यह इसकी पक्की पहचान है।

रोगपरिणाम —कालाआजार एक बड़ा भयानक रोग है यदि चिकित्सा समय पर आरम्भ न की जाए या ठीक न की जाय तो रोगी अवश्य मर जाता है। सौभाग्यवश इसकी सफल चिकित्सा ज्ञात है।

चिकित्सा —इसके लिए निम्नोक्त औषधियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं, सबका प्रयोग इंजेक्शन द्वारा होता है :

(१) स्टिबेटीन कन्सेन्ट्रेटेड (Stibatin Concentrated) शरीर के भार अनुसार ४ या ५ सी० सी० प्रति दिन एक बार १०–१२ दिन तक दें। यह इस रोग के लिए रामबाण का काम करती है। इसको मांसान्तर्गत या शिरागत इंजेक्शन द्वारा दे सकते हैं।

(२) नियोस्टिबोसान (Neostebosan), इसके ५% विलयन के ०.१, ०.२ और ०.३ के एम्प्यूल्ज मिलते हैं। इनका शिरान्तर्गत इंजेक्शन

दिया जाता है। पहले दिन ०.१ ग्राम दूसरे दिन ०.२ ग्राम तीसरे दिन और उसके बाद ०.३ ग्राम कुल १० इंजेक्शन देते हैं। यह अपेक्षया अधिक विषैली है।

(३) यूरिया स्टिबेमीन (Urea Stibamin)—यह भी शिरागत इंजेक्शन द्वारा प्रयुक्त होती है पहले दिन ०.०५ ग्राम, दूसरी मात्रा ०.१ ग्राम, तीसरी और इसके बाद मात्रा ०.१५ ग्राम, कुल १२ इंजेक्शन एक-एक दिन बीच में छोड़ कर देने चाहिए। यह भी विषैली है।

(४) सोडाई स्टिबो ग्लूकोनेट (Sodii Stibo gluconate) मांशान्तर्गत इंजेक्शन द्वारा ४ सी० सी० का एम्प्यूल (०.४ ग्राम) प्रति दिन एक १० दिन तक। यह नं० (२) और (३) की अपेक्षा कम विषैली है।

नं० १ सब की अपेक्षा उत्तम है।

यह सब औषधियां एन्टीमोनी (Antimony) की बनी है ये किसी किसी को सात्म्य नहीं बैठतीं। उनमें वमन, कास, शिर-पीड़ा, चक्कर, शीत, पीत, अतिसार आदि लग जाते हैं।

उनमें स्टिलमेबीडीन (Stelmabidine) प्रयुक्त करते हैं इसमें एन्टीमोनी नहीं। यह केवल उन रोगियों में बरतें, जिनमें पहली औषधियें सात्म्य नहीं इसका पूरा व्योरा चिकित्सा-विज्ञान पृष्ट १०६ प्रथम भाग में पढ़े। यह बहुत विषैली है। सावधानी से काम लेना पड़ता है।

आयुर्वेद में कोई ऐसी औषधि नहीं जो इस रोग के लिए सिद्धयोग या रामबाण हो।

बालु मक्षिका ज्वर

पर्याय—बालुमक्षिका ज्वर, तीन दिन का ज्वर, सेन्डफ्लाईफीवर।

परिचय—यह एक संक्रामक रोग है जो बालु मक्षिका के काटने से होता है। इस में ज्वर तीन दिन तक रहता है।

कारण—इसका कारण एक विशेष प्रकार का कीटाणु है, जो एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक बालुमक्षिका द्वारा पहुँचता है। बालुमक्षिका

चित्र २१

बालु मक्षिका ज्वर

दिन:- १ २ ३ ४ ५ ६

काल:- प्रात सायं प्रात सायं प्रात सायं प्रात सायं प्रात सायं प्रात सायं

ताप १०५ १०४ १०३ १०२ १०१ १०० ९९ ९८.६ ९८ ९७

आर्द्र तथा अंधेरे मकानों के कोनों में रहती है। मादा ही रोगी को काटती है। रात्रि के समय जब यह रोगी को काटती है तो उसके रक्त के साथ कीटाणु को भी चूस लेती है, सम्भवतः कीटाणु बालुमक्षिका के अन्दर विषम-ज्वर के जीवाणु की तरह अपना जीवन-चक्र पूरा करता है, मक्षिका रोगी को काटने के सात दिन बाद ज्वर को फैला

सकती है और तदनन्तर आजीवन रोग-प्रसार का कारण बनी रहती है। इस कीटाणु के अति सूक्ष्म होने के कारण अभी तक इसे देखा नहीं जा सका, अतः मनुष्य शरीर में तथा मक्षिका शरीर में इसके परिवर्तनों को समझना असम्भव है। सौभाग्य से यह रोग मृदु होता है और न ही इससे कोई उपद्रव होता है इसलिए इसकी सम्प्राप्ति के सम्बन्ध में अधिक ज्ञान प्राप्त करने का यत्न नहीं किया गया और न ही अभी तक ऐसे अवसर प्राप्त हुए हैं।

परिपाक काल—३ से ७ दिन।

लक्षण—ज्वर चढ़ने से पूर्व रोगी को अंगमर्द, क्लम, बेचैनी और उत्क्लेश प्रतीत होते हैं। तत्पश्चात् अकस्मात् शीत लग कर १०३, १०४ १०५ फा० तक ज्वर चढ़ जाता है। शिरःपीड़ा, कटि-शूल आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। रोगी का चेहरा सूजा और लाल होता है, जिह्वा मैली होती है। प्रायः कोष्ठ-बद्धता रहती है। कभी कभी अतिसार भी होता है। ज्वर दूसरे दिन कुछ कम हो जाता है और तीसरे दिन बहुत कम हो जाता है तथा चौथे दिन बिलकुल उतर जाता है कभी-कभी उतरते समय पसीना भी आता है।

चिकित्सा—जहां तक हो सके बालु मक्षिका को दूर करने के उपाय करने चाहिये। इसमें किसी विशेष चिकित्सा की आवश्यकता नहीं पड़ती, तीन दिन के पश्चात् ज्वर स्वयं ही उतर जाता है। रोगी के पीड़ा आदि कष्ट-निवारणार्थ 'ऐसपरीन' आदि दिये जाते हैं।

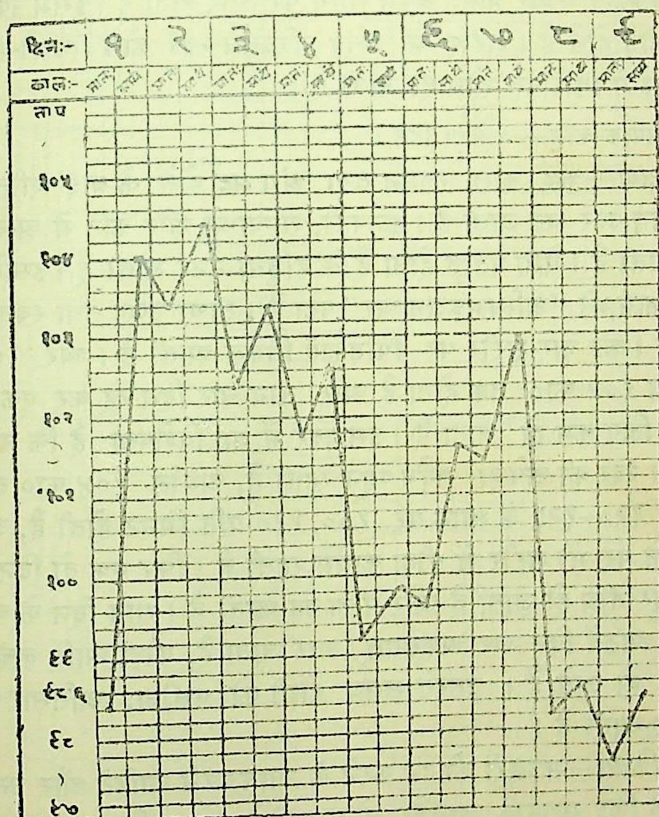
दण्डक ज्वर

पर्याय—सप्ताह ज्वर, अस्थि भञ्जन ज्वर, डेंग्यू फीवर (Dengue Fever) और दण्डकज्वर।

परिचय—यह एक संक्रामक रोग है जो क्यूलिक्स मच्छरों द्वारा फैलता है। इसमें अकस्मात् ज्वर चढ़ कर चौथे, पांचवे दिन कुछ न्यून होकर पुनः १-२ दिन के लिये तीव्र हो जाता है, अर्थात् सात दिन रह कर जाता

चित्र २२

दण्डक-ज्वर



है। शरीर में, विशेषतया हड्डियों में अत्यधिक पीड़ा रहती है।

कारण—इसका कारण एक विशेष प्रकार का कीटाणु है जो साधारण क्यूलिक्स मच्छर द्वारा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक प्रसरण करता है। मच्छर के अन्दर कीटाणु वृद्धि को प्राप्त होता है, अतः

मच्छर रोगी को काटने के चार दिन बाद से आजीवन रोग फैलाने का साधन बना रहता है।

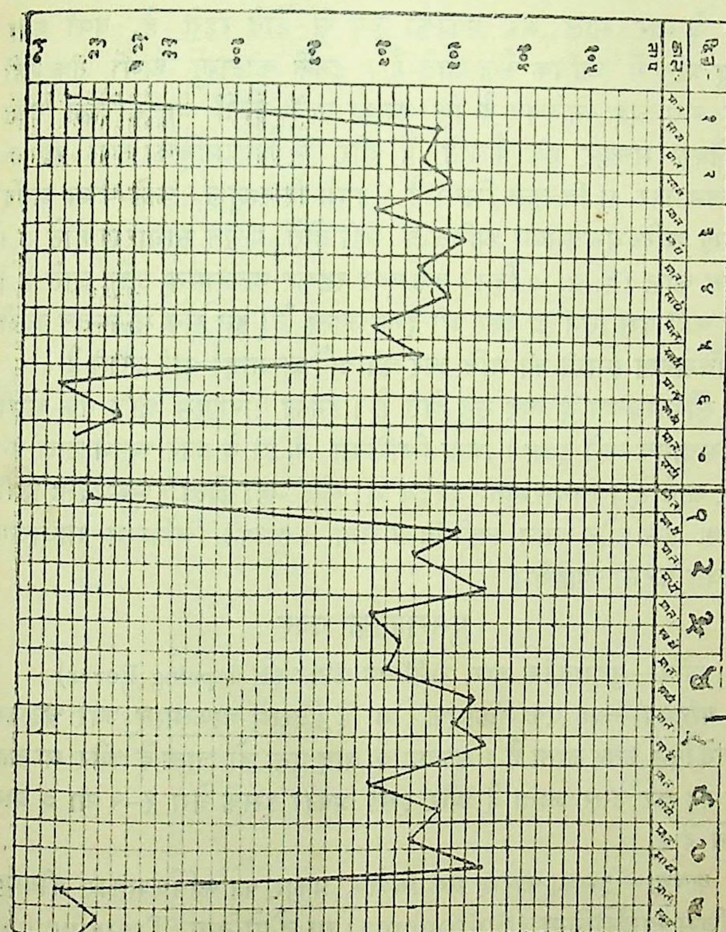
सम्प्राप्ति—ज्वर प्रायः अपने समय पर उतर जाता है। इसमें उपद्रव बहुत थोड़े होते हैं। शरीर में विशेष परिवर्तन नहीं होते। कभी-कभी फुफ्फुसों में किञ्चित शोथ हो जाती है।

परिपाक काल—३ से ५ दिन।

लक्षण—कुछ काल ग्लानि तथा अंग मर्द होने के बाद शीत से अकस्मात् ज्वर चढ़ जाता है। कनपटी, शाखाओं और कटि में अत्यन्त पीड़ा होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि हड्डियां टूटी जाती हैं। इसलिये इसका नाम भी "अस्थिभञ्जन ज्वर" पड़ा है। त्वचा उष्ण तथा रक्ताभ होती है। कई बार शरीर पर पिड़िकाएँ निकल आती हैं। ज्वर १०३, १०४ या १०५ फा० तक होता है और तीन-चार दिन रह कर एक दो दिन के लिए कम हो जाता है। इस ज्वर में यह विशेषता है कि नाड़ी की गति ज्वर की अपेक्षा सदैव न्यून रहती है, अर्थात् १०४ फा० ताप में नाड़ी १२०-१२५ के स्थान पर १००, ११० प्रति मिनट होती है, ज्वर कम होने पर भी शरीर में पीड़ा कायम रहती है। फिर एक दो दिन के लिए ज्वर तीव्र हो जाता है और पीड़ा बढ़ जाती है। सात दिन के बाद अर्थात् आठवें दिन ज्वर अकस्मात् उतर जाता है, पीड़ा आदि लक्षण भी दूर हो जाते हैं। उतरते समय रोगी को पसीना, अतिसार या नकसीर आती है।

चिकित्सा—मच्छरों को दूर करने के उपाय करने चाहिये और उनसे बचने के लिए मशहरी लगाकर सोना चाहिये। रोग नियत समय पर स्वयं बिना किसी चिकित्सा के भी उतर जाता है। पीड़ा आदि के लिए सोडियम सैलिसिलास (Sodium Salicylas) १०-२० ग्रेन तीन बार दिन में विशेष लाभकारी है। शेष चिकित्सा साधारण ज्वरवत् करनी चाहिये।

चित्र २३



तीन दिन, पांच दिन, तथा सात दिन का ज्वर

इससे पूर्व बालुमक्षिका तथा अस्थिभञ्जन ज्वरों का वर्णन कर आये हैं। वे भी एक प्रकार से ३ दिन, ५ दिन तथा ७ दिन के ज्वर हैं, परन्तु

इसके अतिरिक्त इसी श्रेणी के अन्य ज्वर भी भारतवर्ष में पाये जाते हैं। ये ज्वर साल भर एकाकी रूप से होते रहते हैं, वर्षा और शरद ऋतु में अधिक फैल जाते हैं। इनके कीटाणु अभी तक नहीं देखे गये यह निश्चित है कि इनको यही दोनों बालुमक्षिका तथा क्यूलेक्स मच्छर ही फैलाते हैं और ये बालुमक्षिका तथा अस्थि-भञ्जन ज्वर से बिल्कुल भिन्न हैं। इनमें शिरःशूल, कटि पीड़ा आदि लक्षण अस्थिभञ्जनवत् अतितीव्र नहीं होते, प्रत्युत साधारण होते हैं। नियत काल (३, ५, ७ दिन) तक ज्वर रहकर अकस्मात् उतर जाते हैं। कहीं कहीं दस दिन का ज्वर भी देखा जाता है। इन सब में सन्तत ज्वरों की विशेषता (नाड़ी की गति ज्वर की अपेक्षा मन्द) पाई जाती है।

सौभाग्यवश ये ज्वर मृदु होते हैं। इनका परिणाम आज तक कभी भी भयानक नहीं हुआ। बिना चिकित्सा के ही ये ज्वर अपने काल पर उतर जाते हैं। साधारणतः उपद्रव भी कोई नहीं होता। सम्भवतः इसी कारण इस ओर ध्यान नहीं दिया गया। इसकी चिकित्सा साधारण ज्वरवत् करनी चाहिये।

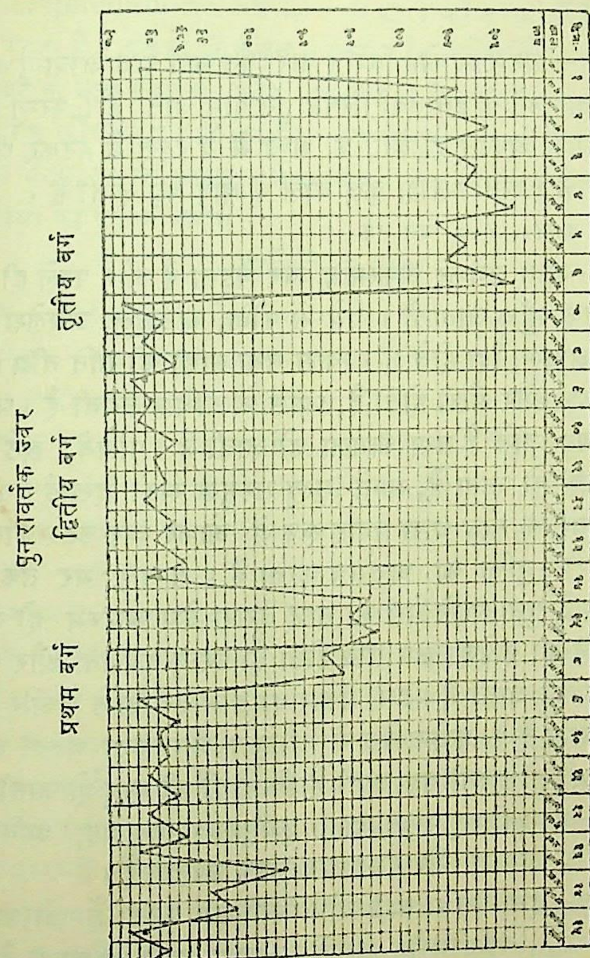
पुनरावर्तक ज्वर

पर्याय—पुनरावर्तक ज्वर, रीलैप्सिंग फीवर (Relapsing Fever)

परिचय—यह एक संक्रामक रोग है जिसमें अकस्मात् ज्वर चढ़कर सातवें दिन उतर जाता है। सप्ताह के बाद पुनः हो जाता है और सप्ताह भर रह कर उतर जाता है और इसी प्रकार इसके वेग १–२ या ३ बार आते हैं।

कारण—इसका कारण एक विशेष प्रकार का कर्षिण्याकार जीवाणु है जिसे स्पाईरोनिमा (Spironema) या ट्रेपोनिमा (Treponema) कहते हैं। इसकी कई जातियां हैं जो यूरोप, अमेरिका, एशिया, अफ्रीका आदि महाप्रदेशों में भिन्न-भिन्न रूप में पाई जाती है-दक्षिणी अफ्रीका में टिक मक्खी से होने वाला "टिक फीवर" भी एक विशेष ट्रेपोनिमा

चित्र २४



के कारण होता है। भारतवर्ष में यह जीवाणु एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक जूं द्वारा फैलता है। अतः यह रोग दरिद्री, मैले-कुचैले और

इकट्ठे सोने वालों में अधिक फैलता है, और इसी कारण शीतकाल में अधिक होता है।

सम्प्राप्ति—शरीर में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होते जीवाणु ज्वरावस्था में रक्ताणुओं के इतस्ततः लिपटे हुए पाए जाते हैं। परन्तु ज्वर-रहित अवस्था में अर्थात् दो वेगों के मध्य में ये रक्त से हटकर प्लीहा में चले जाते हैं। अतः प्लीहा कुछ काल के बाद बढ़ जाती है।

परिपाक काल—५–८ दिन तक।

लक्षण—शीत लगकर अकस्मात् ज्वर चढ़ता है और पहले ही दिन १०४ फा० तक पहुँच जाता है। माथे में पीड़ा, कटिशूल, उत्क्लेश और वमन आदि लक्षण पैदा होते हैं। श्वास तथा नाड़ी की गति तीव्र होती है, जिह्वा शुष्क और मैली होती है, प्यास अत्यधिक लगती है। प्लीहा और यकृत बढ़ जाते हैं तथा कामला हो जाती है। पांचवें, छठे दिन ज्वर अतितीव्र हो जाता है, मानों मृत्यु सम्मुख खड़ी दिखाई देती है, शीघ्र ही अत्यधिक स्वेद धारा प्रवाह रूप में आकर ज्वर उतर जाता है और रोगी रोग-मुक्ति का अनुभव करता है। सप्ताह भर तक वह अच्छा रहता है पुनः पहले वेग की तरह दूसरा वेग आरम्भ हो जाता है। यह पहले की अपेक्षा कम तीव्र होता है, परन्तु दुर्बलता और तन्द्रा अति अधिक बढ़ जाती है। इसी प्रकार दो-तीन वेग आते हैं और फिर आराम हो जाता है। प्रत्येक वेग में क्षीणता और तन्द्रा बढ़ती जाती है। कभी-कभी तो इतनी बढ़ जाती है कि रोगी की मृत्यु हो जाती है।

उपद्रव—प्रणालीय-फुफ्फुसप्रदाह, फुफ्फुसावरण-प्रदाह, अतिसार, प्रवाहिका, तीव्र कामला और रक्तस्राव इसके उपद्रव हैं।

चिकित्सा—इस रोग में वही औषधियाँ काम करती हैं जो उपदंश में काम करती हैं, पेनिसिलीन इसमें रामबाण का काम करती है। ४ लाख प्रोकेन विद सोडियम पेनिसीलीन दिन में २ बार। ३-४ दिन तक प्रयोग से रोग जाता रहता है, तथा एतदर्थ सोमल, रसपुष्प, मल्लपुष्प,

प्रयोग में लाये जाते हैं। न्यूसल्वार्सन (Neosalvarson) आर्सफिनेमिन (Arsphenamine o-3 to. o-6 gr.) या नियोआर्सफिनेमिन (Neoarsphenamine-o-6 to o-9 gr.) की दो मात्रा देने से ज्वर जाता रहता है। इनको शिरागत इंजेक्शन द्वारा देते हैं।

ज्वर के बाद क्षीणता और दुर्बलता के निवारणार्थ बलवर्धक और पुष्टिकारक औषधियां देनी चाहिये, ज्वर में दुर्बलता क्षीणता निवारणार्थ कस्तूरी भैरव, चन्द्रोदयरस, मकरध्वज, जवाहरमोहरा वटि इत्यादि औषधियों का प्रयोग करावें।

अतिनिद्रा ज्वर

पर्याय—अतिनिद्रा ज्वर, स्लीपिंग सिकनेस (Sleeping Sickness)

परिचय—यह एक चिरस्थायी संक्रामक रोग है। जिसमें ज्वर, कृशता, आलस्य लसीकाग्रन्थिवृद्धि, और तन्द्रा विशेष लक्षण होते हैं।

इसका कारण एक विशेष प्रकार का जीवाणु है जिसे "ट्रिपैनोसोम" (Trypanosom) कहते हैं यह मक्षिका द्वारा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक जाता है यह रोग भारतवर्ष में बहुत कम होता है।

लक्षण—इस रोग की ३ अवस्थाएँ हैं:

प्रथमावस्था - विषम-ज्वर की तरह इसके वेग आते रहते हैं। कुछ काल तक प्रतिदिन ज्वर आकर कुछ काल नहीं आता पुनः वेग आने लगते हैं। लसीका-ग्रन्थियां सूज जातीं हैं और प्लीहा बढ़ जाती है।

द्वितीयावस्था—इस प्रकार कुछ वेग आकर ज्वर प्रतिदिन होने लगता है, आलस्य बढ़ने लगता है, शनैः शनैः आलस्य से तन्द्रा होने लगती है। कृशता और रक्तन्यूनता अत्यधिक हो जाती है। कभी-कभी कई दिनों के लिये बीच में लक्षणों की शान्ति भी हो जाती है।

तृतीयावस्था - तन्द्रा बढ़ जाती है। मुंह पर शोथ हो जाता है, बुद्धि मन्द हो जाती है, शब्द अस्पष्ट और देर से निकलता है, चलते हुए रोगी लड़खड़ाता है और अन्त में रोगी सन्यस्त होकर मर जाता है।

तन्द्रा यदि देर से आरंभ हो तो रोगी अधिक काल तक जीवित रहता है, और यदि शीघ्र आरम्भ हो जाए तो रोगी भी शीघ्र ही मर जाता है। यह आवश्यक नहीं कि तीनों अवस्थाएँ स्पष्ट प्रतीत हों। इस रोग में कभी-कभी पीड़िकाएँ निकल आती हैं।

रोगमीमांसा—जीर्ण-ज्वर में यदि लसीका-ग्रन्थियां सूजी हुई हों, तो रक्त-परीक्षा द्वारा निर्णय करा लेना चाहिए।

चिकित्सा—यदि आरम्भ में ही चिकित्सा की जाय, तो रोगी के बचने की आशा है। इसलिए निम्नोक्त औषधियाँ दी जाती हैं : सुरेमीन (Suramin—Bayer 205), ट्रिपार्समाईड (Tryparasamide), आर्सेनीन (Orsanin)। पहली दो औषधियाँ शिरागत इंजेक्शन द्वारा और तीसरी भागान्तरगत इंजेक्शन द्वारा।

मूषक विषज ज्वर (Ratbite Fever)

परिचय—यह एक प्रकार का पुनरावर्तक ज्वर है, जो संक्रमित चूहे के काटने से होता है। इसमें विशेष लक्षण ये हैं कि दष्ट स्थान जो स्वस्थ हो चुका होता है पुनः शोथ-युक्त हो जाता है और ज्वर के वेग पुनः पुनः आते हैं।

कारण—इसका कारण विशेष प्रकार का उपदंश की तरह का कर्षिणी आकार जीवाणु—स्पाईरोनिमा (Spironema) है, जो चूहे में रहता है। जब चूहा मनुष्य को काट खाता है, तो जीवाणु उसके शरीर में जाकर रोग पैदा कर देता है।

लक्षण—दष्ट स्थान प्रायः स्वयंमेव ठीक हो जाता है। परन्तु २–६ सप्ताह के बाद उसी दष्ट स्थान पर पीड़ा आरम्भ हो जाती है। वह स्थान फटकर पुनः व्रण बन जाता है। यहाँ से शोथ आरम्भ हो कर चारों ओर फैलने लगती है। लसिका-वाहिनियों में भी शोथ हो जाती है और वे फूल जाती हैं। यह शोथ-युक्त स्थान रक्तमय होता है और यहाँ छोटे-छोटे छाले से उभर आते हैं। कुछ काल अनन्तर अन्य लक्षण

ज्वर, सन्धिशूल, शिरोरुजा, अङ्गमर्द, वमन, उत्क्लेश आदि उत्पन्न हो जाते हैं। ज्वर चढ़ते समय बहुधा शीत लगता है। प्रायः कृष्ण लोहित वर्ण की पीड़िकाएं निकल आती हैं, जो कुछ काल रहकर शनैःशनैः लुप्त हो जाती हैं। ज्वर ४ से ८ दिन तक तीव्र रहकर उतर जाता है, और अन्य लक्षण भी शान्त हो जाते हैं। दुर्बलता बहुत रह जाती है। कुछ दिन शान्ति रहती है, पुनः पूर्ववत आक्रमण हो जाता है इसी प्रकार कुछ काल तक पुनरावर्तक वर सा होता रहता है। शनैः शनैः ज्वर अल्प-अल्प और मृदु-मृदु होकर अन्ततः लुप्त हो जाता है। विरलावस्था में किसी किसी में महीनों और वर्षों तक भी इसी प्रकार चलता रहता है।

उपद्रव—(१) इस रोग में वृक्क शोथ होने की विशेष आशंका रहती है।

(२) बार-बार ज्वर आने तथा दुर्बलता और क्षीणता के उत्तरोत्तर बढ़ने से रोगी को राजयक्ष्मादि अन्य रोग उपद्रव रूप से हो जाने का भय रहता है।

रोगमीमांसा मूषक दष्ट का वृत्त, पुनरावर्तकवत् ज्वर तथा स्थानिक लक्षण इस रोग को स्पष्ट कर देते हैं। कभी-कभी आरम्भ में या बीच में अग्नि विसर्प या पुनरावर्तक ज्वर का सन्देह हो जाता है जहाँ सन्देह हो वहां रक्त-परीक्षा करा लेनी चाहिए।

चिकित्सा—इसकी वही औषधियाँ हैं जो उपदंश की या पुनरावर्तक की हैं। दोनों के रोगाणु एक समान हैं। पेनिसिलीन इस रोग में भी रामबाण का काम करती है। प्रोकेन पेनिसिलीन विद सोडियम जी की ४ लाख की मात्रा दो बार दिन ५–७ दिन तक दें। सल्वर्सान, न्यूसल्वर्सान; सल्फ-आर्सिनाल आदि का इंजेक्शन किया जाता है। यदि चिकित्सा न की जाए तो १० प्रतिशत रोगी मर भी जाते हैं।

अग्निरोहिणी (प्लेग)

कक्षाभागेषु ये स्फोटा जायन्ते मांसदारुणाः।
न्तर्दाहज्वरकरा दीप्तपावकसन्निभाः॥

सप्ताहाद्वा दशाहाद्वा पक्षाद्वा हन्ति मानवम् ।
तामाग्निरोहिणीं विद्यादसाध्यां सान्निपातिकीम् ।। सुश्रुत नि..

परिचय—यह एक तीव्र संक्रामक और आशुकारी रोग है, जो प्रायः महामारी के रूप में फैलता है, और जिसमें तीव्र ज्वर, प्रलाप और लसीका-ग्रन्थि वृद्धि आदि लक्षण विशेषतः पाये जाते हैं।

कारण—इसका कारण एक विशेष प्रकार का दण्डाकार कीटाणु है जिसे "बैसीलस पैस्टिस" (Bacillus Pestis) कहते हैं। यह रोग चूहों के पिस्सुओं द्वारा फैलता है। वास्तव में यह रोग ही चूहों का है। पिस्सू जब चूहे को काटते हैं तो प्लेग के बैसीलस भी चूस लेते हैं। यह बैसिलस और कीटों की तरह कुछ दिन तक चूहे के पिस्सू में वृद्धि पाता है। तत्पश्चात् जिसको यह पिस्सू काटता है उसी को रोग हो जाता है। पिस्सू चूहों पर ही रहते हैं अतः यह रोग पहले चूहों में महामारी के रूप में फैलता है। इससे बहुत से चूहे मर जाते हैं और शेष भाग जाते हैं। इनके न रहने पर इन पिस्सुओं को आहार नहीं मिलता, तब ये मनुष्यों को काटते हैं और उनमें रोग फैलाते हैं। मनुष्यों में महामारी फैलने से पहिले चूहों में यह महामारी फैलती है। यह रोग आबालवृद्ध सब में समान रूप में फैलता है। फुफ्फुसप्रदाहिक प्लेग में श्वास और श्लेष्मा द्वारा भी यह रोग फैलता है।

अच्छी सफाई के कारण एवं सरकार की ओर से ठीक ठीक सावधानी के कारण अब यह रोग बहुत कम देखने में आता है।

सम्प्राप्ति—चूहे का पिस्सू डेढ़ फुट से ऊँचा नहीं उछल सकता। इस कारण मनुष्य के उन्हीं भागों में काट सकता है, जो पृथ्वी से डेढ़ फुट ऊँचाई के अन्दर रहते हैं। अतः प्रायः पैर या टांगों पर ही काटता है, कभी-कभी सोये हुए मनुष्य के मुख, ग्रीवा अंगों पर भी काटता है, अथवा कोई भी चीज उठाते समय हाथ पर भी काट खाता है।

शरीर के जिस भाग पर पिस्सू काटता है वहीं से कीटाणु प्रविष्ट

होकर लसीका-वाहिनियों द्वारा ऊपर जाते हैं और रक्त में जा मिलते हैं। लसीका-वाहिनियों के मार्ग में लसीका-ग्रन्थियां होती हैं। जिनका कार्य कीटाणु और विष को रक्त में जाने से रोकना है। ताकि यदि सम्भव हो तो लसीका-ग्रन्थि स्वयं ही उन कीटों से निपट लें। रक्त तक न पहुँचने दें। प्लेग का कीट और उनका विष जब लसीका-ग्रन्थियों में पहुँचता है तो वे उसको वहीं रोक कर उदासीन करने और मारने का यत्न करती हैं। इस कारण ग्रन्थियां बढ़ जाती हैं। ग्रन्थियों का बढ़ना तथा उनमें पूय का पड़ना और फट जाना शुभ लक्षण हैं। इससे कीटाणु रक्त में नहीं जाने पाते, वे कुछ वहीं मर जाते हैं और कुछ पूय द्वारा बाहर निकल जाते हैं। ज्वर केवल टाक्सीमिया (विष) के कारण होता है। इस विष को उदासीन करने के यत्न में शरीर की अन्य लसीका-ग्रन्थियां भी थोड़ी-बहुत सूज जाती हैं।

जब कीट लसीका-ग्रन्थि में न रुक कर रक्त में चले जाते हैं तो सैप्टीसीमिया हो जाता है। यह रोग की बड़ी भयानक अवस्था है। इस में अङ्ग-विशेष की ग्रन्थियाँ अधिक नहीं सूजतीं। परन्तु चूँकि विष और कीटाणु सारे शरीर में भ्रमण कर रहे होते हैं, इसलिये शरीर की सारी ग्रन्थियाँ थोड़ी-थोड़ी सूज जाती हैं।

फुफ्फुस प्रदाहिक प्लेग में कीटाणु श्वास में रहते हैं और श्वास द्वारा यह रोग प्रसार पाता है। इससे पीड़ित रोगी के पास जो व्यक्ति जायगा उसे भी इस रोग के होने का भय रहेगा, इस अवस्था के कीटाणु अति बलशाली और तीव्र होते हैं। बड़ी शीघ्रता से फुफ्फुसों में जा कर घोर प्रदाह उत्पन्न कर देते हैं, फुफ्फुसों से रक्तष्ठीवन होने लगता है।

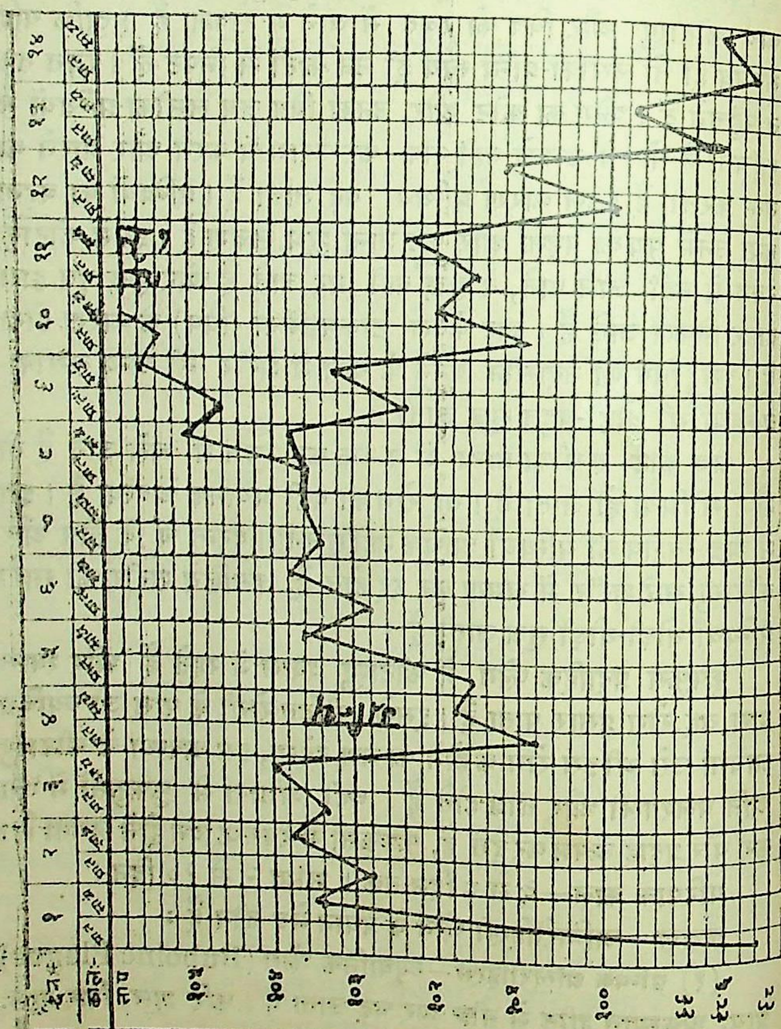
परिपाक काल—३ से ८ दिन तक। सीमा २ से १० दिन।

लक्षण—अग्निरोहिणी प्लेग के प्रधान भेद तीन हैं :

(१) ग्रन्थिक अग्निरोहिणी—व्यूबानिक प्लेग (Buboinc Plague) प्रायः अकस्मात् शीत से तीव्र ज्वर चढ़ जाता है। कटि शूल, शिरःशूल,

चित्र २५

अग्निरोहिणी (प्लेग)



भ्रम, वमन, उत्क्लेश, तथा बेचैनी आदि लक्षण होते हैं, रोगी में शीघ्र दुर्बलता आ जाती है और उसमें चलने की सामर्थ्य नहीं होती नाड़ी अतितीव्र होती है। दूसरे-तीसरे दिन जिस अङ्ग पर पिस्सू ने काटा हो, उसकी समीपवर्ती कक्षा, वंक्षण, ग्रीवादि की लसीका-ग्रन्थियाँ सूज जाती हैं। ये ग्रन्थियाँ शीघ्रता से सूजने लगती हैं, पीड़ा होती है और पूय पड़ने लगती है। ८-१० दिन तक ग्रन्थि पक जाती है। कभी-कभी वे स्वयं ही फूट जाती हैं। इनका पकना और फटना शुभ लक्षण है। यदि पके नहीं तो पकाने की चिकित्सा करें। पक जावे और फटे नहीं तो स्वयं चीरा देकर पीप बाहर निकाल देनी चाहिए। साध्यावस्था में १३-१५ दिन में ज्वर उतर जाता है।

(२) सैप्टीसीमिक अग्निरोहिणी (Septicaemic Plague) प्रायः ग्रन्थिक के अनुगामी होती है, चौथे दिन प्लेग वैसिलस ग्रन्थि से रक्त में चले जाते हैं। या कभी-कभी आरम्भ से ही सैप्टीसीमिक रूप धारण कर लेता है, इसमें ज्वरादि टाक्सीमिया के लक्षण अति तीव्र होते हैं। रोगी देखने से ही मृत्यु शय्या पर पड़ा हुआ मालूम होता है। अङ्ग-विशेष की ग्रन्थियाँ विशेषतया नहीं सूजतीं, परन्तु सारे शरीर की लसीका-गन्थियाँ थोड़ी-थोड़ी सूजी नज़र आती हैं। नाड़ी की गति अति-तीव्र और दुर्बल होती है। रोगी प्रायः ५-७ दिन में मर जाता है।

(३) फुफ्फुस-प्रदाहिक अग्निरोहिणी—(Pneumonic Plague) अकस्मात् शीत से तीव्र ज्वर चढ़ जाता है। साधारण अङ्गमर्द, शिरः-शूल, भ्रम और उत्क्लेशादि लक्षण उपस्थित होते हैं। रोगी की छाती में पीड़ा होती है और शुष्क खांसी होती है। श्वास की गति तीव्र होती है। रक्तष्ठीवन (थूक में रक्त) सदैव हुआ ही करता है। फुफ्फुस परीक्षा करने पर प्रणालीय फुफ्फुस प्रदाह (Broncho Pneumonia) के लक्षण दिखाई देते हैं। अर्थात् दोनों फुफ्फुसों में सर्वत्र कूजन होती है और कहीं-कहीं जहाँ फुफ्फुस ठोस हो रहे हों करकरायन सुनाई देती

है, और शब्दस्पर्श और शब्दश्रवण भी बढ़ जाते हैं। यह अति भयानक रोग है, कोई भाग्यशाली रोगी ही इससे बचता है।

मृदु अग्निरोहिणी—जिनमें वैक्सीन का इन्जेक्शन प्रतिरोधक चिकित्सार्थ किया गया हो उन में अथवा रोग की मृदु अवस्था में लक्षण बहुत मृदु होते हैं। रोगी चलता-फिरता रहता है, ग्रन्थि थोड़ी सूजकर चन्द दिनों में बैठ जाती है, ज्वर नहीं होता या थोड़ा होता है।

चिकित्सा—अग्निरोहिणी चूंकि प्रायः महामारी के रूप में फैलती है अतः महामारी के दिनों में प्रतिबन्धक चिकित्सा की ओर विशेष ध्यान देना चाहियेः—चूहों को घर से भागने या मार डालने के सब उपाय करने चाहिये। जो घर ऐसे बने हुए हैं जिन में चूहे नहीं रह सकते, या जिन घरों में खाने पीने की चीजों तक उनकी पहुँच न होने के कारण उनका निवास नहीं हो सकता, उन घरों में प्लेग कभी नहीं होता। जिन घरों में चूहे मरने लग जायें; उन घरों को और उनके निकटवर्ती घरों को छोड़ देना चाहिये और कृमिघ्न गैसों द्वारा भली प्रकार शुद्ध करा लेना चाहिये, ताकि सब छोटे कीट, मक्खी, मच्छर, पिस्सू आदि मर जायें। यदि सम्भव हो तो प्लेगवाले घरों में नहीं जाना चाहिए। यदि जाना ही पड़े और वैसे भी स्वरक्षार्थ महामारी के दिनों में घुटने तक जुराबें, गार्टर्स, पट्टियां, बूट आदि से भली प्रकार पैरों और टांगों को सुरक्षित रखें। महामारी के दिनों में प्लेग के वैक्सीन का इंजेक्शन करा लेना चाहिये। वैक्सीन से ६ से १२ महीना तक रोग से बच सकते हैं।

औषधि चिकित्सा—१. स्ट्रेप्टोमाईसीन (Streptomycin) ०.५ ग्रेन की मात्रा प्रति ६-६ घंटे बाद या १ ग्राम की मात्रा २ बार दिन में जब तक ज्वर उतर न जाये बाद में ०.५ ग्राम दो बार दिन में या १.०० ग्राम कई बार दिन में ३ दिन तक।

२. सल्फा श्रेणी की औषधियां यथाः—सल्फा थायजोल, सल्फा डायेजीन, सल्फाट्रायड आदि। २-२ गोली ४-४ घंटे बाद।

नं० १ और २ एक साथ इकट्ठी दी जा सकती हैं। अथवा क्लोरोमाईसीटीन (Chloromycetin) २५० मिलिग्राम का केप्शूल ६-६ घन्टे बाद, ४-६ दिन तक तीव्र अवस्था में २-२ केप्शूल हर ६-६ घंटे बाद दे सकते हैं ४-६ दिन तक औषधि देनी पड़ती है।

शमन चिकित्सा—जहाँ तक हो सके ग्रन्थि को सेंक दे अथवा राई की पुल्टिस, दशांगलेप, अर्कपत्र, अर्कक्षीरादि दवाइयों से पकाने का यत्न करें। ग्रन्थि के पकने पर उसे चीर देना चाहिए। शेष चिकित्सा लक्षणा-नुसार करनी चाहिये।

स्मरण रहे कि अति तीव्रताप की शान्ति के लिये कदापि ज्वर उतारने वाली एस्परीन आदि औषधियें नहीं देनी चाहिए। शीतलजल की पट्टी या बरफ की थैली माथे पर और सिर पर रखें, तथा शीतल जल से अङ्गप्रोछन करें, अथवा अन्य बाह्य उपचार द्वारा तीव्र ज्वर की शान्ति के उपाय करें।

प्लेग में दो प्रकार के सीरम प्रयोग में आते हैं। यरसीन (Yersin) वाला—जिसमें कीट-नाशक शक्ति अधिक होती है, लुस्टिंग (Lusting) वाला जिसमें अति विष अधिक होती है। इनमें से प्रथम अधिक उपयोगी बताई जाती है, परन्तु उसका भी लाभ तभी होता है जब उसे रोग के आरम्भ में दिया जावे। अन्यथा लाभ सन्दिग्ध है। बम्बई की हाफकीन इनस्टीच्यूट में एण्टी-प्लेग सीरम विशेषतया बलशाली बनाई जाती है, जो विशेष लाभदायक हैं इससे मृत्यु ६२ प्रतिशत से २५ प्रतिशत कम हो गई है। आजकल की नई औषधियों के आविष्कार के बाद इसका प्रयोग बन्द हो गया है।

टाइफस ज्वर (Typhus)

टाइफस ज्वर के अन्तर्गत अनेक प्रकार के ज्वरों का समावेश होता है, जो एक विशेष प्रकार के कीटाणुओं के कारण होता है, जिसे डाक्टरी भाषा में रिकेटशया (Rickettsia) कहते हैं, इसकी कई उपजातियाँ

हैं, उनके अनुसार कुछ लक्षण भी भिन्न होते हैं। और उनका प्रसार भी भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है। भारतवर्ष में होने वाला टाइफस रिकेटशाया-प्रोवाजेकी (Rickettsia Prowageki) के कारण से होता है।

इस रोग का विस्तारपूर्वक वर्णन करना इस पुस्तक की सीमा के बाहर है यहाँ केवल दिग्दर्शनार्थ इतना बताना उचित प्रतीत होता है कि इस रोग के निम्नोक्त प्रकार बहुधा पाये जाते हैं:

(१) **पीड़िकायुक्त**—यह लगभग सारे संसार में पाया जाता है, यह एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में यूका द्वारा प्रसारित होता है, आरम्भ में केवल इसी को टाइफस ज्वर कहते थे, इसको सार्वदेशिक अथवा सार्वभौमिक टाइफस भी कहते हैं।

(२) **स्थानिक अथवा प्रादेशिक**—ये टाइफस ज्वर कई प्रकार के हैं। और अन्यान्य प्रदेशों में भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं, और भिन्न-भिन्न जन्तुओं द्वारा फैलते हैं, यथा कहीं पर मक्षिका, कहीं पर मशक, कहीं चिंचड़िका या लीक्षा आदि द्वारा। वस्तुतः सब टाइफस ज्वर मनुष्य जाति के नहीं होते परन्तु मूषक आदि सूक्ष्म प्राणियों के होते हैं, उनसे ही मक्षिका, चिचड़िका, मच्छर आदि के द्वारा मनुष्य शरीर में पहुँचते हैं। इन सब का पूर्ण ज्ञान गत महायुद्ध काल में हुआ, यह देखा गया कि भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्वर भिन्न-भिन्न प्रकार के रिकेटशाया कीटाणु की उपजातियों से होता है। और यह भी ज्ञात हुआ की इनका प्रसार भिन्न-भिन्न प्रकार के पप्पलीका आदि जन्तुओं द्वारा होता है।

इनके निदान की विधियाँ सब के लिए एक समान ही हैं, और वे ये हैं।

(१) वेल फेलिक्स रिऐक्सन (Well Felix Reaction) यह एक विशेष प्रकार की विडालवत् रक्तवारि की परीक्षा है, जो प्रोटियस (Proteus) जाति के कीटाणुओं द्वारा की जाती है। विशेष बात यह है

प्रोटियस स्वयं रोग को तो नहीं उत्पन्न करता परन्तु इससे यह रक्त परीक्षा सिद्ध होती है।

(२) रिकेटशया द्वारा बिडालवत् परीक्षा।

(३) रोगी का रक्त लेकर उसे शशक (गिनिपि) के उद्रक कला में प्रवेश करें यहाँ कीटाणुवृद्धि पाते हैं।

(४) इस रोग की तीव्र अवस्था में वासरमेन रिऐक्शन सदा सिद्ध होता है।

इस पुस्तक में सार्वभौमिक टाईफस का वर्णन किया जायगा।

परिचय—यह एक तीव्र संक्रामक और घातक रोग है, जिसमें अकस्मात् ज्वर चढ़ता है और दो सप्ताह तक तीव्र रहकर अकस्मात् उतर जाता है, पाँचवे दिन एक विशेष प्रकार की पीड़िकायें निकल आती है।

कारण—इसका रिकेटशया कीटाणु यूका द्वारा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक जाता है। विषमज्वर के जीवाणु की भांति का यह भी जूं में अपना पृथक् जीवन-चक्र पूरा करता है जिसे ८-१० दिन लग जाते हैं। अतः यूका रोगी को काटने के १० दिन बाद इस योग्य होता है कि रोग को फैला सके। यह रोग दरिद्री, म्लेच्छ मनुष्यों में विशेषतः इकट्ठे सोने वालों में तथा एक दूसरे के वस्त्र पहिनने वालों में, जहाँ जूँ को एक दूसरे में से जाने का अवसर बहुत मिलता है, शीघ्र फैलता है। क्षुधार्तता, घनवास और अस्वास्थ्यजनक परिस्थिति इस रोग के फैलने में विशेष सहायक कारण हैं इसके कीटाणु संक्रामित यूका के अण्डों द्वारा उसकी सन्तति में पहुँच जाते हैं, संक्रमित यूका १०-१२ दिन में मर जाती है, यूका दंश द्वारा रोग नहीं फैलाती, उसके प्रत्युत मल द्वारा फैलता है। इसके कीटाणु मल में निकलते रहते हैं, शरीर पर खुजलाने से मल से निकले कीट शरीर में प्रवेश कर जाते हैं।

परिपाककाल—१० से १२ दिन, सीमा ५ से १४, । रोगी ज्वर

उतरने के महीने भर पश्चात् तक रोग फैलाने का कारण बना रहता है, अर्थात् यूका उसका रक्त चूसकर संक्रमित हो सकती है।

लक्षण—अकस्मात् शीत से ज्वर चढ़ जाता है, तीव्र शिरोरुजा, कीटाशूल शाखाओं में पीड़ा, शिरोभ्रम तथा कभी-कभी वमनादि लक्षण होते हैं। क्षुधा नाश, अतितृषा, तथा कोष्ठ-बद्धता होती है, जिह्वा मलिन और नाड़ी की गति तीव्र होती है।

ज्वर प्रथम दिवस से ही तीव्र होता है और पांच दिन तक अर्थात् जब तक पीड़िकाएँ नहीं निकलतीं थोड़ा-थोड़ा प्रति दिन बढ़ता जाता है, फिर १४–१५ दिन तक समान रहकर अकस्मात् स्वेद आकर उतर जाता है, या प्रतिदिन चढ़ता ही जाता है, यहाँ तक कि १०८-१०६ फा. होकर रोगी मर जाता है। ज्वरारम्भ से रोगी को प्रलाप, क्षोभ, निद्रा-नाशादि लक्षण होते हैं रोगी का चेहरा मदमत्तवत् लाल और क्षुब्ध हो जाता है यह शनैः शनै अवसाद का रूप धारण कर लेता है, दसवें दिन क्षोभ अवसाद के रूप में बदल जाता है। रोगी क्षीण तथा संज्ञाहीन होकर शय्या पर पड़ा हुआ गुनगुनगाता रहता है, आखें खुली रहती हैं, और हाथों से शरीर पर कुछ चुनता सा रहता है।

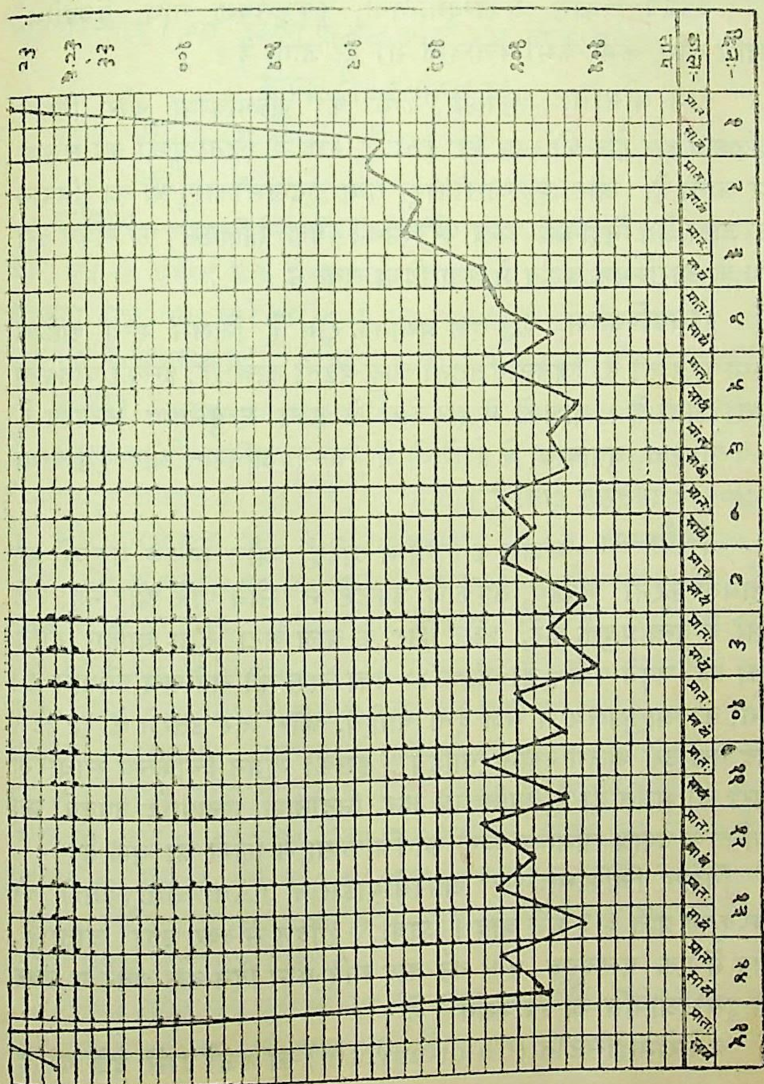
चौथे या पाँचवे दिन विशेष पीड़िकाएें निकल आती हैं, पहिले पेट, छाती वा कलाई आदि पर होती हैं।

इन पीड़िकाओं की विशेषतायें होती हैं—

पहले पीड़िकाएं आन्त्रिक ज्वर की तरह गुलाबी और उभरी हुई होती हैं, जो दबाने से कुछ देर के लिए मिट जाती हैं। बाद में उनमें रक्त-स्राव होने से लाल मिरच के रंग वाली हो जाती है ये पीड़िकायें या धब्बे दबाने से नहीं मिटते, प्रत्युत मृत्यु के पश्चात् भी बने ही रहते हैं।

इसमें रोगी को आरम्भ से ही दुर्बलता अधिक होती है। ज्वर चढ़ते ही रोगी खाट पकड़ लेता है। रोगमुक्ति के बाद भी बहुत दिन तक रोगी दुर्बल रहता है।

चित्र २६ टाइफस ज्वर



उपद्रव—कास, ब्रांकोन्यूमोनिया, फुफ्फुसव्रण शोथ, वृक्कशोथ, विद्रधि कोथ, कभी-कभी पक्षाघात भी हो जाता है।

रोग मीमांसा—तापक्रम, रोगी की क्षुब्धावस्था और विशेष पीड़िकायें इस रोग को स्पष्ट कर देती हैं, रक्त में श्वेताणुओं की संख्या घट जाती है, और बृहल्लसीकाणु तथा क्षुद्रलसीकाणुओं का निपात बढ़ जाता है। निदानार्थ अन्य परीक्षाओं (वेल फेलिक्स) का संकेत इस रोग के आरम्भिक वर्णन में बता दिया गया है।

रोगपरिणाम—यह एक भयानक रोग है जिसमें मृत्यु अधिक संख्या में होती है, जितनी-जितनी आयु बढ़ती जाती है, इसकी घातकता बढ़ती जाती है। बालकों में इस रोग के द्वारा मृत्युसंख्या अत्यल्प है २–३ प्रतिशत, युवावस्था के रोगियों में १०–२० प्रतिशत और वृद्धावस्था में ४०–५० प्रतिशत होती है।

चिकित्सा—संक्रम के दिनों में दरिद्रों और निर्धन मनुष्यों की सहायता करनी चाहिए, ताकि ये इकट्ठे न सोने पावें और नहीं एक दूसरे के वस्त्र प्रयुक्त करें, और शिर के बाल कटा देना चाहिए ताकि यूका नहीं बढ़ने पावें; डी०डी०टी० यका नाश की सर्वोत्तम औषधि है। रोगी को आतुरालय में भेज देना चाहिये, और ज्वर उतरने के १५ दिन बाद तक उसे अलग रखना चाहिये। इसकी शमन चिकित्सा साधारण ज्वरों की भांति ही है, अतितीव्र ज्वर, निद्रानाश, प्रलापादि उपद्रवों की शान्ति के उपाय सामान्य ज्वरों की चिकित्सा में लिखे जा चुके हैं।

विशेष चिकित्सा:—१ आरियोमाईसीन (Aureomycin) दो एम्प्यूल्ज़ प्रति ६-६ घंटे बाद। प्रायः २-३ दिन में ज्वर उतर जाता है, बाद में एक एम्प्यूल्ज ४-४ घंटे बाद यदि तीन दिन तक ज्वर न उतरे, तो इसी औषधि का इंजेक्शन दे दें।

2. क्लोरोमाईसिटीन (Chloromyctin) का दर्जा दूसरे दर्जे पर है,

इसका प्रयोग और मात्रा पहले वर्णन कर आये हैं, २-२ एम्प्यूल्ज़ हर ४-४ घंटे बाद। ज्वर उतरने के बाद मात्रा कम करते जाएँ।

मूषक विषज कामला

पर्याय—Spirochaetal Jaundice, Weils disease, Spirocheto-Ictro-haemorrhagica.

परिचय—यह एक संक्रामक रोग है जो संक्रमित मूषक के मल और मूत्र से दूषित जल द्वारा प्रसार पाता है। इसमें ताप, निर्बलता, क्षीणता, शिर तथा सारे शरीर में शूल, आँखों में लाली, कामला, और रक्तपित्त के लक्षण होते हैं। विरले रोगियों में कामला होती ही नहीं।

कारण इसका कारण एक विशेष प्रकार का कर्षिण्याकार कीटाणु है, जिसको लैप्टोस्पाइरो-इक्ट्रो-हम्रेजिका (Leptospira-Ictro-Haemorrhagica) कहते हैं, यह कीटाणु सर्वदा चूहों में पाया जाता है, और उनके मल और मूत्र में निकलता है। इस मल और मूत्र से दूषित जल के मनुष्य शरीर से सम्पर्क द्वारा ही यह रोग प्रसार पाता है। दो प्रकार से ही इसका मनुष्य शरीर में प्रवेश होता है, चूहों का मूत्र और विष्ठा जल से मिलकर जल को दूषित कर देता है, मकानों के फर्श और दीवारों के धोने से अथवा चूहों की विष्ठा से दूषित जल गन्दी नालियों में होता है, इससे गन्दी नालियों को साफ करनेवालों में जब यह जल मनुष्य शरीर के सम्पर्क में आता है, शरीर पर किञ्चित मात्र अल्प-सा घाव हो तो उसके द्वारा यह जीवाणु प्रवेश कर जाता है। रोगियों के मूत्र में भी यह जीवाणु निकलता रहता है, यहाँ से भी उपरोक्त विधि द्वारा मनुष्य शरीर में पहुँच सकता है, परन्तु इस प्रकार इसका प्रसार बहुत कम होता है।

मनुष्य शरीर पर चूहों के मूत्र कर देने पर और उस स्थान को खुजलाने से भी यह रोग प्रसार पाता है

इसी प्रकार यह रोग उनमें ही फैलता है जो चूहों वाले मकानों में रहते हों, जो गन्दी नालियों के साफ करने का काम करते हों अथवा घर के दास-दासियों में जो सफाई का काम करते हों उनमें फैलता है। यह रोग दूषित पानी में डुबकी लगाने से भी नासा की श्लैष्मिक कला द्वारा प्रसार पा सकता है।

सम्प्राप्ति—इसका जीवाणु रक्त में भ्रमण करता रहता है, वहाँ से यकृत में जाकर शोथ कर देता है, वृक्क भी शोथयुक्त हो जाते हैं, तथा शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में विशेषकर आमाशय, अन्त्र की दीवार और फुफ्फुसों में भी शोथ व थोड़ा अधिक रक्तस्राव हो जाता है। यदा-कदा जीवाणु शीर्ष सौपुम्नकरि में पहुँचकर शीर्षावरण शोथ के लक्षण उत्पन्न कर देता है।

परिपाक काल—६ से १२ दिन।

लक्षण—इस रोग की साधारणतया तीन अवस्थाएं देखी गई हैं (नं० १) ज्वर अवस्था (नं० २) कामला अवस्था। इसी अवस्था में वृक्क-विकार तथा रक्तस्राव भी कभी-कभी होता है। (नं० ३) शमन अवस्था।

(१) ज्वर अवस्था—अकस्मात् ज्वर चढ़ता है, ज्वर चढ़ते समय सरदी लगती हैं, शिरःशूल, वमन, उत्क्लेश, क्षीणता, कटिशूल, तथा सर्वाङ्ग-शूल आदि उपस्थित होते हैं, कभी-कभी तो शरीर की माँस-पेशियों में इतनी पीड़ा होती है, मांस इतना कोमल होता है कि किञ्चिन्मात्र गति से रोगी चिल्ला उठता है, स्पर्श करने पर भी उनमें पीड़ा प्रतीत होती है, आँखें लाल होती हैं, कभी-कभी आमाशय में रक्तस्राव होने के कारण रक्तवमन होने लगता है, इसी प्रकार कभी-कभी रक्त की उलटी और कभी गुदा द्वारा रक्त आने लगता है। यकृत और प्लीहा प्रायः बढ़ जाती हैं।

रक्तपरीक्षा करने पर श्वेताणु १० हजार से २० हजार तक और

बहुरूप मींगीयुक्त श्वेताणु ८० से ८५ प्रतिशत बढ़े हुए प्रतीत होते हैं।

(२) कामला अवस्था—चौथे, पांचवें या छठे दिन शरीर का वर्ण कामलावत पीत होने लगता है, शनैः शनैः यह बढ़कर हरे संतरा के रंग का हो जाता है। कभी-कभी ज्वर का वेग साधारण सा होता है परन्तु कामला होता है।

परीक्षा करने पर रक्त में बद्ध-कामला और विषज-कामला दोनों की उपस्थिति (Biphasic Vonden bergh Reaction) सिद्ध होती है। मूत्र में पित्त लवण और पित्तरंजक दोनों उपस्थित होते हैं और मूत्र का रंग गहरा हो जाता है और कभी-कभी नसवारी। यद्यपि रोगी की मृत्यु का एक विशेष कारण कामला होता है परन्तु कामला की अधिकता रोग की तीव्रता की सूचक नहीं, कभी-कभी तो अत्यधिक कामला हो जाने पर भी रोगी बच जाता है, कभी-कभी साधारण कामला होने पर रोगी मर जाते हैं। ऐसा भी हो सकता है कामला होवे भी नहीं और रोगी मर जाय। वस्तुतः ४० प्रतिशत रोगी ऐसे देखे गये हैं जिनमें कामला लक्षण नहीं होता।

वृक्क विकार उपस्थित होने पर मूत्र कम आने लगता है, मूत्र में अल्ब्यूमन, क्षिप्त, पूयकण और रक्तकण होते हैं। अतितीव्र अवस्था में मूत्राभाव होकर रोगी मर जाता है।

कई रोगियों में त्वचा के नीचे रोम रक्तस्राव होता है, अथवा कई रोगियों में दन्तवेष्ठो, आमाशय, मलाशय, मूत्राशय या फुफ्फुसों से रक्तस्राव होने लगता है।

(३) शमन अवस्था—तीसरे-चौथे सप्ताह में रोगी अच्छा होने लगता है, यदि कामला और वृक्क रोग उपस्थित थे तो या वे मिट चुके होते हैं अथवा मिट जाते हैं, इस अवस्था में रोगी शनैः शनैः स्वास्थ्य लाभ करता जाता है इस बीच में कभी-कभी एक दो बार ज्वर

आ भी जाता है, जो २-३ दिन अथवा कभी १-२ सप्ताह भी रहता है। परन्तु इसमें कामला, वृक्क-विकार और रक्तस्राव आदि उपद्रव उपस्थित नहीं होते। और ना इस ज्वर से कोई विशेष हानि ही होती है।

यह ऐसा रोग है जिसमें लक्षण इतने विभिन्न होते हैं कि कभी-कभी तो रोग के वास्तविक लक्षणों का अभाव-सा होता है और अन्य असम्बन्धित लक्षण उपस्थित हो जाते हैं यथा:—

(१) **अकामला अवस्था**—इसमें प्रथमावस्था के वर्णित सब लक्षण होते हैं, परन्तु कामला आदि दूसरी अवस्था के लक्षण नहीं होने पाते, उनके स्थान पर गले में शोथ और गल-ग्रन्थि शोथयुक्त हो जाती है, वातश्लेष्मिक ज्वर (इन्फ्लुएंजा) या गलग्रन्थि शोथ (टान्सीलाईटिस) का सन्देह पड़ता है।

(२) **उदरविकार युक्त**—शेष लक्षण प्रथमावस्था के ही होते हैं, इनके साथ तीव्र उदर शूल होता है, जिससे उपान्त्र शोथ, पित्ताशय शोथ, अथवा उदरकला शोथ का सन्देह होता है।

(३) **श्वसनकयुक्त**—प्रथमावस्था के लक्षणों के साथ-साथ श्वसनक (निमोनियावत्) लक्षण उपस्थित हो जाते हैं।

(४) **शीर्षावरण-शोथ युक्त**—प्रथमावस्था के लक्षणों के साथ साथ शीर्षावरण शोथ के लक्षण उपस्थित हो जाते हैं।

इन सब में इस रोग कामला आदि विशेष लक्षण नहीं होते, जिस के अभाव में रोग का निदान नहीं होने पाता, संदेह होने पर मूत्र व रक्त परीक्षा के द्वारा निदान हो पाता है।

रोगमीमांसा—प्रत्यक्ष लक्षणों की उपस्थिति में रोग का सन्देह शीघ्र ही हो जाता है। रक्त और मूत्र में इनके कीटाणु की उपस्थिति से रोग का निदान निश्चयात्मक किया जा सकता है, इसमें विडाल—रिएक्शन भी सिद्ध होता है। परन्तु कठिनाई तो यह है कि इस रोग के

इतने विभिन्न स्वरूप देखे गये हैं कभी-कभी वास्तविक कामला के लक्षण तो होते ही नहीं, और रोग का सन्देह तक नहीं पड़ता, कामला होने पर रोग निदान सुगम हो जाता है।

रोगपरिणामः—जो रोगी इस रोग से मरते हैं उनको प्रायः सदा कामला होती है, मृत्यु आरम्भ से ६ दिन से १४ दिन के बीच में होती है, इस रोग के अनेक रोगियों में कामला न होने के कारण यह कहना कठिन है कि कितने प्रतिशत मनुष्य इस रोग से मरते हैं, परन्तु धारणा यह है कि इससे १५ प्रतिशत रोगी मर जाते हैं।

चिकित्साः—इसकी वास्तविक चिकित्सा प्रतिरोधक चिकित्सा है यत्न यह होना चाहिए कि रोग उत्पन्न होवे ही नहीं, रोगी के मल और मूत्र को पृथक रखा जावे, और उनको कृमिघ्न औषधियों से जीवाणु-रहित कर दिया जावे।

आरियोमाईसीन (Aureomycin) २५० मिलीग्राम का एक एम्प्यूल ४ बार दिन में (कुल १ ग्राम) ३–५ दिन तक प्रयोग करें बहुत लाभदायक औषधि है। तथा एतदर्थ पेनिसिलीन का इंजेक्शन प्रयुक्त किया जाता है, इससे लाभ तो अवश्य है, परन्तु इससे पूर्ण सफलता नहीं प्राप्त होती, पेनिसिलीन विद क्रिस्टेलाईन जी की ४–४ लाख की मात्रा प्रातः और सायं ३–५–७ दिन तक दें। इस रोग में तरल पदार्थ अत्यधिक मात्रा में देने चाहिए, ५ प्रतिशत ग्लूकोज १००–२०० सी० सी० शिरा द्वारा आवश्यकतानुसार एक, दो या अधिक दिन देने से बहुत लाभ होता है।

अध्याय १०

दुष्टाहारजन्य संक्रामक रोग

इस अध्याय में उन व्याधियों का वर्णन किया जायगा जो कीटाणुओं से दूषित आहार के भक्षण से होते हैं।

(१) आन्त्रिक ज्वर

(२) लघ्वान्त्रिक ज्वर (क), (ख), (ग)

(३) माल्टा ज्वर

(४) प्रवाहिका—अमीबिक और बेसलरी

(५) विशूचिका

(६) आन्त्रिकक्षय

आन्त्रिकक्षय—यह क्षय पीड़ित गौ के दुग्धपान से होता है तथा राजयक्ष्मा से पीड़ित रोगी को स्वता की श्लेष्मा को निगल जाने से होता है। इसका वर्णन क्षय अधिकार में किया जाएगा।

प्रथम तीन प्रकार के रोग अर्थात् आन्त्रिक, लघ्वान्त्रिक, माल्टा रोगों की पहिचान रक्त में विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया द्वारा होती है, जिसे विडाल रिएक्शन (Widal Reaction) कहते हैं। या अग्लूटीनेशन टेस्ट (Agglutination test) कहते हैं, संक्षेपतः वह इस प्रकार होती है।

इन रोगों से पीड़ित रोगी के रक्त में एक विशेष प्रकार की शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिनका प्रभाव उन कीटाणुओं पर होता है जिनसे रोग उत्पन्न हुआ था, रोगों के रक्तरस के अंशमात्र को कीटाणुओं के घोल से मिलाया जाय तो वे कीटाणु अवलम्बित अवस्था में न रहकर सब इकट्ठे हो जाते हैं और नीचे बैठ जाते हैं, कीटाणुओं की इस

क्रिया को एकत्रीकरण (अग्लूटीनेशन=Agglutination) कहते हैं, रक्त के एक भाग को ५०, १००, २००, ४०० भाग शुद्ध जल में मिलाते हैं, और इन्हीं में का एक-एक बिन्दु कीटाणुओं के घोल से मिश्रण करते हैं, यदि रोगी के ४०० में १ अंश वाले रक्त-रस से कीटाणुओं के घोल में एकत्रीकरण हो जावे तो इसके ऊपर के अंशवाले २०० में १,१०० में १,५० में १ में अवश्य यह क्रिया सिद्ध होगी। इस प्रकार २०० में १ की सिद्धि में १०० में १, ५० में १ में यह प्रतिक्रिया अवश्य सिद्ध होगी परन्तु विपरीत दशा में यह नहीं प्राप्त होती, अर्थात् ५० में १ की सिद्धि अवस्था में नीचे के अंश सिद्ध नहीं होंगें, जितनी अधिक अंश वाली रक्तरस से यह प्रतिक्रिया सिद्ध हो उतना ही रोग का निश्चय ज्यादा होता है, अर्थात ५० में १, २०० में १ रक्तरस से प्रतिक्रिया रोग की निश्चित पहिचान नहीं, परन्तु १०० में १, ३०० में १, ४०० में १ वाले रक्तरस से सिद्ध प्रतिक्रिया निश्चयात्मक रोग की पहिचान है अर्थात् उत्तरोत्तर अंश से प्रतिक्रिया सिद्धि रोग की अधिकाधिक द्योतक है।

अमीबिक प्रवाहिका की पहिचान मल परीक्षा से होती है, परन्तु बैसिलरी प्रवाहिका की पहिचान अग्लूटीनेशन टेस्ट द्वारा हो सकती है।

विशूचिका की पहचान मल परीक्षा द्वारा होती है।

आन्त्रिक ज्वर

पर्याय—आन्त्रिक ज्वर, तोरकी, मुबारकी, मोतीभरा, मन्थर ज्वर, एन्टरिक फीवर (Enteric Fever), टाइफाइड फीवर (Typhoid Fever)।

परिचय—यह एक तीव्र संक्रामक रोग है, जिसमें क्षुद्रान्त्र की लसीका-ग्रन्थि समूहों में शोथ और व्रण हो जाते हैं। ज्वर शनैः शनैः चढ़ कर कुछ काल सम रहकर शनैः शनैः उतर जाता है। इसमें प्रायः तीन सप्ताह लग जाते हैं।

कारण—इसका कारण एक विशेष प्रकार का दण्डाकार कीटाणु

है जिसे "बैसीलस टाइफोसस (Bacillus Typhosus)" कहते हैं। यह कीटाणु रोगी के आन्त्रिक व्रण, मूत्राशय, पित्ताशय, प्लीहा, रक्त और शरीर पर पीड़िकाओं में रहता है। रोगी के मल-मूत्र और कभी-कभी स्वेद में भी कीटाणु उपस्थित होता है।

इसका कीटाणु उष्णता से शीघ्र मर जाता है, परन्तु बर्फ और पानी में बहुत देर तक जीवित रहता है, कीटाणु-युक्त बर्फ और सोडा लेमन से भी रोग फैलता है शुष्कता से शीघ्र नाश नहीं होता, अतः टायफाइड के मल और मूत्र के दूषित कण शुष्क अवस्था में रोग फैलाने का कारण बन सकते हैं। गन्दी नालियों से, दूषित नदी, नाला, तालाब, सागर आदि स्थानों से यह कीटाणु छोटी मछलियों में जाता है, और बहुत काल तक उनमें जीवित रहता है ऐसी मछली खाने से भी रोग फैल सकता है। दुग्ध, छाछ, मक्खन में इस कीट की वृद्धि शीघ्र होती है।

अध्याय ६ में वर्णित दुष्ट आहारजन्य रोगों के प्रसार के जो कारण लिखे हैं वे सब इसमें घटते है। इस रोग में संक्रामक वाहक रोग के फैलाने का विशेष साधन बनते हैं। १०० रोगी में से ५५ रोगी ऐसे होते हैं जिनमें रोग-मुक्ति के कई-कई सप्ताह व महीनों बाद तक रोगी के मल और सूत्र में यह कोटाणु निकलता रहता है। तथा अनेक व्यक्तियों में ऐसा भी देखा गया है कि कीटाणु शरीर के अन्दर जाते हैं और वृद्धि भी पाते हैं, परन्तु रोग उत्पन्न नहीं करते, मल-मूत्र में कीटाणु निकलते रहते हैं, यहीं से रोग प्रसार का साधन बनते हैं, ऐसे दोनों प्रकार के व्यक्ति बहुत भयानक होते हैं जो गुप्त रूप से रोग प्रसार के साधन बने रहते हैं। आन्त्रिक ज्वर प्रायः सम्पूर्ण भूमण्डल पर होता है परन्तु अधिकतर उष्ण प्रदेश में, वहाँ पर भी ग्रीष्म और वर्षा ऋतु में, ज्यादा होता है।

सम्प्राप्ति - रोगाणु अन्त्र में जाकर वहाँ की दीवार में स्थित लसीका-ग्रन्थि समूह में शोथ पैदा कर देते हैं। यह शोथ धीरे-धीरे बढ़ती जाती

है, दूसरे सप्ताह में वहाँ व्रण बन जाते हैं और उनके ऊपर से श्लैष्मिक कला के टुकड़े उभरने लगाते हैं। उदर कला की लसीका ग्रन्थियां भी सूज जाती हैं और पीड़ा करती हैं। यकृत और प्लीहा की वृद्धि हो जाती है। व्रण के बढ़ने से यदि रक्तवाहिनी उसके अधिकृत में आकर फट जाय तो रक्तस्राव (मल द्वारा) होने लगता है, तथा व्रण जब अन्त्र की दीवार को फाड़कर उदरक कला तक पहुँच जाय तो उदरक कला में शोथ पैदा कर देता है।

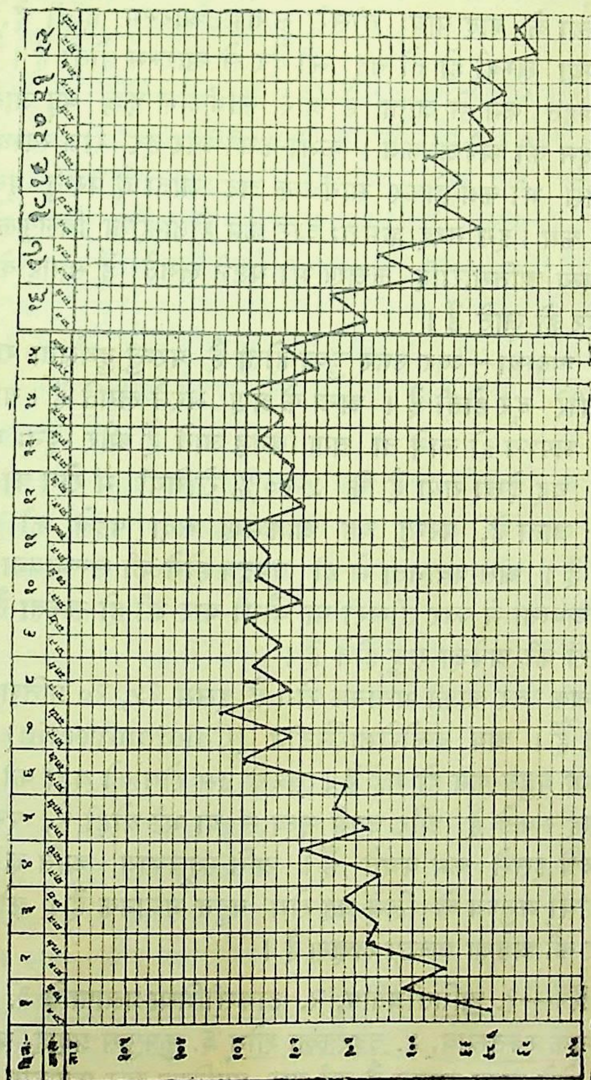
परिपाक काल—१० से १४ दिन और सीमा ५ से २० दिन से है।

लक्षण—यह रोग शनैः-शनैः आरम्भ होता है। आरम्भ में शिरःशूल, अङ्गमर्द और अवसादादि लक्षण प्रतीत होते हैं, किंचित् ज्वर भी होता है। दिनोंदिन लक्षण तीव्र होते जाते हैं, ज्वर बढ़ता जाता है, एक दो दिन तो रोगी चलता-फिरता यथा साधारण कार्य करता रहता है परन्तु दो-चार दिन में शय्या की शरण ले लेता है। ताप अब भी शनैः शनैः प्रतिदिन अधिकाधिक होता जाता है। नाड़ी की गति ज्वर की अपेक्षा मन्द होती है। जिह्वा मलिन और श्वेत होती है, उसमें लाल-लाल किंचित् उभरे हुए अंकुर दिखाई देते हैं, इसकी फूंग तथा किनारे लाल होते हैं कभी-कभी कोष्ठबद्धता होता है परन्तु प्रायः मल उतरता है। उदर वायु पूर्ण होता है और नाभी के नीचे भाग में दाबने स पीड़ा होती है। प्लीहा और यकृत बढ़े हुए प्रतीत होते हैं। सात दिन तक या कभी-कभी इससे पहले भी ज्वर अपनी सीमा (१०४–१०५ फा०) तक पहुँच जाता है, कभी-कभी ज्वर आरम्भ से ही तीव्र होता है।

द्वितीय अवस्था—सात दिन में ज्वर अपनी सीमा तक पहुँचकर प्रायः सप्ताह भर वहीं स्थिर रहता है. दुर्बलता बढ़ जाती है तथा अन्य लक्षण भी तीव्र हो जाते हैं। कभी-कभी प्रलाप और कम्पादि लक्षण भी होते हैं। दूसरे सप्ताह के आरम्भ में उदर पर गुलाबी रंग की पीड़िकाएं निकल आती हैं जो दबाने से थोड़े काल के लिए मिट जाती

हैं और फिर निकल आती हैं। ये पीड़िकाएं गौर वर्ण वालों में ही स्पष्ट प्रतीत होती हैं गेहूँ तथा कृष्ण वर्ण के रोगियों में नजर नहीं आतीं। कभी-कभी शरीर पर विशेषतः ग्रीवा, वक्ष और उदर पर श्वेतवर्ण की साबूदाने के समान छोटी-छोटी पीड़िकाएँ निकल आती है, जिनको प्रायः लोग आन्त्रिक ज्वर की पीड़िकाएं कहते हैं, परन्तु यह ऐसा नहीं वास्तव में ये स्वेदग्रन्थियों के मुख पर शोथ के कारण होती हैं, जो ग्रीष्म ऋतु में अतिस्वेद से प्रत्येक सन्तत ज्वर में हो सकती हैं जैसा ज्वराधिकार में लिख आये हैं। जिह्वा शुष्क होती है और फट जाती है। होठों वा दांतों पर मल जमा हो जाता है, यदि पहले सप्ताह में अतिसार हो तो बढ़ जाता है परन्तु आधमान रहता ही है। मुख की आकृति चिन्ता-शून्य, आँखें स्तब्ध और तेजहीन होती हैं। दूसरे सप्ताह में यदि रोग उग्र हो तो ज्वर अधिक बढ़ जाता है, प्रलाप होने लगता है, ब्रांको-निमोनिया के लक्षण तीव्र हो जाते हैं, अन्त में रोगी सन्यस्त होकर मर जाता है। यह प्रायः १० दिन के बाद में होता है। कभी-कभी तो तीसरे चौथे सप्ताह में भी ऐसा हो सकता है, दूसरे सप्ताह के अन्त में या तीसरे सप्ताह में रक्तस्राव या उदरक कला शोथ हो जाने का भय रहता है, जिस रोगी में आनाह, आध्मान हों उनमें ही ये उपद्रव होते हैं, विशेषकर जब अतिसार भी जहाँ साथ उपस्थित हो; ये उपद्रव घातक उपद्रव हैं। यदि व्रणों में धमनिका आदि फट जाय तो मल के साथ रक्त भी आने लग जाता है। यदि व्रण बढ़ते-बढ़ते अन्त्र की दीवार को पार कर जाएं तो उदरक कला शोथ पैदा कर देते हैं। यह अवस्था बड़ी भयानक होती है। इसी में अतितीव्र ताप, टाक्सीमिया, अतिसार, रक्तस्राव, या उदरक कला शोथ से मृत्यु हो जाने का भय रहता है। कभी-कभी यह अवस्था बड़ी लम्बी हो जाती है। एक सप्ताह से बढ़कर २, ४, ६ सप्ताह तक भी चली जाती है।

तृतीय अवस्था—में ज्वर शनैः शनैः कम होने लगता है यह अवस्था



चित्र २७
आन्त्रिक ज्वर

दूसरी अवस्था के बाद प्रायः तीसरे सप्ताह आरम्भ होती है, जब दूसरी अवस्था लम्बी हो तो यह भी देर से आरम्भ होती है। प्रातः काल ज्वर बहुत कम हो जाता है और सायंकाल कुछ बढ़ जाता है परन्तु पूर्वदिन की अपेक्षा कम। कभी-कभी ज्वर हर रोज स्वस्थ रेखा तक या इससे भी कम होकर सायंकाल चढ़ जाता है परन्तु पूर्व दिन की अपेक्षा कम। इस तरह क्रमशः ज्वर कम होता-होता बिलकुल उतर जाता है अन्य अतिसारादि लक्षण भी घटने लगते हैं सप्ताह के अन्त तक सब दूर हो जाते हैं।

चतुर्थ अवस्था—ज्वर उतर चुका होता है परन्तु दुर्बलता रहती है यह धीरे-धीरे दूर होती है। अन्त्र के व्रण भरने लगते हैं। यदि इस सप्ताह में अपथ्य हो जाये तो व्रण बिगड़ जाते हैं और पुनः ज्वर हो जाता है। यह देखा गया है कि ५-१०% रोगियों में रोग का पुनराक्रमण हो जाता है, परन्तु यह आक्रमण सदा पहले की अपेक्षा मृदु होता है। असावधानता से ही उपद्रव होने की सम्भावना रहती है विरल अवस्था में ज्वर तीसरी या चौथी बार भी हो सकता है परन्तु ये पूर्व दौरों की अपेक्षा मृदु होते हैं।

आन्त्रिक ज्वर काफ़ी भयानक रोग है इसमें १५, २० प्रतिशत रोगी मर जाते हैं। अब क्लोरोमाईसेटीन (Chloromycetin) से यह मृत्यु संख्या बहुत कम हो गई है। बच्चे इस रोग को बड़ों की अपेक्षा अच्छा सह सकते हैं और उनमें मृत्यु संख्या भी थोड़ी है, परन्तु दूध पीते बच्चे इससे कम बचते हैं। अति स्थूलकाय, अति क्षीणकाय, तथा शराबी मनुष्य के लिये यह रोग बहुत भयानक है। कोष्ठबद्धता अतिसार की अपेक्षा अच्छा लक्षण है।

उपद्रव—१. अतितीव्रताप, २. टाकसीमिया-प्रलापादि ३. आध्मान ४. आन्त्रिक रक्तस्राव, ५. उदरकला शोथ ६. फुफ्फुस प्रदाह, यह सबसे अधिक होने वाला उपद्रव है कई बार आन्त्रिक ज्वर फुफ्फुस प्रदाह के

साथ ही आरम्भ होता है ७. वृक्क शोथ, ८. शय्या व्रण, ९. रक्त सकन्दन विशेषकर उरुकी शिरा में।

रोग-मीमांसा- लक्षणों से रोग पहचानना कठिन नहीं। ज्वर का क्रमशः चढ़ना, ताप की अपेक्षा नाड़ी की गति का मन्द होना और जिह्वा का वर्ण इसे बिलकुल स्पष्ट कर देते हैं। परन्तु जब ज्वर अकस्मात् या शीघ्र ही अपनी सीमा पर पहुँच जाय तो इसे विषम-ज्वर एवं अन्य सन्तत ज्वरों से पृथक् करना कठिन होता है। इसमें सीरम की "विडाल परीक्षा" और रक्त, मल या मूत्र से कीटाणु वृद्धि करके रोग की पहचान की जाती है रक्त में से कीटाणु वृद्धि तीसरे दिन भी प्राप्त की जा सकती है तथा मूत्र में ड्याज़ो क्रिया की सिद्धि भी बहुत कुछ रोग के ज्ञान में सहायता देती है।

मूत्र से आन्त्रिक ज्वर का ज्ञान प्राप्त करने के लिये यह भी एक विशेष विधि है जिसको ड्याजो (Diazo) परीक्षा कहते हैं।

निम्नोक्त दो विलयन तैयार करें (क) ५ प्रतिशत हाइड्रोक्लोरिक एसिड (Hydrochloric acid=लवणाम्ल) में सल्फेनिलिक एसिड (Sulphanalic acid) का घन विलयन बनायें। (ख) सोडियम नाइट्राइट (Sodium Nitrite) का ५ प्रतिशत विलयन बनायें, दोनों विलयन ताजे होने चाहिए।

मूत्र में समभाग "क" विलयन डालें, इसमें ३ बूँद "ख" की डालें और अच्छी तरह हिलायें इतने तक की झाग उत्पन्न हो जाय। इसमें अमोनिया डालें यदि निम्नोक्त रोगों में से कोई रोग होगा तो तरल और झाग का रंग लाल हो जायगा। आन्त्रिक ज्वर, रोमान्तिका, मसूरिका, फुफ्फुस प्रदाह, और अतितीव्र राजयक्ष्मा में भी सिद्ध हो जाती है।

यह परीक्षा आन्त्रिक ज्वर के दूसरे और तीसरे सप्ताह में की जा सकती है। मृदु अवस्था में थोड़ी होती है और कभी कभी नहीं भी होती।

चिकित्सा—आन्त्रिक ज्वर के रोगी के मलादि के निराकरण का समुचित प्रबन्ध होना चाहिए। परिचारक को अपनी वा दूसरों की रक्षार्थ स्वच्छता का विशेष ध्यान रखना चाहिए। इसके लिये प्रतिरोधक वैक्सीन (T. A. B. Vaccine) का इंजेक्शन बहुत लाभदायक है।

इस रोग में चूँकि अन्त्र में व्रण हो जाते हैं इसलिए भोजन की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। भोजन सदा मृदु और तरल हो, कोई भी कठिन खाद्य पदार्थ न दिया जाय। अन्यथा व्रण बढ़ जायेंगे और ज्वर तीव्र हो जायगा।

रोगी को पूर्ण विश्राम देना चाहिए। मल-मूत्र त्यागने के लिये भी चारपाई से न उठने दें। लेटे-लेटे ही सब क्रियायें होनी चाहिएं। किञ्चिन्मात्र श्रम से भी रोग बढ़ने की सम्भावना रहती है। सदा लेटे रहने से शय्या-व्रण हो जाने का भय रहता है। अतः रोगी के पार्श्व बदलते रहें और शरीर पर शुद्ध मद्य सार (रैक्टीफाइड स्पिरिट) लगाकर जिंक बोरिक स्टार्च, डस्टिङ्ग पाउडर मल दें। यदि रोग लम्बा हो जाय तो उसके नीचे वायु या जल का थैला बिछौने के स्थानपर बिछा देना चाहिए। जैसे-जैसे उपद्रव पैदा हों वैसे-वैसे उनकी चिकित्सा करनी चाहिये। यदि कोष्ठबद्धता हो तो मृदु विरेचन दें (देखो ज्वराधिकार चिकित्सा) और यदि अतिसार हो तो सिद्ध प्राणेश्वर रस, कर्पूरेश्वर रस, शंख भस्म, पाठादि क्वाथ या कर्पूरासव द्वारा तुरन्त उपचार करें।

रोगी के शरीर को साफ और स्वच्छ रखना चाहिए, प्रतिदिन अङ्ग-प्रोञ्छन करते रहें, मुख और दांतों को भी साफ करते रहें, अङ्गप्रोञ्छन के बाद शरीर को सुखा कर उन भागों पर स्पिरिट लगायें, जहाँ हड्डियाँ उभरी हुई हों तत्पश्चात् बोरिक एसिड अथवा अन्य कोई शरीर पर लगाने का पाउडर लगायें, इससे शय्या व्रण नहीं होते, दुर्बल, क्षीण और वृद्ध रोगियों का पार्श्व बदलते रहें ऐसा न करने से शय्या व्रण का भी भय रहता है, तथा फुफ्फुसों में रक्त-संचार के जमा हो जाने से रक्त-संचयज

श्वसनक ज्वर (Hypostatic Pneumonia) भी हो जाता है। चिकित्सक को चाहिए कि मल और मूत्र की परीक्षा करता रहे, आन्त्रिक ज्वर के रोगी की उदर परीक्षा नित्य प्रतिदिन करनी चाहिए। समय पर अतिसार एवं आध्मान को रोकने से भयानक उपद्रव और उनके घातक परिणामों का निवारण हो सकता है।

इस रोग में दूध सर्वोत्तम आहार है, कम से कम दिन भर में १॥ सेर दूध अवश्य देना चाहिए, एक बार अधिक न देकर २–३ घण्टे के अन्तर से थोड़ा-थोड़ा दें, रात्रि में सोये हुए रोगी को न उठायें, यदि दूध से अतिसार अथवा आध्मान या अजीर्ण की प्रवृत्ति हो तो इसमें यवयूष, चूर्णोदक (Limewater) अन्यथा सौंफ शृत जल को यथावस्था दूध का तिहाई या चौथाई भाग मिला कर दें, दूध में चाय या काफी मिलाकर भी दे सकते हैं। बीच-बीच में फलस्वरस भी दें, ठण्डा दूध देने में कोई हानि नहीं, इससे विकार उत्पन्न नहीं होते, आईसक्रीम भी यथोचित अवस्था में दे सकते हैं, यदि इस तरह भी दूध न पचे तो पिप्पली शृत दूध बनाकर अथवा दूध के साथ सोडियम साइट्रेट (Sadium citrate) ग्रेन ५ से १० अथवा लैक्टिक एसिड (Lactic acid) की गोलियां दे सकते हैं। यदि ऐसे भी पाचन नहीं हो और उदर में अफारा या मल में छिछड़े आने लगें तो फटे दूध का पानी दे सकते हैं, अथवा प्रोटीन हाइड्रोलाईज्ड (Protein Hydrolised–अर्द्ध पची प्रोटीन) का प्रयोग करायें।

साथ-साथ पानी किंवा यवयूष, लाजपेया आदि तरल पदार्थ पर्याप्त मात्रा में, परन्तु थोड़ी-थोड़ी मात्रा में दें, दिन में यदि २-२½ या ३ सेर तरल पेय पदार्थ रोगी लेता रहे तो बहुत अच्छा है, १½–२ सेर दूध या इसके बराबर अन्य आहार तथा पेय पदार्थ मिलता रहे तो टाक्सीमिया, तीव्रताप, प्रलाप, रक्तस्राव, उदरक कला शोथ आदि नहीं होने पावे (विस्तार ज्वरातिसार की चिकित्सा में देखें)।

विशेष चिकित्सा – क्लोरोमाईसिटीन (Chloromycetin) टाईफायड के लिये रामबाण का काम करती है। २–३ दिन में ज्वर उतर जाता है। २५० मिलीग्राम के २–२ केप्शूल हर ४–४ घंटे बाद दिन रात लगातार देने चाहिये अथवा १-१ गोली हर २–२ घंटे बाद दें बीच में भूल न होने पाये। ज्वर उतरने के बाद ४८ घंटे तक इसी क्रम को जारी रखें। बाद में २–२ गोली हर ८ घंटे बाद २-३ दिन तक दें।

क्लोरोमाईसिटीन के स्थान पर सिन्थोमाईसिटीन (Synthomycetin) या एक्रोमाईसीन आदि जो उसी के रूप हैं इसी क्रम और मात्रा से दे सकते हैं।

रोगी चिकित्सा के लिये हमारे पास तब आये जब उसे मूर्च्छा हो चुकी हो और औषधि खा न सके तब इसका इंजेक्शन दो बार दिन में दें तब तक इंजेक्शन दें जब तक सुध में न आये, ज्योंही मुख द्वारा औषधि लेने के योग्य हो जाय। प्रायः इस अवस्था में आये हुए रोगी को बचाना कठिन होता है।

उपद्रव चिकित्सा—यदि उपचार सुश्रूषा, आहार आदि उचित प्रकार से दिये जाते रहें तो उपद्रव होते ही नहीं अति तीव्रताप, परिधि रक्तसंचार शिथिलता (Periphoral circulatory Failure) सन्यास या मूर्च्छा (coma) उपद्रवों की चिकित्सार्थ ज्वराधिकार देखें, अन्य उपद्रवों की चिकित्सा नीचे दी जाती है।

आध्मान—उचित आहार से आध्मान भी नहीं होना चाहिए यदि आध्मान हो तो दूध और शक्कर बन्द कर दें, फटे दूध का पानी दें, या अण्डे की सफेदी का पानी दें।

अण्डे का पानी बनाने की विधि—अण्डे को फोड़कर उसका पीला भाग निकाल दें और सफेद भाग को १ कप पानी में खूब मिला दें।

अन्ततः प्रयोगार्थ निम्नोक्त औषधियाँ बरती जा सकती हैं।

(१) साधारण अवस्था में शंखवटी, गन्धकवटी, लशुनादिवटी, जम्बीर द्राव से लाभ होता है, परन्तु अतितीव्र अवस्था में इनसे लाभ प्रतीत नहीं होता।

(२) हिंग्वादि वटी पीसकर १ गोली अर्क सौंफ से हर ३ घण्टे बाद देवें। हिंग्वादि वटी निर्माणविधि—भुनी हींग, सोंठ, मिर्च, पीपल, पाठा, हाऊबेर, बड़ीहरड़ का छिलका, कचूर अजमोद, अजवायन, तिन्तड़िक, अम्लबेत, अनारदाना, पोहकरमूल, धनिया, जीरा, चित्रक, बच, यवक्षार, सज्जीखार, सैन्धव, कालानमक, ये सब द्रव्य समभाग, बिजोरे के रस में घोटकर गोली बनावें।

(३) (क) सौंफ ४ माशा, इलायची मोटी १ माशा, अजवाइन २ माशा, सोंठ २ माशा, दालचीनी २ माशा, लवंग १ माशा, पोदीना १ माशा, इसका १ तोला लेकर १ कप पानी में उबालें जब चतुर्थांश रह जावे तो उतार कर छानकर पिला दें, यथा आवश्यक रोगी की रुचि होवे तो किञ्चित् नमक भी मिला सकते हैं।

(ख) अर्क अजवायन, अर्क सौंफ, अर्क पोदीना, अर्क जीरा, इन सब को मिला कर दिन में ५–७ बार पिलावें।

(ग) सत्व दालचीनी, सत्व लवंग, सत्व अजवायन, सत्व सौंफ सब एक एक बिन्दु, पीपरमेण्ट $\frac{1}{8}$ रत्ती, कपूर $\frac{1}{8}$ रत्ती मिलाकर कैपस्यूल में भरकर हर ४ घण्टे बाद देवें।

(४) १० से १५ बिन्दु तारपीन को कैपस्यूल में बन्द करके अथवा गोंद कतीरा या गम अकेशिया (Gum Acacia) में अवलम्बित करके पानी का घोल बनाकर दें। ऐसी मात्रा प्रति ६–८ घंटे पर देने से विशेष लाभ होता है।

(५) पेट के ऊपर गर्म सेंक करें। (गर्म सेंक करने की विधि:—किसी खुले बर्तन में १ सेर पानी उबलता रखें इसमें २–३ माशा (२–३ ड्राम)

तारपीन का तेल डालें, २ टुकड़े फलालेन के लें (फलालेन नहीं मिले तो लिएट या मोटे खद्दर के टुकड़े ले सकते हैं) एक टुकड़ा इतना होना चाहिये जिसकी चार तह करने पर पेट पर बराबर आ जाये, एक तह किये टुकड़े को उबलते पानी में डालें उसको चिमटे से पकड़कर (तह किये हुये ही) तत्काल निकाल लें, निकालकर रूमाल में या किसी कपड़े में रख दें, उस कपड़े के दोनों सिरों को पकड़कर निचोड़ लें ताकि पानी उसके बाहर निकल जावे अब फलालेन के टुकड़े को खोलकर फटकार दें और शीघ्रता से तह कर पेट पर रख दें, इसके ऊपर अन्य गर्म कपड़ा या सूती कपड़ा रखें, जिससे वह ठण्डा न होने पावे, इसी प्रकार दूसरे फलालेन के टुकड़े को गर्म करके पेट पर रखें बारी-बारी फलालेन बदलते रहें और सेंक करते रहें, इस प्रकार २०–३० मिनट तक सेंक करें और ४ घण्टे बाद फिर ऐसा करें।

(६) पेट के ऊपर गुग्गलु, हींगु, एलुवा, अहिफेन घिसकर लगावें, अथवा खल्ली को थोड़ी हींग और एलुवा मिलाकर लेप करें।

(७) साधारण जल के अनीमा में ४ ड्राम तारपीन तेल मिलाकर दें, इससे उत्तम यह है कि १ औंस निशास्ते को ८ औंस पानी में मिश्रित करके इसमें ४ ड्राम तारपीन का तेल मिलायें और लम्बी ट्यूब द्वारा अनीमा दें ताकि मलाशय से ऊपर बृहदन्त्र में पहुच सके, वहाँ यह ठहर जायगा और आध्मान कम करेगा।

(८) अन्त्र की वायु निष्कर्षणार्थ फ्लैटस ट्यूब (Flatus tube) डालें, यदि यह ट्यूब न हो तो साधारण बड़े से बड़ा (१२ नम्बर का) रबर कैथीटर गुदा द्वारा पेट में डालें, कम से कम १ फुट अन्दर जाना चाहिए वायु बाहर निकल जावेगा। कितनी वायु बाहर निकली यह देखने के लिए ट्यूब का बाहर का सिरा पानी में डुबो रखें।

(९) अत्यन्त आध्मान में मुख द्वारा आहार बन्द कर दें, शिरागत इंजेक्शन द्वारा ग्लूकोज २५% का १०० सी. सी. या २०० सी. सी. दें.

तथा इसके साथ प्रोटीन हाईड्रोलेज (इंजेक्शनार्थ) दें, या दूध पाव भर लेकर इसमें खूब शक्कर मिलावें जिससे गाढ़ा हो जावे, गर्म करके ठण्डा करें और कवोष्ण रहने पर ऊँची वस्ति दें जिससे वह अन्दर रह सके यह आध्मान कम करेगी और पाचन भी करेगी। शक्कर वस्ति द्वारा देने से लाभ करता है और मुख द्वारा देने से ऐसे रोग में आध्मान अतिसार आदि करता है।

अतिसार—अनेक रोगियों में साधारण अतिसार इस रोग में रहता ही है। यदि १–२ या ३ साधारण पतला मल उतरे तो उसकी चिन्ता की आवश्यकता नहीं, यदि अधिक हो या मल में छिछड़े आने लगें तो चिकित्सा की आवश्यकता पड़ती है, साधारण अतिसार में आहार के किञ्चित् परिवर्तन से लाभ हो जाता है, आहार परिवर्तन के सम्बन्ध में आध्मान चिकित्सान्तर्गत लिख आये हैं। प्रायः ऐसे रोगियों में मल की प्रतिक्रिया अम्लीय होती है, इसकी लिटमस पेपर द्वारा परीक्षा कर लेनी चाहिए, अन्त्र के अन्दर शक्कर की सड़ांद के कारण मल में अम्लीयता उत्पन्न होती है। ऐसी अवस्था में शक्कर, फलस्वरस, माँसरस तथा शाक तरकारी का यूष कम-से-कम १-२-३ दिन बन्द कर देना चाहिए, यदि आवश्यकता प्रतीत हो तो अधिक काल तक बन्द कर दें, इनके स्थान पर दही, छाछ, फटे दूध का पानी, अण्डे का पानी, प्रोटीन हाइड्रोलेट दे सकते हैं। यदि मल में छिछड़े आने लगें तो दूध में बार्ली वाटर अर्थात् यवयूषचूर्णोदक मिला कर दें, यदि अतिसार इन उपायों से बन्द न हो तो औषधि उपचार करने चाहिये।

औषधि उपचार—आनन्द भैरव, (ज्वर-अतिसार) गङ्गाधररस, कर्पूररस, हेमगर्भपोटलीरस में कोई सा १ रत्ती, शंखभस्म में से २–४ रत्ती पानी के साथ के या हिंग्वाष्टक में मिलाकर दें अथवा मेथी के बीज, सौंफ, जीरा इनको अर्ध भृष्ट करके मिलाकर १ माशा दे सकते हैं।

अथवा बिसमथ इमलशन दे सकते हैं, न वश में आनेवाले अतिसार

में त्रिफला के क्वाथ की वस्ति का प्रयोग करें कई बार इस प्रकार रोग शान्त हो जाता है। अथवा नमक का पानी (सेलाइन) की वस्ति दे सकते हैं, जब इस प्रकार भी वश में न आये तो खाना बिलकुल बन्द कर दें और शिरा द्वारा ग्लूकोज २५% या प्रोटीन हाइड्रोलाईज्ड ५० से १०० सी० सी० दिन में २-३ बार दें।

रक्तस्राव—यह स्मरण रहे कि अवशीकृत अतिसार में ही प्रायः व्रण से रक्तस्राव का भय रहता है। रक्तस्राव दूसरे सप्ताह के बाद तीसरे सप्ताह या इसके भी बाद में होता है। प्रायः यह अवशीकृत अतिसार का उपद्रव है, रक्तस्राव होने पर ताप कम हो जाता है, नाड़ी मन्द, (गति) तीव्र और मृदु हो जाती है, और अन्त में अत्यन्त क्षीण हो जाती है। रक्तस्राव का ज्ञान होते ही रोगी को ¼ ग्रेन मार्फिया का इंजेक्शन दे देवें।

वक्तव्य—व्रण के कारण अन्त्र की दीवार में छिद्र हो जाने से यदि उदरक कला शोथ हो जाये तो मार्फिया का देना बहुत हानिकर है। अतः जब तक रक्तस्राव का पूर्णज्ञान न हो जावे और अन्त्र की दीवार का फटने का डर अभी हो तो मार्फिया नहीं देना चाहिए। यह स्मरण रहे कि ये दोनों उपद्रव अतिविरल अवस्था में ही इकट्ठे पाये जाते हैं, वस्तुतः इनका एक साथ होना असम्भव नहीं तो अतिविरल अवश्य है। अतः अन्त्र द्वारा रक्तस्राव में मार्फिया देना ही चाहिए, जहाँ सन्दिग्ध अवस्था हो तो वहाँ सबसे उत्तम ट्यूनाल (Tuinal), अमिटाल (Amytol), गार्डिनाल (Gardinal), ओरटाल (Ortal) देना अच्छा है। पेट के ऊपर बर्फ की पट्टी रखें, थैली (बोतल) न रखें, रोगी की शय्या के पैर ऊपर कर दें। मुख द्वारा आहार बिलकुल बन्द कर दें। यदि आवश्यकता हो तो २४-४८ घण्टे के बाद ग्लूकोज शिरागत इंजेक्शन द्वारा दें। कोई भी औषधि मुख द्वारा नहीं देनी चाहिए (Glucose

25% या Protein Hydrolase) 100 c.c. शिरागत इंजेक्शन द्वारा दे दें।

रक्तस्राव बन्द करने के लिये निम्नोक्त औषधियाँ दें :

(1) Coagulum-Ciba 20 c. c. (2) Calcium Gluconate 10% २५ c.c. (3) Vitamin K 500 mgms (4) Venemootale one ampule.

ये औषधियाँ एक साथ या अलग-अलग दें और हर १२ घण्टे में पुनः देते रहें। ३ दिन में रोगी या तो अच्छा हो जाता है या अन्त तक पहुँच जाता है। यदि यह उपद्रव शान्त हो जायँ तो रोगी को विबन्ध हो जाता है, उसकी चिन्ता न करें, यदि कई दिन तक मल नहीं आवे तो ग्लीसरीन की पिचकारी अथवा कैस्टरऑयल या ओलिव आयल युक्त वस्ति दें।

अन्त्र की दीवार का फट जाना—यदि व्रण बढ़ते-बढ़ते अन्त्र को पार कर दे तो उदरक कला शोथ हो जाती है, यह घातक उपद्रव है, टॉइफाइड के रोगी में पहले सप्ताह के बाद अकस्मात् उदर शूल की उत्पत्ति को भय की दृष्टि से देखें। विशेषकर जिस रोगी में पहिले से आध्मान उपस्थित हो। यह उपद्रव प्रायः सदा आध्मान के अनुगत होता है।

इस उपद्रव की उत्पत्ति के लक्षण ये हैं:—अकस्मात् उदर में पीड़ा इसके साथ वमन उत्क्लेश हैं, ताप अतिन्यून हो जाता है, नाड़ी और श्वास की गति तीव्र हो जाती है, उदर स्तब्ध और आध्मापित प्रतीत होता है।

इसका औषधि उपचार कोई नहीं सदा रोगी मर ही जाता है, यदि बचने का कोई साधन है तो शल्यक्रिया द्वारा है। शल्यक्रिया द्वारा उदर की दीवार में छिद्र करके उदरक कला का उचित विलयनों से प्रक्षालन करते हैं। प्रक्षालन क्रिया भी तभी सफल होती है जब अन्त्र फटने के

तत्काल बाद की जावे, और रोगी में शल्यक्रिया के सहन की शक्ति भी हो, ये रोगी इतने क्षीण होते हैं कि प्रायः मेज पर ऑपरेशन करते समय ही मर जाते हैं। इसे घातक उपद्रव ही समझना चाहिये। काय चिकित्सक के अधिकार से बाहर होने के कारण रोगी के सम्बन्धियों को सब बातें स्पष्ट कह देनी उचित हैं।

लघ्वान्त्रिक ज्वर

पर्याय—पराटाईफाइड, Para Typhoid.

इसके प्रधान्यतः २ भेद हैं, पराटाइफाईड (क) (ख) (A.B.)। इन दोनों का प्रसार आन्त्रिक ज्वर के समान ही है, इनके कीटाणु पृथक्-पृथक् हैं, इनकी परस्पर पहिचान विडाल परीक्षा (Agglutination test) द्वारा ही होती है।

लक्षण—पराटाइफाइड ए. और बी० के लक्षण आन्त्रिक ज्वर की भाँति होते हैं, इनका आरम्भ बहुधा अकस्मात् होता है, वेग मन्द और मृदु होते हैं, तथा काल प्रायः थोड़ा होता है, ज्वर अनियमित सा होता है, इन ज्वरों में पीड़िकायें इसी प्रकार निकलती हैं जैसे आन्त्रिक ज्वर में, परन्तु ये पीड़िकायें किञ्चित् बड़ी होती हैं।

इनकी आन्त्रिकज्वर से पहिचान भी विडाल टेस्ट द्वारा ही होती है।

पराटाइफाइड सी के लक्षण भिन्न भिन्न रोगियों में भिन्न-भिन्न होते हैं, कभी मृदु आन्त्रिक ज्वरवत् होते हैं ए. बी. की अपेक्षा ज्वर लम्बे काल तक रहता है। कभी ज्वर के साथ वमन, अतिसार अथवा प्रवाहिका आदि लक्षण उपस्थित होते हैं, जिसके कारण इसकी पहचान कठिन हो जाती है केवल रक्त परीक्षा (Widal test) से ही इसका ज्ञान होता है। इसमें विशेष उपद्रव नहीं होते, यदि हों तो साधारण और मृदु होते हैं, यथा कास, आध्मान, साधारण अतिसार, इनके परिणाम अभीष्ट नहीं होते।

चिकित्सा—इनकी चिकित्सा आन्त्रिक ज्वरवत् ही है, इनमें विशेष भय की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। इसके लिये विशेष औषधि क्लोरोमाईसिटीन है।

माल्टा ज्वर (Malta Fever)

यह एक चिरस्थायी अनियमित ज्वर है जो बकरी या गौ के दूध द्वारा प्रसार पाता है। इसमें सन्धिशूल, अत्यधिक स्वेद, प्लीहा-वृद्धि और अनियमित तापादि लक्षण होते हैं।

कारण—बकरी के दूध से होने वाला माल्टा ज्वर का कारण एक विशेष प्रकार का बिन्दुकाकार कीटाणु है, जिसको "माइक्रो के दूध से होने वाले मालटा ज्वर काकस मेलिटेन्सिस" (Micro coccus Melitensis) कहते हैं। गौ का कारण ब्रूसिल अभार्टेन्ज (Brucilla Abhortans) है। बकरियों में कोई विशेष लक्षण नहीं होते दूध भी अच्छा देती हैं परन्तु गौ में इस रोग में गर्भपात हो जाता है और दूध भी कम हो जाता है। यह रोग वास्तव में बकरियों या गौओं का है। उनके रक्त, पित्त, मल, मूत्र और दूध में इसका कीटाणु उपस्थित होता है। रुग्ण बकरी या गौ का दूध पीने से ही यह रोग मनुष्यों में चला जाता है। मनुष्य से मनुष्य में भी संक्रमण हो सकता है परन्तु बहुत कम। चूँकि यह माल्टा द्वीप में बहुत होता है और पहले-पहल वहीं से पता लगा था, अतः इसे "माल्टा फीवर" कहते हैं। आबाल वृद्ध स्त्री पुरुष सभी को समान रूप में होता है।

सम्प्राप्ति—इसका कीटाणु अन्त्र से रक्त में जाकर ज्वर उत्पन्न कर देता है, अन्त्र में कोई विशेष विकार तथा लक्षण उत्पन्न नहीं होते, केवल उदरक कला की लसीका ग्रन्थियां में शोथ होती है और वे किञ्चित् बढ़ जाती है।

परिपाककाल—लगभग १५ दिन।

लक्षण—रोग धीरे-धीरे आरम्भ होता है। पहले कुछ दिन तक रोगी को शिरःशूल, अङ्गमर्द, उत्क्लेश, वमन आदि लक्षण होते हैं। कभी-कभी कण्ठ दाह, प्रतिश्याय तथा कासादि लक्षण भी उपस्थित होते हैं। प्रायः शनैः शनैः अनियमित ज्वर आने लगता है। परन्तु कभी-कभी अकस्मात् तीव्र ज्वर हो जाता है तब भी होता अनियमित ही है और उतरते या कम होते समय अत्यन्त स्वेद आता है। सन्धियों में शोथ वा पीड़ा होती है प्रायः कोष्ठबद्धता रहती है और प्लीहा बढ़ी हुई दिखाई देती है।

इसके निम्नोक्त चार भेद देखे गये हैं :

मृदु—ज्वर कम होता है रोगी चलता-फिरता रहता है संधिशूल, स्वेद आदि लक्षण विशेषरूप से दुखःदाई नहीं होते, प्लीहा बढ़ी हुई प्रतीत होती है।

साधारण—लक्षण ऊपर लिखे जा चुके हैं। ३–४ मास तक ज्वर हर दिन आता रहता है इसके बाद कुछ-कुछ दिन रुककर ज्वर आने लगता है शनैः शनैः मध्यकाल बढ़ता जाता है। अन्ततः ज्वर स्वतः शान्त हो जाता है।

विषम—ज्वर अति विषम रूप में होता है। स्वतः विषम ज्वर ही प्रतीत होता है कभी-कभी प्रातः ज्वर नहीं होता मध्याह्न में शीत लगकर १०५–१०६ फा० तक हो जाता है। इस प्रकार कभी-कभी प्रातः तीव्र होता है तो कभी मध्याह्न और कभी सायंकाल। पानी की तरह स्वेद आकर उतर जाता है। इस भेदवाले माल्टा ज्वर में अत्यधिक सन्धि पीड़ा होती है।

उग्र—अकस्मात् ज्वर तीव्र हो जाता है। सारे शरीर में पीड़िकाएं निकल आती हैं। कभी-कभी उपद्रव रूप में अतिसार और फुफ्फुसप्रदाह भी हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में रोगी शीघ्र ही मर जाता है। १–२ प्रतिशत रोगियों में मृत्यु होती है।

रोग मीमांसा—यदि अनियमित ज्वर हो, वा स्वेद सन्धिशोथादि लक्षण उपस्थित हों, तथा बकरी के दूध पीने का विवरण स्पष्ट मिले तो पहचानना सुगम है, अन्यथा एग्लूटीनेशन टेस्ट से ही पहचाना जा सकता है।

चिकित्सा—माल्टा ज्वर का परिणाम प्रायः भयानक नहीं होता उपद्रव बहुत कम होते हैं, मृत्यु तो कम ही होती है यह रोग दीर्घ कालापेक्षी है। यदि रोगी के आहार की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जावे तो उसके क्षीण होने का भय रहता है, और क्षीण अवस्था में अन्य उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं।

इस रोग में आहार को विशेष सीमित करने की आवश्यकता नहीं, रोग निदान होने पर रोगी को इच्छानुसार भोजन दे सकते हैं, भोजन सुपाच्य और पौष्टिक होना चाहिए, यह आवश्यक नहीं कि तरल हो, परन्तु यह बात भी नहीं भूलनी चाहिए कि ज्वर में चाहे वह किसी प्रकार का क्यों न हो आमाशय अपना कार्य स्वस्थ अवस्थावत् नहीं करता कुछ न कुछ शिथिल पड़ जाता है, यद्यपि अन्य ज्वरों की अपेक्षा इस ज्वर में आमाशयिक शिथिलता बहुत कम होती है।

अन्य सब रोगों की भाँति इस रोग में भी प्रतिबन्धक चिकित्सा जरूरी है जिससे रोग होने न पावे, एतदर्थ बकरो का दूध सदा उबालकर पीना चाहिये विशेषकर नगरों में जहाँ यह पहिचानना कठिन है कि अमुक पशु रुग्ण है या स्वस्थ है, ग्रामों में जहाँ बकरी के रुग्ण होने की सम्भावना नहीं वहाँ बकरी के कच्चे दूध पीने में कोई विशेष हानि नहीं।

विशेष चिकित्सा—इसके निम्नोक्त तीन औषधियां विशेषतया उपयुक्त है स्ट्रप्टोमाईसीन (Streptomycine) ०·५ ग्रेन ग्राम प्रतिदिन दो बार दिन में। इसके साथ-साथ क्लोरोमासिटीन (Chloromycetin) या आरियोमाईसीन (aureomycin) के २–२ केप्शूल ६–६ घंटे

बाद । आठ दिन की इस मिश्रित चिकित्सा से रोग शान्त हो जाने की बहुत सम्भावना है तथा कभी कभी स्ट्रेप्टोमाईसीन के साथ-साथ सल्फाटायजीन या सल्फाथायजोल २–२ गोली हर ४–४ घंटे बाद दे सकते हैं, इसका प्रयोग ७ दिन से अधिक न करें।

एतदर्थ निम्नोक्त औषधियाँ भी प्रयुक्त होती हैं, पुटपक्व विषम ज्वरान्तक रस (भै० र०) मात्रा १ से २ रत्ती, अनुपान जीरा का चूर्ण १ माशा के साथ अथवा गिलोयस्वरस १ तोला अथवा गिलोय का क्वाथ २½ तोला के साथ देवें ।

निम्नोक्त क्वाथ भी बहुत लाभ करता है हरड़, नागरमोथा धनियाँ, लालचन्दन, सुगन्धबाला, पित्तपापड़ा पद्माख, अतिविष, पाठा, इन्द्रजौ, चिरायता समभाग कुल १ तोला १६ तोले पानी में उबालें ४-५ तोला बाकी रहने पर छानकर पिलादें रुचि अनुसार मधु-शर्करा या नमक भी मिला सकते हैं, यदि दस्त आते हों तो इसमें कुड़े की छाल और शुण्ठी धायके फूल सबका तिहाई मिला देवें, यदि विबन्ध हो तो अमलतास का गूदा ३ माशे मात्र प्रतिमात्रा और कलमीशोरा ३ रत्ती मिलादें । तीव्र अवस्था में टाक्सीमिया (सन्निपात) वत् चिकित्सा करें ।

प्रवाहिका

पर्याय—प्रवाहिका, डायसेन्ट्री, पेचिश

परिचय—प्रवाहिका वास्तव में विशेष प्रकार के लक्षणों का समूह है जो अनेक आन्त्रिक व्याधियों में पाये जाते हैं, ये अन्त्र में शोथ, अथवा व्रण के कारण से उत्पन्न होते हैं। (१) शौच बार-बार अल्प-मात्रा में प्रवाहण के साथ (दर्द और ऐंठन के साथ) होता है, (२) मल में रक्त और आम (श्लेष्मा) होती है (३) उदर-शूल उपस्थित होता है तथा मल उतरने की इच्छा सदैव बनी रहती है ।

वैसे तो ये लक्षण अनेक रोगों में पाये जाते हैं परन्तु प्रवाहिका

(डायसेन्ट्री) शब्द एक विशेष रोग का सूचक-सा बन गया है, यह रोग दो प्रकार का होता है।

(१) बैसीलरी प्रवाहिका (Bacillary Dysentry) (२) अमीबक प्रवाहिका (Amoebyic Dysentry)।

बैसीलरी प्रवाहिका (Bacillary Dysentry)

कारण—बैसिलरी प्रवाहिका को उत्पन्न करने वाले ३-४ प्रकार के कीटाणु हैं। ये सब एकही प्रकार के लक्षण उत्पन्न करते हैं, इनका प्रसार मल से दूषित जल, दूध तथा अन्य खाद्य-पदार्थों के द्वारा वैसे ही होता है जैसे आन्त्रिक ज्वर, विशूचिका आदि का। यह रोग सारे भूमण्डल में व्याप्त है, और आबाल वृद्ध स्त्री पुरुष सबको एक समान प्रभावित करता है, ग्रीष्म और वर्षा ऋतु में यह बहुत फैलता है, जिन्हें आन्त्रिक विकार पहले से ही उपस्थित हों वे इस रोग से शीघ्र पीड़ित हो जाते हैं, समय-समय पर यह महामारी का रूप धारण कर लेते हैं, उन दिनों विशेषतया इस रोग के द्वारा मृत्यु संख्या भी बढ़ जाती है।

यह रोग विशेष प्रकार के बैसिलरी कीटाणु से उत्पन्न होता है जिनकी दो श्रेणियाँ मानी गयी हैं (१) शीगा (Shiga) (२) फ्लेक्सनर-बायड (Flexnor Byod)। शीगा से लक्षण अत्यन्त तीव्र होते हैं, और दूसरी श्रेणी अपेक्षया से मृदु।

सम्प्राप्ति—कीटाणु बृहदन्त्र में जाकर शोथ उत्पन्न कर देते हैं, वहाँ पर व्रण बन जाते हैं, व्रणों पर से श्लेष्मिक कला के टुकड़े उखड़-उखड़ कर गिरते हैं, इनके गिरने से प्रवाहण होता है तथा मल में रक्त, श्लेष्मा और श्लेष्मिक कला के टुकड़े उपस्थित होते हैं।

परिपाक काल—१ से २ दिन। सीमा कुछ घण्टों से लेकर ८ दिन तक।

लक्षण—अकस्मात् उदर में पीड़ा आरम्भ हो जाती है और बार-बार मल त्यागने की इच्छा होती है, पहिले साधारण मल उतरता है,

परन्तु शनैः शनैः इसमें रक्त और श्लेष्मा आने लगती है और अन्त में केवल रक्त या श्लेष्मा अथवा दोनों आने लगते हैं। मल त्यागते समय पेट में ऐंठन होती है और अत्यन्त प्रवाहण करना पड़ता है। रोगी चाहता है कि वह मलागार से उठे ही नहीं। दिन में २० से ४० तक अर्थात् हर आध पौन घण्टे या इससे भी जल्दी १५-१५ मिनट २०-२० मिनट बाद मल उतरता रहता है, रोगी अति क्षीण हो जाता है। ज्वर आरम्भ से ही १०० से १०१ फा० होता है। उदर कड़ा और पीड़ामय प्रतीत होता है, कभी ज्वर नहीं भी होता।

मृदु अवस्था में लक्षण साधारण होते हैं, रोगी थोड़ा बहुत काम करता रहता है, और कुछ दिनों में रोग स्वतः शान्त हो जाता है। साधारणावस्था में रोग कई सप्ताह तक रहता है, और यदि चिकित्सा ठीक न की जाये तो जीर्ण हो जाता है। उग्रावस्था में रोगी अतिक्षीण होकर ३-४ दिन में ही मर जाता है, यह प्रायः सदा शीगा के संक्रमण से ही होता है।

रोगमीमांसा—ज्वर, प्रवाहण, ऐंठन, तथा रक्त व श्लेष्मामय मल इस रोग को स्पष्ट कर देते हैं। संदिग्धावस्था में मल परीक्षा से निश्चय कर लेना चाहिए। "विडाल टेस्ट" से यह भी पता लग जाता है कि प्रवाहिका किस प्रकार के कीटाणु से है। मल में बहुरूप मींगी युक्त श्वेताणु, आन्त्रिक कला के सेल तथा रक्तकण अत्यधिक मात्रा में होते हैं, ऐसे मल के कलचर (कीटाणु भरण) से कीटाणुओं का ज्ञान हो सकता है, यह मल सदा ताजा एवं मूत्र से अमिश्रित होना चाहिए।

अन्त्रदर्शक 'सिगमाइडस्कोप' (Sigmoidscope) यन्त्र द्वारा परीक्षा से बृहद् अन्त्र में व्रण देखे जाते हैं।

चिकित्सा—प्रतिबन्धक चिकित्सार्थ आन्त्रिक ज्वर में लिखे गये भोजन सम्बन्धी सब सावधानियां बरतनी चाहिए।

शमन चिकित्सा—रोगी को पूर्ण विश्राम दें, उदर को गर्म कपड़े से लपेट रखें, थोड़ी-सी गति और उदर पर शीत लगने से प्रवाहण अधिक होता है, गर्म कपड़े या गर्म बोतल से उदर पर सेंक करने से शान्ति प्रतीत होती है। खाने के लिए पहले २४ घण्टे कुछ न दें तो अच्छा है, इसके बाद फटे दूध का पानी, तक्र, अण्डे का पानी (एक अण्डे की सफेदी को १ पाव पानी में भली-भाँति मिलालें) तण्डुलोदक, साबूदाना, अरारोट देवें, दूध का न देना ही अच्छा है, तीव्र अवस्था में अरारोट, यवयूष, साबूदाना, ग्लूकोज, तण्डुलोदक, अथवा मण्ड देना चाहिए, साधारण रोग की अवस्था में फटे दूध का पानी, तक्र, दे सकते हैं, तीव्र अवस्था में नहीं। यह स्मरण रहे कि अधिक तरल देने से विशेष लाभ होता है। बीलगीरी, बीदाना, इसबगोल, प्रत्येक का १-१ तोला और ३ माशा गोंद कतीरा को १ सेर पानी में मिलालें, इसका लुआब (जल) बार-बार पीने को दें।

वक्तव्य—इसबगोल को सदा कपड़े की पोटली में बाँधकर डालें, गोंद कतीरा बहुत देर तक पानी में रहने के कारण पानी गाढ़ा हो जाता है और पीने के अयोग्य बन जाता है, अतः जब पानी गाढ़ा हो जावे तो उसको फेंककर नया पानी बना लें।

जैसे-जैसे रोग दूर होता जाय, दही, चावल, कृशरा उत्तरोत्तर देते जावें तथा रोग-मुक्ति के बहुत दिन बाद अन्त में जाकर गेहूँ देवें। भोजन शनैः शनैः मृदु से कठिन करते जायें, फलरस आरम्भ से दिये जा सकते हैं, पहले अनार का रस, केला, तदनन्तर बाकी फल देवें।

विशेष चिकित्सा—निम्नोक्त में से कोई एक औषधि दें :

१. सल्फाग्वानिडीन (Sulpha-guinidine)
२. सल्फासुक्सीडीन (Sulpha-Succidine)
३. सल्फाथेलिडीन (Sulpha-Thialidine)

मात्रा—२-२ गोली ४-४ घंटे बाद दिन में १०-१२ गोली दें। जब तक प्रवाहन बन्द न हो। बाद में २-२ गोली ६-६ घण्टे बाद में ८-८ घण्टे बाद, रोग शमन के तीन दिन बाद तक जारी रखें।

ये औषधियां अन्त्र में लीन नहीं होती, इनका प्रभाव अन्त्र में रहने वाले बेसिलाई आदि कीटाणु पर होता है।

आरियोमाईसीन, टेरेयाईसीन, क्लोमाईसीटीन का प्रयोग भी हो सकता है, परन्तु इनका दर्जा उपर्युक्त सल्फा औषधियों से नीचे है।

औषधि चिकित्सा आरम्भ करने से पहले विरेचन दें, इसके बाद संग्राहक औषधियाँ देनी चाहिएँ। प्रथम आध या छटाँक भर एरण्ड स्नेह (Castor oil) दें। एक खुला दस्त आने के बाद उपर्युक्त औषधियां दें या कर्पूररस, महागन्धक, शंखभस्म, गंगाधररस, सिद्धप्राणेश्वर, अहिफेना, सब कुटजारिष्ट आदि चीजों में से कोई एक अथवा दो-तीन मिलाकर देनी चाहिए।

यथा—(१) कर्पूरेश्वर १ रत्ती
गंगाधरस १ रत्ती
महागंधक १ रत्ती
शंखभस्म ४ रत्ती
——ऐसी ४ मात्रा

१-१ मात्रा ४-४ घण्टे बाद बिल्व के मुरब्बे के साथ अथवा उपर्युक्त बिल्वादि के लुआब के साथ।

(२) बिल्वादि चूर्ण (सिद्धयोग संग्रह)

२-३ माशा ठण्डे पानी के साथ छाँछ अथवा अनार के रस के साथ।

(३) गंगाधर चूर्ण (चक्रदत्त)

२-३ माशा जल छाछ, दाडम के रस के साथ, इत्यादि।

(४) कुटज घनवटी (सि० यो० संग्र०) २-४ गोली ठण्डे जल से दिन में ३-४ बार देने से लाभ होता है।

एरण्डस्नेह से विरेचन के बाद इसी एरण्डस्नेह की अल्पमात्रा (१ ड्राम) टिंचर ओपियम मिलाकर एमलशन रूप में देना लाभकारी है। इनके साथ विस्मथ कार्ब, सोडाबाई कार्ब तथा एक्सट्रैक्ट वेल लिक्विडम और एक्सट्रैक्ट कुर्ची लिक्विडम देना बहुत उपयोगी है।

(1) Castor Oil zi

Sig--at once

खुला दस्त आने के बाद

सेलाइन चिकित्सा—पहले सेलाइन (मेगनेशिया सल्फ) अधिक मात्रा में (१ औंस को दो औंस पानी में घोलकर एकदम या थोड़ा थोड़ा थोड़े-थोड़े काल बाद) देकर विरेचन करा देना चाहिए विरेचन के बाद उसे अल्प मात्रा में (१–ड्राम की) किञ्चित् पानी में घोलकर देने से प्रवाहिका शान्त हो जाती है।

(2) Bismuth Carb	gr. २०
Sodii Bicarb	gr. 20
Castor oil	zi
Tinct Opii	m x
Gum Acacia	q s
Aqua	ad zi
Mft Mist	

ऐसी १–१ मात्रा ४–४ घंटे बाद

बिस्मिथस्टार्च और ओपियम का एनिमा करने से भी लाभ होता है।

जीर्णावस्था में उपरोक्त सल्फा औषधियां तथा कभी-कभी स्ट्रैप्टो-माइसीन (Streptomycin) लाभदायक है।

जीर्णावस्था में कास्टिक सिल्वर नाइट्रेट (Silver Nitrate) $\frac{1}{4}$-$\frac{1}{2}$ प्रतिशत विलयन, पोटैशियम परमैंगनेट (Potassium Permagnate), ५००० में एक भाग, सिलवाल (Silvol) या एल्वार्जीन (Alvargin)

३–४ प्रतिशत विलयनों से वृहदन्त्र को लम्बी नाली द्वारा धोने से अन्त्र के व्रण अच्छे होने लगते हैं। जब इनसे अन्त्र धोई जाये तो रोगी को कहें कि इन्हें कुछ काल अन्दर रहने दें। इसी प्रयोजन के लिए कभी-कभी तुत्थ (Copper sulphate o·25% solution) ¼ प्रतिशत विलयन भी प्रयुक्त होता है।

अमीविक प्रवाहिका

कारण—इसका कारण एक विशेष प्रकार का जीवाणु है जिसको एण्टामीबा हिस्टोलिटिका (Entamaeba Histolitica) कहते हैं। यह जीवाणु आन्त्रिक व्रण, उनके मल तथा इन कीटाणुओं से उत्पन्न विद्रधि के पूय में उपस्थित होता है, इसका संक्रम प्रसार जीवाणु युक्त मल से दूषित जल से अथवा यह जल दूध आदि अन्य खाद्य पदार्थों में मिश्रित होकर रोग उत्पन्न करता है, इसका संक्रमण केवल मात्र सिस्ट (Cyst) रूप द्वारा ही होता है। यह जीवाणु अमीबावत् तरुणावस्था में उग्र गतिशील होता है, रक्ताणुओं से लगभग ३–४ गुणा बड़ा होता है, कुछ काल बाद इनकी संतति जो पहले बड़ी आकृति में थी वे छोटी आकृतिवाली हो जाती हैं, और मन्द गतिवाले होती हैं, कुछ कालान्तर में बिलकुल गोलाकार मोटी दीवार वाले बन जाती हैं, इनको सिस्ट (Cyst) कहते हैं, ये सिस्ट मल द्वारा निकल करके खाद्य पदार्थों को दूषित कर रोग प्रसार का कारण बनते हैं, अनेक व्यक्ति ऐसे देखे गये हैं जिनमें रोग के लक्षण तो नहीं होते उनमें कई ऐसे होते हैं जिनमें लक्षण उत्पन्न होकर मन्द पड़ जाते हैं और बहुतों में पैदा होते ही नहीं, परन्तु इनमें सिस्ट होते हैं इस प्रकार के व्यक्तियों को ही संक्रमवाहक कहते हैं यही संक्रमवाहक इस रोग के प्रसार का कारण बनते हैं।

ये सिस्ट अन्दर जाकर आमाशय में से वैसी की वैसी (जैसी थी) निकल जाती हैं, आगे क्षुद्रान्त में उनके ऊपर का आवरण (दीवार) हट जाती है और इनसे अमीबावत् उग्रगतिशील जीवाणु पैदा हो जाते

हैं, ये जीवाणु क्षुद्रान्त्र में तो कोई विकार पैदा नहीं करते परन्तु बृहदन्त्र में जाकर उसकी दीवार में व्रण पैदा कर देते हैं, ये व्रण शनैः शनैः बढ़ते हैं और चिरस्थायी होते हैं, प्रायः अन्त्र की दीवार को आर-पार नहीं करते, जब कर जावें तो उदरक कला में शोथ पैदा करके रोगी को मार डालते हैं, इन व्रणों के भरने पर वहाँ पर सौत्रिक तन्तु बन जाते हैं जिनके संकोच से अन्त्र के मार्ग में और अन्त्र की दीवार में विकृति आ जाती है। जीवाणु कभी-कभी रक्त द्वारा और कभी-कभी लसीका वाहिनियों द्वारा अन्य अङ्गों में पहुँचकर विशेषतया यकृत में विद्रधि उत्पन्न कर देते हैं। यकृत में विद्रधि इस जीवाणु के कारण प्रायोभावी लक्षण माना गया है, विरल अवस्था में इससे फुफ्फुस, मस्तिष्क, प्लीहा और वृक्क में विद्रधियाँ उत्पन्न हो सकती हैं, मस्तिष्क में विद्रधि का अर्थ मृत्यु समझना चाहिये।

परिपाक काल—२ सप्ताह से ३ महीना।

लक्षण—इसका आरम्भ दो प्रकार से होता है, लगभग आधे रोगियों में तो अकस्मात् होता है और आधों में गुप्तरूप से। जब इसके लक्षण अकस्मात् आरम्भ होते हैं तो रोगी को ज्वर के साथ उदर में पीड़ा, प्रवाहण, बार-बार रक्तमिश्रित और आममिश्रित मल उतरता है, मल का वर्ण प्रायः भूरा लाल होता है, इस अवस्था में मल परीक्षा करने पर अमीबा जीवाणु मल में स्थूल आकृतिवाले दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे-जैसे रोग लम्बा होता जाता है लक्षण कम होते जाते हैं, विशेष यन्त्रों द्वारा देखने पर मलाशय में और बृहदन्त्र में विस्तृत अनेक व्रण प्रतीत होते हैं। आधे रोगियों में रोग गुप्त रूप से शुरू होता है, पहिले २–४ दिन ३–४ साधारण दस्त होते हैं, परन्तु दस्त कुछ प्रवाहण के साथ होते हैं और कुछ रक्त अवश्य मिश्रित होता है, शनैः शनैः अतिसार ज्यादा हो जाते हैं और रक्त और आम भी अधिक आने लगते हैं, प्रायः दिनभर में ८–१० बार से अधिक नहीं आते, अनेक बार

ऐसा होता है कि लक्षण अकस्मात् आरम्भ होते हैं परन्तु तीव्र नहीं होते, दस्त भी कम होते हैं और प्रवाहण भी कम होता है।

चाहे किसी प्रकार से रोग का आरम्भ हो, अकस्मात् या शनैः शनैः, यह रोग कालान्तर में प्रायः जीर्ण हो जाता है, कुछ काल के लिये लक्षण मन्द पड़ जाते हैं पुनः प्रवाहिका हो जाती है इसी प्रकार चलता ही रहता है, परन्तु कभी भी प्रवाहिका का वेग अतितीव्र नहीं होता प्रायः कुछ काल बाद यकृत-विद्रधि हो जाती है, यकृत बढ़ा हुआ और शूल-युक्त होता है।

रोग के जीर्ण हो जाने पर रोगी का स्वास्थ्य क्षीण हो जाता है, अनेक बार यह देखा गया है कि रोग के लक्षण स्पष्ट और व्यक्त नहीं होते अनियमित और विभिन्न से होते हैं, ऐसे रोगी के मल में अमीबा नहीं होता सिस्ट होते हैं कभी तो किसी को दस्त, किसी को विबन्ध, पेट में अफरा, उत्क्लेश, किसी में उपान्त्रशोथवत्, किसी में पित्ताशय शोथवत, किसी में अन्नद्रव परिणाम शूलवत् (आमाशय व्रणवत्, पक्वाशय व्रणवत् लक्षण) विभिन्न प्रकार के लक्षण होते हैं, रोगी प्रायः अवसन्न-सा रहता है। इन रोगियों के अन्त्र में व्रण नहीं होवे, परन्तु मल में सिस्ट आते हैं, यही इसका निदान है, निदान हो जाने पर उचित चिकित्सा करने पर लक्षण दूर हो जाते हैं।

उपद्रव—व्रणों के फट जाने से मल में रक्तस्राव और उदरक कलाशोथ होने का भय रहता है। आन्त्रिक व्रणों के अच्छा हो जाने पर वहाँ पर बने हुए सौत्रिक तन्तु संकुचित हो जाते हैं परिणामतः अन्त्र-मार्ग का संकोच हो जाता है।

प्रायः इसके जीवाणु यकृत, फेफड़े, मस्तिष्क, प्लीहा, आदि में जाकर विद्रधि उत्पन्न कर देते हैं, प्रायः यकृत विद्रधि बहुत होती है इसकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

रोग-मीमांसा—इसके तीव्र वेग को बैसीलरी प्रवाहिका के साधा-

रण वेग से भिन्न करना अति कठिन है केवल मल परीक्षा से ही इसका ज्ञान होता है। परन्तु चतुर वैद्य उपशयानुपशय से ज्ञान कर लेते हैं, यथा एमेटीन के इंजेक्शन से शान्त हो जावे तो समझे कि अमीबिक प्रवाहिका है।

सिस्ट से उत्पन्न होने वाले जीर्ण अमीबिक प्रवाहिका के लक्षण विभिन्न और अनियमित होते हैं, अतः उनका निदान होना कठिन है, यदि संदेह हो तो मल की परीक्षा करानी चाहिए, एतदर्थ पहले रोगी को जुलाब दें, पहले दस्त को त्यागकर दूसरा या तीसरा दस्त परीक्षार्थ भेजना चाहिए, अनेक बार पहली परीक्षा करने पर कुछ नहीं मालूम होता अतः २-३ बार परीक्षा करावें, फिर यदि सिस्ट न होवे तो समझिए कि रोग नहीं है।

रोग-परिणाम—यह रोग चिरस्थायी और कठिन-साध्य हैं, उग्र अवस्था में चिकित्सा ठीक की जावे तो सदा के लिए आराम हो जाता है, यदि जीर्ण अवस्था को प्राप्त हो जाए तो बड़ी कठिनाई होती है विशेषकर सिस्ट अवस्था में यदि अन्य अङ्गों में विद्रधि उत्पन्न हो हो जावे तो भयानक परिणाम होते हैं मस्तिष्क और प्लीहा की विद्रधि मारक हैं। तत्काल एमेटीन की चिकित्सा तथा अन्य चिकित्सा से विद्रधि शांत हो सकती है।

प्रतिरोधक चिकित्सा—यह रोग मल द्वारा फैलता है अतः भोजन और खाद्य पदार्थों का विशेष ध्यान रखें, मक्खी कीटादि से बचाए रखें कि वह मल से उड़कर भोजनादि पर आकर न बैठें।

यदि हो सके तो घर के नौकरों की और उपचारकों की मल परीक्षा करके दिखा लेवें कि सिस्ट तो नहीं आते यदि आ रहे हो तो उनकी यथेष्ट चिकित्सा करावें अथवा उनको छुट्टी दे देवें।

शमन चिकित्सा—इस रोग की विशेषकर उग्र अवस्था में एमेटीन एक अद्भुत और अचूक औषधि है, आधा ग्रेन से एक ग्रेन एमेटीन को मांस अन्तर्गत अथवा अधस्त्वक इंजेक्शन देना चाहिए, कम-से-कम

६ दिन तक एक-एक इंजेक्शन प्रतिदिन देवें, १२ दिन तक दें तो अच्छा है। एमेटीन एक विषैली औषधि है इसको सावधानी से बर्तना चाहिए, इसके प्रयोग से निर्बलता, साधारण-सा हृदयावसाद, रक्तभारन्यूनता हो जाया करती है, तथा नाड़ी की गति तीव्र हो जाया करती है।

उग्र अवस्था में इससे बढ़कर उत्तम औषधि और कोई नहीं है इसके प्रयोग से रोग पूर्णतया शान्त हो जाता है, चिकित्सक को थोड़ी सावधानी रखनी चाहिए, विषलक्षण उत्पन्न हो जाने पर कुछ दिन के लिए दवा बन्द कर देनी चाहिए पुनः थोड़ी मात्रा में चालू करें। उग्र अवस्था में एमेटीन देने से पहले दो औंस केस्टर आयल देकर पेट को साफ कर देना चाहिए पुनः इंजेक्शन दें।

कुटजघनवटी से भी विशेष लाभ होता है। कुड़ा के मूल की एवं वृक्ष की ताजी हरी छाल लें, उसको जल से धोकर जौ कूट करके १६ गुने जल में पकावे। जब आठवाँ हिस्सा जल बाकी रहे तब उसको नीचे उतार कर ठण्डा होने पर स्वच्छ कपड़े से छान लें। फिर उसको प्रारम्भ में मध्यम और पीछे मन्द अग्नि पर पकावें और लकड़ी के हत्थे से हिलाते रहें। जब क्वाथ गाढ़ा होकर हत्थे में लगने लगे तब नीचे उतार कर सूर्य की धूप में गोली बनने योग्य गाढ़ा हो जाए, तब तक सुखावें, पीछे इसमें अतीस का चूर्ण गोली बनाने योग्य मिलाकर ३-३ रत्ती की गोलियाँ बना कर सूखा लें। मात्रा–२–३ गोली दिन में ३-४ बार ठण्डे जल के अनुपान से देवें। कुटजादि चूर्ण और कुटजारिष्ट भी दे सकते हैं।

भोजन—सबसे उत्तम दही, छाछ, तक्र, और अनार है; सेव का पानी दे सकते हैं।

जीर्ण रोग की चिकित्सा—१. एन्ट्रो-वायोफार्म (Entero-Vioform) १-१ गोली ३ बार दिन में, १५-२० दिन तक।

२. स्टोवर्सोल (Stovarsol) १ टिकिया २ बार दिन में १० दिन तक बाद में १० विराम, पुनः १० दिन दें।

३. कार्बासिन (Carbarson) मात्रा एक-एक टिकिया दो बार दिन में १० दिन तक।

४. येट्रीन (Yatren) २-२ गोली ३ बार दिन में ७ दिन तक, इसके बाद २ बार सप्ताह में ३ सप्ताह तक।

५. रिसोट्रीन (Resotren) १-१ गोली ४ बार दिन में ४ दिन तक, इसके बाद ३ बार दिन में ७ दिन तक।

६. नियोवीयासेप्ट (Neoviasept) २-२ गोली ७ दिन तक।

७. नाईवेम्बीन (Nivembine) १-१ गोली ३ बार दिन में ८ दिन तक।

८. आरियोमाईसीन (Aureomycin) या टेरामाईसीन (Terramycin) इन दोनों की मात्रा पहले संक्रमण चिकित्सा में लिख आये हैं।

जीर्ण रोग में भी यही कुटज घनवटी, कुटजादि चूर्ण आदि दे सकते हैं। विस्मथ आयोडाइड (Bismuth iodide) भी दे सकते हैं, इसकी मात्रा ३ ग्रेन है और इसको १० से १२ दिन तक देना चाहिए, इससे दुर्बलता हो जाती है परन्तु प्रवाहिका आराम हो जाती है।

निम्नोक्त औषधियाँ भी दे सकते हैं (1) Kurchi Bismuth iodide, (2) Liquid Extract of Kurchi, (3) Diodoquin, (4) Chinioform.

सिस्ट के वास्ते मुख द्वारा भी दवा दी जाती है और गुदा द्वारा भी दी जाती है, मुख द्वारा उपरोक्त में से कोई एक दवा ८ से १० दिन तक दें, उसके पश्चात् गुदा द्वारा दवा दें, गुदा द्वारा दवा देने की विधि—रात को सोते समय वस्ति (अनिमा) दे देना चाहिए, उससे मल उतरने के बाद निम्नोक्त कोई सी दवा लम्बे ट्यूब से गुदा द्वारा दें, जिससे रातभर औषधि अन्दर रहे:—

यट्रीन (Yatrine) का २% सल्यूशन १० औंस पानी में या अएटारो वाइ फार्म का १% सल्यूशन औंस में। ये दवा ५ दिन तक इस प्रकार अनेमा द्वारा।

त्रिफला, क्वाथ की वस्ति हर रात को सोते समय लें। वस्ति लम्बी नली द्वारा देनी चाहिए। नली कम से कम १०–१२ इंच गुदा के अन्दर जानी चाहिए ताकि वृत्तान्तर में ही क्वाथ पहुँचे, जहाँ पर सिस्ट रहती हैं। और क्वाथ लगभग डेढ़ पाव से दो पाव (३०–४० तोले) होने चाहिये। उतना जल अन्दर रह जाता है बाहर नहीं निकलता। प्रायः शौच जाते समय सारा पानी बाहर निकल आता है। यह चिकित्सा रोगी को क्षीण कर देती है अतः १० दिन तक चिकित्सा करने के बाद सप्ताह भर दूध की उपरोक्त विधि अनुसार बस्ति दें। दूध भी डेढ़ पाव के लगभग होना चाहिए।

विशेष वक्तव्य—दूध में अष्टमांश भाग पानी मिलाकर एक दो उबाल दे देने चाहिए और वही दूध वस्ति के लिये प्रयोग करें। जब त्रिफला की वस्ति दी जाती है उस समय कुटज घनवटी भी साथ दें। जब दूध की वस्ति दी जाती है तब यह दवाई बंद कर दें। इस प्रकार डेढ़ दो महीने चिकित्सा करनी चाहिए (अर्थात् तीन-चार बार ऐसा करना चाहिए)।

यकृत विद्रधि तथा अन्य स्थानों में एमीबा के कारण विद्रधि के लिये १ ग्रेन एसेटीन का एक इंजेक्शन प्रतिदिन १२ दिन तक दें, यदि जरूरत हो एक सप्ताह के विश्राम के बाद पुनः १२ दिन तक इंजेक्शन दें।

विशूचिका

पर्याय—विशूचिका, कालरा, हैजा।

परिचय—यह अति तीव्र संक्रामक रोग है जो महामारी के रूप में प्रसार पाता है। इसमें वमन, अतिसार, पिण्डली उद्वेष्टन, मूत्राभावादि लक्षण होते हैं।

कारण—इसका कारण एक विशेष प्रकार के मुड़े हुए दण्डाकार कीटाणु हैं जिनका आकार अर्ध विरामों के समान है। इनको "कॉलरा विब्रियो" Cholera Vibrio कहते हैं। ये कीटाणु अन्त्र, मल, वमन और मूत्र में अत्यधिक मात्रा में पाये जाते हैं और कभी-कभी उदरस्थ अंगों, पित्ताशय और उदरक कला की लसीका ग्रंथियों में भी चले जाते हैं।

संक्रम प्रसार—सदैव रोगी के मल तथा वमन से दूषित अथवा संक्रम वाहकों के मल से दूषित खाद्य पदार्थों द्वारा ही होता है रोगावस्था में रोगी के मल तथा वमन में असंख्य कीट उपस्थित होते हैं तथा रोगमुक्ति के बाद भी कई-कई दिन, कई सप्ताह अथवा कई महीनों तक मल-मूत्र में आते रहते हैं। इनके अतिरिक्त संक्रमवाहकों के मल में भी रहते हैं। यहाँ से कीटाणु पृष्ठ १०२ में कथित प्रकारों से आहार द्रव्यों तक पहुँच कर दूषित कर देते हैं और खानपान द्वारा रोग-प्रसार का कारण बनते हैं।

यह रोग हिन्दुओं के तीर्थ-स्थानों पर, विशेष कर ग्रीष्म और वर्षा ऋतु में, बहुत प्रसार पाता है कभी-कभी वहाँ से रोगी आस-पास के प्रान्तों में जाकर महामारी के रूप में इसे फैलाते हैं। इसका कारण यही है कि कुछ संक्रम वाहक ऐसे स्थानों पर पहुँच जाते हैं और अपनी असावधानी से उस स्थान के पीने के जल को अपने मल से दूषित कर देते हैं और रोग-प्रसार का कारण बनते हैं। यात्रीगण चूं कि प्रायः बाजार का ही भोजन करते हैं और नलकों का पानी न पीकर तीर्थ की नदी, कुण्ड अथवा कुवें तड़ाग आदि का जल पीते हैं, जो कि मल-मूत्रादि से दूषित हो चुका होता है, यह रोग शीघ्र फैल जाता है। कलकत्ता, बम्बई आदि बड़े-बड़े नगरों में यह रोग एकाकी रूप में सदैव विद्यमान रहता है इन स्थानों में सहस्रों संक्रमवाहक भी फिरते रहते हैं, उनके मल से अथवा रोगियों के मल से उन स्थानों में ग्रीष्म वा वर्षा ऋतु में

कभी-कभी यह रोग महामारी के रूप में फैल जाता है और वहाँ से निकट तथा दूरवर्ती स्थानों तक प्रसार कर जाता है। यह आबाल वृद्ध स्त्री पुरुष सब में समान रूप में पाया जाता है। उदर रोगियों और कुपथ्य भोजियों को बहुत शीघ्र हो जाता है।

सम्प्राप्ति—इसका कीटाणु क्षुद्रान्त्र की दीवार में जाकर वृद्धि पाता है। वर्षों से इसका विष रक्त में जाकर रोग के लक्षण पैदा करता है तथा अन्त्र में भी रहकर रोग के लक्षण उत्पन्न करता है। क्षुद्रान्त्र के लसीकाग्रन्थि समूह तथा उदर-कला की लसीका ग्रन्थियों में शोथ हो जाती है। अत्यधिक वमन और अतिसार से शरीर का बहुत सा तरल निकल जाता है जिससे रक्त का आपेक्षिक घनत्व १०५५ से बढ़कर १०६५ या इससे भी अधिक हो जाता है। और इसी कारण तथा विष के प्रभाव से वृक्कों में मूत्र बनना बन्द हो जाता है। तरल और अत्यधिक निस्सरण व रक्तन्यूनता के कारण अन्तस्ताप अधिक होते हुए भी बाह्य शरीर शीतल प्रतीत होता है। इन रोगियों का रक्तभार कम हो जाता है, तथा मूत्राभाव हो जाता है, मूत्राभाव के कारण ये हैं :

(१) रक्त का आपेक्षिक घनत्व बहुत बढ़ जाता है,
(२) कीटाणुओं के विष से वृक्कों में शोथ,
(३) रक्तभार का कम हो जाना,
(४) रक्त में क्षारत्व का घट कर अम्लत्व का बढ़ जाना,
(५) रक्त में नत्रजनीय पदार्थों की अधिकता।

मूत्राभाव से रोगी सन्यस्त होकर मर जाता है।

परिपाक काल—चन्द घण्टे से ५ दिन तक।

लक्षण—इस रोग की तीन अवस्थाएँ होती हैं।

प्रथमावस्था—इसको अतिसारावस्था भी कहते हैं। रोगी को अकस्मात् दस्त आने लगते हैं। कभी-कभी जब उदर पहले से ही अस्वस्थ

हो तथा थोड़ा बहुत अतिसार हो, तो अतिसार अधिक हो जाता है। अतिसार आरम्भ होते समय उदर शूल भी होता है। दस्त पहले पीले रंग के आते हैं फिर शनैः शनैः पतले फीके हो जाते हैं तथा जल्दी जल्दी आने लगते हैं, दस्तों का वर्ण क्रमशः बिलकुल श्वेत तंडुलोदक के समान हो जाता है और वे ५-१० मिनट के बाद ही आते रहते हैं। रोगी में उठने की शक्ति नहीं रहती वहीं पड़ा-पड़ा दस्त करता रहता है। वमन आरम्भ से ही होते हैं. शनैः शनैः अतिसार की भांति यह भी बढ़ते हैं। पहले आमाशयिक द्रव्य निकलते हैं फिर क्षुद्रान्त के पित्तादि पीतद्रव्य निकलते हैं, तत्पश्चात् इनका वर्ण भी अतिसारवत् सवेत हो जाता है। इस समय अतिसार और वमन, विशूचिका कीटों से परिपूर्ण होता है। दुर्बलता बहुत बढ़ जाती है। पिण्डलियों में उद्वेष्टन होने लगता है। तृष्णा अत्यन्त होती है। बाह्यताप कम होता है परन्तु गुदा में थर्मामीटर लगाकर देखा जाय तो ताप १०३ फा. या इससे भी अधिक होता है।

द्वितीयावस्था—इसको शीतकावस्था भी कहते हैं। रोगी अतिक्षीण और उसका शरीर बिल्कुल ठंडा हो जाता है। उसका चेहरा पिचका हुआ, आंखें अन्दर को धंसी हुई, और कपोल गर्त में घुसे हुए होवे हैं। त्वचा शीत, शुष्क, नीलाभ हो जाती है उस पर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं। मूत्र पहले कम और गाढ़ा होता है, पीछे आना ही बन्द हो जाता है। नाड़ी अति क्षीण और तीव्र होती है यहाँ तक कि प्रतीत भी नहीं हो सकती। रक्त-गाढ़ा होता है, उसका घनत्व १०६५ से भी अधिक हो जाता है। रक्त-भार कम हो जाता है १२० के स्थान पर ८० रह जाता है। श्वास क्षुद्र और दुर्बल हो जाता है उच्चारण बहुत धीमा पड़ जाता जाता है। अन्त में रोगी सन्यस्त होकर मर जाता है।

तृतीयावस्था—साध्यावस्था में कुछ काल (तीव्रता के अनुसार घंटों या दिनों) के पश्चात् रोगी अच्छा होने लगता है। वमन और अतिसार कम

होने लगते हैं। शनैः शनैः उसका वर्ण भी बदलने लगता है और मूत्र भी आने लगता है। नाड़ी वापस लौट आती है, त्वचा उष्ण हो जाती है, ज्वर भी प्रतीत होने लगता है रोगी संज्ञावान् हो जाता है।

कभी-कभी इस अवस्था में असावधानी से या दुर्भाग्य से अकारण ही रोग का पुनराक्रमण हो जाता है। चूँकि उदर विकृत होता है, रोगी क्षीण होता है अतः यदि कोई अन्य कीटाणु आन्त्र में प्रविष्ट हो जाय तो वह व्याधि भी उपद्रव रूप से आरम्भ हो जाती है।

इन तीन अवस्थाओं को परस्पर भिन्न करना कठिन है एक अवस्था दूसरी अवस्था में शनैः शनैः लीन हो जाती है।

विशूचिका के भेद—

मृदु—रोगी को थोड़े बहुत दस्त आते हैं और वह अपना काम करता रहता है कुछ दिन पीछे स्वयं ठीक हो जाता है। ऐसे रोगी ही अधिकतर संक्रम प्रसार के जिम्मेदार होते हैं।

अतिसार—इसमें केवल अतिसार होते हैं, परन्तु बहुत तीव्र। वमन नहीं होती मृत्यु बहुत कम होती है। कभी साधरण रूप धारण कर लेता है। ये रोगी भी पूर्वकथित रोगी की भांति संक्रम प्रसार में बहुत भाग लेते हैं।

साधारण—इसके लक्षण ऊपर लिख आये हैं

अवरुद्ध—रोगी को प्रायः उदर में शूल अकस्मात् आरम्भ हो जाता है। कभी-कभी एक-आध दस्त भी आता है। वह बिना वमनातिसरादि लक्षण प्रगट किये झटपट शीतकायावस्था तथा सन्यस्तावस्था में चला जाता है और रोगी ज्ञान होने से पहले ही चल देता है।

रोगमीमांसा—महामारी के दिनों में इसका पहचानना कठिन नहीं। परन्तु एकाकी रूप में अजीर्ण, आहार विष, पारद वा संखिया के विष तथा आन्त्रिक शूल (जिसमें अतिसार और वमन दोनों हों) से इसका

भेद करना कठिन होता है। उनमें केवल मल-परीक्षा से पता लग सकता है।

चिकित्सा प्रतिबन्धक—महामारी के दिनों में अपने पथ्यापथ्य पर विशेष ध्यान दें। बाजार की कोई वस्तु न खाएं, जो कुछ भी खाना हो उबालकर खाएं, बिना उबाले खाए जाने वाले हरित फलादि को जहाँ तक हो सके नहीं खाना चाहिए, यदि खाना ही पड़े तो उनको "पुटेशियम परमेङ्गनेट" के विलयन में धोकर पुनः उबले हुए पानी से स्वच्छ करके खाएं। बर्फ, सोडा-लेमन आदि चीजों को त्याग देना चाहिए, यह स्मरण रहे कि बर्फ में इसके कीटाणु जीवित रहते हैं।

जहाँ तक सम्भव हो रोगी को सांक्रामिक आतुरालय में भेज दें, अन्यथा मकान के किसी एकान्त कमरे में रखें। उसके मल, वमनादि के दूरीकरण का पूर्ण प्रबन्ध होना चाहिए, ताकि उसके मल से मक्खियाँ उड़कर भोज्य पदार्थों पर न जा सकें। परिचारकों को अपने तथा दूसरों के लिए बहुत सावधान रहना चाहिए जब स्वयं खाना खाएं या दूसरों को परोसें तो हाथों को अच्छी प्रकार साबुन पानी से धोकर कृमिघ्न विलयन में डुबो लेने चाहिए, कॉलरा वैक्सीन का इंजेक्शन ले लेने से रोगक्षमता बढ़ जाती है, ६ महीने से १ साल तक रोग के आक्रमण से मुक्ति मिल जाती है। रोग-निवृत्ति के बाद अथवा रोगी की मृत्यु के बाद उस स्थान को जहां रोगी था, भली प्रकार शुद्ध कर लेना चाहिए।

शमन चिकित्सा—रोगी को उष्ण भवन में रखें तथा कम्बलों एवं उष्ण जल की बोतलों से उष्ण रखें। खाने को कुछ न दें, यदि बहुत आवश्यकता प्रतीत हो तो बर्फ चूसने को दें या यवयूष, बरांडी आदि चीजें दें, जो देते हैं वह निकल जाता है अतः जब कुछ पचाने लगे तब कुछ काल पश्चात् थोड़ा जल मिश्रित अथवा पैप्टोन आदि द्वारा अधपचा दूध (Protocasien etc.) दें।

महामारी के दिनों में यदि कोई उदर-विकार हो तो तुरन्त उसे दूर करने का उपाय करना चाहिए और जैसे ही वमन या अतिसार आरम्भ हो चिकित्सा की ओर ध्यान देना चाहिए। रोग मुक्त्यर्थ दो निम्नोक्त बातों का ध्यान रखना पड़ता है : (१) विशेष चिकित्सा अर्थात् कीटाणुओं का विनाश (२) लक्षणों और उपद्रवों की चिकित्सा करना।

विशेष चिकित्सा—

(१) कीटाणुओं का नाश तथा उनके विष को उदासीन करना—

अभी तक किसी ऐसी औषधि का ज्ञान नहीं हुआ जो विशूचिका के कीटाणुओं का नाश करदे, सल्फा गायोनेडीन (Sulphaguna-dine) और सल्फासुक्सेडीन (Sulfasuccidine) का कृमिघ्न प्रभाव कीटाणुओं पर थोड़ा-बहुत होता है, परन्तु मुश्किल तो यह है कि वमन और अतिसार के कारण ये दवा अन्त्र में ठहरती ही नहीं इसलिए काम भी नहीं कर सकती। यदि किसी औषधि से वमन बन्द किया जा सके तो सल्फागायोनेडीन (Sulpha-guinadine) से विशेष लाभ क सम्भावना अवश्य है। इस अवस्था में आधी-आधी गोली ५-५ मिनट ठहरकर दें, कुल ८ गोली दें फिर इसी प्रकार ४ गोली ३-३ घंटे बाद दें, इसके पश्चात् ४-४ घण्टे पीछे २-२ गोली देवें।

(२) लक्षणों और उपद्रवों की चिकित्सा :—

लक्षणों को देखते हुए ३ निम्नोक्त बातों की ओर विशेष ध्यान रखना पड़ता है :

(१) अन्त्र को पूर्ण विश्राम की योजना।

(२) अतिसार, वमन द्वारा निःसृत तरल तथा अन्य रक्त अवयवों की पूर्ति।

(३) कीटाणुओं के विष द्वारा उत्पन्न मूत्राभाव, हृदयावसाद, रक्त में अम्लत्व का घट जाना इत्यादि उपद्रवों की तात्कालिक चिकित्सा।

रोगी को पूर्णतया विश्राम दें, रोगी जो कुछ खाता है वह निकल

जाता है, अतः कुछ देने का प्रश्न उपस्थित नहीं होता तब भी उसको बर्फ चूसने को ं। यदि रोगी कुछ ले सके और वह आमाशय में रह सके तो अत्यल्प मात्रा में जौ का पानी अथवा पोटेशियम परमेंगेनेट का पानी पीने को देवें।

वमन रोकने के लिए निम्नोक्त औषधियें देते है (१) पलाण्डु के स्वरस में समभाग शुद्ध सुरा (ब्रान्डी) मिलाकर १ या २ चम्मच आधे-आधे घंटे बाद दें।

(२) सत्व अजवायन, सत्वपोदीना और कपूर को मिलाकर इसकी ३ से ५ बूंद शक्कर में अथवा कैपस्यूल में भरकर देवें।

(३) पर्पट (पित्तपापड़ा) का क्वाथ २ से ४ चम्मच यथा अवस्था (वमन के अनुसार) वमन आती हो तो अत्यल्प मात्रा में, नहीं आती हो तो विशेष मात्रा में।

(४) लशुनादि वटी-(सिद्ध योग संग्रह) १ माशा अदरख स्वरस के साथ दें।

(५) कर्पूरासव-२ से ५ बिन्दु शक्कर में या कैपस्यूल में।

(६) पोटेशियम परमेंगेनेट १ से २ ग्रेन की गोलियाँ टिरेटीन (Tiretine) में १ से २ ग्रेन गोलियाँ थोड़े-थोड़े काल के बाद दें, या सल्फागायीनेडीन (Sulpha Guinadine) दें। विचार है कि यह औषधि पहले की अपेक्षा उत्तम है।

जब शरीर से वमन अतिसार द्वारा तरल का बहुत भाग निकल जावे तो रक्त का आपेक्षिक घनत्व बहुत बढ़ जाता है, और रक्तभार कम हो जाता है, एतदर्थ निम्नोक्त विलयनों का शिरागत इंजेक्शन देने से विशेष लाभ होता है, इस प्रकार करने से मृत्यु संख्या जो प्रायः महामारी के दिनों में अत्यधिक होती है बहुत कम हो जाती है। यह क्रिया आतुरालय में, विशेषकर संक्रमण के आतुरालय इन्फेक्शयस होस्पिटल (Infectious Hospitals) में, ही की जाती है, चाहिए तो

यह कि जिस समय रोग का ज्ञान हो रोगी को तुरन्त संक्रमण के आतुरालय में भेज दें, इससे विशेष दो लाभ होते हैं, एक तो रोगी से संक्रमण के फैलने का भय कम हो जाता है, तथा रोगी का उपचार व शिरागत इंजेक्शन की योजना सुचारु रूप से हो सकती है।

चिकित्सकों के ज्ञानार्थ ताकि यदि आवश्यकता पड़े तो चिकित्सा बराबर हो सके, नीचे सेलाइन चिकित्सा विधि लिखते हैं।

दो प्रकार के सेलाइन लोशन (लवण विलयन) तैयार किये जाते हैं:

(१) Hypertonic Saline Solution

(a)	Sodii chloride	gr. 20
	Calcium chloride	gr. 4
(b)	Water	zxx
	Sodii Bicarb	gr. 180
	Sodii chloride	gr. 90
	Water	zxx

प्रयोग विधि—यदि रक्त भार ७० से कम हो या रक्त का आपेक्षिक घनत्व, १०६४ से ऊपर हो तो नं० (a) का २० औंस (एक पाईन्ट) को नं० (b) के ४०-६० औंस (दो तीन पाइंट) में मिलाकर शिरागत इंजेक्शन दें।

और जब रक्तभार ८० के लगभग हो या आपेक्षिक घनत्व १०६०-१०६४ हो तो विलयन (a) के एक पाइंट को २ पाइंट विलयन (b) में मिलाकर दें, अथवा अवस्थानुसार जितनी बार आवश्यक हो ऐसे इंजेक्शन दें।

यदि रक्तभार ६० हो अथवा आपेक्षिक घनत्व १०६० से कम हो तो निम्नोक्त विलयन देना चाहिए :

Isotonic Saline Solution

Sodii Chloride 1.4%	gr. 190
Sodii Bicarb 1.5%	gr. 210
Water	zxx

यह स्मरण रहे कि ये सब दवा स्वतः तैयार न करें, सोडाबाइकार्ब (Soda Bicarb) उबालने से विश्लिष्ट हो जाता है और विषैला हो जाता है, अतः बने बनाए (शुद्ध रूप में) मंगवाकर प्रयोग करें। इसके अतिरिक्त तरल पूर्ति के लिए प्लेजमा का इंजेक्शन (२५० से ३०० सी० सी०) बहुत लाभ करता है।

उपद्रव चिकित्सा—(१) मूत्राभाव के लिए कैथीटर डालकर मूत्राशय को उष्ण नार्मल सेलाइन से धोवें। बृहदन्त्र को भी ऊपर लिखित आईसोटानिक उष्ण नार्मल सेलाइन (Isotonic Normal Saline) लोशन से धोवें। वृक्क प्रदेशों पर सेक करें अथवा शृङ्गी लगाएं। एट्रोपीन (Atropin) के इंजेक्शन तथा नार्मल सेलाइन इंजेक्शन से भी लाभ होता है।

(२) उद्वेष्टन—पिण्डलियों को गरम रखें या राई का सेंक करें। पीड़ा कम करने के लिए मार्फिया (Morphia) का इंजेक्शन लाभकारी है।

(३) वमन—रोकने के लिए आमाशय को पोटेशियम परमेङ्गनेट से धोयें। आमाशय और कौड़ी प्रवेश पर राई का पलस्तर लगायें और आरम्भ में मार्फिये का इंजेक्शन दें। पीने के लिए शेम्पियन वाटर बर्फ डालकर थोड़ा-थोड़ा देना चाहिए।

(४) शीतकाय—शीतकाय में रक्तभार बहुत कम हो जाता है अतः पृष्ठ २३४ पर लिखित चिकित्सा करनी चाहिए।

अध्याय ११

पीड़िकायुक्त ज्वर

कई ज्वर ऐसे हैं जिनमें पहले, पीछे या ज्वर-मुक्ति के बाद शरीर पर विशेष प्रकार की पीड़िकाएँ निकल आती हैं। इनमें कुछ ज्वर ऐसे हैं जिनमें अवश्य पीडिकाएं निकलती हैं और उनकी पहिचान भी केवल पीड़िकाओं द्वारा ही होती है। वास्तव में ऐसे ज्वरों को ही पीड़िकायुक्त ज्वर कहते हैं और उन्हीं का वर्णन इस अध्याय में किया जाएगा और वे ये हैं:

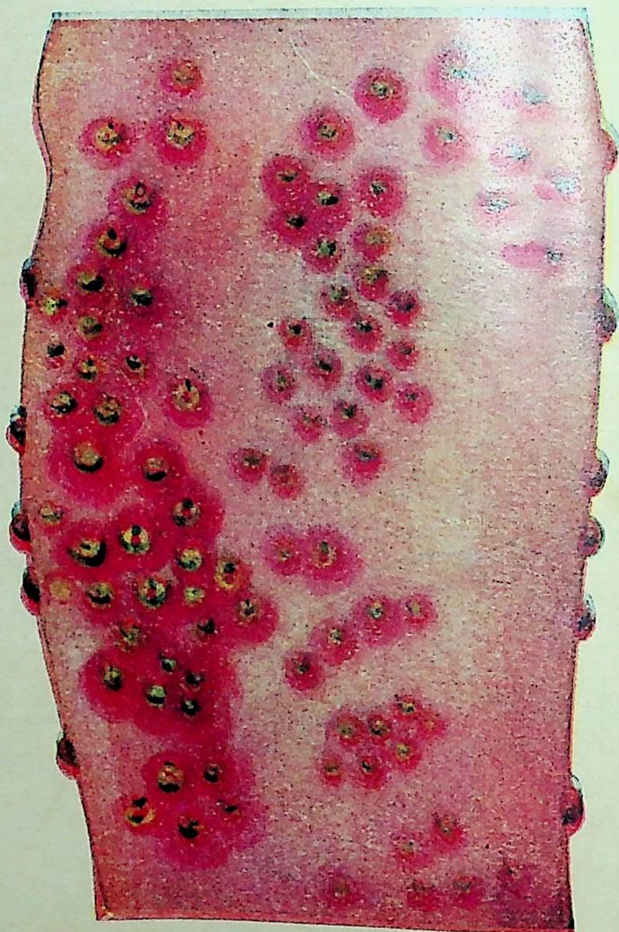
(१) मसूरिका
(२) गो मसूरिका
(३) लघु मसूरिका
(४) रोमान्तिका
(५) लोहित ज्वर
(६) लघुरोमान्तिका
(७) टाईफ़स। इसका वर्णन अध्याय ६ में कर आये हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ ज्वर ऐसे हैं जिनमें कभी पीडिकाएं निकलती हैं, और कभी नहीं भी निकलतीं, पीड़िकाएं उनका कोई विशेष लक्षण नहीं—

(१) आन्त्रिक ज्वर
(२) लन्वान्तिक ज्वर
(३) वातश्लेष्मिक ज्वर
(४) तीव्र गल ग्रन्थिक ज्वर
(५) मूषक दंशक ज्वर
(६) शीर्ष सौषुम्न ज्वर

चित्र २८

मसूरिका



पृष्ठ २६७

(७) उपदंश
(८) कुष्ट
(९) दण्डक ज्वर
(१०) पुनरावर्तक ज्वर
(११) अतिनिद्रा ज्वर

३-८ का वर्णन यथा स्थान किया जाएगा तथा १-२ व ९-११ का पूर्व अध्यायों में किया जा चुका है।

मसूरिका

पर्याय—मसूरिका, शीतला, बड़ी माता, चेचक, स्माल पाक्स (Small Pox Variola)

परिचय—यह एक तीव्र संक्रामक ज्वर है, जिसमें विशेष प्रकार की पीड़िकाएं निकलती हैं, जो पहले साधारण रक्ताभ वर्ण की होती हैं फिर तरलमय होकर पक जाती हैं, तथा अन्त में उनपर खुरण्ड बनकर शनैः शनैः झड़ जाते हैं।

कारण—अभी तक टाइफस के अतिरिक्त किसी भी पीड़िकायुक्त ज्वर के रोगाणु का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हुआ है। मसूरिका को उत्पन्न करने वाला एक अतिसूक्ष्म कीटाणु है। जो पीड़िकाओं की पूय में तथा उनके खुरण्डों में उपस्थित रहता है और वहाँ से ही अन्य व्यक्तियों तक पहुँचकर रोग उत्पन्न करता है। यह अतितीव्र संक्रामक रोग है; रोगी से स्पर्श, विस्फोटादि के पूय से दूषित रुमाल, वस्त्रादि तथा परिचारकों आदि के हाथ, वस्त्र द्वारा यह रोग प्रसार पाता है। शुष्क छोटे-छोटे खुरण्ड उड़ उड़कर वायु द्वारा भी रोगप्रसार में सहायता देते हैं उष्ण प्रदेशों में यह रोग अधिकतर होता है।

सम्पूर्ण जीवन काल में यह रोग प्रायः एक ही बार हो सकत आबाल वृद्ध सबको हो सकता है परन्तु बालकों को अधिक होता है।

छोटे-छोटे दूध पीते बच्चे भी इसके आक्रमण से नहीं बचते। यह प्रायः बसन्त ऋतु में बहुत फैलता है और यूरोपियन्स को अतिशीघ्र तथा भयानक रूप में होता है जब से इसके टीके का अविर्भाव हुआ है तब से इसका प्रसार बहुत कम हो गया है।

इसका कीटाणु शरीर में मुख, नासा अथवा श्वास मार्ग की श्लेष्मिक कला द्वारा ही जाता है।

सम्प्राप्ति—इसका जीवाणु रक्त में सञ्चार करता हुआ उपचर्म में जाकर बैठ जाता है। जहाँ-जहाँ यह बैठता है वहाँ वहाँ पर उपचर्म की सैलें रक्तमय तथा शोथयुक्त हो जाती है। त्वचा पर हाथ लगाने से त्वचा के नीचे छोटी-छोटी मसूर के दाने समान ग्रन्थियाँ सी दिखाई देती हैं। फिर इनमें तरल भर जाता है जिससे ये ग्रन्थियाँ छोटे-छोटे छालों के समान प्रतीत होने लगती हैं। कुछ काल पश्चात् यह तरल पीपमय हो जाता है और ये छाले स्फोट बन जाते हैं कभी-कभी स्फोट फट भी जाते हैं प्रायः पीप जमकर खुरण्ड के रूप में विस्फोट पर कई दिनों तक लगी रहती है। तरल, पूय और खुरण्ड में इसके रोगाणु अत्यधिक होते हैं और इन्हीं से रोग प्रसार पाता है। जब तक अन्तिम खुरण्ड उतर न जाय रोगी से रोग के फैलने का भय बना रहता है।

परिपाक काल—१० से १४ दिन। सीमा ५ दिन से २३ दिन।

लक्षण—प्रायः शीत से अकस्मात् ज्वर चढ़ जाता है, ज्वर आरम्भ से ही तीव्र होता है। शिरःपीड़ा, कटिशूल, वमन और उतक्लेशादि लक्षण उपस्थित होते हैं। रोगी शीघ्र ही बलहीन होकर खाट पकड़ लेता है। कभी-कभी दूसरे दिन रोगी के सारे शरीर पर क्षुद्र-क्षुद्र पीड़िकाएँ प्रायः रक्तवर्ण की निकल आती हैं, यह एक दो दिन रहकर मिट जाती हैं। इसके बाद अर्थात् तीसरे चौथे दिन वास्तविक पीड़िकाएँ निकल आती हैं। पहले पहल ये मुख, कलाई, माथा आदि

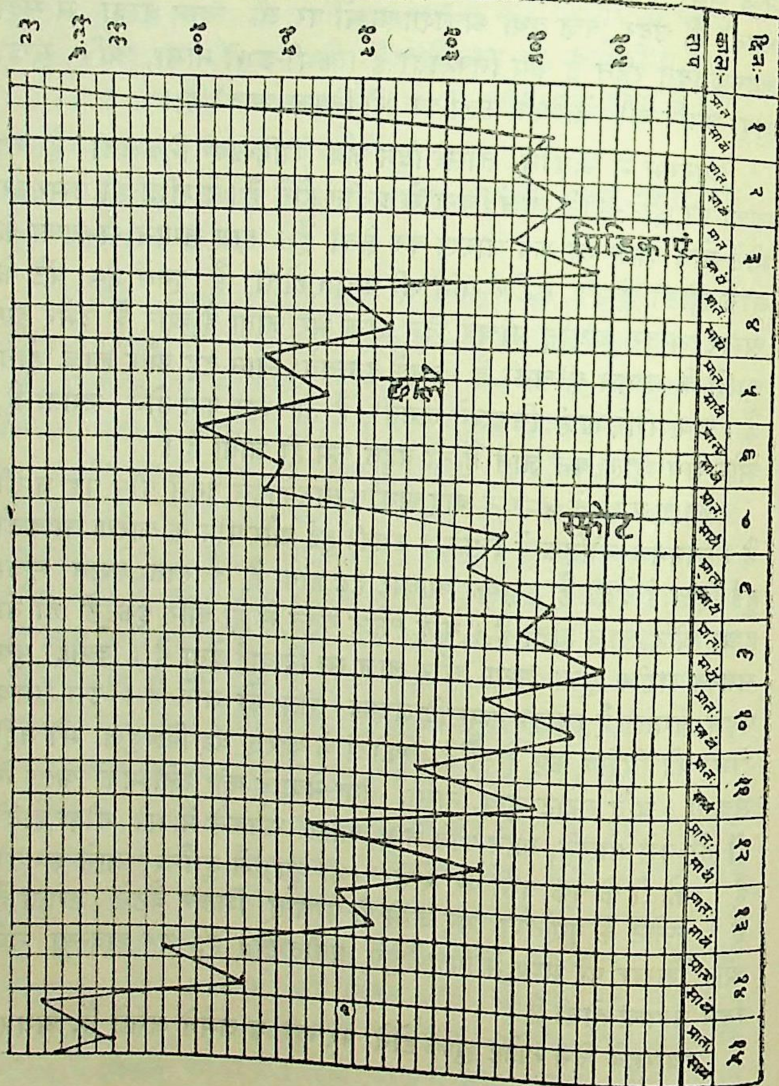
नग्न अङ्गों पर निकलती हैं और फिर शीघ्र ही सारे शरीर पर निकल आती हैं, उदर, वक्ष तथा अधोशाखाओं पर जो स्थान वस्त्रों से सदा आच्छादित रहते हैं कम निकलती हैं। कभी-कभी नासा, अक्षि, मुख, गुदा आदि की श्लैष्मिक कला पर भी निकल आती हैं।

आरम्भ में अर्थात् तीसरे दिन जब पीड़िकाएं निकलती हैं तो त्वचा पर छोटे-छोटे लाल चिन्ह से प्रतीत होते हैं। ये शीघ्र ही उभरकर मोटे-मोटे दानों का रूप धारण कर लेती हैं। हाथ लगाने से त्वचा के नीचे छोटी-छोटी कठोर गांठे सी प्रतीत होती हैं इनमें ४८ घंटे के अन्दर-अन्दर अर्थात् पांचवें दिन तरल भर जाता है और वे उभरे हुए छालों के समान दीखती हैं। इनके इतस्ततः स्थान दृढ़ और लाल होते हैं। जब पीड़िकाएं निकलने लगती हैं तो ज्वर कम होने लगता है, और जब छाले बन जाते हैं तो बहुत कम हो जाता है।

छाले बनने के ४८ घंटे बाद अर्थात् सातवें दिन उनमें पीप पड़ जाती है। पीपमय पीड़िकायें (स्फोट) उभरी हुई और पीप के कारण चमकती हुई दिखाई देती हैं। इनका आधार दृढ़ होता है इतस्ततः स्थान सूजा हुआ और लाल होता है। यदि स्फोट बहुत से हों और इकट्ठे हों तो समस्त शरीर सूजा हुआ और लाल सा दिखाई देता है। ज्योंही पूय पड़ने लगती है त्योंही ज्वरादि लक्षण तीव्र हो जाते हैं। इस समय रोगी को विशेष कष्ट होता है। स्फोटों के कारण वह हिलडुल भी नहीं सकता। यदि स्फोट मुख, नासा, तथा नेत्रादि की श्लैष्मिक कला में हों तो उसे बोलने, खाने-पीने तथा आंख झपकने में भी पीड़ा होती है। स्फोटों के पक जाने पर रोगी (की पूय) से दुर्गन्ध आने लगती है। स्फोट के पूर्णतया भर जाने के पश्चात् शिखर बैठने लगता है और शिखर पर मध्य में पिचके हुए प्रतीत होते हैं, यह अवस्था नवें दिन उत्पन्न होती है।

ग्यारहवें दिन स्फोट शुष्क होने पर खुरण्ड जमने लगते हैं, अथवा

चित्र २६ मसूरिका



फटने लगते हैं, ज्वर कम होने लगता है तथा अन्य लक्षण भी मन्द पड़ने लगते हैं। ३–४ दिन में रोगी शान्ति प्रतीत करने लगता है परन्तु खुरण्ड कई दिन बाद तक शनैः शनैः उतरते रहते हैं। इनके उतरने के बाद शरीर पर विशेष कर मुख पर गढ़े से पड़ जाते हैं। यदि ये गढ़े गहरे हों तो आजीवन बने रहते हैं। अन्यथा शीघ्र या देर से मिट जाते हैं। यदि आँख की कनीनका पर स्फोट बना हो तो आँख में फोला (शुक्र) बन जाता है।

इस रोग में लक्षण बहुत तीव्र होते हैं। रोगी अति दुर्बल हो जाता है। कोष्ठ-बद्धता रहा करती है। जिह्वा बहुत शुष्क और मैली होती है। नाड़ी भरी हुई और तीव्र होती है। ज्वरादि लक्षणों की तीव्रता के साथ-साथ प्रलाप, कम्पन और अनिद्रादि उपद्रव होते हैं। इस रोग से ३०-४० प्रतिशत रोगी मर जाते हैं पीड़िकाओं का न निकलना या कम निकलना एक भयानक लक्षण हैं। बाल्यावस्था में मृत्यु अधिक होती है। टीका कराये हुए रोगियों में मृत्यु संख्या बहुत कम है।

भेद—(१) मृदु शीतला—(Varioloid, Modified Small Pox) कभी-कभी विशेष करके टीका कराये हुए मनुष्यों में यह रोग बहुत मृदु होता है। शरीर पर केवल थोड़ी सी पीड़िकाएँ निकलती हैं और तदनुसार ज्वरादि लक्षण भी अति न्यून हैं।

(२) मिथ्या शीतला (Variola Minor) कई बार शीतला से बिलकुल मिलता-जुलता एक रोग होता है जिसमें ज्वर और पीड़िकाएँ शीतलावत् होती हैं परन्तु वेग कम होता है। जिनको एक बार शीतला हो चुकी हो या जिन्होंने टीका कराया हो उन्हें भी यह हो जाती है। सम्भवतः यह रोग शीतला से पृथक् ही कोई अन्य रोग है। ज्वर सातवें दिन उतर जाता है।

(३) अन्योन्यव्यापी शीतला (Confluent) शरीर पर पीड़िकायें अत्यधिक होती हैं। यहाँ तक कि वे एक दूसरे में व्याप्त हो जाती हैं

यह अति भयानक अवस्था है। इसमें ६० प्रतिशत रोगी मर जाते हैं।

(४) रक्तस्रावी शीतला—(Haemorrhagic) इसमें स्फोटों में तथा उनके इतस्ततः रक्तस्राव हो जाता है, जिससे वे कुछ कृष्णाभ प्रतीत होते हैं। यह भी अति भयानक है इससे भी रोगी प्रायः मर ही जाते हैं।

(५) उपद्रव (१) प्रणालीय फुफ्फुस प्रदाह (Broncho pneu. monia) (२) तीव्र कास (३) विसर्प (४) पायीसिया (५) सन्धिशोथ (६) अभिष्यन्द, शुक्रादि नेत्ररोग (७) वृक्कशोथ।

रोगमीमांसा—लक्षणों से रोग पहिचानना अति सुगम है। कभी कभी लघु मसूरिका से भेद करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। लघुमसूरिका में पीड़िकाएँ पहले ही दिन निकल आती हैं तथा बार-बार निकलती, भरती और पकती हैं। एक ही समय में शरीर पर कई प्रकार की पीड़िकाएं कई नूतन, कई तरलमय और कई पकी हुई स्फोट रूप में दृष्टिगोचर होती हैं। परन्तु मसूरिका में सब पीड़िकायें सदा एक ही अवस्था में होती हैं तथा ज्वरारम्भ के तीसरे या चौथे दिन निकलती हैं।

चिकित्सा—शीतला की प्रतिबन्धक चिकित्सा ही इसकी वास्तविक चिकित्सा है इसकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। पहले असावधानी करने और रोग उत्पत्ति पर चिकित्सा करने की अपेक्षा सदा यह यत्न होना चाहिए कि रोग होने ही न पावे।

प्रतिबन्धक चिकित्सा—रोगी को अन्य घर वालों से विशेष कर बच्चों से पृथक् रखें। उसके वस्त्रादि को भली-भाँति शुद्ध कर लेना चाहिये और परिचारिक को अन्य मनुष्यों में कभी नहीं मिलने देना चाहिये। यदि मिलना आवश्यक हो तो उसके हाथ और वस्त्रादि को भली भाँति शुद्ध कर लें। प्रत्येक मनुष्य को टीका करा लेना अत्यन्त आवश्यक है। बच्चों को जन्म होने के कुछ सप्ताह बाद टीका करा

लेना चाहिए। एक टीका ७-१० वर्ष तक के लिए रोग क्षमता पैदा कर देता है। अतः ७-८ वर्ष की आयु में और एक और १६-२० वर्ष की आयु में करा लेना चाहिए। टीका वास्तव में गो मसूरिका रोग का पैदा करना ही है। इसका वर्णन आगे होगा।

शमन चिकित्सा—साधारण ज्वर की चिकित्सा ही इसमें अभिधेय है। इसके लिए कोई विशेष औषधि नहीं। परन्तु जिस दिन पीड़िकाएँ निकलें उसी दिन मकरध्वज या रससिन्दूर, विष तथा शृङ्गभस्म दें। कुछ मुनक्का के दाने खिला दें या थोड़ा सा केशर दूध में घोल कर पिलादें। यह विचार है कि इनसे विष रक्त से निकलकर पीड़िकाओं के रूप में त्वचा में आ जाती है और टाक्सीमिया के लक्षण कम हो जाते हैं। यह कहा जाता है कि रक्तरश्मियें इसमें विशेष लाभकारी हैं, अतः रोगी के सम्मुख धूप की ओर लाल कपड़ा लटका दिया जाता है।

कई मनुष्यों का यह विचार है कि इसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिये। किसी हद तक यह बात ठीक भी है, परन्तु जब रोग उग्र हो या उपद्रव पैदा हो जाय, तो उनकी चिकित्सा न करना रोगी के साथ अन्याय करना है। जब पीड़िकाओं में पूय भरने लगती है तब अथवा सातवें दिन सल्फाथायाजाल (Sulfathiazol) देने से व पेनिसिलीन (Penicilin)का इंजेक्शन देने से उपद्रव कम होते हैं, ऐसा कहा जाता है। यह स्मरण रहे कि इन दोनों औषधियों का मसूरिका के कीटाणुओं पर कोई प्रभाव नहीं होता, परन्तु अन्य पूयोत्पादक कीटाणुओं पर पड़ता है, अतः इनके देने से वे उपद्रव तो रोक सकते हैं, परन्तु इस रोग के के वेग में कोई लाभ नहीं होता। स्फोटों से खुरण्ड उतरने पर वहाँ स्थाई रूप से गड्ढे न पड़े एतदर्थ निम्नोक्त विलयन से शुद्धवस्त्र (Lint) को बार-बार भिगोकर खुरण्ड उतरते समय व्रण पर रखना चाहिए।

Menthol	सत्व पोदीना	१ भाग
Thymol	सत्व अजवायन	,,

Oil Eucaliptus	यूकालिप्टस तैल	१ भ
Acid Boric	बोरिक एसिड	"
Liq. Calcis	चूने का पानी	"
Olive oil ad	जैतून का तेल	११ भ

जब पीड़िकायें अत्यधिक हों और अन्योन्यव्यापी हों तो उन शिखरों को (शुद्धतापूर्वक) कुतरने पर और पीप निकालने से लक्ष कम हो जाते हैं। इसके लिए विशेष सावधानी की जरूरत है, श शनैः धैर्यपूर्वक काम करना पड़ता है, ऐसे समय सल्फाथायाजा (Sulphathiazol) और पेनिसिलीन (Penicilin) की विशे आवश्यकता होती है, जिससे बाहर के कीटाणु आकर उपद्रव उत्पन्न न कर सकें इस प्रकार उत्पन्न व्रणों पर निम्नोक्त पट्टी अथवा चूर बुरकना चाहिए।

पेनिसिलीन की पट्टी–पेनिसिलीन को शुद्ध (Acriflvin Solu tion in 1000) में घोलकर उसकी पट्टी वहाँ रखें अथवा (Boric acid, Zinc oxide and Sulphanamide Powder equa part) की बुरकी व्रणों पर छिड़कें।

जहाँ तक सम्भव हो ऐसी चिकित्सा आतुरालय में ही करनी चाहिए। उत्तम तो यह है कि रोगी को आरम्भ से ही आतुरालय में भेज दें, क्योंकि इस रोग में विशेष सावधानी और परिचर्या की आवश्यकता होती है।

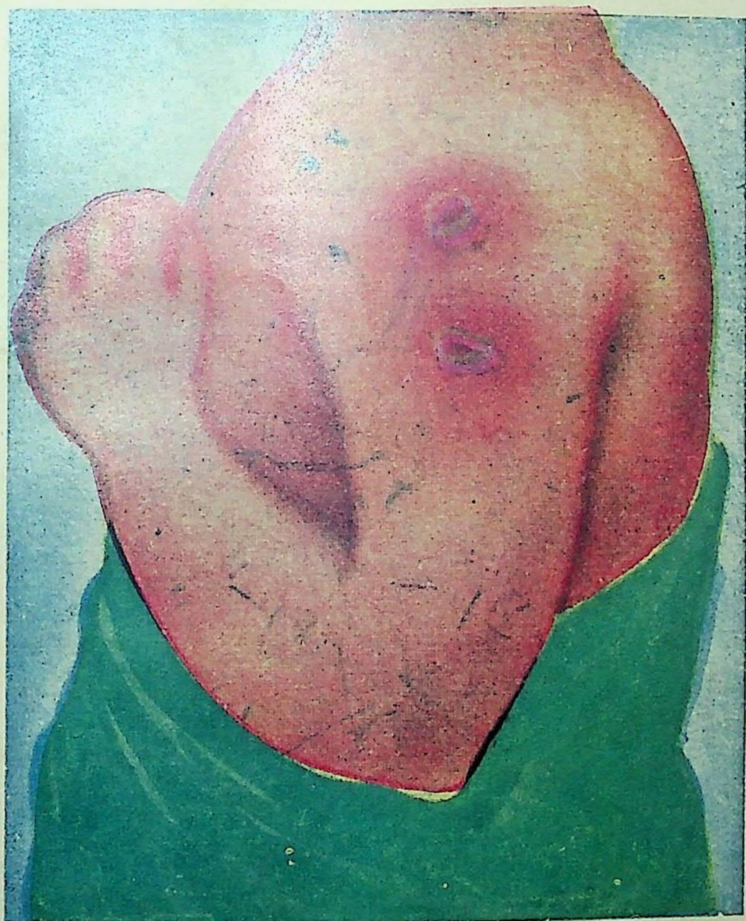
गोमसूरिका

पर्याय—गोमसूरिका, चेचक का टीका वैक्सीनिया (Vaccinia, Cow-Pox)

मनुष्य की तरह पशुओं में भी एक मसूरिका होती है जिसे गोमसूरिका कहते हैं। इसका जीवाणु भी मनुष्य मसूरिका की जाति में से है। कुछ डाक्टरों का यह विचार है कि मनुष्य मसूरिका का जीवाणु ही गौ में जाकर मृदु हो जाता है और गौ मसूरिका उत्पन्न कर देता

चित्र ३०

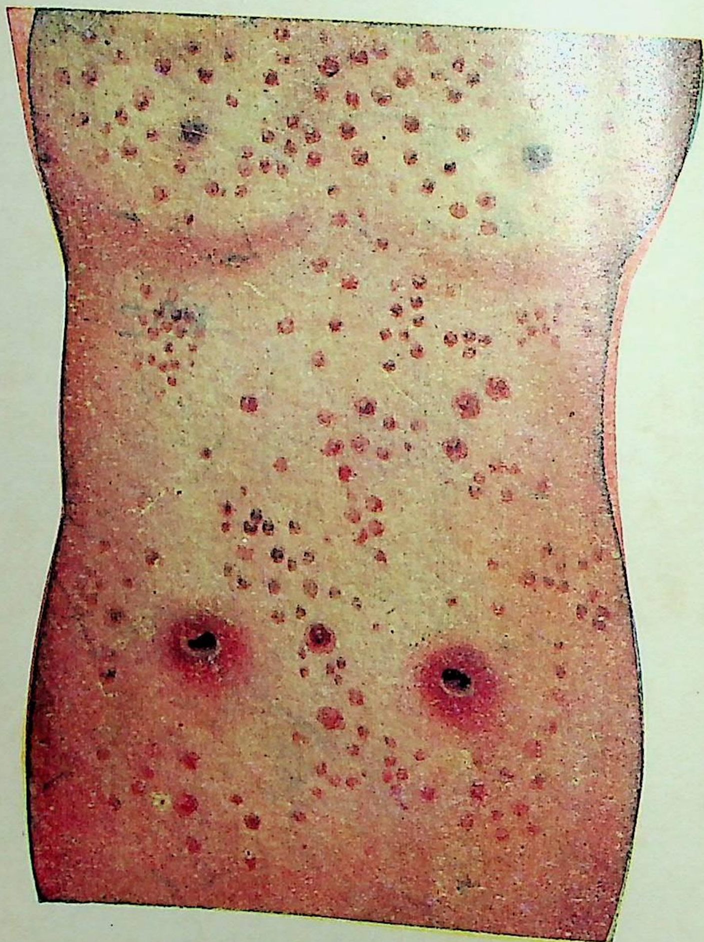
गोमसूरिका



पृष्ठ २७४

चित्र ३१

लघु मसूरिका



पृष्ठ २७५

है। मसूरिका का टीका वास्तव में मनुष्य शरीर में गौ मसूरिका के जीवाणु को प्रविष्ट करके इस रोग को उत्पन्न करता है। गौ, भैंस तथा गर्दभादि पशुओं में गोशीतला उत्पन्न की जाती है। जब उनमें तरलमय पीड़िकाएँ (छाले) बन जाती हैं तो उनको छीलकर तरल (अर्थात् जीवाणु से भरी हुई लसीका) शुद्ध पात्र में ले लिया जाता है। इसको पूयोत्पादक अन्य कीटाणुओं से बचाकर कारबोलिक ग्लिसरीन में मिलाते हैं और छोटी-छोटी शीशियों में भर कर रख लेते हैं। जिसको टीका करना हो, उसकी बांह पर कुन्द चाकू द्वारा त्वचा खुरचकर इसको शरीर में प्रविष्ट कर देते हैं। उस स्थान पर पांच दिन में पीड़िकाएं निकल आती हैं, मसूरिका की तरह तरलमय बनकर स्फोट बन जाती हैं और १०, १२ दिन में मुरझा जाने पर वहाँ शुष्क खुरण्ड बन जाते हैं जब स्फोट बनते हैं तो २–३ दिन के लिये ज्वर भी हो जाता है।

मसूरिका और गोमसूरिका विष एक है, अतः गोमसूरिका को उत्पन्न करके मसूरिका को रोकने के लिये शरीर में प्रतिविष उत्पन्न कर देते हैं।

यदि शीतला का संक्रम होने के अर्थात् कीटाणु प्रवेश के चार दिन बाद तक भी टीका कर दिया जाय तो भी शीतला से रक्षा हो जाती है। क्योंकि इसका परिपाक काल १२ दिन है अतः चार दिन के अन्दर अन्दर टीका कर देने से शीतला उत्पन्न होने से पूर्व ही उसके विष को उदासीन करने के लिये प्रतिविष उत्पन्न हो जाता है। परन्तु यह जानना असम्भव है कि संक्रम हो चुका है। अतः टीका करा ही देना चाहिये। यदि संक्रम हो चुका है तो शीतला बहुत जोर से होगी, इससे कोई भेद नहीं पड़ता। ऐसी अवस्था कभी विरल ही होती है। इस भय से टीका न करवाना भारी भूल है।

लघुमसूरिका

पर्याय—आकडा काकडा, छोटी माता, चिकन पाक्स (Chicken pox, Varicella) और लघु मसूरिका।

यह रोग प्रायः बच्चों को २–१० की आयु में ही होता है। इसका प्रसार भी मसूरिकावत ही होता है और उसी के समान अति शीघ्र फैलता है। यह मृदु होता है और बच्चे इस रोग के हो जाने पर खेलते फिरते रहते हैं, यह बच्चों में ही बहुत फैलता है। इसे साधारण बोल-चाल में हंसनी खेलनी माता के नाम से पुकारते हैं।

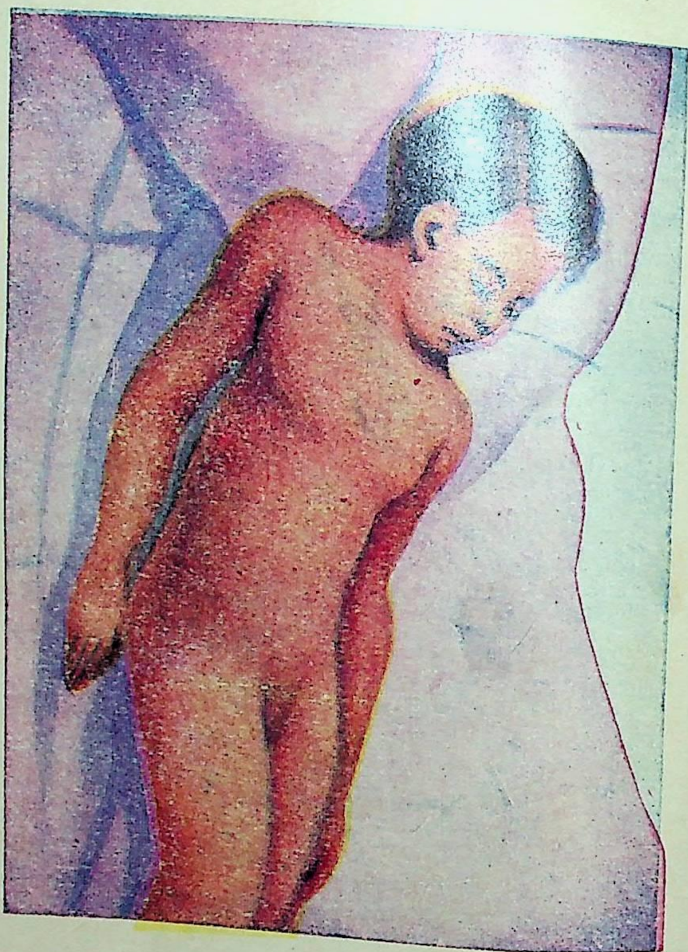
परिपाक काल—१२ से १६ दिन और सीमा ११ से २४ दिन है।

लक्षण—प्रायः पहले ही दिन बिना किसी विशेष लक्षणों के पीड़िकाएं निकल आती हैं। कभी-कभी पीड़िका निकलने से कुछ घंटे पूर्व अङ्ग मर्द, शिरः पीड़ा, मन्दज्वर आदि लक्षण भी होते हैं, अथवा पीड़िका निकलने के बाद हो जाते हैं। पीड़िकाएं पहले छाती, उदर, मुख या पीठ पर समूह रूप से निकलती हैं, और २ से ५ दिन तक प्रतिदिन नया पीड़िका समूह निकलता रहता है। कुछ ही घंटों में पीड़िकाएं तरलमय हो जाती हैं, और कुछ घंटों के बाद पूयमय होकर स्फोट बन जाते हैं। २-३ दिन के अन्दर पीप सूखकर खुरण्ड बनने लग जाते हैं और नई पीड़िकाएं भी निकल रही होती हैं। इस रोग में यह विशेषता है कि एक ही समय में कई पीड़िकाओं पर खुरण्ड जमे हुये, कई स्फोटावस्था में, कई तरलमय और कई नई होती हैं। ज्वर प्रायः मन्द ९९ फा. या १०० फा. तक रहता है। जब नया समूह निकलता है तो ज्वर किञ्चित् बढ़ जाता है फिर कम हो जाता है, कभी-कभी नहीं भी होता। तीव्रावस्था में ज्वर १०१-१०२ फा. तक भी हो जाता है। लक्षण भी मृदु होते हैं।

चिकित्सा—जहाँ तक हो सके रोगी बच्चे को दूसरे बच्चों से से अलग रखना चाहिये। इस रोग के लिये कोई विशेष औषधि नहीं। न तो यह भयानक है और न ही इसके उपद्रव होते हैं, अतः औषधि की आवश्यकता ही कम पड़ती है। यदि कासादि कोई उपद्रव हो जाय, तो लाक्षणिक चिकित्सा करनी चाहिये। भोजन मृदु ही उचित है।

चित्र ३३

रोमान्तिका



पृष्ठ २७७

रोमान्तिका

पर्याय—रोमांतिका‡, खसरा, मीजल्स, Measles।

परिचय—यह एक तीव्र साँक्रामिक रोग है। जिसमें नासा और कण्ठ की श्लेष्मिक कला का प्रदाह होता है और चौथे दिन शरीर पर एक प्रकार की पीड़िकाएँ निकल आती हैं।

कारण—यह सब पीड़िकायुक्त ज्वरों से अधिक तीव्र सांक्रामिक है। आरम्भ से लेकर रोग मुक्ति के १५ दिन बाद तक, जब तक पीड़िकाओं का सारा उपचर्म नहीं उतर जाता, रोगी रोग फैलाने का कारण बना रहता है उसके कीटाणु रोगी के कण्ठ, गले और नासा की श्लेष्मा पीड़िकाओं तथा उनसे उतरने वाले उपचर्म में उपस्थित रहते हैं। और यहाँ से संसर्ग द्वारा अथवा श्लेष्मा व उपचर्म से दूषित वस्तुओं द्वारा; बहुत कम परिचारकों द्वारा अन्य व्यक्तियों तक पहुँच कर उनकी नासा और कण्ठ में जाकर रोग उत्पन्न कर देते हैं। रोग के एक बार हो जाने से कुछ न कुछ काल के लिये रोग क्षमता बढ़ जाती है, और कई वर्षों तक पुनः यह रोग नहीं होने पाता। भारत में यह रोग बहुतायत से देखा जाता है। हेमन्त, शिशिर और वसन्त ऋतु में अधिकतर फैलता है, और प्रायः २ से ५ वर्ष के बच्चों में अधिक होता है।

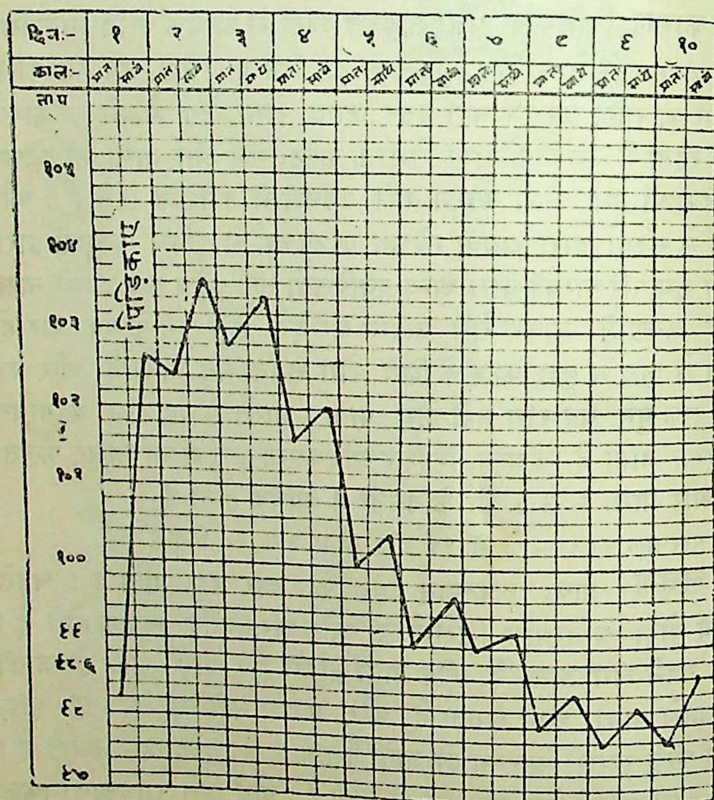
परिपाक काल—१० से १५ और सीमा ५ से २० दिन है।

लक्षण—प्रायः अकस्मात् १०१ फा० ज्वर चढ़ जाता है। चढ़ते समय थोड़ा प्रतिश्याय, शिरोगौरव और अंगमर्दादि लक्षण होते हैं। नाक बहने लग जाता है, छींक आने लगती हैं। आंखे लाल हो जाती हैं, उनसे पानी आने लगता है, और प्रकाश नहीं सह सकतीं। कुछ काल पीछे खांसी आरम्भ हो जाती है। प्रायः हरे दस्त आने लगते हैं। ज्वर दूसरे तीसरे दिन कुछ कम हो जाता है। चौथे दिन पीड़िकाएँ निकल

‡ चूंकि इसकी पीड़िकाऐं रोमान्त से आरम्भ होती हैं अतः इस रोग का नाम भी रोमान्तिका हैं।

आती हैं और ज्वर पुनः तीव्र हो जाता है, सात दिन पीछे उतर जाता है। रोगारम्भ के दूसरे या तीसरे दिन, पीड़िकाओं के निकलने से पूर्व, मुख के अन्दर श्लेष्मिक कला पर मसूढ़ों के सम्मुख लाल लाल निशान से दिखाई देते हैं, इनके केन्द्र कुछ नीलाभ होते हैं। ये चिह्न तीन चार

चित्र २७ रोमान्तिका



दिन रह कर पीड़िकाओं के निकलते ही मिट जाते हैं। इनसे रोगमीमांसा में विशेष सहायता मिलती है। ये लक्षण केवल इसी रोग में ही होते हैं।

रोगारम्भ से चौथे पांचवे दिन सबसे प्रथम मस्तक पर, कानों पीछे और नीचे बालों के पास तथा मुंह के इतस्ततः पीड़िकायें निकल आती है। पहिले वह स्थान लाल होता है पीछे वहाँ पीड़िकायें उभर आती हैं। एक दो दिन में ग्रीवा, वक्ष, उदर तथा शाखादि सारे शरीर पर फैल जाती हैं। ललाट, मुख, ग्रीवा, उदर पर विशेषतया अधिक होती हैं। पीड़िकाओं को देखने से यह मालूम होता है कि वे किञ्चित उभरी हुई घन तथा लाल रंग की हैं। घन होने के कारण ये परस्पर मिल जाती हैं और गोल तथा अर्धचन्द्राकार घेरे से दिखाई देती हैं। त्वचा में किंचित् शोथ सी दिखाई देती है जिससे रोगी शोथयुक्त प्रतीत होता है। पीड़िकाओं में कभी-कभी रक्तस्राव हो जाता है, कभी-कभी उनमें जलन या कण्डू भी प्रतीत होती है, जिससे रोगी बेचैन होता है, वायु और जल के सम्पर्क से यह लक्षण और भी बढ़ जाते हैं। पीड़िकाओं के निकलते समय ज्वर बढ़कर १०३–१०४ फा० हो जाता है, प्रतिश्याय, शिरशूल, अंग पीड़ा आदि लक्षण भी बढ़ जाते हैं कभी-कभी प्रलाप निद्रानाश आदि सन्निपात (विष के लक्षण) दृष्टिगोचर होते हैं।

दो चार दिन रह कर पीड़िकायें मुरझा जाती हैं और ज्वर भी कम हो जाता है। परन्तु गला कई दिन तक खराब रहता है और खांसी रहती है। पीड़िकाओं के मुरझा जाने पर उस स्थान पर धूसर से धब्बे पड़ जाते हैं और वहाँ १०–१५ दिन तक उपचर्म उतरता रहता है। जब कभी पीड़िकायें निकलते निकलते रुक जाती हैं, पूरी नहीं निकलने पातीं यह बड़ी भयानक अवस्था है।

नाड़ी और श्वास की गति ताप के निपात से अधिक होती हैं जब ज्वर तीव्र होता है तो प्रतिश्याय और कासादि लक्षण भी अधिक हो जाते हैं, और कभी-कभी प्रलाप, निद्रानाशादि उपद्रव भी हो जाते हैं। जिह्वा पर मैल जमी होती है जो दो चार दिन बाद उतर जाती है और जिह्वा नीचे से सुर्ख निकल आती है।

भेद—इसके चार भेद हैं:—(१) पीड़िका रहित (२) रक्त-स्रावी—में पीड़िकाओं में रक्तस्राव हो जाता है। यह बहुत भयानक है। रोगी प्रायः मर जाता है, कोई बच भी जाता है। नाक से रक्तस्राव होने लगता है (३) वातिक-में प्रलापादि वातिक लक्षण उग्र होते हैं। यह भी भयानक है इसमें सन्निपात के लक्षण होते हैं। (४) ब्रान्कोन्यूमोनिक (Broncho Pneumonic)—दोनों फुफ्फुसों में सर्वत्र कूजन सुनाई देती है ज्वर प्रलाप आदि लक्षण अतितीव्र होते हैं। श्वास के कारण रोगी का वर्ण कृष्णाभ सा हो जाता है। यह चारों भेद भयानक हैं।

उपद्रव—सबसे भयानक श्वास मार्ग के उपद्रव हैं। यथा—तीव्र कास, प्रणालीय फुफ्फुसप्रदाह (Broncho Pneumonia) काली खांसी आदि। जब ये कास आदि लक्षण चिरकाल तक रहें तो फुफ्फुस-कोष्ठविस्तृति एवं राजयक्ष्मा हो जाने का भय रहता है।

वृक्क शोथ भी एक ऐसा उपद्रव है जो प्रायः इस रोग में हो जाता है। परन्तु बहुधा इसका ज्ञान कई वर्ष बाद होता है। उस समय तक यह जीर्ण हो चुका होता है। चिकित्सक को इसकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

कभी-कभी इस रोग में ज्वर पीड़िकायें शान्त होने के बाद भी चिरकाल तक बना रहता है:

रोग-मीमांसा—वास्तविक पीड़िकाओं के निकलने से पूर्व निम्नोक्त लक्षण इस रोग को स्पष्ट कर देते हैं:

(१) प्रतिश्याय, छींको का आना, आंखों का लाल तथा अश्रुमय होना। (२) पीड़िकाओं से पूर्व मुख में चर्वणक दाँतों के सम्मुख श्लेष्मिक कला पर लाल निशान दिखाई देते हैं। (३) पीड़िकाओं से पूर्व आंखों के कोये के अर्धचन्द्राकार पिण्ड सूजे रहते हैं। (४) शरीर के किसी भाग पर शृङ्गी लगाने से स्थान लाल हो जाता है। और जब

चित्र ३४

रोमान्तिका



रोमान्तिका में वास्तविक पिड़िकाओं से पूर्व मुख में चब-
णक दांतों के सन्मुख श्लैष्मिक कला पर लाल २ निशान

तक पीड़िकाएं नहीं निकल आतीं, लाल ही रहता है। (५) मूत्र में ड्याजों प्रतिक्रिया भी इसमें विशेषतया सिद्ध होती है।

चिकित्सा—रुग्ण बच्चे को लक्षण पैदा होने से खुरण्डों के उतर जाने तक अन्य बच्चों से पृथक् रखें। तथा परिचारकों को भी अन्य बच्चों में न जाने दें। इस के लिये कोई विशेष औषधि या चिकित्सा नहीं है।

भोजन—दूध, फलरस, लाजपेयादि तरल पदार्थ दें इसके लिए कोई विशेष औषधि नहीं परन्तु द्राक्षा तथा कुंकुम पीड़िकाओं के निकलते समय देने से वे शीघ्र एवं सारी निकल आती हैं। यदि पीड़िकायें न निकलें तो रोगी को मकरध्वज, रस सिन्दूर १-१ रत्ती, शृङ्ग भस्म ४ रत्ती मिलाकर दें। बालकों में मात्रा इसकी $\frac{1}{3}$ या $\frac{1}{4}$ भाग यथावय दें। अन्य उष्ण औषधियां खाने को दें और अलसी की पुलटिस बाधें या सेक दें। कास, फुफ्फुसप्रदाह, अतिसार आदि उपद्रवों की चिकित्सा में उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, मुखपाक व कण्ठप्रदाह के लिये कण्ठ में मधुसौभाग्य अथवा बोरो ग्लिसरीन आदि चीजें लगानी चाहिये।

लोहित ज्वर

पर्याय—लोहित ज्वर, धस्सर, स्कारलेट फीवर, (Scarlet Fever).

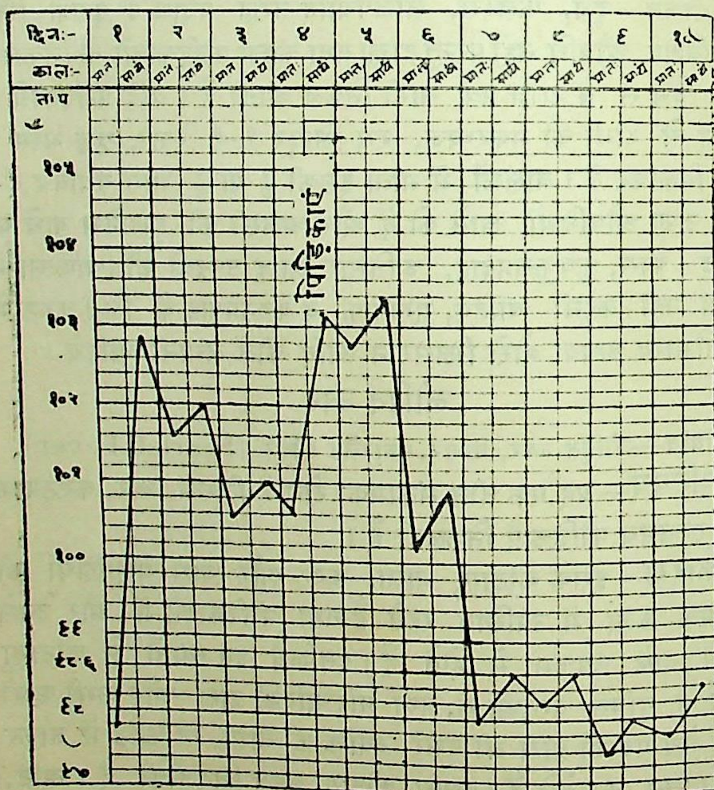
परिचय—यह एक तीव्र संक्रामक रोग है जिसमें ज्वर, कण्ठपाक और रक्तमय पीड़िकाएँ निकलती हैं।

कारण—इसके कीटाणु नासा, कण्ठ और श्वास प्रणालियों की श्लेष्मिक कला में उपस्थित रहते हैं तथा पीड़िकाओं में और उनसे उतरने वाले उपचर्म में होते हैं। इसलिये इन स्थानों से कीटाणु संसर्ग से दूषित वस्तुओं से, तथा परिचारिकों द्वारा और कभी कभी दूषित पेय पदार्थों द्वारा भी दूसरे व्यक्ति की नासा, या कण्ठ में जाकर रोग उत्पन्न कर देते हैं। इसका कीटाणु बहुत चिरजीवी है। खाट, वस्त्र तथा अन्य चीजों से चिपका हुआ चिरकाल तक जीवित रहता है। इस में संक्रमवाहक भी रोग को फैलाने के साधन बनते हैं।

यह रोग एक वर्ष से ऊपर के बच्चों को अधिक होता है। दरिद्री, भूखे, कंगाल, मलिन और इकट्ठे रहने वालों में यह रोग बहुत फैलता है। प्रायः वर्षाऋतु में होता है, बसन्त में बहुत कम। रोमान्तिका की

चित्र २८

लोहित ज्वर



अपेक्षा यह कम होता है। इस देश में बहुत ही कम होता है।

परिपाक काल—२ से ४ और सीमा १ से ७ दिन तक है।

चित्र ३६

लोहित ज्वर



लक्षण—अकस्मात् तीव्र ज्वर हो जाता है। ज्वर के साथ शिरः पीड़ा, अङ्गमर्द, वमन, उत्क्लेश व दाहादि लक्षण होते हैं। नाड़ी की गति ज्वर की अपेक्षा बहुत तीव्र होती है। १०३-१०४ फा० में गति १२०-१४० और बच्चों में १६० होती है।

गला, तालू और गल-ग्रन्थियाँ शोथयुक्त व रक्तमय होती हैं गले को देखने पर गलग्रन्थियाँ अन्दर की ओर बढ़ी हुई दिखाई देती हैं। मन्यास्तम्भ हो जाता है और ग्रीवा की लसीका ग्रन्थियाँ बढ़ जाती हैं। जिह्वा शुष्क व मैली होती है और तीन चार दिन बाद मैल उतर जाने पर नीचे से लाल सुर्ख निकल आती है।

पहले ही दिन या कभी-कभी दूसरे दिन ग्रीवा और छाती पर पीड़िकाएं निकल आती हैं, जो २४ घंटे के अन्दर अन्दर सारे शरीर पर फैल जाती हैं, परन्तु मुख का इतस्ततः स्थान खाली रहता है। जब पीड़िकाएं निकलती हैं तो शरीर में अत्यन्त कण्डू एवं जलन होती है। पीड़िकाओं को देखने से वे किरमिची रंग की प्रतीत होती है, परन्तु ध्यानपूर्वक देखने से छोटी छोटी रक्त पीड़िकाएं इकट्ठी पड़ी दिखाई देती हैं और दो तीन दिन तक रहकर मुरझा जाती हैं। और कई सप्ताह बाद तक उनके स्थान से उपचर्म उतरता रहता है।

ज्वर—आरम्भ से ही १०२ फा० से १०४ फा० तक होता है। और जब तक पीड़िकाओं का वेग रहता है ज्वर भी तीव्र रहता है। तीसरे, चौथे दिन जब पीड़िकाएँ मुरझाने लगती हैं ज्वर भी कम हो जाता है और सात दिन में बिलकुल उतर जाता है।

उपद्रव—(१) तीव्रकास, (२) मध्यकर्ण शोथ, (३) लसीका ग्रन्थियों में विद्रधि का हो जाना, (४) वृक्कशोथ।

रोग मीमांसा—कण्ठ प्रदाह, तीव्र ज्वर तथा प्रथम दिन ही पीड़िकाओं का निकल आना रोग पहचानने के लिये पर्याप्त हैं। कभी-कभी रोमान्तिका, लघुरोमान्तिका, वातश्लेष्मिक ज्वर और तीव्र गलग्रन्थि

शोथ से इसको अलग करना कठिन हो जाता है। परन्तु सावधानी से देखा जाय तो भेद मालूम हो जाता है, इसमें मुख के इतस्ततः पीड़िकायें नहीं होतीं।

चिकित्सा—इसकी चिकित्सा भी रोमान्तिकावत् ही करनी चाहिये। इन दोनों में एक विशेष उपद्रव वृक्कशोथ प्रायः हो जाता है जिसका कोई स्पष्ट लक्षण नहीं होता। अतः चिकित्सक को स्वयं इस ओर ध्यान रखना चाहिये कि मूत्र कैसा और कितना आरहा है। एलब्यूमिन परीक्षा करते रहना चाहिए। यदि वृक्क शोथ हो तो इसकी चिकित्सा की ओर विशेष ध्यान दें अन्यथा उपेक्षा से असाध्य जीर्ण वृक्क शोथ हो जायगा।

लघु रोमान्तिका

यह रोमान्तिका और लोहित ज्वर दोनों के कुछ-कुछ लक्षणों से युक्त, परन्तु दोनों से ही भिन्न हैं। इसका परिपाक काल अधिक, लक्षण मृदु और रोगकाल अल्प है। पहले यह विचार था कि यह रोमान्तिका और लोहित ज्वर का ही मिश्रित रूप है परन्तु अब यह दोनों से भिन्न है। इनका प्रसार रोमान्तिका की भांति कण्ठ, नासादि की श्लेष्मा तथा उपचर्म के संसर्ग से, एवं दूषित वस्तुओं और परिचारिकों द्वारा होता है।

परिपाककाल—१७ से २० दिन।

लक्षण—मन्द ज्वर होता है। कुछ शिरः पीड़ा तथा कण्ठप्रदाह होता है। ग्रीवा की लसीका ग्रन्थियां शोथ एवं पीड़ा युक्त होती हैं। पीड़िकाएँ पहले या दूसरे दिन निकलती हैं। पहले ग्रीवापर और फिर शीघ्र ही सारे शरीर पर निकल आती हैं। पीड़िकाएँ छोटी-छोटी पृथक् पृथक् उभरी हुई और गुलाबी रंग की होती हैं, कभी-कभी इकट्ठी होकर मिल भी जाती हैं। तीसरे दिन पीड़िकाएँ मुरझा जाती हैं और ज्वर उतर जाता है। इसमें लक्षण मृदु होते हैं। रोगी को विशेष कष्ट नहीं होता। इसकी चिकित्सा भी रोमान्तिकावत् ही करनी चाहिये।

अध्याय १२

श्वास मार्ग की संक्रामक व्याधियाँ

इस अध्याय में उन संक्रामक व्याधियों का वर्णन किया जायगा, जिनके कीटाणु वायु द्वारा श्वास मार्ग में जाकर रोग उत्पन्न करते हैं:-

१—फुफ्फुसप्रदाह, खण्डीय वा प्रणालीय

२—वातश्लेष्मिक ज्वर

३—काली खांसी

४—तीव्र कास

५—राजयक्ष्मा

राजयक्ष्मा का वर्णन क्षयाधिकार में किया जायगा।

वक्तव्य—श्वास मार्ग के रोगों का वर्णन करने से पहले यह उचित प्रतीत होता है कि थोड़ा सा वर्णन फुफ्फुसों की रचना का कर दिया जाय जिससे तीव्रकास, प्रणालीय फुफ्फुसप्रदाह और खण्डीय प्रदाह को समझने में सुगमता हो।

यह तो आप जानते ही हैं कि श्वास दो नासारन्ध्रों द्वारा लिया जाता है, यहाँ से श्वास कण्ठ में और कण्ठ से नाचे स्वरयन्त्र से होता हुआ फुफ्फुसों की ओर जाता है। श्वास-यन्त्र से नीचे टेंटुवा है, टेंटुवा यहाँ से लगभग ४ इञ्च नीचे जाकर दायें बायें दो शाखाओं में विभक्त हो जाता है। और टेंटुए की शाखाएँ फुफ्फुसों में प्रवेश करके पुनः दो या अधिक शाखाओं में (श्वास-प्रणालियों में) विभक्त हो जाती हैं। ये श्वास प्रणालियाँ पहले तो स्थूल होती हैं पुनः उत्तरोत्तर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम वायु प्रणालियों में विभक्त होती जाती हैं। अन्ततोगत्वा अति सूक्ष्म वायु प्रणालियाँ वायु मन्दिरों में जाकर अन्त

होती हैं, एक सूक्ष्म वायु प्रणाली के साथ अनेक वायु मन्दिर संलग्न होते हैं। ये वायु प्रणालियाँ अत्यन्त सूक्ष्म अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा ही देखे जाने वाली होती हैं। एक एक वायु मन्दिर में अनेक वायु कोष्ठ होते हैं, अनुमान है कि दोनों फुफ्फुसों में वायु-मन्दिरों की संख्या १६ से १८ करोड़ के लगभग होगी, नासारन्ध्र से लेकर सम्पूर्ण श्वासमार्ग में और फुफ्फुसों के वायु मन्दिरों (वायुकोष्ठ) में अन्दर की ओर एक ही प्रकार की कला आच्छादित रहती है, जिसे श्लेष्मिक कला कहते हैं उसी से स्राव (श्लेष्मा) निकलता है। टेंटुए की अन्दर की दीवार इसी श्लेष्मिक कला से बनती है, इसके बाहर सौत्रिक तंतु की तह होती है इसके बाहर मांसाकार कर्टिलेज काछला, बाहर फिर सौत्रिक तन्तु की तरह होती है, टेंटुए से जो वायु प्रणालियाँ निकलती हैं उनकी रचना भी यही है, केवलमात्र उनकी दीवार कार्टिलेज मांस आदि पतली होती हैं।

उत्तरोत्तर ज्यों-ज्यों ये विभक्त होती जाती हैं त्यों-त्यों कार्टिलेज सूक्ष्म से सूक्ष्म होती जाती हैं तथा दीवार पतली होती जाती है कार्टिलेज उत्तरोत्तर कम होकर लुप्त हो जाता है, एवं मांसपेशी सूक्ष्म वायु प्रणालियों तक रहती है और उसके बाद वायुकोष्ठों में वह भी लुप्त हो जाती है, वायु कोष्ठों में केवल मात्र श्लेश्मिक कला रह जाती है। श्वास मार्ग के संक्रामक रोगों में इसी कला की शोथ होती है।

यह शोथ वायु मन्दिरों में हो सकती है, अति सूक्ष्म प्रणालियों में, सूक्ष्म प्रणालियों में, स्थूल प्रणालियों में और टेंटुए में हो सकती है, स्थान के शोथानुसार रोग के लक्षण व नाम भी भिन्न-भिन्न हैं यथा—

तीव्रकास (Acute Bronchitis) टेंटुए में और स्थूलवायु प्रणालियों में शोथ—

प्रणालीय फुफ्फुस प्रदाह (Broncho Pneumonia) किञ्चित् स्थूल और सूक्ष्म-वायु प्रणालियों की शोथ को प्रणालीय फुफ्फुस प्रदाह कहते हैं।

खण्डीय फुफ्फुस प्रदाह (Lober Pneumonia) फुफ्फुस के एक खण्ड में स्थित वायु मन्दिरों और उनकी अति सूक्ष्म (अणु-वीक्षणीय) प्रणालियों में शोथ को खण्डीय फुफ्फुस प्रदाह या श्वसनक ज्वर कहते हैं।

श्वसनक ज्वर

पर्याय—खण्डीय फुफ्फुस प्रदाह, श्वसनक ज्वर, लोबर न्यूमोनिया (Lober-Pneumonia.)

परिचय—यह एक तीव्र संक्रामक रोग है जिसमें एक या दोनों फुफ्फुसों के खण्डों में शोथ हो जाती है, तीव्रज्वर नियत काल तक रहकर अकस्मात् उतर जाता है, इसमें तीव्र ज्वर, श्वास, कास पार्श्वशूल प्रलाप, अनिद्रा आदि लक्षण होते हैं।

कारण—इसको उत्पन्न करने वाला एक विशेष प्रकार का कीटाणु होता है जिसको न्योमोकाकस (Pneumococcus) कहते हैं, स्वस्था-वस्था में मुख और कण्ठ में इसके कीटाणु अहानिकर रूप में उपस्थित रहते हैं। विरलावस्था में जब परिस्थिति इनके अनुकूल हो जावे तो फेफड़ों में जाकर रोग भी उत्पन्न कर सकते हैं। परन्तु प्रायः यह रोग संक्रमण द्वारा ही प्रसार पाता है अर्थात् इसके कीटाणु श्वसनक के रोगियों से अन्य व्यक्तियों में जाकर रोग उत्पन्न करते हैं। कृमिविज्ञान-वेत्ता इसके चार प्रकार के कीटाणु मानते हैं, उन सबकी रोगोत्पादक शक्ति तथा उग्रता भिन्न-भिन्न है। इन कीटाणुओं के अतिरिक्त अन्य कीटाणु भी ऐसे हैं जो इस रोग को उत्पन्न करते हैं यथा-वातश्लेष्मिक ज्वर, आन्त्रिक ज्वर, प्लेग, प्रतिश्यादि रोगों के कीटाणु। यह अधिकतर शिशिर तथा वसन्त ऋतु में होता है और दस साल से कम आयु के बच्चों में तथा २५ साल से ५० साल तक के व्यस्क पुरुषों में औरों की अपेक्षा अधिक होता है। प्रायः वृद्धावस्था तथा क्षीण, दुर्बल व्यक्तियों

में अधिक होता है। एक बार हो जाय तो पुनः आक्रमण होने का भय रहता है।

रोगोत्पत्ति में सहायक कारण निम्नोक्त हैं—(१) उष्ण और आर्द्र स्थान से अकस्मात् शीत, शुष्क स्थान पर आना। (२) दूषित तथा धूलिमय वायु में निवास। (३) श्रम। (४) अन्य जीर्ण रोगों की उपस्थिति विशेषतः विषम ज्वर, वृक्क शोथ, यकृत शोथादि। (५) अनियमित आहार-विहार, मद्यादि मादक द्रव्यों का अधिक सेवन; कुसमय स्नान व व्यायाम भोजनादि।

सम्प्राप्ति—इसका कीटाणु नासा, कण्ठ द्वारा फुफ्फुसों में पहुँचकर वहाँ रोग उत्पन्न करता है। इसकी ४ अवस्थाएं मानी गई हैं—

प्रथमावस्था—वायु मन्दिरों की सेलों में शोथ उत्पन्न होती है, वहाँ की रक्तवाहिनियाँ प्रफुल्लित और रक्तपूर्ण होती हैं, उनसे रक्तवारि चूचूकर वायु मन्दिरों के कोष्ठों में आकर जमा हो जाता है, इस अवस्था में फुफ्फुसों का रुग्ण भाग शोथयुक्त, रक्तवर्ण का और भारी होता है, परन्तु अभी वायु-कोष्ठों में वायु होने के कारण यदि पानी में डाला जाय तो तैरता है, उस स्थान का फुफ्फुसावरण में शोथयुक्त हो जाता है।

इस अवस्था में वायुकोष्ठों की सेलों में वायु का प्रवेश कम होता है, श्वास शब्द कम सुनाई देता है। अथवा जो सेलें शोथस्राव के कारण चिपक गई थीं वे वायु प्रवेश होने से जब खुलती हैं तो प्रश्वास में करकरायन शब्द होता है, पहिली अवस्था परिपूर्ण होते होते २-३ दिन लग जाते हैं।

द्वितीय अवस्था—रुग्ण भाग एकदम ठोस हो जाता है, वायुकोष्ठों के अन्दर रक्तवारि जम चुका होता है, सारे वायुकोष्ठ इस जमे रक्त से परिपूर्ण होते हैं, इनमें रक्तकण, श्वेतकण और वायुकोष्ठ की दीवार से गिरे हुए कुछ सेलें होती हैं, इस अवस्था में फुफ्फुस बिलकुल यकृत की तरह ठोस होते हैं, (Red-hepatisation) और वायुकोष्ठों में न

वायु आती है और न जाती है, वक्ष के ऊपर स्टेथिसकोप लगाने पर वायु प्रणालीय शब्द सुनायी देता है, उसका कारण यह है कि वायु श्वास-प्रणालियों से सीधी ठोस स्थान द्वारा परिचालित हो कर के वक्ष दीवार तक पहुँचती है और हमें प्रणालीय शब्द सुनायी देता है।

तृतीय अवस्था—(Grey-hepatisation) वायुकोष्ठों के अन्दर के रक्तकण और रक्तवारि लीन हो जाती हैं, उनके स्थान पर पीले वर्ण का पूय समान तरल भरा हुआ रहता है, फुफ्फुस अर्थात् वायु-मन्दिर अभी तक ठोस होते हैं, और वे श्वेताणु (जो रक्तकणों और जमे हुए रक्त को ग्रसते हैं) और वायुकोष्ठों की सेलों (जो शोथ के कारण मृत होकर गिर चुकी होती हैं) से भरे हुए रहते हैं, इस अवस्था में रोग अपनी पूर्ण सीमा तक पहुँच चुका होता है, ज्वर तीव्र और अनिद्रा-प्रलाप अथवा मूर्च्छा आदि विषप्रभाव (टाक्सीमिया) के लक्षण अत्यधिक होते हैं, विष का प्रभाव अधिकतर हृदय और मस्तिष्क पर पड़ता है, हृदय दुर्बल व नाड़ी गति अतितीव्र होती है, परिधि की रक्तवाहिनियां विस्तृत हो जाती हैं। हृदय में रक्त आने ही नहीं पाता, अधिकतर मृत्यु का कारण यही होता है। मस्तिष्क पर प्रभाव के कारण अनिद्रा, प्रलाप और तथा मूर्च्छा आदि होते हैं। विष के कारण, हृदय-कार्यावरोध व परिधि रक्तसंरोध का भय अधिक बढ़ जाता है। फुफ्फुसों के रोग के कारण श्वास की गति तो तीव्र होती ही है।

इस अवस्था में भी दूसरी अवस्थावत् स्थान ठोस, श्वास-शब्द-प्रणालीय होता है, द्वितीय, तृतीय दोनों अवस्थायें ३-५-७ दिन तक रहती हैं।

चतुर्थ अवस्था—विलीनीकरण (Resolution Stage) इस अवस्था में शनैः शनैः वायुकोष्ठों में उपस्थित पदार्थ लीन होने लगते हैं। स्राव का बहुत कुछ भाग रक्त में शनैः शनैः लीन होता रहता है और कुछ भाग श्लेष्मा के रूप में ष्ठीवन द्वारा बाहर निकलता रहता है। इस कारण इस अवस्था में मध्य, कठोर और मिश्रित करकरायन सुनाई

देती हैं जो शनैः शनैः कम हो जाती हैं। श्वास शब्द भी शनैः शनैः प्रणालीय से कोष्ठीय (स्वस्थवत्) हो जाता है और फुफ्फुस स्वस्थावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। अरिष्ट अवस्था में शोथमय खण्ड गलने लगता है, और पूय-मय हो जाता है, तथा रोगी की मृत्यु हो जाती है।

यह ध्यान रहे कि इन चारों अवस्थाओं का विभक्ति-करण अति कठिन है, एक अवस्था दूसरी अवस्था में शनैः शनैः परिवर्तित हो जाती है। प्रायः एक पार्श्व के फुफ्फुस का अधोखण्ड प्रभावित होता है, लगभग १० प्रतिशत रोगियों में दोनों फुफ्फुस प्रभावित होते हैं। कभी कभी एक ओर का सारा फुफ्फुस अथवा उसके भिन्न-भिन्न भाग शोथ युक्त हो जाते हैं।

इस रोग में रुग्ण खण्ड के बाहर स्थित फुफ्फुसावरण में भी थोड़ा बहुत प्रदाह हो जाता है।

onset sudden

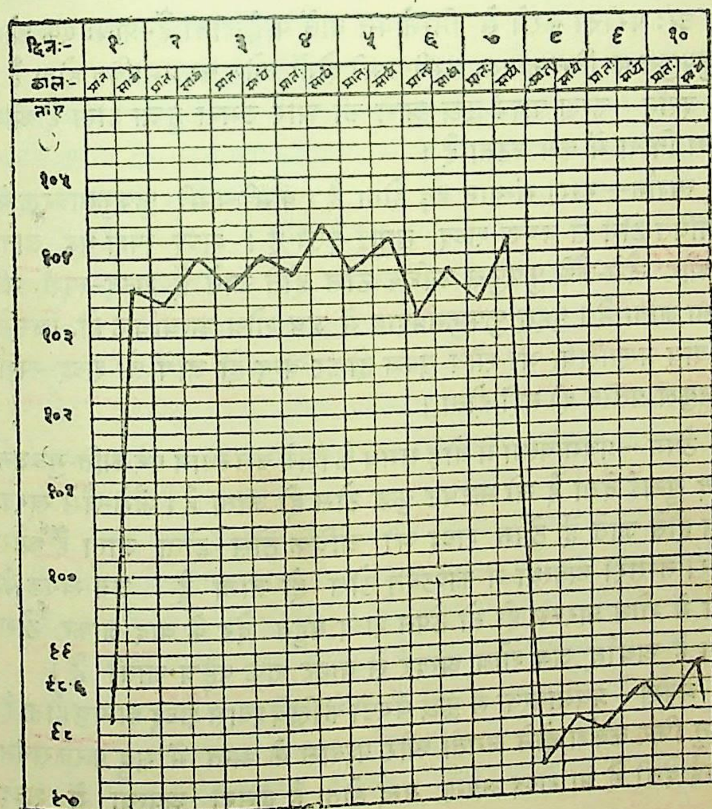
लक्षण—रोगी को शीत लगकर अकस्मात् तीव्र ज्वर चढ़ जाता है। छाती के एक ओर या दोनों ओर पीड़ा होती है। शुष्क कास होता है, और खांसते समय पीड़ा अधिक प्रतीत होती है। रोगी छाती को दबाता है। कभी-कभी थूक के साथ रक्त भी आने लगता है, विशेषतः जब खण्डीय फुफ्फुसप्रदाह, वात श्लेष्मिक ज्वर या प्लेग के कारण हो। रोगी का श्वास तीव्र होता है, नथने फूलते हैं और कपोल लाल होते हैं। श्लेष्मा बहुत थोड़ी, घन, और चिक्कण होती है।

दूसरे तीसरे दिन तक पीड़ा कम हो जाती है तथा खांसी अधिक और सुगमता से आने लगती है या कभी-कभी नहीं भी आती अथवा थोड़ी थोड़ी देर बाद क्षुद्र-क्षुद्र और कष्टदायक आती है। जैसे जैसे दिन बीतते जाते हैं, टाक्सीमिया, (विष के लक्षण) बढ़ते जाते हैं। दूसरे तीसरे दिन से ही नींद कम हो जाती है या आती ही नहीं। यह भयानक लक्षण है। नींद न आने से रोग का वेग और अधिक हो जाता है। प्रलाप बढ़ जाता है। प्रलाप पहले तीव्र होता है पीछे धीमा पड़ जाता है।

रोगी गुनगुनाने लगता है और अन्त में संज्ञाहीन हो जाता है। श्वास की गति अतितीव्र ४०—५०—६० प्रति मिनट होती है, नाड़ी की गति १२०-१३० या १४० हो जाती है नाड़ी से इसका निपात १-३या १-२ हो जाता है। नाड़ी पहले तीव्र, भरी हुई और वेगवती होती है पीछे मृदु और दुर्बल हो जाती है। अरिष्टावस्था में इतनी तीव्र होती है कि गिनी भी नहीं जाती,

चित्र ३७

श्वसनक ज्वर



और अन्त में अस्पष्ट हो जाती है, हृदय दुर्बल होता है। इस अवस्था में रोगी अतितीव्र ताप, हृदय-कार्यावरोध, या सन्यास से मर जाता है। साध्यावस्था में ५, ७ या १० दिन तक ज्वर तीव्र रहता है, तदनन्तर (प्रायः ७ दिन बाद) अकस्मात् स्वेद आकर उतर जाता है। इस समय हृदय कार्यावरोध का विशेष भय होता है। विरलावस्था में ज्वर शनैः शनैः उतरता है। रक्त में श्वेताणु बहुत बढ़ जाते हैं और मूत्र में हरिद (chlorides) कम हो जाते हैं।

उरः परीक्षा करने से निम्नोक्त बातें पाई जाती हैं–प्रायः एक ओर के फुफ्फुस का निम्नखण्ड, कभी-कभी दोनों ओर का प्रभावित होता है।

दर्शन—रुग्ण पार्श्व कुछ आगे की ओर उभरा हुआ होता है और श्वास क्रिया में कम उठता है।

स्पर्शन—रुग्ण संस्थान दृढ़ होता है। कभी-कभी फुफ्फुसावरण के प्रभावित होने से घर्षण शब्द सुनाई देती है। शब्द-स्पर्श बढ़ जाता है और जैसे-जैसे फुफ्फुस अधिक ठोस होते जाते हैं शब्द-स्पर्श भी बढ़ता जाता है। वृहत् फुफ्फुसप्रदाह में जब शोथ अत्यधिक हो, जिससे कि वायु प्रणालियां भी शोथ युक्त होकर बन्द हो जायें तो शब्द-स्पर्श बिलकुल प्रतीत ही नहीं होता।

ठेपन—प्रथमावस्था में थोड़े समय के लिये उस स्थान पर अति-गुञ्जन शब्द सुनाई देता है जो झटपट कुछ ठोस हो जाता है। जैसे-जैसे खण्ड ठोस होते जाते हैं ठेपन शब्द भी अधिक ठोस होता जाता है और दूसरी तीसरी अवस्था में काष्ठवत् ठोस हो जाता है। जब खण्ड के मध्य में शोथ प्रारम्भ हो तो ठेपन शब्द बहुत देर के बाद जाकर ठोस होता है अर्थात् जब शोथ अन्दर से बाहर तक पहुँच जाती है।

श्रवण—प्रथमावस्था में कुछ घण्टों के लिये श्वास शब्द अस्पष्ट होता है परन्तु फिर कर्कश होने लगता और प्रश्वास के अन्त में मृदु करकरायन सुनाई देती है या शब्द श्रवण मन्द होता है दूसरी अवस्था में शब्द

कोष्ठीय से प्रणालीय हो जाता है और करकरायन बिलकुल बन्द हो जाती है। जब कभी फुफ्फुसावरण प्रदाह साथ हो तो घर्षण शब्द भी सुनाई देता है।

यह अवस्था ज्वर उतरने तक रहती है, ज्वर उतरने पर जब ठोस स्थान द्रवीभूत होने लगता है तो शब्द शनैः शनैः प्रणालीय से कोष्ठीय बन जाता है। करकरायन यथाक्रम मृदु, मध्य, मिश्रित वा कठोर सुनाई देने लगता है। असाध्यावस्था में केवल कठोर या मिश्रित (मध्य+कठोर) होता है।

शब्द श्रवण आरम्भ से ही बढ़ा हुआ होता है। पहली अवस्था में थोड़ा और दूसरी तीसरी में बहुत बढ़ा हुआ होता है। चौथी अवस्था में घटने लगता है। बृहत् फुफ्फुसप्रदाह में उच्चारित शब्द तथा श्वास शब्द कुछ भी सुनाई नहीं देता।

उपद्रव—अति तीव्र ताप, हृदय कार्यावरोध, निद्रानाश, प्रलाप, कम्पन, और संज्ञाहीनता बड़े भयानक उपद्रव हैं। इन्हीं के कारण मृत्यु हो जाती। कभी-कभी फुफ्फुसावरण प्रदाह, फुफ्फुस-विद्रधि जीर्ण कासादि रोग मुक्ति के बाद रह भी जाते हैं।

भेद—(१) साधारण—प्रायः एक ओर का अधोखण्ड प्रभावित होता है। परन्तु कभी-कभी ऊर्ध्व खण्ड अथवा सारा फुफ्फुस भी प्रभावित होता है या दोनों फुफ्फुसों के अधोखण्ड प्रभावित होते हैं।

(२) उत्क्रामक फुफ्फुस प्रदाह—पहले थोड़ा-सा स्थान प्रभावित होता है फिर थोड़े-थोड़े दिनों बाद रोग एक स्थान से दूसरे और दूसरे से तीसरे स्थान तक शनैः शनैः सरता जाता है और पिछला स्थान ठीक होता जाता है।

(३) केन्द्रिक—जो प्रदाह फुफ्फुस के मध्य से आरम्भ हो कर बाहर की ओर फैले। इसमें फुफ्फुसप्रदाह के विशेष लक्षण देर से दृष्टिगोचर होवे हैं अतः आरम्भ में निदान कठिन होता है।

(४) बृहत् फुफ्फुसप्रदाह—जिसमें शोथ सर्वत्र फैलों और बायु

प्रणालियों में फैला हुआ हो। यह बहुत भयानक है, इसमें सम्पूर्ण खण्ड शोथयुक्त होता है लक्षण अतितीव्र होते हैं, स्थान ठोस होता है और शब्द स्पर्श और शब्द श्रवण दोनों शून्य होते हैं, श्वास शब्द एकदम सुनाई नहीं देता इन लक्षणों से ऐसा प्रतीत होता है जैसे आर्द्रफुफ्फुस प्रदाह हो परन्तु ज्वरादि लक्षण अति तीव्र होते हैं।

(५) फुफ्फुसावरण प्रदाह युक्त-फुफ्फुस-प्रदाह के साथ फुफ्फुसावरण प्रदाह भी होता है।

रोग मीमांसा—लक्षणों से तथा उरः परीक्षा से इसे पहचानना सुगम है। परन्तु बालकों में प्रणालीय फुफ्फुस प्रदाह से इस को पहचानना कठिन है और वृहत् फुफ्फुस-प्रदाह को तरलमय फुफ्फुसावरण प्रदाह से पृथक् करना कठिन है, परन्तु वैद्य को इसमें कठिनाई नहीं होनी चाहिये, फुफ्फुसावरण प्रदाह में सूचिका डालने से तरल निकलता है, फुफ्फुस-प्रदाह में नहीं। इस रोग में मूत्र में हरिद (chlorides) बहुत कम हो जाते हैं जो अन्य किसी फुफ्फुस रोग में कम नहीं होते।

चिकित्सा—रोगी को पृथक् स्वच्छ, वायु तथा प्रकाश युक्त समशीतोष्ण कमरे में रखें। कुछ भोले वैद्य रोगी को बन्द कमरे में रखते हैं यह उनकी भूल है क्योंकि फुफ्फुस पहले ही से विकृत होते हैं अतः उन्हें स्वच्छ वायु की अधिक आवश्यकता रहती है।

रोगी को पूर्ण विश्राम देना चाहिए। खाने को लघु तथा सुपाच्य भोजन दें, पीने को शुद्ध जल और फल रस यथेच्छ देना चाहिये। यदि आध्मान हो तो दूध कम करदें, शृत शीतल जल देना उचित है।

(१) सल्फाथायेजोल (Sulphathiazol)
(२) साल्फापैरिडीन (Sulphapyridine M. & B. 693)
(३) सल्फाडायजीन (Sulphadizine)
(४) सल्फामिरेजीन (Sulphamerazin)
(५) पेनिसिलीन (Penicilin) पेनिसिलीन सर्वोत्तम है।

इन औषधियों से ज्वर शीघ्र अपने काल से पूर्व ही उतर जाता है।

इन सबकी मात्रा प्रभाव आदि का वर्णन अध्याय ८ पृष्ठ १४५-१५७ पर कर आये हैं, वहीं देख लें। इन सबमें से पेनिसिलीन का स्थान सर्वोत्तम है, यह रामबाण का काम करती है।

४ लाख प्रोकेन पेनिसिलीन विद सोडियम जी दो बार दिन में देने से ज्वर २-३ दिन में उतर जाता है। इनके अतिरिक्त आरियोमाईसीन (Aureomycin) २ केप्शूल ६-६ घंटे बाद या एरिथ्रोमाईसीन (Erythromycin) 100 mg का एक केप्शूल ४-४ घंटे बाद।

वक्तव्य—एक प्रकार का लोबर न्यूमोनिया न्यूमोबेसिलस से होता है, इस पर स्ट्रेप्टोमाईसीन का आशातीत प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार के न्यूमोनिया पर पेनिसिलीन का कोई प्रभाव नहीं होता इस लिए आरम्भ से पेनिसिलीन और स्ट्रेप्टोमाईसीन का इकट्ठा इंजेक्शन देना चाहिए।

परिधि रक्तसंरोध और हृदयकार्यावरोध का यदि भय हो तो अध्याय ६ में लिखी टाक्सीमिया परिधि रक्त अवरोध एवं हृदयकार्यावरोध की चिकित्सा करें।

यदि आवश्यकता हो यथा तीव्र टाक्सीमिया की अवस्था में जब दक्षिण हृदय रक्तपरिपूर्ण हो तथा विस्तृत हो तो १०-१२ औंस रक्त का मोक्षण कर उसके स्थान पर रक्त से द्विगुण सेलाइन लोशन भर दें। इससे बहुत सा विष निकल जाता है चूँकि फुफ्फुस विकृत होते हैं, आक्सीजन जो सबसे उत्तम विषहर है, बहुत कम लीन होती है अतः कृत्रिम उपायों से आक्सीजन पहुँचानी चाहिये। आक्सीजन के भरे भराये तल (आक्सिजन सिलेन्डर) बाज़ार में मिलते हैं। उनका प्रयोग औषधि विक्रेता से ही पता लग जाता है।

निद्रा का न आना विष प्रभाव का एक चिह्न है। ज्वराधिकार में लिख आये हैं, निद्रा से विष दूर होता है और सैलें नये उत्साह से

निद्राल औषध — Dial, sekonal, luminol

काम करती हैं। यदि निद्रा न आए तो विष का प्रभाव प्रबल हो जाता है और सैलें क्षीण हो जाती हैं और हृदय कार्यावरोध एवं परिधिरक्त-संचार संरोध का भय बढ़ जाता है। अतः निद्रा की ओर आरम्भ से ही विशेष ध्यान देना चाहिये। इसकी चिकित्सा विस्तृत रूप से पृष्ठ १३६ पर लिख आए हैं।

(२) पीड़ा और शोथ को कम करने कि लिए लिनेमेन्ट टेरपेनटाइन (Lint. Terepentine), लिनेमेन्ट कैम्फार (Lint. Camphor) या नारायण तैल और कपूर मिलाकर रुग्ण भाग पर मर्दन करें, रूई से सेकें अथवा एन्टीफ्लेमिन (Antiflamin), एण्टी फ्लोजस्टीन (Anti-flogestin) आदि लगावें या थरमोजैनिक वूल (Thermogenic wool) का प्रयोग करें, राई का पलस्तर लगायें, अथवा मृग शृङ्ग घिस कर उस स्थान पर लेप करें।

अन्तः प्रयोगार्थ निम्नोक्त आयुर्वेदिक औषधियां काम में लाई जाती हैं।

(१) त्रिभुवन कीर्ति रस १ रत्ती, चन्द्रामृतरस २ रत्ती,—पुष्कर मलत्वक् चूर्ण ४ रत्ती, शृङ्गभस्म ४ रत्ती, ऐसी चार मात्रा ३-३ अथवा ४-४ घण्टे बाद मधु के साथ चटावें, उसके उपरान्त गोजिह्वादि क्वाथ अथवा भार्ग्यादि क्वाथ ३ माशा शक्कर अथवा मधु के साथ पिला देवें।

(२) यदि प्रलाप हो तो हिंगू कर्पूर वटी तगरादि क्वाथ के साथ प्रयोग करायें।

(३) हृदयावसाद, और परिधि रक्तसंरोध, की चिकित्सा पृष्ठ १४१ पर लिख आये हैं।

कई चिकित्सक आरम्भ से ही ब्राण्डी देना लाभदायक समझते हैं, कितने ही इसके विपरीत हैं, परन्तु देने से लाभ ही होता है हानि कुछ नहीं।

अन्तः उपचारार्थ निम्नोक्त औषधियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं कस्तूरी भैरव १ रत्ती, बृहत् कस्तूरी भैरव १ रत्ती, ब्राह्मीवटी १ रत्ती,

अथवा सुवर्ण चन्द्रोदय १ रत्ती, शृङ्गभस्म ४ रत्ती, मिलाकर मधु, के साथ हर ४–४ घण्टे बाद प्रयोग करायें।

1. Camphor in oil with ether 1 c.c. का मांसगत इंजेक्शन हर चार घंटे बाद।

2. Cardiozol–या १-१ c.c. ४-४ घण्टे बाद का मांसगत इंजेक्शन।

3. Cyliton, Coramin, Veritol किसी एक का त्वचागत इंजेक्शन द्वारा हर चार से ६ घंटे बाद दे दें।

4. Veritol (विरेटाल) हृदयावसाद, तथा परिधिरक्त संरोध, दोनों में काम करती है।

5. Adrenal-cortex, Pholedrine, Pituitrin परिधिरक्त संरोध में उत्तम कार्य करती है।

6. Calcium gluconate–10% 10-20 c-c के शिरागत इंजेक्शन से भी विशेष लाभ होता है, इसके अतिरिक्त इसकी विस्तृत चिकित्सा पूर्व पृष्ठों में प्रलापादि की चिकित्सा के साथ पृष्ठ १४१ पर लिख चुके हैं।

रोगनिवृत्ति–रोगनिवृत्ति के पश्चात् क्षीणता बहुत रह जाती है, और रोगी शनैः शनैः स्वस्थावस्था को प्राप्त होता है, अतः उस समय पौष्टिक और बलवर्द्धक औषधियों का प्रयोग करायें, यथा–लौहभस्म, मण्डूरभस्म, सुवर्णमाक्षिक, सिद्धदरदामृत, वसन्तकुसुमाकर, सुवर्ण वसन्तमालती आदि औषधियाँ दी जाती हैं. सिद्ध दरदामृत ½ रत्ती, मण्डूरभस्म २ रत्ती, सुवर्ण माक्षिक २ रत्ती, प्रवालपिष्टि ४ रत्ती, इनको मिलाकर मधु के साथ दें और द्राक्षासव १। तोला सम-भाग पानी मिलाकर दो बार दें।

एक अण्डे को अच्छी तरह फांटकर (सफेदी और जरदी मिला कर) उसमें उबलता-उबलता २ कप (६ छटांक) दूध मिलाकर यथेष्ट

शक्कर मिला लें, और १-२ ड्राम (चमचे) ब्राण्डी मिलादें ऐसी १ मात्रा प्रतिदिन देने से अशक्ति बहुत शीघ्र दूर होती है।

तीव्रकास (Acute Bronchitis)

कारण—तीव्र कास से अभिप्राय वायु प्रणालियों की शोथ है, जो अधिकतर शीतकाल में प्रायः वृद्ध, बालक और क्षीण पुरुषों में होती है, पहले प्रतिश्याय फिर क्रमशः बढ़कर तीव्रकास हो जाती है। कभी-कभी रोमान्तिका, वातश्लेष्मिक आदि ज्वरों में शोथ कण्ठ से वायु प्रणाली में चली जाती है।

सम्प्राप्ति—कण्ठ से शोथ टेंटुए में और टेंटुए से वायु प्रणालियों में सर जाती है। वायु प्रणालियों की श्लेष्मिक कला शोथ युक्त तथा रक्तमय होती है और मार्ग तंग हो जाता है, श्वास लेते समय कूजन शब्द सुनाई देता है।

लक्षण—पहले से ही प्रायः कोई न कोई रोग उपस्थित होता है और शनैः शनैः कास आरम्भ हो जाती है, अनेक बार अकस्मात् भी प्रतिश्याय (नासाश्लेष्मिक कला शोथ) हो जाता और कुछ ही घंटों में कास आरम्भ हो जाती है। जब टेंटुए में शोथ हो है तो कास के साथ-साथ वक्षोस्थि के पीछे छाती में पीड़ा प्रतीत होती है और वक्ष फटतीसा ज्ञात होता है, ज्वर १००-१०१ फा० तक होता है, खाँसी पहले शुष्क और कष्ट से आती है, परन्तु २४ घण्टे के अन्दर-अन्दर पतली होजाती है और श्लेष्मा आने लगती है, श्लेष्मा पहिले थोड़ी, घन और चिक्कण होती है, शनैः-शनैः पतली और अचिक्कण हो जाती है, जैसे-जैसे श्लेष्मा पतली होती जाती है, रोगी का कष्ट कम होता जाता है ज्वर उतरने के बाद भी खांसी प्रायः ५-१० दिन लगी रहती है, जब यह रोग रोमान्तिका, वातश्लेष्मिक ज्वर आदि के उपद्रव रूप से हो, तब यह कास चिरकालापेक्षी होती है। उरः परीक्षण पर फुफ्फुसों में सर्वत्र, विशेषकर वेग के समय तो बहुत सी

कूजन सुनाई देती है। शेष ठेपन, श्रवण आदि सब परीक्षाएँ स्वस्थवत् ही होती हैं।

परिणाम व उपद्रव—(१) प्रणालीय फुफ्फुस प्रदाह (२) वायु प्रणालीयविस्तृति (३) वायु मन्दिरों की विस्तृति (४) राजयक्ष्मा।

अनेक बार परिणाम स्वरूप जीर्ण कास रह जाती है और जीर्ण कास के कारण ही उपर्युक्त उपद्रव उत्पन्न होते हैं।

रोगमीमांसा—आरम्भ में इसे प्रणालीय फुफ्फुस प्रदाह से पृथक् करना कठिन होता है। फुफ्फुसप्रदाह में कूजन के साथ कभी-कभी करकरायन भी होती है, परन्तु इस रोग में नहीं। वातश्लेष्मिक ज्वर में कूजनादि कुछ नहीं होते और प्रतिश्याय शुष्क होता है, नाक नहीं बहता।

चिकित्सा—यह रोग सुखसाध्य है, साधारण कासहर औषधियों से लाभ हो जाता है। श्वसनक ज्वर की चिकित्सा में अनेक कासहर औषधियां लिखी जा चुकी हैं। वे दी जा सकती हैं। इस रोग में Tinct. Benzoin Co का एक चम्मच खौलते पानी में डालकर वाष्प लेने से कास पतली होती है और सुगमता से निकलती है, तथा रोगी को शान्ति मिलती है, वक्ष पर नारायण तेल में थोड़ा-सा तारपीन का तेल या लिनेमेन्ट तारपीन मिलाकर मालिश करने से लाभ होता है।

प्रणालीय फुफ्फुस-प्रदाह

पर्याय—प्रणालीय फुफ्फुस प्रदाह, ब्रांक्रोन्यूमोनिया (Broncho-Pneumonia)

परिचय—यह एक तीव्र संक्रामक रोग है। अनेक प्रकार के कीटाणुओं के कारण फुफ्फुस की वायु प्रणालियों तथा सूक्ष्म प्रणालियों और उनसे संलग्न वायु कोष्ठों में शोथ हो जाती है।

कारण—प्रणालीय फुफ्फुस प्रदाह दो प्रकार का होता है। मुख्य और गौण। "मुख्य" का कारण फुफ्फुस-प्रदाह का कीटाणु

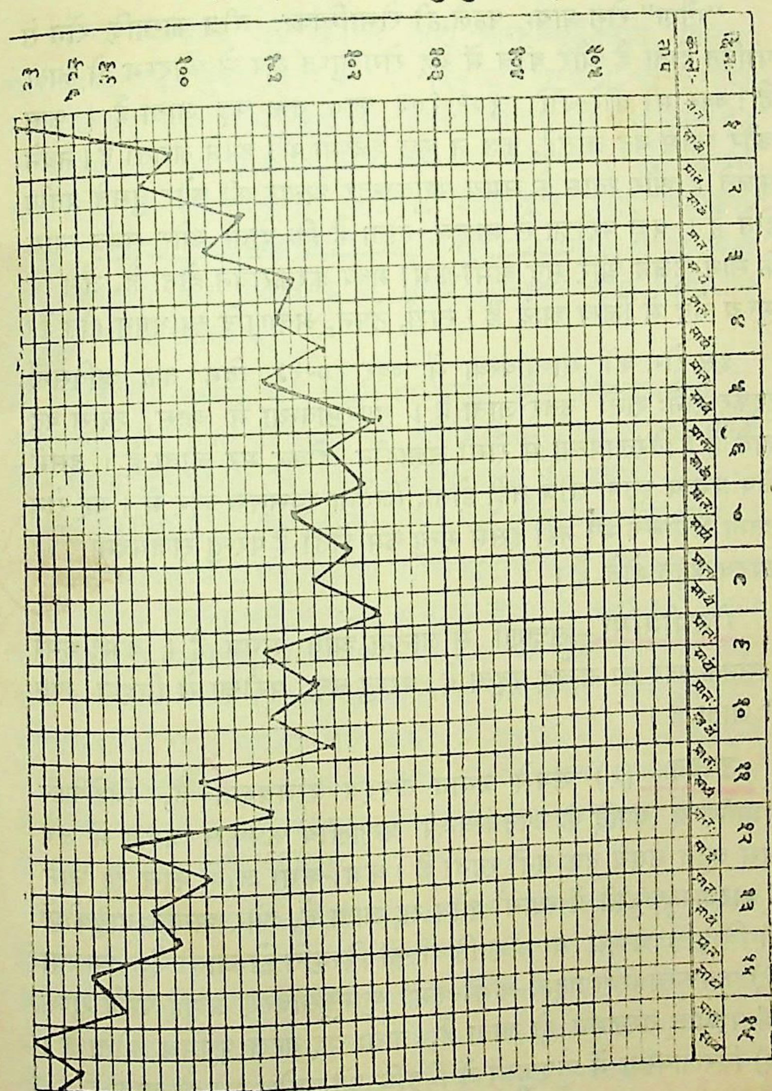
(Pneumococcus) है। इसका संक्रम प्रसार रोगी से या संक्रम वाहक के वायु द्वारा होता है। "गौण" में पहले से रोमान्तिका, वातश्लेष्मिक आन्त्रिक ज्वर आदि कोई रोग उपस्थित होता है, जिसके कीटाणु टेंटुए, प्रणालियों और सूक्ष्म प्रणालियों में जाकर शोथ उत्पन्न कर देते हैं। यह रोग प्रायः ५ वर्ष से कम आयु वाले बच्चों, वृद्धों या क्षीण पुरुषों में अधिक होता है।

सम्प्राप्ति—सूक्ष्म वायु प्रणालियों में शोथ होकर मार्ग तङ्ग हो जाता है। अतः वायु उनमें से गुजरता हुआ कूजन शब्द उत्पन्न करता है। इन सूक्ष्म वायु प्रणालियों से संलग्न वायु कोष्ठ भी शोथ युक्त हो जाते हैं। जब शोथयुक्त वायु कोष्ठ बहुत से एक स्थान पर हों तब उनके परस्पर मिलने से वह खण्डीय फुफ्फुस प्रदाहवत् प्रतीत होता है।

लक्षण—"मुख्य" अकस्मात् आरम्भ होता है। शीत से ज्वर हो जाता है, उरःशूल, कास और श्वासादि लक्षण खण्डीय फुफ्फुस प्रदाहवत् उत्पन्न होते हैं। परन्तु ज्वर दिन प्रतिदिन बढ़ता जाता है, और २-३ दिनों में १०२-१०३ फा० तक पहुँच जाता है कभी-कभी ज्वर आरम्भ से ही तीव्र (१०२-१०३) होता है, रोगी अत्यन्त क्षीण हो जाता है। ज्वर चन्द दिन समान रूप से तीव्र रहकर शनैः शनैः उतर जाता है। कभी-कभी अकस्मात् भी उतर जाता है। वक्ष परीक्षा से यह मालूम होता है कि दोनों फुफ्फुसों में कहीं-कहीं बहुत छोटे-छोटे स्थान ठोस हैं। प्रायः वे प्रतीत भी नहीं होते, प्रत्युत फुफ्फुसों में कुछ अतिगुञ्जन ठेपन हो जाता है। शब्द स्पर्श और शब्द श्रवण स्वस्थवत् ही होते हैं, खण्डीयवत् बढ़े हुए नहीं होते। जहां बहुत से शोथयुक्त वायु कोष्ठ इकट्ठे हो जायं वहां स्थान ठोस हो जाता है और शब्द-श्रवण तथा शब्द-स्पर्श उस स्थान पर बढ़े हुए होते हैं।

श्वास शब्द कर्कश हो जाता है उसके साथ कूजन उपस्थित होती है कहीं-कहीं कभी-कभी मृदु करकरायन भी सुनाई देती है।

चित्र ३८ प्रणालीय फुफ्फुस प्रदाह



"गौण" रोग प्रायः पहले ही रोमान्तिका, तीव्र कासादि रोग से पीड़ित होता है और बीच में यह रोग गुप्त रूप से आरम्भ हो जाता है। ज्वर भी धीरे-धीरे, १०२-१०३ फा० तक बढ़ जाता है। कास और श्वास बढ़ जाते हैं, कुछ न कुछ श्लेष्मा भी आने लगती है। नथने फूलते हैं और श्वास के समय पर्शुकान्तर अन्दर की ओर घुसते प्रतीत होते हैं। वक्ष परीक्षा से मालूम होता है कि दोनों ओर सर्वत्र श्वास के साथ कूजन और मृदु कभी-कभी मध्य करकरायन होता है, जैसे कि मुख्य भेद में लिख आये हैं। स्पर्श, ठेपन, श्रवणादि स्वस्थवत् होते हैं।

इस रोग की साध्यावस्था में ज्वर १०-१५ दिन तक अविसर्गी रहकर शनैः शनैः उतर जाता है। अरिष्टावस्था में कास, श्वास बढ़ जाते हैं। विरलावस्था में रोगी संज्ञाहीन होकर मर जाता है। इसमें विष प्रभाव इतना तीव्र नहीं होता, जितना श्वसनक ज्वर में। यह रोग उतना भयानक भी नहीं इसमें मृत्यु कम होती है परन्तु राजयक्ष्मा आदि उपद्रव बहुत होते हैं।

रोगमीमांसा—लक्षणों से जानना अति सुगम है। कभी-कभी श्वसनक ज्वर का सन्देह पड़ता है, परन्तु वक्ष परीक्षा से निदान स्पष्ट हो जाता है।

उपद्रव—(१) सबसे प्रधान उपद्रव राजयक्ष्मा है, विशेषकर रोमान्तिका आदि के उपद्रवस्वरूप प्रणालीय फुफ्फुस प्रदाह में जब कास बहुत समय तक बनी रहती है। कभी-कभी जीर्ण कास रह जाने के कारण फुफ्फुसों में स्थायी शोथ रह जाता है, और अन्ततः वायुकोष्ठों की विस्तृति अथवा वायुप्रणालियों की विस्तृति हो जाती है, अन्यथा (२) फुफ्फुसावरण प्रदाह–कभी-कभी फुफ्फुसावरण प्रदाह पहले शुष्क एवं पश्चात् तरलमय हो जाता है, प्रायः यह तरल पूयमय होता है। (३) विरलावस्था में फुफ्फुसों में विद्रधि और कोथ भी हो जाते हैं।

परिणाम—मुख्य की अपेक्षा गौण ब्रान्कोन्युमोनिया अधिक काल तक रहता है, मुख्य प्रायः ५-७-१० दिन तक रहता है, परन्तु गौण २-३-४ सप्ताह अथवा कभी-कभी दो तीन महीनों तक भी चला जाता है।

मुख्य की अपेक्षा गौण भयानक भी अधिक है, और इससे मृत्यु होने का भय रहता है, विशेषतः रोमान्तिका और आन्त्रिक-ज्वरों में। प्रलाप, अतितीव्र नाड़ी, श्वास, शरीर का नीलाभ हो जाना अरिष्ट लक्षण हैं। वृद्धावस्था में तन्द्रा, सन्यास तथा कासाभाव अरिष्टावस्था के द्योतक हैं।

चिकित्सा—मुख्य की चिकित्सा सरल और निश्चयात्मक है, सल्फाड्रग्स (Sulpha drugs) और पेनिसिलीन (Penicilin) इसके लिए अचूक औषधि है देखो (श्वसनक चिकित्सा में), इसकी चिकित्सा श्वसनक ज्वरवत् ही है, अन्त प्रयोगार्थ भी वही औषधियां देनी चाहिए।

गौण प्रणालीय फुफ्फुस प्रदाह में सल्फाड्रग्स और पेनिसिलीन का उपयोग करके देखना चाहिए कभी लाभ हो जाता है, कभी नहीं होता। शेष साधारण चिकित्सा श्वसनकवत् ही है। यह रोग अपेक्षया कुछ लम्बे काल तक जाता है, अतः हृदयोत्तेजक औषधियां और शक्तिप्रद औषधियां देते रहना चाहिए। यथा ब्राह्मीवटी, कस्तूरी भैरव, वृहत्कस्तूरी भैरव, सुवर्णचन्द्रोदय, श्रृंगभस्म आदि, जो औषधियां श्वसनक ज्वर में लिख आये हैं वे यहाँ भी काम आती हैं। यह स्मरण रहे कि रोगी के पार्श्व बदलते रहना चाहिए।

रोगी का कमरा स्वच्छ एवं समशीतोष्ण और शुद्ध वायु युक्त होना चाहिए, परन्तु प्रवात से सुरक्षित रखें, वक्ष पर लिनिमेन्ट व तैल आदि मर्दन करें, परन्तु पुलटिस अथवा एन्टीफ्लोजस्टीन आदि लगाने की आवश्यकता नहीं होती, तारपीन का तैल या लिनिमेन्ट टरपनटाइन को नारायण तैल से मिलाकर वक्ष पर मर्दन करना अच्छा है।

रोग निवृत्ति के बाद भी वही उपचार करना चाहिए जो श्वसनक में लिख आये हैं।

वातश्लेष्मिक ज्वर

पर्याय—वातश्लेष्मिक ज्वर, इन्फ्लुएंजा (Influenza)

परिचय—यह एक तीव्र संक्रामक रोग है जिसमें ज्वर, प्रतिश्याय और शिरःशूल विशेष लक्षण होते हैं। कभी-कभी यह रोग महामारी का रूप धारण करके अति शीघ्रता से प्रसार पाता है।

"स्तैमित्यं पर्वणां भेदोऽनिद्रो गौरवमेव च।
शिरोग्रहः प्रतिश्यायः कासः स्वेदाप्रवर्तनम्
सन्तापो मध्यवेगश्च वातश्लेष्मज्वराकृतिः ॥"

कारण—इसे कौनसा कीटाणु उत्पन्न करता है, इसके सम्बन्ध में अभी पूर्ण निश्चय नहीं हुआ। प्रायः विचार यह है कि एक प्रकार का दण्डाकार कीटाणु जिसे "बैसिलस इंफ्लुएंजा" कहते हैं, इसका कारण है। इसके साथ प्रतिश्याय का कीटाणु तथा स्टैफिलोकाकस ऑरियस भी पाये जाते हैं और ये भी रोगोत्पादन में सहायक होते हैं। यह रोग एकाकी रूप में प्रायः समस्त भूमण्डल पर पाया जाता है। परन्तु कभी-कभी यही कीटाणु, जो सधारणतया भयानक नहीं होते, अज्ञात कारणों से भयानक बन जाते हैं, तब इनका संक्रम प्रसार अतिशीघ्र होने लगता है। मृत्यु संख्या बहुत बढ़ जाती है। इसी प्रकार यह १९१८-१९१९ में समस्त भूमण्डल पर एक ही समय में उग्र रूप से फैल गया था, इसके बाद भी ३-३, ४-४ वर्ष पीछे यह रोग महामारी के रूप में फैलता रहा है परन्तु उतने उग्ररूप से फिर नहीं हुआ जितना १९१८ में हुआ था। इसका संक्रम प्रसार रोगी से संसर्ग, दूषित वस्त्रों तथा वायु द्वारा होता है। संक्रम वाहकों से भी यह रोग प्रसार पाता

है। प्रायः शरद, शिशिर और वसन्तऋतु में अधिक होता है और एक बार हो जाने से पुनः पुनः होने की सम्भावना रहती है।

परिपाक—२ से ३ दिन और सीमा १–५ दिन है।

लक्षण—यह रोग अकस्मात् आरम्भ होता है। अच्छा भला चलता फिरता मनुष्य थोड़ी ही देर में तीव्र ज्वरादि लक्षणों से पीड़ित तथा अति क्षीण होकर शय्या पर लेट जाता है। शिरःशूल, कटि वा शाखाओं में तीव्र रुजा, कण्ठ और मुख में दाह तथा तीव्र शुष्क कास शीघ्र ही आ घेरते हैं। कभी-कभी रक्तमय पीड़िकाएँ भी निकल आती हैं। मुख लाल होता है, आँखें सुर्ख हो जाती हैं, और रोगी बेचैन होता है। कभी-कभी प्रलाप, कम्पन आदि लक्षण भी विद्यमान होते हैं। जिह्वा मैली और फूली हुई और इसके किनारे लाल होते हैं। नाड़ी की गति ज्वर की अपेक्षा कम होती है। रक्त में श्वेताणु कम हो जाते हैं, उनमें वृहत और क्षुद्रलसीकाओं का निपात बढ़ जाता है। रोग शीघ्र ही निम्नोक्त चार भेदों में से कोई एक भेद धारण कर लेता है।

(१) **साधारण**—इसमें उपर्युक्त सारे लक्षण विद्यमान होते हैं तथा अन्य कोई विशेष लक्षण विद्यमान नहीं होता। ज्वर ५–७ दिन तक १०३–१०४ फा० रहता है, पुनः प्रायः अकस्मात् ज्वर उतर जाता है। कभी-कभी १० दिन तक चला जाता है। यदि इससे अधिक दिनों तक इस रोग के लक्षण रह जायें तो इस रोग के साथ श्वासमार्गादि के उपद्रव, श्वसनक आदि की उपस्थिति समझनी चाहिए।

(२) **श्वासमार्ग सम्बन्धी**—उपर्युक्त लक्षणों के साथ कास अति तीव्र हो जाती है और कफ रक्त मिश्रित आता है। रोग टेंटुए से वायु प्रणाली और उससे आगे फुफ्फुसों में फैल जाता है जिससे प्रणालीय फुफ्फुसप्रदाहवत् प्रतीत होने लगते हैं। कभी-कभी खण्डीय फुफ्फुस-प्रदाह (श्वसनक) भी हो जाता है। यह लक्षण प्रायः तीसरे दिन व्यक्त

होते हैं। उरः परीक्षण पर यथारोग अर्थात् प्रणालीय फुफ्फुसप्रदाह अथवा खण्डीय फुफ्फुसप्रदाह के चिह्न दिखाई देते हैं। कभी-कभी शुष्क, आर्द्र, या पूयमय फुफ्फुसावरण प्रदाह भी हो जाता है। ये भेद बहुत भयानक हैं। और प्रायः महामारी के रूप में फैलता है। इससे मृत्यु भी अधिक होती है।

Intestinal (३) आन्त्रिक—वात श्लेष्मिक के लक्षणों के अतिरिक्त आमाशय और अन्त्र विकृति के कारण उत्क्लेश, वमन और अतिसारादि लक्षण पैदा हो जाते हैं। अतिसार के साथ पीड़ा वा प्रवाहण होता है। कभी-कभी कामला भी हो जाती है, यह विकार प्रायः चार पांच दिन रह कर शान्त हो जाता है। ज्वर १०२–१०३ या इससे किञ्चित् अधिक भी रहता है, प्रायः ये लक्षण ५–७–१२ दिन रहकर शनैः शनैः शान्त हो जाते हैं। कभी-कभी ये लक्षण कई दिन तक चले जाते हैं, तब भी आन्त्रिक ज्वर का सन्देह होने लगता है।

(४) वातिक–ज्वर, प्रतिश्याय, कास, क्षीणता और पीड़ा आदि लक्षणों के अतिरिक्त बेचैनी, प्रलाप निद्रानाशादि लक्षण उपस्थित होवे हैं, कभी-कभी शीर्षावरण प्रदाह, और पक्षाघातादि लक्षण भी देखे गये हैं।

उपद्रव—रोग शान्त के बाद कुछ काल तक पुनः रोग के आक्रमण का भय रहता है, दुर्बलता इतनी बढ़ जाती है कि रोगमुक्ति के बहुत काल बाद पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त नहीं होता। इस रोग के श्वास सम्बन्धी विकार बहुत भयानक हैं, महामारी के दिनों में प्रायः इन्हीं विकारों के कारण ही मृत्यु होती है। वातिक विकारों के कारण अनेक बार पक्षाघात हो जाता है।

रोगमीमांसा—इस रोग का निदान अति दुष्कर है, महामारी के दिनों में तो कोई भी रोग हो इसी रोग का सन्देह पड़ता है, इतने तक कि वास्तविक श्वसनक रोग (Pneumonic) तथा शीर्षसौषुम्न-वर (Cerebro Spinal Fever) को भी यही रोग मान लिया जाता है।

यदि इसके साथ अन्य किसी दूसरे रोग यथा श्वसनक या शीर्षसौषुम्न ज्वर का सन्देह हो तब उनकी चिकित्सा करनी चाहिए।

चिकित्सा—संक्रम के दिनों में जहाँ तक हो सके, बचकर रहना चाहिये। पोटैशियम परमेङ्गनेट विलयन के गण्डूष तथा दालचीनी का प्रयोग संक्रम से रक्षा करने में पर्याप्त सहायता प्रदान करता है। रोगी को पृथक् स्वच्छ वायु और प्रकाशयुक्त समशीतोष्ण कमरे में रखें। भोजन मृदु, सुपाच्य तथा तरल देना चाहिये। चूँकि इसमें क्षीणता अधिक होती है अतः कभी लंघन नहीं कराना चाहिये। आरम्भ से ही रोगी के बल-रक्षण में सयत्न होना चाहिये। मल की ओर विशेष ध्यान दें, विबन्ध न होने पावे।

औषधि चिकित्सा—इस रोग के लिए कोई विशेष औषधि नहीं, लाक्षणिक चिकित्सा ही करनी पड़ती है। महामारी के दिनों में जब इसका घातक स्वरूप चलता है, तो सब कुछ करते हुए भी रोगियों को मृत्यु मुख से बचाना चिकित्सा की सामर्थ्य के बाहर होता है।

यदि कोई उपद्रव उपस्थित हो तो उनकी पूर्णरूपेण चिकित्सा करनी चाहिए—यथा श्वसनक (Lober Pneumonia) के लक्षण उपस्थित हों तो पेनिसिलीन, सल्फा औषधियों द्वारा श्वसनक अधिकार में लिखित चिकित्सा करनी चाहिए, यद्यपि पेनिसिलीन आदि इस रोग में कुछ भी लाभ नहीं करती तब भी देनी अवश्य चाहिये, क्योंकि यह निर्णय करना असम्भव ही है कि श्वसनक (न्यूमोनिया) किस कीटाणु के कारण से है।

इसी प्रकार यदि शीर्षसौषुम्न ज्वरवत् लक्षण उत्पन्न हों तो उस रोग के अनुसार सम्पूर्ण चिकित्सा करनी चाहिए।

इस रोग में पीड़ा और अनिद्रा विशेष कष्टदायक लक्षण हैं, ये प्रायः उपस्थित होते ही हैं, उनके लिये भी लाक्षणिक चिकित्सा करनी चाहिए जो हम पूर्व पृष्ठ १३८-३९ पर कर आये हैं।

कास दुःखदायी और चिरस्थायी होती है। इस पर विशेष ध्यान देना चाहिए, एतदर्थ भार्ग्यादि क्वाथ और गोजिह्वादि क्वाथ (सि० यो० सं०) देने चाहियें, उनमें सोमलता और दालचीनी १–२ माशा प्रतिमात्रा मिला सकते हैं।

गले में मैन्डल्स पैन्ट (Mandles Paint) लगायें और वाष्प चिकित्सा करें, अर्थात् अंगीठी के ऊपर पात्र में १–२ सेर पानी डाल कर इसमें लोबान, राई, नीमपत्र, हरमल, और साधारण नमक सब समभाग, १ सेर पानी में २ तोला की मात्रा के अनुसार डालें और उसको उबालें और उसका वाष्प लें। वाष्प लेने के लिए एक विशेष प्रकार की केतली आती है जिसकी वाष्प निकलने की नली लम्बी होती है, यदि इस प्रकार की केतली न मिले तो साधारण केतली की नली के साथ लम्बी नली लगा दें, लम्बी नली से वाष्प गले और नाक में लें, अथवा पानी में टिंचर बेन्जोइन को (Tinct. Benzoin Co) एक छोटा चम्मच प्रति १ सेर में मिला सकते हैं, हर १०–१० मिनट के बाद १–१ चम्मच उबलते हुए पानी में डालते जावें। ऐसा वाष्प आधा घण्टा दिन में ३–४ बार देवें, इससे गले का शोथ कम होता है और कास का वेग भी कम हो जाता है। अथवा रूमाल के ऊपर यूकालिप्टस (Euacalyptus oil) और मेन्थोल (Menthol) मिलाकर छिड़क दें और उसे सूँघते जावें, अथवा और इसी प्रकार की बाजार से वेपेक्स (Vapex) आदि औषधियां मिलती हैं।

शुष्क कास के लिए काली खांसी में लिखे गये योग लाभ करते हैं। निम्नोक्त एलोपेथिक औषधियां प्रायः प्रयोग में आती हैं :

---

1. Syr. Coceillana Co., 2. Glycoron, 3. Syr. Codien Phosphus, 4· Syr. Chlorol 5. Syr. Zephorol 6. Syr. Glyco Terp Vasaca etc.

काली खांसी

पर्याय—हूपिंगकफ (Whooping Cough) काली खांसी।

परिचय—यह एक तीव्र संक्रामक रोग है जिसमें लगातार सूखी खांसी कुछ काल के लिये आती है रोगी को श्वास लेने का अवसर भी नहीं मिलता। जब श्वास लेता है तो 'हू ऊ" सा शब्द उत्पन्न होता है।

कारण—इसके वास्तविक कीटाणु के सम्बन्ध में अभी तक सन्देह ही है। सम्भवतः बैसिलस परटूसिस (Bacillus Pertussis) ही इसका कारण है। रोग के आदि में कीटाणु, रोगी के नासा स्राव व थूक में, बाद में कास के अन्त में आने वाली चिक्कण श्लेष्मा में उपस्थित रहता है। रोगी के साथ सम्बन्ध रखने से संक्रम फैलता है। रोगी के श्वास तथा श्लेष्मा में निकला हुआ कीटाणु रोगी के सहवासी में श्वास द्वारा जाकर रोग उत्पन्न कर देता है। कभी-कभी दूषित वस्तुओं द्वारा भी यह रोग फैलता है। यह कीटाणु महाप्राण है बहुत देर से मरता है। एक बार रोग हो जाने से आजीवन इससे छुटकारा मिल जाता है। यूं तो यह रोग सबको ही होता है सद्योजात बालक तथा ६०-७० वर्ष के वृद्धों में भी देखा गया, परन्तु प्रायः बच्चों में ही होता है विशेषकर १-५ वर्ष की आयु में और ग्रामों की अपेक्षा नगरों में, जहां घनवासादि सहायक कारण बहुत होते हैं, अधिक होता है। जिन बालकों में रोमान्तिका रोग अभी-अभी शान्त हुआ हो उनमें इस रोग के होने की अधिक सम्भावना रहती है।

सम्प्राप्ति—स्थूल वायु प्रणालियां और सूक्ष्म वायु प्रणालियां रक्तमय तथा शोथ युक्त हो जाती हैं। परन्तु लगातार शुष्क कास और "हू ऊ, हू ऊ" इस कारण से नहीं होता। उसका कारण कीटाणुओं का विष है; जो वायु प्रणालियों की श्लैष्मिक कला में क्षोभ पैदा करके

कास उत्पन्न करता है, बहुत काल तक निरन्तर कास के झटकों के आते रहने से रोगी श्वास नहीं ले पाता, इन झटकों की समाप्ति पर वह लम्बा सांस लेता है, जिसमें "हू हू हू" शब्द उत्पन्न होता है।

इस रोग में कीटाणु वायु प्रणालियों से आगे की अति सूक्ष्म वायु प्रणालियों तथा वायु मन्दिरों में जाकर शोथ उत्पन्न कर देता है और न्यूमोनिया उत्पन्न कर रोगी के प्राण संकट में डाल देता है। इस रोग में श्वेताणु १५-३० सहस्र तक बढ़ जाते हैं। क्षुद्रलसीकाणुओं का निपात (४०-५०) भी बढ़ जाता है।

परिपाक काल—यद्यपि इसका अभी तक निश्चय नहीं हो सका है परन्तु अनुमान किया जाता है कि १२ से १५ दिन और सीमा ४ से २१ दिन है।

लक्षण—इस रोग की ३ अवस्थायें मानी गई हैं :

(१) प्रतिश्याय अवस्था—यह रोग प्रतिश्याय रूप में आरम्भ होता है, शनैः शनैः प्रतिश्याय बढ़ता जाता है, ज्वर भी आरम्भ हो जाता है, ज्वर १००-१०१ फा० होता है और सूखी खाँसी उठती रहती है। इस अवस्था को तीव्र-प्रतिश्याय से भिन्न करना असम्भव है। यदि उस घर में या आस-पास के बच्चों को यह रोग हो तो इन लक्षणों की उपस्थिति इस रोग का सन्देह उत्पन्न कर देती है। यह अवस्था ७-१४ दिन तक रहती है। शनैः शनैः खांसी बढ़ती जाती है और वातिक रूप धारण कर लेती है। प्रतिश्याय के शान्त होने पर ज्वर भी शांत हो जाता है।

(२) "हू ३, हू ३" अवस्था–शनैः शनैः शुष्क कास के वेग आने लगते हैं। खांसी लगातार दो-दो मिनट या इससे भी अधिक देर तक आती रहती है और वेग बढ़ जाते हैं। जब वेग आता है तो रोगी को तत्पूर्व ही पता चल जाता है। बालक यदि सोया हुआ हो, तो उठ बैठता है और कोई चीज पकड़ लेता है, ताकि खांसते हुए उसे सहारा मिल सके, यदि खड़ा हुआ हो अथवा खेल रहा हो तो माता, भगिनी आदि के पास सहारे के लिये दौड़ जाता है। जब रोग जोरों पर होता

है तो वेग हंसने, पानी पीने, लम्बा सांस लेने आदि साधरण कारणों से आरम्भ हो जाते हैं। जैसे-जैसे रोग बढ़ता जाता है, वेग अधिकाधिक लम्बे होते जाते हैं और थोड़ी-थोड़ी देर के बाद आने लगते हैं। वेग के समय रोगी को एक दूसरे के पीछे शीघ्र-शीघ्र कास के छोटे-छोटे झटके आते हैं। १५-२० झटकों के बाद रोगी श्वास अन्दर को खींचता है तो "हू ३" शब्द होता है। इस प्रकार के ५-७-१० वेग लगातार होने के बाद थोड़ी सी घन और चिक्कण श्लेष्मा निकल आती है या वमन हो जाती है, और रोगी शान्ति अनुभव करता है। इन वेगों में खांसते-खांसते मुख नीला हो जाता है। ग्रीवा की शिरायें फूल जाती हैं, और श्वास चढ़ जाता है। आंखें बाहर को उठ आती हैं, रोगी को थकावट के कारण पसीना आ जाता है। वेग दिन की अपेक्षा रात्रि में अधिक आते हैं। जब बार-बार ऐसे वेग आने लगें तो ग्रीवा की शिरायें सदा फूली रहती हैं और श्वास चढ़ा रहता है। कभी-कभी वेग के कारण नाक से रक्तस्राव होने लगता है, तथा मस्तिष्क में धमनियों के फटने का भय रहता है, उस अवस्था में रोगी मूर्च्छित हो जाता है उसको उत्क्षेप और कम्पन होने लगते हैं। विरलावस्था में कभी-कभी वेग इतने लम्बे होते हैं कि सांस तक नहीं आता और रोगी मर जाता है। वेगों की संख्या और तीव्रता रोग के मृदु व उग्रता पर निर्भर रहती हैं, साधारण अवस्था में दिन में १०-१२ वेग आते हैं उग्र अवस्था में ४०-५० आते हैं, और आते भी जल्दी-जल्दी हैं और रहते भी दीर्घ काल तक हैं।

वेगों के समय उरः परीक्षण से सर्वत्र कूजन सुनाई देती है वायु कोष्ठों की थोड़ी बहुत विस्तृति मालूम होती है। इस अवस्था के लिये कोई नियत काल नहीं, प्रायः ३ सप्ताह से कम और १० सप्ताह से अधिक नहीं रहती। शीतकाल में गर्मियों की अपेक्षा अधिक देर रहती है। बार-बार वमन आने से रोगी अनाहारी रहकर क्षीण

होता जाता है। इस अवस्था में ही फुफ्फुसप्रदाह और राजयक्ष्मा होने का भय रहता है।

(३) शमनावस्था—शनैः शनैः वेगों का जोर और समय कम होने लगते हैं और उनमें अन्तर अधिक होता जाता है। पहले के समान खाँसी के साथ वमन भी नहीं आते और रोगी आहार ग्रहण करने लगता है, अतः धीरे-धीरे स्वस्थ होने लगता है। रोगी को रोग-मुक्ति के बाद भी सम्यक् स्वस्थावस्था को प्राप्त होने में बहुत काल लग जाता है।

परिणाम और उपद्रव—यह रोग ग्रामों में बहुत कम होता है तथा नगरों में प्रायः बालकों को ही यह रोग होता है, जहाँ घनवास और निवड़निवास अधिक होता है और उनको ही उपद्रव होते हैं तथा परिणाम भी उनमें ही भयानक होते हैं। खुले हुए एवं स्वच्छ मकानों में जहाँ शुद्ध वायु प्राप्त होती है वहाँ के बालकों में इस रोग के वेग अत्यल्प होते हैं, उपद्रव बहुत कम होते हैं और परिणाम अनभीष्ट नहीं होते। घनवास में दरिद्र बालकों को जब यह रोग हो तो उनमें प्रणालीय फुफ्फुसप्रदाह तथा सूक्ष्म प्रणालीय शोथ होकर मृत्यु का भय रहता है, यदि यह रोग बहुत काल तक चला जाय तो राजयक्ष्मा का भय रहता है, अथवा फुफ्फुसों के वायुकोष्ठों की विस्तृति हो जाती है।

चिकित्सा—यथा-सम्भव रुग्ण बालक को अन्य बालकों से पृथक रखें जिससे रोग दूसरे बालकों में न फैलने पावे, रोगी को स्वच्छ वायु और प्रकाशयुक्त मकान में रखने का प्रबन्ध करें, आहार तरल और सुपाच्य देवें, यथा दूध, मीठे फल, मौसम्बी, सन्तरे, अंगूरादि फलों का स्वरस, यवागु, मांसरस, अण्डे का पानी इत्यादि। आहार थोड़ी-थोड़ी मात्रा में और बार-बार देवें जिससे आमाशय पर भार प्रतीत न हो, किञ्चित् गुरु और अधिक मात्रा में भोजन देने से वेग बढ़ते हैं और जल्दी आरम्भ होते हैं, मलावरोध कभी न होने देवें।

औषधि चिकित्सा—इस रोग के लिए कोई विशेष औषधि नहीं, शुष्ककास निवारणार्थ निम्नोक्त औषधियां दी जाती हैं। इसके लिए क्लोरोमाईसिटीन, आरियोमाईसीन तथा टेरीमाईसीन विशेष उपयोगी औषधियाँ हैं। बहुत से चिकित्सक बहुधा इसमें सल्फड्रग्ज, पेनिसिलीन, स्ट्रेप्टोमाईसीन पृथक्-पृथक् अथवा मिलाकर देते हैं, परन्तु इनसे लाभ नहीं होता।

(१) गोजिह्वा, बनफसा, मधुयष्टि, सौंफ, बहेड़ा, कुष्ठ कण्टकारीद्वय भारङ्गी, काकड़ासिंगी, सोमलता, पुष्करमूल इनका क्वाथ दें।

(२) सूक्ष्म ऐला, काकड़ासिंगी, शकरतिगाल सब समान भाग वंशलोचन ३ भाग और मिश्री सबसे द्विगुण भाग मिलाकर थोड़ी-थोड़ी मात्रा में चाटने को दें।

(३) पुष्करमूल, काकड़ासिंगी, कुष्ठ, बृहती, कण्टकारी, भारङ्गी, इनसे सोधित घृत थोड़ा-थोड़ा चौथाई चमचा या इससे भी कम दिन में ३ बार देवें।

(४) बृहत कण्टकारी-घृत और दशमूल षटपलक् घृत (चक्रदत्तोक्त) का यथावस्था सेवन करावें।

(५) हरिद्रासाधित घृत, इन घृतों की मात्रा अल्प अल्प अथवा चौथाई चमचा शक्कर मिलाकर बार बार चाटने को दें।

मधुरक्षार (Sodii Bicarb) ५ वर्ष के बालक के लिए २०-३० ग्रेन की मात्रा देने से विशेष लाभ होता है। परटुसीन (Pertussin) तथा अन्य वातश्लेष्मिक शुष्क कास में लिखित औषधियां भी काम में लाई जा सकती हैं, इसके लिए विशेष वेक्सीन आती हैं उसका भी प्रयोग कर देखें, ईथर (Ether 1. c.c.) का शिरागत इंजेक्शन हर दूसरे दिन देने से वेगों की संख्या और जोर कम होता है।

अध्याय १३

क्षय रोग

यद्यपि क्षय रोग एक ही है और एक ही प्रकार के कीटाणु से उत्पन्न होता है तथापि यह कीटाणु भिन्न-भिन्न अङ्गों में जाकर भिन्न-भिन्न प्रकार के लक्षण उत्पन्न करता है, इस कारण वे पृथक्-पृथक् रोग प्रतीत होते हैं। अतः यहां भी लक्षणानुसार पृथक्-पृथक् ही वर्णन किया जायगा ताकि विद्यार्थियों को समझने में सुगमता रहे।

यह कीटाणु जिस अङ्ग में जायगा, उसी के अनुसार लक्षण उत्पन्न कर देगा। परन्तु यहां केवल उन्हीं का वर्णन किया जायगा जो प्रायः देखने में आते हैं। यथा—

(१) सर्वाङ्गिकक्षय
(२) राजयक्ष्मा (फुफ्फुसक्षय)
(३) आन्त्रिकक्षय
(४) गण्डमाला, अपची, (लसीका ग्रन्थिक्षय)
(५) सन्धिक्षय
(६) अस्थिक्षय
(७) उदरक कलाक्षय
(८) फुफ्फुसावरणक्षय
(९) शीर्षावरणक्षय
(१०) क्षयजव्रण (त्वक्क्षय) इत्यादि

उपर्युक्त व्याधियों में से गण्डमाला, अपची, सन्धिक्षय, अस्थियय, क्षयजव्रण, शल्याधिकार के अन्तर्गत हैं अतः उनका वर्णन शल्य विषयक ग्रन्थों में देखें। यहां थोड़ा सा वर्णन गण्डमाला का कर दिया

जायगा, चूंकि इसमें रोगी आरम्भ में चिकित्सार्थ सदा वैद्यों के पास जाते हैं।

उदरक कलाक्षय में केवल जलोदर के लक्षण होते हैं और फुफ्फुसावरण क्षय में शुष्क या आर्द्र फुफ्फुसावरण प्रदाह के लक्षण होते हैं तथा शीर्षावरणाक्षय में शीर्षावरण प्रदाह के लक्षण होते हैं। इनके लक्षण तत्तद्रोगों के अनुसार ही होते हैं पहचान केवल रोग में उपस्थित तरल परीक्षा से होती है। अतः इनका विस्तृत वर्णन इस अध्याय में अनावश्यक है। लक्षण यथास्थान तत्तद्रोगों में देख लें।

चूँकि इन सब का परिचय, कारण और सम्प्राप्ति एक ही है अतः पहले इनको वर्णन करके बाद में सबके लक्षणों का पृथक्-पृथक् वर्णन करेंगे।

परिचय—क्षयरोग एक तीव्र संक्रामक रोग है जिसमें यह कीट भिन्न-भिन्न अङ्गों में जाकर छोटे-छोटे गण्ड पैदा करता है, जो शनैः-शनैः बढ़ते व गलकर फटजाते हैं। रोग शान्त्यर्थ उन गण्डों में खटिक लवण बैठ जाते हैं और उन्हें खटिकमय अश्मवत बना देते हैं। क्षय-रोग के मुख्य लक्षण ज्वर, क्षीणता तथा अनियमित स्वेद हैं।

कारण—इस रोग को उत्पन्न करने का कारण एक विशेष प्रकार का दण्डाकार कीटाणु जिसे "बैसिलस ट्यूबरकुलोसिस" (Bacillus Tuberculosis) कहते हैं। टयूबरकुलर बैसिलस बहुत दीर्घ जीवी और महाप्राण है साधारण कृमिघ्न विलयनों में बहुत देर से मरता है। आमाशयिक रस इसके नाश करने में सर्वथा असमर्थ है। शुष्कनिष्ठीवन अथवा धूलिकणों में कई-कई मास तक जीवित रहता है। इतना कुछ होते हुए भी सूर्य प्रकाश और शुद्ध वायु इसके लिये आशुघाती हैं। उत्तर पश्चिम भारत की ज्येष्ठ और आषाढ़ की धूप इसे आधे घण्टे में बिलकुल नष्ट कर देती है।

क्षयकीट चार प्रकार का माना गया है—

(१) जलजन्तुओं का (२) पक्षिओं का (३) पशुओं का (४) मनुष्यों का।

पहले दो प्रकार के कीट मनुष्यों में रोग उत्पन्न करने में असमर्थ हैं। परन्तु पशुओं का कीट मनुष्यों में रोग उत्पन्न कर सकता है। विशेषतः क्षय पीड़ित गौ का दूध मनुष्यों में प्रायः अन्त्र क्षय का कारण बनता है विशेषकर बालकों में।

यह कीट समस्त क्षय गण्डों में तथा उनके गलने पर पूय में, उपस्थित होते हैं। अतः राजयक्ष्मा की श्लेष्मा में, अन्त्र क्षय का मल में, क्षयजव्रणों का पूय में, अस्थि सन्धि आदि क्षय पीड़ित अङ्गों के कीटाणु उनके पूय में पाये जाते हैं। यह कीट रोग की तीव्र अवस्था में रोगानुसार श्लेष्मा, तरल या पूय में अति अधिक मात्रा में पाया जाता है। जीर्ण अवस्था में बहुत कम पाया जाता है, क्षयज जलोदर व तरलमय फुफ्फुसप्रदाह के तरल में तो इसका अभाव ही समझें।

संक्रम प्रसार—राजयक्ष्मा के रोगी का थूक तथा क्षयपीड़ित गौ का दूध ही दो मुख्य साधन हैं, जिनसे क्षय रोग फैलता है। क्षयज व्रणों की पूय तथा दूषित मल, मूत्र और क्षय पीड़ित पशुओं का माँस भी किसी हद तक इसके प्रसार का कारण हो सकते हैं, परन्तु बहुत ही कम।

साधारणतः इसका प्रसार राजयक्ष्मा के रोगी से ही होता है। असंख्य कीटाणु प्रतिदिन थूक द्वारा बाहर निकलते हैं। इन्हीं कीटाणुओं से परिपूर्ण थूक के कण उड़ते हुए अन्य व्यक्तियों में जाकर रोग पैदा करते हैं।

आजकल भारतवर्ष की सैकड़ों गौएँ इस रोग से पीड़ित हैं और जो लोग उनका कच्चा दूध पीते हैं उन्हें भी यह रोग हो सकता है। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मानव शरीर में संक्रम मुख्यतया वायु द्वारा श्वास मार्ग में आता है या कदाचित दूषित दूध द्वारा अन्त्र में जाता है। दूषित दूध अथवा अन्य दूषित पेय या खाद्य पदार्थों द्वारा

ग्रन्थियों से भी यह शरीर में प्रविष्ट होता है और यहीं से ग्रीवा की लसीका ग्रन्थियों में जाकर गण्डमाला पैदा करता है तथा शरीर के अन्य भागों में क्षय उत्पन्न करता है, त्वग्गत व्रणों से भी यह कीटाणु प्रवेश कर सकता है परन्तु ऐसे उदाहरण विरले मिलते हैं, यह आतुरालयों में क्षयरोगियों के शल्य कर्म द्वारा परिचारिकों को ही होता है।

सहायक कारण—यद्यपि असंख्य कीटाणु वायु में उड़ते-फिरते हैं और अनेक दूषित दूध पीते हैं परन्तु यह रोग सबको नहीं होता। केवल उनमें होता है जो पहले से ही दुर्बल होते हैं या किसी जीर्ण रोग से पीड़ित होते हैं। अथवा उन लोगों को होता है जो सङ्कीर्ण गलियों में स्वच्छ वायु तथा सूर्य प्रकाश रहित मकानों में रहते हैं और स्वास्थ्य के नियमों का पालन नहीं करते। स्थानिक चोट के कारण से स्थान दुर्बल हो जाता है और क्षय कीट के लिये अच्छा क्षेत्र बन जाता है। साहस से उरःक्षत (यह राजयक्ष्मा का ही रूप है) हो जाता है। सन्धिक्षय तथा अस्थिक्षय स्थानिक चोट के बाद ही होते हैं।

माता-पिता से इसके कीटाणु बच्चों में सीधे नहीं आते, परन्तु यह बात निस्सन्देह ठीक है कि क्षय पीड़ितों की सन्तान में इस रोग की प्रवृत्ति अपेक्षया कुछ अधिक होती है।

विकृत छाती वाले पुरुषों को और सर्वदा धूलि, धूम्र, रेत आदि में रहने वालों को तथा प्रतिश्याय, जीर्ण कास, विषम ज्वर, मधुमेह, उपदंशादि चिरस्थायी रोगों से पीड़ित रोगियों को इस रोग के होने की सम्भावना अधिक होती है।

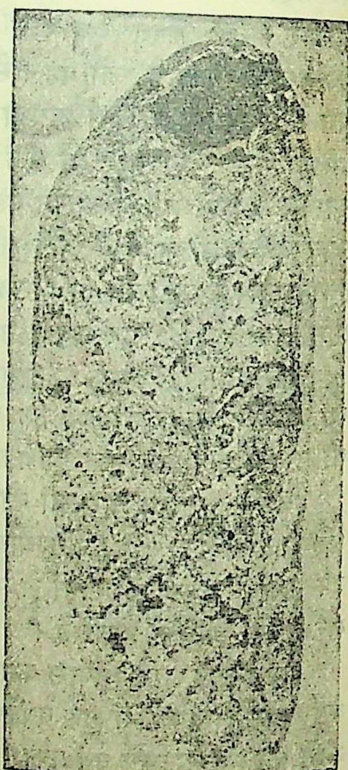
आज-कल ग्राम निवास कम होता जा रहा है और नगर निवास बढ़ रहा है। नगर में शुद्ध एवं पर्याप्त खाद्य पदार्थ नहीं मिलते और न रहने को स्वच्छ वायु एवं प्रकाशयुक्त मकान ही मिलते हैं। अतः दिनों दिन भारत में यह रोग बढ़ रहा है। आज कल नगरों में मृत्यु संख्या का लगभग छटा भाग राजयक्ष्मा के कारण से होता है।

कीटाणु शरीर में निम्नोक्त प्रकार से प्रसार करते हैं आजकल सारे भारतवर्ष से आवश्यक युक्त और पर्याप्त आहार का अभाव ही है।

(१) लसीका वाहिनियों द्वारा—गण्डमाला लसीका ग्रन्थिक्षय, राजयक्ष्मा, संधिक्षय, रक्तधिक आदि।

(२) उत्तरोत्तर सरने में—श्वासप्रणालियों में से स्वरयन्त्र, राजयक्ष्मा, के थूक निगलने से अन्त्र क्षय, इत्यादि।

चित्र ३९



राजयक्ष्मा की अन्तिम अवस्था, फुफ्फुस में काटर दर्शाया गया है।

(३) रक्त द्वारा-जब क्षयज गण्डिका रक्त नलिका पर स्थित हो और वह गलकर फट जाये तो क्षय कीट रक्त में मिलकर अन्य प्रदेश में जाकर रोग उत्पन्न करते हैं।

सम्प्राप्ति—कीटाणु शरीर में प्रविष्ट होकर स्थान विशेष पर बैठ जाते हैं और वहां पर गंड बना लेते हैं। वहां से इनका विष रक्त में मिलकर शारीरिक लक्षण उत्पन्न करता है।

यदि किसी गंड की परीक्षा की जाय तो इसके केन्द्र में बहुमींगी युक्त बृहत् सैल एक या बहुत से दिखाई देते हैं इन सैलों में क्षयकीट अत्यधिक मात्रा में होते हैं, इनके इतस्ततः छोटे-छोटे अन्य सैलों की

कई तहें होती हैं, और इन सैलों के बाहर क्षुद्र लसीकाणु के समान सैलों की कई और तहें होती हैं, तथा सबसे बाहर सौत्रिक तन्तुओं की तहें होती हैं। इन ग्रन्थियों में रक्त-वाहिनियां नहीं होतीं और इन गण्डों में रक्त नहीं जाता अतः गंड मध्य में गलने लगता है और शनैः शनैः गलगल कर (थूक, मल, और मूत्र आदि द्वारा) बाहर निकलता है। साध्यावस्था में इन गण्डों के सौत्रिक, तन्तुओं में खटिक लवण बैठने लगते हैं, और शनैः शनैः सारी ग्रन्थियां खटिकमय (अश्मवत) बन जाती हैं। जब खटिक भवन पूर्ण हो जाता है तो मध्यस्थ क्षय कीटों को आहार नहीं मिल सकता मध्य में स्थित क्षय कीट तक रक्त तो जाता नहीं। केवल इतस्ततः भागों से लसीका चू चू कर पहुँचती है वहीं से इनकी पुष्टि होती है जब वह ग्रन्थि अश्म सी बन जाती है तो लसीका रस, (आहार रस) के न मिलने से कीट शनैः शनैः मर जाते हैं। परन्तु मरते-मरते भी उन्हें ३-४ वर्ष लग जाते हैं। जब खटिकीकरण अधूरा होता है तो कुछ-न-कुछ लसीका क्षय कीटों तक पहुँच जाता है और वे आजीवन जीवित रहते हैं। प्रायः यही कारण है कि राज-यक्ष्मा पीड़ित रोगी को रोग शान्त हो जाने पर भी आजीवन रोग के पुनराक्रमण का भय लगा रहता है। ये कीट अपने अनुकूल स्थिति में पुनः बढ़कर रोग उत्पन्न कर देते हैं जो इतने काल तक अर्ध-जीवितावस्था में शरीर को बिना कोई हानि पहुँचाये अर्ध निर्मित खटिकमय दुर्ग में बन्द पड़े थे।

गंड बहुत घन होते हैं और कभी-कभी परस्पर मिल जाते हैं। जब ऐसे मिले हुए गण्ड गलकर फूट जाते हैं तो एक बहुत बड़ा कोटर बन जाता है।

कीटाणु जिस अङ्ग में आक्रमण करते हैं और गण्ड बनाते हैं तद्नुसार लक्षण उत्पन्न करते हैं। अब इसके बाद स्थानानुसार क्षय रोगों का वर्णन करते हैं।

सार्वत्रिक क्षय

सार्वत्रिक क्षय तभी उत्पन्न होता है जब शरीर में कहीं पूर्व उपस्थित क्षय पीड़ित स्थान से क्षय कीट रक्त में प्रवेश कर जावें। क्षय कीट रक्त द्वारा समस्त शरीर में जाकर राई के समान सर्वत्र सूक्ष्म क्षय गण्ड बना देते हैं। इसके तीन स्वरूप हैं।

(१) सर्वाङ्गक्षय–समस्त शरीर में सूक्ष्म क्षय गण्ड हो जाते हैं।

(२) फुफ्फुसीय सार्वत्रिक क्षय–दोनों फुफ्फुसों में सर्वत्र सूक्ष्म क्षय गण्ड बन जाते हैं।

(३) सार्वत्रिक शीर्षावरणक्षय—मस्तिष्क के अन्तस्थ आवरणों में सर्वत्र सूक्ष्मक्षयज गण्ड बन जाते हैं।

सर्वाङ्गक्षय—शरीर के सब अङ्गों में सर्वत्र सूक्ष्म क्षय गण्ड बन जाते हैं। कभी अकस्मात् और कभी आन्तरिक ज्वरवत्। शनैः-शनैः ज्वर बढ़कर दो चार दिन में सीमा तक पहुँच जाता है। रोगी में शिरः पीड़ा, अनिद्रा, बेचैनी आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। नाड़ी अतितीव्र और क्षीण होती है, श्वास तेजी से चलता है, ज्वर अनियमित होता है, कभी विसर्गी और कभी अविसर्गी। क्षीणता अतिशीघ्रता से बढ़ती जाती है, रोगी दो चार दिन में अतिकृश होकर खाट पकड़ लेता है। स्वेद अत्यधिक आता है। चार सप्ताह में रोगी तन्द्राग्रस्त, मूर्छित और सन्यस्त होकर मर जाता है। इससे कोई रोगी बचता ही नहीं।

इस रोग की पहचान कठिन है। कभी आन्त्रिक ज्वर का संदेह पड़ता है तो कभी सैप्टीसीमिया का। आन्तरिक ज्वर की नाड़ी की मंद गति, नियमपूर्वक ज्वर, शरीर पर पीड़िकाएँ तथा विडाल परीक्षा निदान स्पष्ट कर देती हैं। सैप्टीसीमिया में रक्त-परीक्षा रोग को निश्चित कर देता है। सर्वांग क्षय में अनियमित ज्वर, अत्यधिक स्वेद, शीघ्रता-पूर्वक क्षीणता का बढ़ते जाना, क्षीण तथा अतितीव्र नाड़ी रोग के सूचक हैं।

फुफ्फुसीय सार्वत्रिक क्षय—उसका आरम्भ भी उसी प्रकार ही होता है जैसे सर्वांग क्षय का और लक्षण भी वही उपस्थित होते हैं। चन्द दिनों के अन्दर ही फुफ्फुसों में विकृति प्रगट हो जाती है, अनियमित ज्वर, क्षीणता अत्यधिक स्वेद, क्षीण और तीव्र नाड़ी, क्षय रोग के सब लक्षण उपस्थित हो जाते हैं। परीक्षा करने पर फुफ्फुसों में सर्वत्र कूजन सुनाई देती है। कहीं-कहीं छोटे-छोटे स्थानों पर फुफ्फुस ठोस भी होते हैं वहाँ करकरापन सुनाई देती हैं। परीक्षा करने पर थूक क्षय कीटों से परिपूर्ण दिखाई देती है यह रोग घातक है। रोगी एक मास के अन्दर मर जाता है। यह रोग प्रायः पन्द्रह वर्ष के बालकों में होता है।

कभी-कभी यह आरम्भ से ही स्वतन्त्ररूप से होता है और कभी पूर्व-उपस्थित राजयक्ष्मा, काली खाँसी या रोमान्तिका आदि रोगों में उपद्रव रूप में अकस्मात् आरम्भ हो जाता है।

सार्वत्रिक शीर्षावरण क्षय—उसका आरम्भ भी ऊपर वर्णित सार्वत्रिक क्षय रोगों की भाँति ही होता है। रोगी को विशेषकर अत्यधिक शिरःशूल, शाखाओं में पीड़ा, अनिद्रा, उत्क्लेश और वमन होते हैं, विशेषकर जब शीर्षावरण रोगग्रस्त हो जाता है। उपरोक्त लक्षण अकस्मात् प्रगट हो जाते हैं, अर्थात् ग्रीवा पीछे की ओर मुड़ी होती है, रोगी को उत्क्षेपों के आक्रमण होते हैं। शय्या पर पड़े-पड़े वह चिल्लाता रहता है। धीरे-धीरे निद्रा आने लगती है, निद्रा से मूर्च्छा और मूर्च्छा से सन्यस्त होकर रोगी एक सप्ताह में मर जाता है। शीर्ष-सौषुम्नज्वर के लक्षण तथा अनियमित ज्वर, अत्यधिक स्वेद, अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक क्षीणता का बढ़ते जाना उस रोग के सूचक हैं। यह रोग सदा दो वर्ष से कम आयु वाले शिशुओं को ही होता है।

राजयक्ष्मा

पर्याय—राजयक्ष्मा, तपेदिक, सिल, थाइसिस। कँजम्पशन (Consumption) पल्मोनरी ट्यूबर-क्लोसिस (Pulmonary Tuberculosis)

श्वास द्वारा क्षय कीट फुफ्फुसों के वायु मन्दिरों में तथा सूक्ष्म वायु प्रणालियों में जाकर बैठ जाते हैं, वहाँ पर छोटे-छोटे गण्ड समूह बन जाते हैं, रोग बढ़ने पर गण्ड शनैः शनै मृदु होकर पूयमय हो जाते हैं और फट जाते हैं, पूय और स्राव श्लेष्मा द्वारा बाहर निकल आता है, और वहाँ पर रिक्त स्थान अर्थात् कोटर बन जाते हैं। जब तक गण्ड नहीं फटते श्लेष्मा में न तो पूय होती है और न क्षय कीट ही। वेग भेद से इसके निम्नोक्त चार प्रकार होते हैं:

(१) तीव्र खण्डीय फुफ्फुस प्रदाहिक (श्वसनक) राजयक्ष्मा।
(२) तीव्र प्रणालीय फुफ्फुस प्रदाहिक राजयक्ष्मा।
(३) जीर्ण प्रणालीय फुफ्फुस प्रदाहिक राजयक्ष्मा।
(४) जीर्ण सौत्रिक तन्तुमय राजयक्ष्मा।

तीव्र खण्डीय फुफ्फुस प्रदाहिका (श्वसनक) राजयक्ष्मा

(Lober Pneumonic Phthisis)

फुफ्फुसों का एक या अधिक खण्ड प्रभावित होते हैं। लक्षण तथा उरः परीक्षण के चिह्न खण्डीय फुफ्फुस प्रदाहवत् ही होते हैं, परन्तु इसमें ज्वर संतत रूप में न होकर अविसर्गी विषमरूप से उतरता-चढ़ता रहता है, तथा यह ७–१० दिन में नहीं उतरता। रात को स्वेद आता है, रक्त ष्ठीवन होता है, और रोगी बहुत शीघ्र क्षीण होता जाता है। उसका थूक शीघ्र ही पूयमय हो जाता है, अतः भारी होकर पानी में डूबने लगता है और रंग भी इषत् हरित हो जाता है। परीक्षा करने से इसमें असंख्य क्षय कीट दिखाई देते हैं। मूत्र में "ड्याजो" क्रिया भी सिद्ध होती है, रोगी प्रायः २–३ सप्ताह में मर जाता है, विरल अवस्था में अधिक काल तक भी लटकता रहता है।

तीव्र प्रणालीय फुफ्फुस प्रदाहिक राजयक्ष्मा

(Acute Broncho Pnenmonic Phthisis)

यह खण्डीय फुफ्फुस प्रदाह की अपेक्षा अधिक पाया जाता है, परन्तु जीर्ण प्रणालीय की अपेक्षा कम।

इसमें लक्षण और उरः परीक्षण के चिह्न प्रणालीय फुफ्फुस प्रदाहवत् ही होते हैं। परन्तु इस रोग में ज्वर बहुत अनियमित होता है, उतार व चढ़ाव अधिक होते हैं। रात को स्वेद आता है। थूक पूयमय, हरा और क्षयकीट से पूर्ण होता है। रोगी प्रायः ३-४ सप्ताह में मर जाता है, कभी-कभी तीव्र खण्डीय और प्रणालीय फुफ्फुस प्रदाह दोनों इकट्ठे एक ही रोगी में पाये जाते हैं, तब इसे वल्गित क्षय (Galloping Phthisis) कहते हैं।

जीर्ण प्रणालीय फुफ्फुस प्रदाहिक राजयक्ष्मा

(Chronic Broncho Pneumonic Phthisis)

राजयक्ष्मा का यही भेद अधिकतर पाया जाता है, इसी को साधारण बोलचाल में राजयक्ष्मा कहते हैं, यह धीरे-धीरे बढ़ता है तथा फुफ्फुसों के केवल एक ही भाग में आरम्भ होता है, बहुत काल तक वहीं सीमित रहता है, वैसे तो फुफ्फुसों के किसी भी भाग में आरम्भ हो सकता है। परन्तु प्रायः फुफ्फुसों के शिखर में विशेषकर दक्षिण ओर अधिक होता है, वहां से रोग बढ़ता फुफ्फुसों के शेष भागों में चला जाता है। फुफ्फुसों से संक्रम प्रसार पाकर कभी-कभी फुफ्फुसावरणों तक पहुँचकर वहाँ शोथ उत्पन्न कर देता है।

सम्प्राप्ति—क्षय कीट फुफ्फुसों के जिस भाग में जाकर बैठता है वहीं पर सूक्ष्म गण्ड बना लेता है, यह कीट सूक्ष्म वायु प्रणाली की दीवार में जाकर ही पहिले अपना घर बनाता है, वहाँ के चारों तरफ़ के

वायु मन्दिर भी इस गण्ड में समाविष्ट हो जाते हैं, रोग के बढ़ने से ये गण्ड बीच में से गलकर पूय बनाने लगते हैं। रोग शान्ति अवस्था में गण्ड के चारों ओर सौत्रिक तन्तु बनने लगते हैं। जब फुफ्फुसों में कई स्थानों पर पूय गण्ड हों तो कोई गल रहा होता है और उसमें पूय बन रही होती है और कोई शांति की ओर जा रहा होता है और उसमें सौत्रिक तन्तु बनने लगते हैं।

अनेक बार फुफ्फुसों के एक भाग में अनेक ग्रन्थियां होती हैं। वे प्रसार पाकर परस्पर मिल जाती हैं तथा गल जाती हैं। वहाँ से पूय श्लेष्मा से मिलकर कास द्वारा बाहर निकलती रहती है। गलने के बाद वहाँ पर एक बड़ा कोटर बन जाता है।

लक्षण—शनैः शनैः आरम्भ होते हैं, पहिले तो रोगी को मन्द-मन्द ज्वर आने लगता है, साथ ही शुष्क कास होती है, शरीर भारी-सा प्रतीत होने लगता है; अङ्गमर्द होता है, रोगी निर्बल होता जाता है, रात के समय स्वेद आने लगता है। रोग इतने धीरे-धीरे बढ़ता है कि रोगी को बहुत दिन पीछे इसका पता चलता है। कभी-कभी इसका ज्ञान विषम तथा अन्य सन्तत ज्वरों के हो चुकने के बाद होता है, जब रोगी का ज्वर उतरने में नहीं आता। कभी-कभी अन्य रोग यथा पुरानी खाँसी, रोमान्तिका, जीर्ण ज्वर, आदि उपस्थित होते हैं और यह रोग गुप्त रूप से रोगी में आरम्भ हो जाता है। अनेक बार रोगी में यह स्वयं गुप्त रूप से विद्यमान तो होता है, परन्तु व्यक्तलक्षण कोई नहीं होता, केवल कभी-कभी रक्त निष्ठीवन हो जाता है, तभी इसका संदेह होता है। फुफ्फुसावरण-प्रदाह, अपची आदि रोगों में भी उपद्रव रूप में गुप्त प्रकार से हो जाता है।

ज्वर धीरे-धीरे बढ़ता जाता है, खाँसी भी दिनों-दिन अधिकाधिक होने लगती है, खाँसी पहिले शुष्क होती है, बाद में श्लेष्मा युक्त हो जाती है और फिर उसमें पूय आने लगती है, रोगी क्षीण होता

जाता है उसका शारीरिक भार बहुत घट जाता है। रात्रि को अथवा कुसमय, ज्वर से असम्बन्धित-स्वेद आने लगता है, अन्त में रोगी अतिक्षीण होकर शय्या पर पड़ा रहता है, अस्थिपञ्जर मात्र शेष रह जाता है। हिलने-डुलने की शक्ति नहीं रहती, शय्या पर पड़े रहने से शरीर पर शय्या व्रण बन जाते हैं। ज्वर हर समय चढ़ा रहता है कभी कम कभी अधिक। कास में श्लेष्मा बहुत निकलती है, बहुत भारी और इषत् हरितवर्ण की होती है, तथा बतासे के समान बंधी हुई होती है और पानी में डूब जाती है, इसमें असंख्य क्षय कीट और फुफ्फुस तन्तु होते हैं। कई रोगी इसे निगलते रहते हैं, उन्हें आन्त्रिक क्षय हो जाता है दस्त आने लगते हैं अतिक्षीण होकर रोगी मर जाता है।

रोगी परीक्षा—श्वास बहुत तीव्र चलता है, और नाड़ी ज्वर की अपेक्षा अति तीव्र, दुर्बल और मृदु होती है, जिह्वा मैली, क्षुधा मन्द और कोष्ठ-बद्धता होती है। रक्त में रक्ताणुओं की बहुत कमी हो जाती है, श्वेताणु भी बहुत कम होते हैं, उनमें लसीकाणुओं का निपात (३०-४०%) बढ़ जाता है।

दर्शन—ऐसे रोगियों की छाती प्रायः विकृत होती है और रुग्ण पार्श्व दुर्बल होता है। उस ओर की अस्थियाँ मांसपेशियों में से निकली हुई दिखाई देती है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो रुग्णपार्श्व श्वास-प्रश्वास के समय कम फैलता हुआ प्रतीत होता है।

स्पर्शन—जो कुछ दर्शन में देख आये हैं, उसी की स्पर्श परीक्षा द्वारा पुष्टि होती है। कभी-कभी यदि फुफ्फुसावरणप्रदाह हो तो घर्षण शब्द प्रतीत होता है। शब्द स्पर्श सदा बढ़ जाता है जैसे-जैसे रोग बढ़ता जाता है यह भी अधिकाधिक बढ़ता जाता है यहाँ तक कि मुख में न्यून उच्चरित शब्द भी स्पर्श द्वारा प्रतीत होने लगता है।

ठेपन—रोग के एकदम आरम्भ में ठेपन शब्द कुछ काल के लिये

किञ्चित न्यून हो जाते हैं, परन्तु शीघ्र ही शब्द ठोस हो जाता है, जैसे जैसे स्थान अधिक ठोस होता जाता है, ठेपन शब्द भी अधिक ठोस होता जाता है, और ठोस स्थान भी विस्तृत होता जाता है। पहिले केवल शिखर था, अब सम्पूर्ण ऊर्ध्वखण्ड और उससे भी अधिक भाग ठोस हो जाता है। जब कोटर बन जाते हैं, तो कोटर स्थान के ऊपर ठेपन शब्द अति गुञ्जन, रिक्त अथवा भाण्ड-ध्वनिवत् हो जाता है। रोगी का मुंह खोलकर और बन्द करके ठेपन करने से ठेपन शब्द में अन्तर प्रतीत होता है।

श्रवण—रोग के बढ़ने पर शब्द श्रवण भी बढ़ जाता है, कोटर हो जाने पर शब्द श्रवण अत्यधिक बढ़ जाता है, यहाँ तक कि मुख में अव्यक्त (अस्फुटित) शब्द भी स्पष्ट सुनाई देने लगते हैं। फुफ्फुसावरण प्रदाह के उपस्थिति में घर्षण शब्द भी सुनाई देता है।

रोगारम्भ में उच्छ्वास शब्द मन्द अथवा खण्डित होता है और शीघ्र ही कर्कश हो जाता है। निःश्वास बढ़ता जाता है और निःश्वास के अन्त में मृदु करकरापन और कूजन सुनाई देती है। शनैः शनैः निःश्वास बहुत बढ़ जाता है और उच्छ्वास के समान होजाता है। शनैः शनैः इन दोनों में अन्तर हो जाता है अर्थात् श्वास कोष्ठीय से प्रणालीय और प्रणालीय से कोटरीय हो जाता है। करकरापन मृदु से मध्य, मिश्रित और कठोर हो जाता है तथा अन्त में अतिकठोर हो जाता है।

इस रोग का काल निश्चित नहीं, सम्यक् चिकित्सा के अभाव में रोगी प्रायः ६-१२ महीने में मर जाते हैं; परन्तु कभी-कभी तीन वर्ष तक भी जीवित रहते हैं।

जीर्ण सौत्रिक तन्तुमय राजयक्ष्मा
(Chronic Fibroid Phthisis)

यह रोग राजयक्ष्मा की उस अवस्था को कहते हैं जिसमें रोग

दीर्घकाल तक चला जाता है, और फुफ्फुसों (के रुग्ण भाग) में सौत्रिकन्तु बन जाते हैं, सौत्रिकतन्तुओं के संकोच के कारण परिमाणतः फुफ्फुस भी संकुचित होकर अपने वास्तविक परिमाण से कम हो जाते हैं।

यह अवस्था उन रोगियों में उत्पन्न होती है जिनमें न तो रोग पूर्णतया शान्ति की ओर जाता है और न ही वृद्धि पाता है। इन रोगियों में रुग्ण स्थान पर चिरस्थायी क्षोभ के कारण अत्यधिक भाग में सौत्रिक तन्तु बन जाते हैं। वैसे तो प्रत्येक क्षय गण्ड के बाहर के भाग में सौत्रिक तन्तु रहते ही हैं परन्तु इस रोग में स्थान-स्थान पर सर्वत्र सौत्रिक तन्तु बन जाते हैं। शान्ति की अवस्था में इसमें खटिक लवण बैठकर इस गण्ड को अश्मवत् बना देते हैं, और रोग-वृद्धि अवस्था में गण्ड गलकर पूयमय बन जाता है, परन्तु जब रोग न घटे और न बढ़े तो सौत्रिक तन्तु अधिकाधिक बनते जाते हैं। कभी-कभी यह अवस्था बिना व्यक्त हुए गुप्त रूप से आरम्भ हो जाती है, उन्हें जो जीर्णकास होती है अथवा जो रेतकणों में, धूलि में, मिलों की उड़ती कपास के कणों में बहुत काल तक काम करते हैं अर्थात् सदा क्षोभ के बने रहने के कारण सौत्रिक तन्तु पहले बन जाते हैं, जब वहां क्षय कीट जाते हैं तब सौत्रिक तन्तुमय राजयक्ष्मा हो जाता है।

लक्षण—यह रोग बहुत धीरे-धीरे बढ़ता है अतः लक्षण अव्यक्त होते हैं। ज्वर प्रायः होता ही नहीं या कभी-कभी मन्द ज्वर हो जाता है। अनियमित स्वेद, क्षीणता, दुर्बलता आदि लक्षण भी बहुत कम होते हैं या होते ही नहीं, कास प्रायः लगी ही रहती है, उरःपरीक्षण से चिह्न अस्पष्ट प्रतीत होते हैं, परन्तु होते वही हैं जो जीर्ण प्रणालीय राजयक्ष्मा में लिखे गये हैं। ऐसा रोगी कई-कई वर्ष (१०-२० वर्ष) तक जीवित रहता है और उसे अपने रोग का ज्ञान तक नहीं हो पाता। दक्ष वैद्य समुचित निरीक्षण से पता लगा लेता है, या एक्स-रे से रोग का ज्ञान हो सकता है। कभी-कभी यही राजयक्ष्मा एकदम उग्र रूप धारण

कर व्यक्त राजयक्ष्मा का रूप धारण कर लेता है, और रोगी की जीवनयात्रा का अन्त कर देता है।

रोगमीमांसा—इस रोग की जीर्ण कास, श्वास प्रणालियों की विस्तृति से पृथक् करना अत्यन्त कठिन होता है। तब एक्स-रे से रोग निश्चय हो जाता है।

रोगपरिणाम—राजयक्ष्मा एक विश्वव्यापी रोग है, जिसके परिणाम रोगी और रोग की अवस्था के अनुसार होता है। रोगी यदि मधुमेह, वृक्क रोग, (जीर्ण वृक्क शोथ (Nephritis), रक्तभाराधिक्य, जीर्ण-कास, आदि रोग या अन्य किसी ऐसी जीर्ण व्याधि से पीड़ित हो तो रोग उत्तरोत्तर शीघ्रता से बढ़ता जाता है, अथवा रोग जब आरम्भ से उग्र हो अथवा रोगी को जब राजयक्ष्मा के साथ अन्त्रक्षय, गण्डमाला, स्वरयन्त्रक्षय आदि कोई उपद्रव उपस्थित हो तब परिणाम भयानक होता है। सबसे दुर्भाग्य की बात तो रोगी के लिए दरिद्र और साधन-हीन होना है क्योंकि इस रोग में बहुत समय तक बहुमूल्य औषधियों के प्रयोग तथा उत्तमोत्तम भोजन यथा दूध, मक्खन, अण्डे, आरोग्यप्रद पर्वतों या समुद्र तट का निवास तथा कार्य, परिश्रम, एवं मानसिक चिन्ता से मुक्ति इन सबकी बहुत समय तक आवश्यकता रहती है और यह तभी सम्भव हो सकता है जब रोगी के पास साधन हों।

जो खुले स्थान में रहने वाले हों, खाने-पीने की वस्तुओं की जिनके पास त्रुटि न हो, तथा समय पर सब व्याधियों की चिकित्सा के साधन जिनको उपलब्ध हो उन्हें यह रोग होता ही नहीं, यदि हो भी जाये तो रोग शान्ति के उपाय होने के कारण रोग शीघ्र शांत हो जाता है।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त निम्नोक्त बातें भी रोग-शान्ति में विशेष बाधा डालती हैं :

(१) कुल में इस रोग की उपस्थिति इस बात की सूचक है कि इस रोग की प्रवृत्ति इस कुल में उपस्थित है।

(२) रोगी में व्यसनों की उपस्थिति, यथा मद्यपान।

(३) रोगी की आयु शिशुओं में, नन्हें बालकों में, तथा वृद्धावस्था में यह रोग अधिक भयावह है।

(४) गर्भावस्था, प्रसूत तथा शिशुओं को दूध पिलाने से रोग बढ़ता है।

(५) शारीरिक विकार यथा विकृत छाती में रोग शान्ति कठिन होती है।

(६) धूलि, रेत, कपास आदि के कणों में रोग-उत्पत्ति के बाद भी रोगी के काम करते रहने से।

(७) दृढ़ संकल्प वाले संयमी तथा आत्मशक्ति युक्त रोगियों में यह रोग शीघ्र शान्त होता है, तथा निर्बल विचारवालों व आत्मशक्ति-हीन रोगियों में यह रोग शीघ्रतापूर्वक बढ़कर रोगी को ले मरता है।

(८) स्वभाव से प्रसन्नचित्त रहने वाले, तथा चिन्ता से मुक्त रोगियों में रोग शान्ति का अधिक अवसर मिलता है इसके विपरीत सदा शोकातुर, लड़ाके व चिन्तातुर रोगियों में रोग शान्ति का अवसर अपेक्षतया कम होता है।

(९) स्थायी कास, जो शान्त न होने पाये, अशुभ लक्षण हैं।

(१०) जिन रोगियों में क्षय का आरम्भ रक्तष्ठीवन से हो, रोग प्रायः शान्त हो जाता है,

यह स्मरण रहे कि रक्तष्ठीवन और आर्द्रफुफ्फुस प्रदाह प्रायः राजयक्ष्मा के अग्रसर होते हैं। उन पहाड़ों और ग्रामों के लोग जहां क्षय नहीं होता जब ये नगरों में चले जाते हैं और उनको क्षय का संक्रमण हो जाये, तो क्षय बहुत शीघ्रता से प्रसार पाकर रोगी को मृत्यु का ग्रास बना देता है।

राजयक्ष्मा का निदान—व्यक्त शारीरिक लक्षणों तथा परीक्षा द्वारा स्पष्ट चिह्नों की उपस्थिति में रोग निदान करने में कोई कठिनाई

नहीं होती, जब संदेह हो जाये तो थूक तथा एक्स-रे परीक्षा कराकर अवश्य रोग विनिश्चय कर ही लेना चाहिये। अनेक बार जीर्णकास, श्वास-प्रणाली-विस्तृति, वायुकोष्ठ-विस्तृति, फुफ्फुसावरण प्रदाह, आदि रोगों के लक्षण राजयक्ष्मा के समान होते हैं।

थूक परीक्षा करने पर उसमें क्षय-कीटों की उपस्थिति रोग को स्पष्ट कर देती है और यदि क्षय-कीट उपस्थित न हों तो एक्स-रे द्वारा रोग का निदान कर लेवें।

रोगनिदान की शेष सब विधियां संदिग्ध ही हैं निश्चयात्मक कोई भी नहीं, उदाहरणार्थ निम्नोक्त विधियां इस रोग के निदान के लिए प्रयुक्त की जाती हैं। केवल ज्ञान के लिये ही इन विधियों के नाम दिये जाते हैं :

(१) रक्त स्कंदन का समय (Blood Sedimentationrate) इस रोग में बढ़ जाता है परन्तु यह समय अन्य तीव्र संक्रामक रोगों, आम वातिक ज्वर, उपदंश, कैंसर, और गर्भावस्था में भी बढ़ जाता है।

(२) ट्यूबरकुलीन टेस्ट (Tuberculin Test) अर्थात् क्षय कीटों की वैक्सीन सी बना लेते हैं। इस वैक्सीन को "ट्यूबर कुलीन" कहते हैं। रोग निश्चयार्थ इसका प्रयोग निम्न प्रकार से है :

(क) इसका त्वचा पर शीतलावत् टीका करते हैं यदि वह स्थान जहां इंजेक्शन दिया जाय, लाल और शोथमय हो जाय तो उसको क्षय रोग का सूचक समझना चाहिए। इस परीक्षा की सिद्धि से विशेष लाभ नहीं होता। जब जीवन में कभी एक बार किसी को राजयक्ष्मा हो चुका हो तो भी इस परीक्षा की सिद्धि हो जाती है। अतः इस परीक्षा की सिद्धि पहले दो तीन वर्षों में तो रोग निदान में सहायता दे सकती है, तत्पश्चात् नहीं इसे (Von Pirquet or Cutaneous Test) कहते हैं।

(ख) इस टयूबर कुलीन की अत्यन्त सूक्ष्म मात्रा का त्वचान्तर्गत इंजेक्शन करते हैं। यदि उस स्थान पर लाल चक्कत्ता सा पड़ जाय तो

इसे क्षय रोग की विद्यमानता समझनी चाहिए इसे (Montoux Intradermal Test) कहते हैं।

(ग) वक्षोस्थि को ईथर से साफ करके उस पर अढिसिव (Adhesive) प्लास्टर को जोर से पट्टी बांध देत हैं। इस अढिसिव प्लास्टर के अन्दर की तरफ वक्षोस्थि पर लगते हुए तीन छोटे-छोटे अन्य टुकड़े लगे रहते हैं, बीचवाला टुकड़ा केवल पानी से भीगा हुआ होता है इतस्ततः दोनों ट्यूबरकुलीन से भीगे हुए होते हैं। ४८ घंटे बाद प्लास्टर की पट्टी उतारने पर ट्यूबर कुलीन के स्थान पर यदि शोथ और लालिमा हो अथवा वहां पर छाला सा बन जावे तो रोगी में क्षयरोग की उपस्थिति समझनी चाहिये। इसको (Vollmer Patch Test) कहते हैं।

(घ) लपसी (जैली) समान ट्यूबरकुलीन, यह छोटी ट्यूबों में बन्द होती है, ट्यूब को पिचका कर बाहर निकालें और पीठ पर दोनों स्कन्ध अस्थियों के दर्म्यान लगादें तथा ऊपर प्लास्टर लगादें। ४८ घंटे के बाद निकालें यदि वहां पर लालिमा, शोथ तथा छाला हो जाय तो उसे रोग की उपस्थिति समझनी चाहिये। यह परीक्षा उपरोक्त सब परीक्षाओं से अधिक प्रमाणित है। इसे ("Tuberculin Jelly Patch Test") कहते हैं।

(ङ) ट्यूबरकुलीन विलियन को आंख में डालने से यदि आंख लाल हो जाय तो रोग की उपस्थिति समझनी चाहिए इसे (Calmetta's Opthalmic Test") कहते हैं, इत्यादि।

इनमें से नं० (घ) कुछ निश्चयात्मक है, शेष सब परीक्षाओं की सिद्धि भी रोग निदान को संदिग्ध ही रखती हैं, हेतु (क) में लिख दिया है।

थूक में क्षय-कीट की उपस्थिति रोग का वास्तविक निदान है। इसके बाद क्षय रोग के निदान में एक्स-रे (X-Ray) का स्थान है। एक्स-रे रोग की उपस्थिति और उसकी विस्तृति दोनों का ज्ञान कराता है।

यह स्मरण रहे कि रक्तष्ठीवन का प्रधान कारण राजयक्ष्मा ही है, तथा तरलमय फुफ्फुसावरण प्रदाह प्रायः क्षय कीट से होता है, और इसके बीच सदैव राजयक्ष्मा हो जाने की सम्भावना रहती है।

चिकित्सा—प्रायः क्षय रोग होता उन्हें है जो अपने स्वास्थ्य की ओर ध्यान नहीं देते। सूर्य प्रकाश, स्वच्छवायु का सेवन नहीं करते तथा आहार-विहारादि स्वास्थ्य के नियमों की अवहेलना करते हैं। यदि स्वास्थ्य के नियमों का पालन उचित रूप से किया जाय तो यह रोग हो ही नहीं सकता। यदि रोग हो जाये, तो भी प्रकृति ही रोग के शमन का यत्न करती है, न कि चिकित्सक या उसकी औषधियां। आज तक इसके लिये कोई विशेष औषधि नहीं निकली। जितनी औषधियां हैं वे सब प्रकृति की सहायता ही करती हैं स्वयं कुछ नहीं करतीं। प्रकृति शरीर में इसके लिए प्रतिविष बनाती है और साथ-साथ ग्रन्थियों के इतस्ततः सौत्रिक तन्तुओं की दीवार बनाती है, जिसमें खटिक लवण आ आ कर बैठते जाते हैं और दुर्ग की भांति यह सौत्रिक तन्तुमय दीवार भी खटिकमय बन जाती है। ग्रन्थियों में कीटाणु रहते हैं ग्रन्थियों के इतस्ततः चूने की दीवार बन जाने के कारण तथा ग्रन्थियों में चूने के कण बैठ जाने के कारण उसमें के बंद कीट आहार न मिलने के कारण मर जाते हैं। इन्हें मरते भी कई वर्ष लग जाते हैं।

कई आचार्यों का यह मत है कि राजयक्ष्मा का बीज किशोर अवस्था अथवा इससे भी पूर्व शरीर में प्रविष्ट होकर स्थापित हो जाता है, यदि उस समय यह बीज बढ़कर पूर्ण रूप से रोग का रूप धारण न कर पाये तब तक शरीर के अन्दर सुषुप्त सा पड़ा रहता है। आगे चलकर जब कभी अवसर पाता है तो यही सुषुप्त क्षय कीट वृद्धि पाकर राजयक्ष्मा उत्पन्न कर देता है। इसी आधार पर ही बी. सी. जी. का उपयोग बाल्यावस्था और किशोरावस्था में ही करना चाहिये।

क्षय कीट के विष को उदासीन करने के लिये, समस्त शरीर की सेलें, प्रतिविष बनाने के काम करने में लगी रहती हैं, उन्हें इसके लिये सूर्यप्रकाश स्वच्छ वायु, विश्राम और पौष्टिक भोजन की आवश्यकता होती है। वास्तव में शरीर की सेलों और कीटाणुओं में युद्ध होता है। वैद्य का यह कर्तव्य है कि इस युद्ध में सेलों की सहायतार्थ पूर्ण प्रयत्न करे और यह प्रयत्न भी तभी सफल हो सकता है जब रोगी चिकित्सा में पूर्ण सहयोग दे। अब उन सब बातों का वर्णन विस्तार से किया जाता है, जिनकी ओर रोगी और वैद्य दोनों को ध्यान देना आवश्यक है।

(१) सूर्य प्रकाश—यदि संभव हो तो रोगी को दिनभर धूप में रखें और कुछ काल के लिये नंगे शरीर पर विशेषकर रुग्ण संस्थान पर धूप पड़ने दें। जितनी देर ऐसा कर सकें उतना ही अच्छा है। परन्तु इस बात का ध्यान रहे कि नंगा करते हुए रोगी को शीत न लगने पाये, अन्यथा प्रतिश्याय, फुफ्फुसप्रदाह आदि का भय रहेगा। उष्ण प्रदेशों में तेज धूप का सेवन करना कठिन होता है वह शरीर को जला देती है। अतः ऐसी अवस्था में प्रातःकाल की धूप का सेवन करना चाहिये। धूप कोई हानि नहीं पहुँचाती, पर असह्य होती है अतः धूप की ओर परदा लटका दें।

(२) स्वच्छ वायु—कारणों में लिख आये हैं कि शुद्ध वायु इन कीटाणुओं को शीघ्र ही नष्ट कर देती है। दूसरी बात यह भी है कि सूर्यप्रकाश और वायु सैलों के परम सहायक हैं। अतः रोगी को २४ घंटे स्वच्छ वायु में रहना चाहिये। मुख ढांपकर सोना ठीक नहीं। यह याद रहे कि कमरे की अपेक्षा बरामदे की और बरामदे की अपेक्षा बाहर की, नगर की अपेक्षा ग्राम की, ग्राम की अपेक्षा मैदान की, मैदान की अपेक्षा उद्यान की, उद्यान की अपेक्षा नदी या समुद्र तट की और

सब की अपेक्षा पर्वतों की वायु अधिक स्वच्छ होती है पर्वतों की वायु में ओज़ोन गैस विशेष रूप से पाई जाती है। यह इस रोग में बहुत लाभकारी है समुद्र तट की वायु में भी यह गैस पाई जाती है परन्तु मैदानों, नगरों और ग्रामों की वायु में नहीं पाई जाती। अतः क्षय रोगियों के लिये पर्वत या समुद्र तट का निवास स्थान बहुत लाभदायक है। पर्वतों पर वायु और वर्षा का आते रहना तथा उनमें समय-समय पर परिवर्तन का होते रहना शरीर-सैलों के लिये उत्तेजक है। परन्तु पर्वत पर भी यदि रोगी मुंह ढांप कर सोये या कमरे में बन्द रहे अथवा उसको घर के भोजन विश्राम परिचारकादि का सुख प्राप्त न हो तो पर्वत पर जाने से कोई लाभ नहीं। इससे तो नगरों में ही रहना अच्छा है यदि वहां यह सब सुख प्राप्त हो सकें और स्वास्थ्य के नियम पालन किये जा सकें। रोगी खाट पर पड़ा-पड़ा दिन में ३-४ बार १५-१५ मिनट या आधे घंटे तक प्राणायाम की तरह लम्बे-लम्बे और दीर्घ श्वास लेता रहे। यदि रोगी बहुत क्षीण हो और लम्बे श्वास न ले सके तो उसे कृत्रिम आक्सीजन (देखो फुफ्फुस प्रदाह चिकित्सा) पहुँचानी चाहिये।

(३) विश्राम—क्षय रोग में रोगी को पूर्ण विश्राम देना चाहिये, क्योंकि किंचित मात्र श्रम से भी ज्वर बढ़ जाता है। उसके लिये बैठना भी उचित नहीं जब तक ज्वर रहे, रोगी को लिटाये रखें। ज्वर उतरने के पश्चात बहुत धीरे-धीरे श्रम बढ़ायें। पहिले कुछ काल के लिये बैठायें तत्पश्चात् उद्यान की सैर करायें। इसी प्रकार श्रम शनैः शनैः बढ़ाते बढ़ाते पूर्णस्वस्थ पुरुष के योग्य श्रम तक पहुँचाएँ। यदि बीच में कहीं थोड़ा सा भी ज्वर हो जाय तो पुनः विश्राम से आरम्भ करके शनैः शनैः श्रम बढ़ायें।

(४) भोजन—सदा सुपाच्य और पौष्टिक होना चाहिये इस रोग में यह आवश्यक नहीं कि सदा तरल भोजन दें। रोटी, सबजी आदि,

जो भी रोगी का जी चाहे, दे सकते हैं। यत्न यह होना चाहिये कि रोगी की भूख बढ़े और वह अधिक भोजन करे। उसे यथावश्यक क्षुधा-वर्धक औषधियाँ देनी चाहिए। दुर्भाग्यवश इस रोग के बढ़ने पर क्षुधा मंद पड़ जाती है, भोजन शीघ्र नहीं पचता परन्तु रोगी की शक्ति को स्थित रखना आवश्यक होता है। अतः ऐसे समय ही कठिनाई पड़ती है। इसमें यह विशेष ध्यान रखना पड़ना है कि रोगी का आमाशय भी भारी न होने पाये और रोगी को पुष्टिकारक भोजन भी मिलता रहे। यह मिथ्या है कि औषधियां शक्ति प्रदान करती हैं। यह तो संभव है कि औषधियों से भूख तेज हो और पाचन शक्ति बढ़े, तथा सैलें उत्तेजित हों, परन्तु वास्तविक शक्ति केवल उस भोजन से ही प्राप्त होती है जो पचकर शरीर का भाग बन जाये। सुपाच्य और पौष्टिक भोजन दूध, अण्डे, मांसरस, माखन, मलाई, फल आदि हैं। इनमें से यदि १ अंडे को (जरद और सफेद भाग दोनों) फांटकर गरम गरम उबलता दूध मिला कर दिया जाय तो सबसे अधिक सुपाच्य और पौष्टिक भोजन है। थोड़ा उबला हुआ अंडा नमक या मीठे के साथ दिया जा सकता है। माखन, मलाई ऐसे ही या इनको उत्तम बिस्कुट या टोस्ट आदि के साथ दे सकते हैं इनके अतिरिक्त आज कल बाजार में Vetapher, Sanatogen, Prountrin, Cerevin Nutrition, Protocasean, Biotola, Farex, आदि कृत्रिम भोजन भी मिलते हैं परन्तु उनसे प्राकृतिक भोजन ही अच्छा है। एक बार डट के खिला देने की अपेक्षा बार बार थोड़ा थोड़ा भोजन देना अच्छा है। आप जैसा चाहें सुविधानुसार भोजन देने का विधान बनालें, नमूने के तौर पर एक विधि नीचे दी जाती है—

७ बजे प्रातः दूध अंडा या ओवलटीन दूध।

१० बजे पूर्वाह्न—भोजन रोगी के इच्छानुसार, सब्जी तरकारी आदि से।

२ बजे अपराह्न—माखन, मलाई, विस्कुट दूध आदि के साथ।

५ बजे सायं—दूध, फल या मांस रस।

७ बजे रात्रि—भोजन इच्छानुकूल।

१० बजे सोते समय—दूध यदि रोगी पी सके तो दे दें। यदि किसी समय रोगी की इच्छा न हो तो समय टाल देना चाहिये और बीच-बीच में या भोजनोत्तर हरा फल खिलाते रहना चाहिये। अनेक बार क्षय के रोगियों में दूध सात्म्य नहीं बैठता, केवल दूध देने से दस्त या पेट में वायु हो जाती है। ऐसी अवस्था में दूध के साथ अंडा मिलाकर देने से अथवा दूध में ओवलटीन, फेरेक्स, कार्न-फ्लेक्स, सागूदाना आदि कोई ऐसी वस्तु मिलाकर देने से दूध पच जाता है। अथवा कई रोगियों में दूध को कुछ उबाल देने से तथा गाढ़ा करने पर दूध पचने योग्य हो जाता है। या दूध में खील, (लावा) चावल, कार्नफ्लोर आदि मिलाकर व पकाकर देने से भी दूध हानि नहीं करता। रोगी के अति क्षीण और दुर्बल होने पर ग्लेक्सो, हार्लेक्समिल्क, अँस्टरमिल्क आदि दूध के स्थानापन्न दिये जा सकते हैं। यह दूध से अधिक सुपाच्य हैं, इनके बनाने की विधि डब्बे के साथ आती है।

खाद्योज 'क' और 'ख' (Vitamins A & D) का प्रयोग इस रोग में विशेष लाभ करता है, विटामिन 'ए' का प्रभाव क्षय कीट पर पड़ता है, तथा 'डी' विटामिन खटिक लवणों को शरीर में लीन करने तथा बिठाने का काम करता है। यह दोनों खाद्योज मच्छी के तेल (Cod Liver Oil) में होते हैं। परन्तु मच्छी का तेल खाने में कठिन होता है। कई रोगियों को तो असात्म्य भी नहीं बैठता है अतः विटामिन 'ए' और 'डी' का प्रयोग ही कराना श्रेयस्कर है। मच्छी के तेल में भी यही दो वस्तुयें हैं जो रोगियों को लाभ करती है ऑस्टेलिन (Ostelin), विगेनटॉल (Vigantol), अडेक्सोलीन (Adexolin), सुपर डी (SuperD), इरेडीन (Iraden) आदि अनेक पेटेन्ट वस्तुयें हैं, जिनमें विटामिन 'A' और 'D' पाया जाता है।

भोजन देते समय इस बात का ध्यान रखे कि रोगी का मनचाहा और प्रेम से खिलाया हुआ भोजन शीघ्र पचता है और भूख बढ़ाता है।

(५) शुश्रुषा—रोगी को सदा प्रसन्न और आशान्वित रखना चाहिये। इस रोग में मरते-मरते भी रोगी को बचने की आशा बनी ही रहती है। अतः वैद्य का कर्तव्य है कि उस आशा को भग्न न होने दे। ऐसे उदाहरण भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं, जिनमें नीचे उतारे हुये क्षय के रोगी बचाये गये हैं या बिना चिकित्सा किये स्वयं अच्छे हो गये हैं। चिकित्सक को स्वयं भी रोगी की ओर से निराश न होना चाहिये।

उसके इतस्ततः सुगन्धित पुष्पादि मनोहारी सामग्री रखनी चाहिये। यद्यपि चिरकाल से रुग्ण रहने के कारण मनुष्य चिड़चिड़ा हो जाता है, तथापि वैद्य एवं परिचारिकों का कर्तव्य है कि उसे प्रसन्न रखने की चेष्टा करें। रोगी के वस्त्र, शय्या आदि सब साफ और सुथरे होने चाहिये। प्रतिदिन उसका अङ्गप्रोच्छन करना चाहिये। यदि रोगी की दशा के प्रतिकूल न हो, तो कभी-कभी कवोष्ण जल से स्नान भी करा देना अच्छा है।

औषधि व शल्य चिकित्सा—आज तक ऐसी कोई भी औषधि का ज्ञान नहीं हुआ जो इस रोग के कीटाणुओं को शरीर के अन्दर मार सके, नवीन आविष्कृत औषधियों में से पेनिसिलीन इस रोग के लिये सर्वथा व्यर्थ है। स्ट्रेप्टोमायसीन का लाभ थोड़ा बहुत होता है परन्तु सब प्रकार के क्षय में नहीं। सार्वत्रिक क्षय, स्वरयंत्र और वायु प्रणाली का क्षय, क्षयज भगन्दर, जननेन्द्रिय और मूत्रेन्द्रिय के अंगों के क्षय में स्ट्रेप्टोमायसीन कुछ अधिक लाभ करता है, तथा शीर्षावरण के क्षय में स्ट्रेप्टोमायसीन ही केवल मात्र एक औषधि है जिससे लाभ हो सकता है, परन्तु राजयक्ष्मा में स्ट्रेप्टोमायसीन से थोड़ा लाभ होता है।

मल्ल—का प्रयोग अनेक रोगियों में लाभ करता है परन्तु इसको

बड़ी सावधानी और दक्षता से प्रयोग में लाना चाहिये, मल्लसार एवं मल्लभस्म की बनाने की विधि और प्रयोगविधि में जो दक्ष हों वही इसका प्रयोग करें।

सुवर्ण योग—आयुर्वेद में राजयक्ष्मा के लिये सुवर्ण के योगों को विशेष महत्त्व दिया गया है उनमें से कुछ एक के नाम नीचे उद्धृत किये जाते हैं :

(१) सुवर्ण बसंत मालती और बसंत मालती लघु। ये अन्त्र क्षय और राजयक्ष्मा दोनों में लाभ करती है।

(२) सर्वांग सुंदर रस।
(३) राजमृगांक रस।
(४) कांचनाराभ्र रस।
} तीनों केवल राजयक्ष्मा के लिये प्रयुक्त होते हैं।

(५) बृहत् लक्ष्मी विलास रस—राजयक्ष्मा की जिस अवस्था में प्रतिश्याय अधिक उपस्थित हो।

(६) जयमंगल रस—राजयक्ष्मा अथवा आंत्रिक क्षय में जब पतले दस्त आते हों तब प्रयुक्त करें।

(७) हेमगर्भरस (यो.र.), चतुर्मुख रस (यो.र.), हेमगर्भ तभी काम आता है जब राजयक्ष्मा के साथ दमा, अपची आदि विद्यमान हों।

(८) चतुर्मुख रस—राजयक्ष्मा के साथ पाण्डुरोग, अपस्मार आदि रोग हों तब प्रयुक्त होता है।

(९) हेमगर्भ पोटली रस—आंत्रिक क्षय और राजयक्ष्मा में जब अतिसार अधिक हो।

(१०) मुक्ता पंचामृत रस—१ रत्ती, सुवर्ण $\frac{१}{८}$ रत्ती मिलाकर दे सकते हैं।

इन सबकी मात्रा आधी से एक रत्ती है, अनुपान-मधु, च्यवन-प्राश, वासावलेह, या अमृतप्राशावलेह में मिलाकर दें, उत्तम यह है कि इनमें

से कोई एक औषधि लेकर उसमें यथावस्था अभ्रक १ रत्ती और निम्नोक्त में से कोई एक चार रत्ती मिलाकर उपर्युक्त अनुपान से सेवन करायें :

(१) शृंगभस्म—जब खांसी ज्यादा हो।

(२) प्रवालपिष्टी—जब रोगी को दाह हो।

(३) श्वेताभस्म—साधारण अवस्था में।

(४) कुलीर अस्थिभस्म—जब पसीना अधिक आता हो।

एलोपैथिक में निम्नोक्त सुवर्णयोग अधिकतर प्रयुक्त होते हैं :

(i) Synocrysin

(ii) Myocrisin

(iii) Salgonal

(iv) Solagn Boleosm

यह सब औषधियां मांसान्तर्गत सूचिवेध द्वारा प्रयुक्त होती हैं, मात्रा अति न्यून ·005 gm or 0·01 ग्राम है। शनैः शनैः मात्रा बढ़ाकर ·4 gm तक ले जाते हैं।

मेरे विचार में इन औषधियों से आयुर्वेदिक सुवर्णयोग अधिक लाभकारी और कम हानिप्रद है। एलोपैथिक योगों को प्रयोग करते समय यह विशेष ध्यान रखना पड़ता है कि वृक्क खराब तो नहीं हैं इनसे वृक्कों के खराब होने की आशंका रहती है।

सुवर्णयोग नवीन एवं प्राचीन दोनों प्रकार के राजयक्ष्मा के रोगियों में प्रयोग कर सकते हैं। वक्ष में वायुप्रवेश की चिकित्सा के साथ-साथ तथा अन्य शल्य चिकित्सा के साथ सुवर्णयोग विशेष लाभ करते हैं।

खटिक लक्षण:—राजयक्ष्मा के रोगी को स्वस्थ पुरुष तथा अन्य रोगियों की अपेक्षा खटिक लवणों की अधिक आवश्यकता होती हैं। खटिक लवण कई प्रकार से दिये जा सकते हैं। एतदर्थ आयुर्वेद में निम्नोक्त औषधियों का प्रयोग होता है।

प्रवालभस्म, प्रवालपिष्टि, शृंगभस्म, शंखभस्म, मुक्ताशुति-भस्म, कुलीरास्थिभस्म, कपर्दिकाभस्म, आदि।

मात्रा २ से ४ रत्ती।

इनके अतिरिक्त प्रवालपञ्चामृत, सुधा-षटक भी एतदर्थ युक्त होते हैं। इसकी मात्रा ३-४ रत्ती। मुक्ताभस्म भी प्रयोग में लाते हैं, किन्तु अधिक बहुमूल्य होने से, बहुत काल तक इसका सेवन करना पड़ता है, अतः अधिक धनवान ही इसका प्रयोग कर सकते हैं, निःसन्देह यह अन्य खटिक भस्मों की अपेक्षा अधिक उपयोगी है, परन्तु बहुत अधिक नहीं।

एलोपैथिक में केल्शियम को प्रायः विटामिन 'ए' और 'डी' के साथ देते हैं। एतदर्थ अनेक औषधियाँ बाजार में मिलती हैं। यथा—

(i) Osteocalcium (Glaxo)
(ii) Colloidal Calcium with Ostelin (Glaxo)
(iii) Polyvit Calcie (Bengal Chemical)
(iv) Cal. De-Vit (Wander)
(v) Calsid (Bengal Chemical)
(vi) Calcium with Vitamim D. or Collaid Collosol (Crooks B. I. & etc.)
(vii) Colezol (B. R. B.)

इनके अतिरिक्त केवल केल्शियम के योग, यथा—

(i) Calcima (Cipla)
(ii) Kalzana (Wulfig)
(iii) Calcinol (Rapt.)
(iv) Kalzium (P. C. W.)
(v) Calcisol (C. D. C.)

केवल केल्शियम ग्लुकोनेट अथवा केल्शियम-लेक्टेड टेबलेटस

ग्रेन ५, २–२ गोली दिन में ३ बार देवें। इनके अतिरिक्त केल्शियम ग्लूकोनेट १०% का इंजेक्शन भी प्रयुक्त होता है—मात्रा १० सी. सी. प्रतिदिन या प्रति दूसरे दिन।

स्ट्रेप्टोमायसीन (Streptomycin)—इसका ब्योरा संक्रमण की विशेष चिकित्सा अध्याय ८ में कर आये हैं। १ ग्राम एक बार दिन अथवा ०.५ ग्राम दो बार दिन में। १॥ मास से अधिक प्रयोग न करे अधिक प्रयोग से यह प्रभावहीन हो जाता है।

आगे लिखी शल्य चिकित्सा के साथ-साथ इसका प्रयोग अत्यन्त लाभकारी है।

पास चिकित्सा—Pas=Para—Amino—Salicylic Acid मात्रा—२ से ४ ग्राम, दिन में ३—४ बार। इस औषधि का प्रयोग ३—४ महीने कर सकते हैं, प्रायः ३ ग्राम ३-३ घंटे बाद, दिन में ४-५ बार देने से ही लाभ होता है। इस औषधि से पूर्ण रोग शान्ति तो नहीं होती परन्तु रोग शान्ति में यह औषधि बहुत सहायता देती है, इसे अन्य औषधियों तथा विशेष चिकित्सा के साथ भी प्रयोग कर सकते हैं। यह औषधि १९४३ में आविष्कृत हुई थी तब से इसका प्रयोग क्षयरोगों में किया जा रहा है। यह मालूम हुआ है कि यह राजयक्ष्मा में बहुत ही लाभदायक है, ज्वर कम हो जाता है, खांसी भी कम हो जाती है, भूख लगने लगती है, और वजन भी बढ़ने लगता है। एक्स-रे द्वारा भी लाभ मालूम होता है।

कैलशियम और पास दोनों इकट्ठे भी मिलते हैं।

आईसोनियोजिड (Iso Neozid) २००-३०० मिलिग्राम (५० मिलिग्राम ४-६ गोली) २-३ या ४ बार करके।

यह पास और कैलशियम तीनों के या दो दो के योग मिलते हैं।

जीर्ण राजयक्ष्मा, सौत्रिक तन्तुमय राजयक्ष्मा, गण्डमाला, अस्थिक्षय, संधिक्षय तथा उपद्रवयुक्त राजयक्ष्मा में यह औषधि बेकार है।

इन सबका यदि पृथक पृथक प्रयोग किया जाये, तो कुछ काल बाद इनका प्रभाव जाता रहता है। अलबतः इनको साथ-साथ प्रयोग पर इन सबका प्रभाव बना रहता है।

ट्यूबरकुलीन चिकित्सा—(Tuberculin Treatment)

कई प्रकार की ट्यूबरकुलीन वैक्सीन प्रयुक्त होती हैं, इनकी मात्रा अतिन्यून .००००० २ gm है और क्रम से बढ़ती जाती है, इनका प्रयोग वहीं लाभदायक होता है जहां क्षय बहुत दिनों से वर्तमान हो यथा—अपची, गण्डमाला, सन्धिक्षय आदि। वस्तुतः इनमें भी लाभ सन्दिग्ध ही है। ट्यूबरकुलीन यदि सावधानी से प्रयुक्त नहीं की जाय तो हानि होने की सम्भावना होती है।

नोटः—ट्यूबरकुलीन का प्रयोग रोगनिदानार्थ अधिक होता है। (देखें रोग निदानपृष्ठ ३३०)।

हाल ही में एक विशेष प्रकार की ट्यूबरकुलीन वैक्सीन का जिसको बी. सी. जी. (Bacilli Calmette Guerin) कहते हैं आविष्कार हुआ है, यह राजयक्ष्मा के आक्रमण से बचाने के लिये विशेष लाभकारी है, यह पशुओं के क्षय-कीट से बनाई जाती है। इसके प्रयोग से पहले रोगी का ट्यूबरकुलीन टेस्ट (Von Pirquet Test & etc.) द्वारा यह निश्चय कर लेना चाहिये कि रोगी में गुप्तरूप से या पूर्व से ही क्षय-कीट विद्यमान तो नहीं है। जब गुप्तरूप से क्षय न हो, तब बी. सी. जी. के देने से लाभ होता है और राजयक्ष्मा नहीं होने पाता, अन्यथा यदि गुप्तरूप से राजयक्ष्मा का अंश-मात्र भी शरीर में विद्यमान हो तो बी. सी. जी. के देने से क्षय बलवान हो जाता है। अतः बी. सी. जी. से क्षय रोग से रोग-क्षमता केवल बच्चों में करना चाहिये, क्योंकि बढ़ी अवस्था में तब-तक कभी-न-कभी क्षय कीट प्रवेश कर चुका होता है। आजकल समूह रूप में इसका प्रयोग हो रहा है इसके प्रयोग से पहले यह देख लेना जरूरी है कि उस बच्चे के अन्दर क्षय का अंश तो नहीं है।

शल्य चिकित्सा—शल्य चिकित्सा का अभिप्राय यह होता है कि फुफ्फुसों को संकुचित कर अकर्मण्य कर दिया जाय, अकर्मण्य अवस्था में क्षय-कीट मर जाते हैं तथा रोग-प्रसार नहीं कर पाते। फुफ्फुसों को संकुचित करने के निम्नलिखित उपाय हैं :

(१) वक्ष में वायु का प्रवेश --Artificial Pneumothorax इसमें बाहर से वायु प्रवेश कर फुफ्फुस को संकुचित करते-करते इतना संकुचित किया जाय कि वह ठोस पिंड सा रह जाय और अकर्मण्य हो जाय।

आजकल इसी चिकित्सा पर बहुत जोर है। इसका प्रयोग रोग के आरम्भ में करना चाहिये विशेषकर जब रोग शीघ्रता से बढ़ रहा हो और एक ही फुफ्फुस में सीमित हो। तथा जब फुफ्फुसावरण में तरल भरा हो अथवा शोथ हो तथा उरःक्षत (रक्तष्ठीवन) में भी इसके प्रयोग से लाभ होता है।

इस चिकित्सा का निषेध निम्नोक्त अवस्था में है :

(१) जब दोनों फुफ्फुसों में रोग उपस्थित हो।

जब रोग एक फुफ्फुस में ज्यादा हो और दूसरे फुफ्फुस में कम हो तो रुग्ण ओर की फुफ्फुस में वायु भरी जा सकती है।

(२) फुफ्फुसावरण की दोनों तहें आपस में जुड़ी हुई हों—तब वायु भरती ही नहीं।

(३) जब रोगी श्वास से पीड़ित हो।

(४) जब रोगी अति कोमल स्वभाव वाला हो।

इस चिकित्सा में रुग्ण पार्श्व के फुफ्फुसावरण में विशेष यन्त्र द्वारा वायु भरी जाती है। भरते समय विशेष सावधानी रखनी पड़ती है। यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि वायु कितनी भरी जानी चाहिये, प्रायः एक बार में ३०० सी. सी. वायु से अधिक न भरनी चाहिये। रोगी की अवस्था अनुसार दूसरे या तीसरे दिन पुनः वायु भर सकते

हैं। तत्पश्चात् हर तीन दिन बाद कई सप्ताह तक भरते रहें, जब तक फुफ्फुस हवा के दबाव से समयकत्या सिकुड़ नहीं जाता इसका एक्स-रे द्वारा ज्ञान करते रहें। फिर १-१ सप्ताह के बाद, फिर १०-१० दिन के बाद, फिर २-२ सप्ताह बाद, फिर ३-३ सप्ताह बाद, इसके बाद ४-४ सप्ताह बाद, इसी प्रकार यह क्रम २-३ साल तक जारी रखा जाता है। फुफ्फुसों को संकुचित अवस्था में अर्थात् अकर्मण्य अवस्था में तीन साल तक रखना पड़ता है। कितनी वायु से आरम्भ करना चाहिये और कितनी वायु प्रति बार देनी चाहिये और किस प्रकार समय बढ़ाते जाना चाहिये यह सब बातें फुफ्फुसावरण में स्थित दबाव (Pressure) पर निर्भर होती है। समय समय पर एक्स-रे (X-Ray) कराकर फुफ्फुसों की अवस्था देखनी चाहिये कि वह कितने संकुचित हो चुके हैं।

(२) वक्ष में तेल भरना—(Oleothorax) शुद्धकीट रहित जैतून का तेल (Olive Oil) या तरल पैराफीन आवश्यकतानुसार फुफ्फुसावरण में भरते हैं। वस्तुतः यह एक पृथक चिकित्सा नहीं प्रत्युत उपरोक्त की सहायक चिकित्सा है। जब वक्ष में वायु प्रवेश से फुफ्फुस संकुचित हो जायें तब उनकी संकुचित अवस्था के रखने के लिये इसका प्रयोग होता है। अथवा इसका प्रयोग तब किया जाता है जब वायु प्रवेश चिकित्सा काल में फुफ्फुसावरण जुड़ने लग जायें, तथा जब दोनों फुफ्फुसों के मध्य में रहने वाली वक्ष-मध्यस्थ कला चल हो जाय और वायु भरने से वह दूसरी ओर सरती जाय। जैतून का तेल या द्रव पैराफीन को उचित मात्रा में समयान्तर से देते रहते हैं। आरम्भ में इसका प्रभाव देखने के लिये २ से ५ सी. सी. का इंजेक्शन देते हैं। यदि रोगी सहन कर सके तो शनैः शनैः बढ़ाकर २०० सी. सी. तक ले जाते हैं।

(३) उदर कला में वायु का भरना-(pneumo-Peritonium)-जैसे फुफ्फुसावरण में हवा भरते हैं उसी प्रकार उदरकला में भी वायु भरते

हैं, और उसी प्रकार क्रम पूर्वक समयान्तर से भरते हैं। इससे वक्षोदर मांसपेशी ऊपर को उठती है और फुफ्फुस को संकुचित करती है। इसके साथ यह जरूरी है कि वक्षोदर-मध्यस्थ-मांसपेशी की नाड़ी का विदारण या निष्पीड़न कर दिया जाय, इस क्रिया के बिना उदर में वायु प्रवेश का कोई लाभ नहीं।

(४) वक्षोदरमध्यस्थ मांसपेशी की नाड़ी का विदारण या निष्पीड़न (Evulsion or Crushing of the Phrenic nerve) शल्य क्रिया द्वारा वक्षोदर मध्यस्थ-मांसपेशी की नाड़ी जब ग्रीवा में आ जाती है तो उसको काट देते हैं अथवा उसका कुछ भाग काटकर निकाल देते हैं, इससे वक्षोदरमध्यस्थ मांसपेशी सदा के लिये अकर्मण्य हो जाती है। परन्तु उत्तम यह है कि नाड़ी को निकलाकर उसका निष्पीड़न कर दिया जाय। निष्पीड़न करने से ६ मास तक मांसपेशी अकर्मण्य रहती है, पुनः शनैः शनैः कार्य करने लगती है। इस क्रिया से भविष्य में अन्य शल्य क्रिया करने में बाधा नहीं पड़ती। वस्तुतः आजकल नाड़ी निष्पीड़न ही अधिक प्रयुक्त होता है।

(५) शल्य क्रिया द्वारा पार्श्व अस्थियां काटकर निकाल दी जाती हैं—इसको (Thoraco-plasty) कहते हैं। इस क्रिया द्वारा एक ओर की ऊपर की ५, ६, ७, या इससे भी ज्यादा पार्श्व अस्थियाँ निकाल दी जाती हैं प्रत्येक अस्थि का ३ या ४ इंच टुकड़ा निकाला जाता है। इससे फुफ्फुस सदा के लिये संकुचित हो जाता है। उपर्युक्त विधियों के न हो सकने पर ही इसका प्रयोग होता है।

लाक्षणिक चिकित्सा—राजयक्ष्मा की वास्तविक चिकित्सा के साथ-साथ उन लक्षणों की चिकित्सा भी करनी आवश्यक होती है जो रोगी में लक्षण रूप से अथवा उपद्रव रूप से उपस्थित हों, उनमें से अधिकतर निम्नोक्त पाये जाते हैं:

(१) दुःखदायक कास तथा श्वास।

(२) अधिक स्वेद ।
(३) क्षुधामान्द्य ।
(४) अतिसार ।
(५) हाथ पैरों का दाह ।
(६) रक्तष्ठीवन ।

इनके अतिरिक्त स्वरभेद, हिक्का, अपची, फ्लुरसी, आदि बहुत से उपद्रव हैं जो वस्तुतः अन्य क्षय के स्वरूप हैं। वे उपद्रव रूप से अथवा अज्ञात कारणों से राजयक्ष्मा के सहगामी हो जाते हैं। इनकी चिकित्सा रोगानुसार करनी चाहिये।

(१) दुःखदायक कास—राजयक्ष्मा में आरम्भ के दिनों को छोड़कर शुष्क कास बहुत कम होती है, जब होती है तब प्रायः बहुत अधिक होती है। पहले यह जानने की कोशिश करें कि कास होने का कारण क्या है, यथा—कण्ठशोथ आदि। यदि कारण ज्ञात हो जाये तो उसकी चिकित्सा करनी चाहिये।

पूर्व पृष्ठों में लिखे अनुसार तीव्र कास की चिकित्सा करें। यह स्मरण रहे, ऐसे रोगियों में पेट भर भोजन करने से कास अधिक होती है। अतः भोजन बार-बार सुपाच्य एवं मृदु तथा अल्प अल्प मात्रा में देना चाहिये।

जब कास श्लेष्मायुक्त हो और अधिक हो तो इसका कारण प्रायः फुफ्फुसों में कोटर की स्थिति होती है। यदि कोटर ऊपर हो और मुख नीचे हो तो श्लेष्मा बन बन कर कोटर के मुख से सदा थोड़ी-थोड़ी निकलती रहती है मुख पर स्थानिक शोथ पैदा कर देती है जिसके कारण कास बनी रहती है। अब यदि रोगी के पार्श्व बदलने पर कोटर का मुख ऊपर हो जावे तो श्लेष्मा वहाँ संचित रहेगी और कास नहीं होगी। जब कोटर संपूर्ण श्लेष्मा से भर जाता है तो एक बार खांसी आकर सारी श्लेष्मा निकल जाती है। रोगी को

स्वयं शांति प्रतीत होती है। रोगी अनुभव से सदा उसी पार्श्व सोते हैं, तब चिकित्सक तक यह शिकायत पहुंचती ही नहीं। कभी-कभी कोटर की स्थिति ऐसी होती है कि उसका मुख सदा ऊपर की ओर रहता है तब कास बनी रहती है कुछ हो नहीं पाता। यदि यह कारण न हो तो सम्भवतः रोगी की वायु-प्रणाली विस्तृति अथवा वायु कोष्ठ विस्तृति होती है। जिससे कास बनी रहती है और श्लेष्मा निकलती रहती है, अतः उनका यथा शक्ति उपचार करना चाहिये।

जीर्ण सौत्रिक तन्तुमय राजयक्ष्मा में कास सर्वदा बनी ही रहती है, कास प्रायः श्लेष्मा युक्त होती है। कभी-कभी बहुत दुःखदायी होती है। चिकित्सा से कास में विशेष लाभ नहीं होती। रोग शान्त होने पर कास भी शान्त हो जाती है।

अधिक स्वेद—कुसमय स्वेद का आना राजयक्ष्मा का कारण है परन्तु अधिक स्वेद आना अच्छा नहीं होता, इस उपद्रव के लिये यशदभस्म ½–१ रत्ती, अथवा इसके साथ कुलीर आस्थिभस्म ४ रत्ती मिलाकर देते हैं। इनसे अच्छा लाभ होता है।

क्षुधामान्द्य—यदि रोगी आरम्भ से ही सावधान रहे तो उसे क्षुधामान्द्य का उपद्रव नहीं होता। क्षुधामान्द्य को रोकने के लिये और अपचन के लिये भोजन सुपाच्य और मृदु तथा अल्प-अल्प और बार-बार देना चाहिये। अग्निमान्द्य व क्षुधामान्द्य हो जाने पर दीपक, पाचक औषधियां देनी चाहिये। यथा (१) लवणभास्कर में अग्नितुण्डी या विषमुष्टी वटी या अग्निकुमार रस (भै० र०) मिलाकर देना चाहिये (२) सर्वतोभद्ररस १–२ गोली दिन में ३--४ बार देवें अथवा (३) चित्रकादि वटी या चित्रकादि चूर्ण भी प्रयोग कर सकते हैं।

अतिसार—यह देखें कि अतिसार अन्त्रक्षय के कारण से है या अन्य किसी रोग के कारण तो नहीं है यदि यही कारण हो तो उसकी चिकित्सा करनी चाहिये, अन्यथा इसका कारण भोजन का गुरु और

दुष्पाच्य होना है। अतः भोजन की व्यवस्था ठीक करें, इस अवस्था में साधारण औषधि यथा शंखवटी, हिंग्वाष्टक चूर्ण, सिद्धप्राणेश्वर रस, बिल्वादिचूर्ण देने से लाभ होता है अत्यधिक अतिसार की अवस्था में गंगाधर चूर्ण २ से ३ माशा, गंगाधर रस या कर्पूरेश्वर रस १ रत्ती की मात्रा से दें, आवश्यकता हो तो महागन्धक २ रत्ती और शंखभस्म ४ रत्ती मिला करके दें। अन्त्र क्षय अधिकार के अन्त्रशोषान्तकरस, जयमंगल रस, हेमगर्भ पोटली रस भी पर्याप्त लाभ करती हैं। भोजन सुपाच्य और मृदु होना चाहिये।

हाथ पैर की जलन—यह भी इस रोग का साधारण लक्षण है किन्तु जब यह लक्षण ज्यादा हो जावे तो मुक्ताभस्म, प्रवालभस्म, शुक्तिभस्म, श्वेताभस्म आदि देने चाहिये। शतधौत घृत अथवा नवनीत में मधुयष्टि चूर्ण मिलाकर हाथों पर लगा दें तथा ऊपर से केले के पत्ते बांध दें।

रक्तष्ठीवन—का प्रधान कारण राजयक्ष्मा है। रक्तष्ठीवन सब रोगियों में नहीं होता, किसी-किसी में होता है। कभी-कभी तो रोगी अन्यथा स्वस्थवत् दीखता है, उसमें राजयक्ष्मा का कोई स्पष्ट लक्षण नहीं होता केवलमात्र एक यही लक्षण होता है, जिससे ही गुप्त राजयक्ष्मा का ज्ञान होता है। रक्तष्ठीवन को बन्द करने के लिये निम्नोक्त औषधियां प्रयुक्त करते हैं :

१. कोयेगुलम सीबा (Coagulam Ciba)

२. हीमोस्टेटिक सीरम (Haemostatic Serum)

३. हीमोप्लास्टीन (Hemoplastin)

४. विटामिन के (Vitamin K) २५-५० मिलिग्राम के इंजेक्शन।

५. शुद्धलाक्षा का चूर्ण, समभाग गोदन्तिभस्म मिलाकर, माखन में अथवा उबालकर ठण्डे किए हुए दूध के साथ दिन में २-३ बार प्रयोग करायें।

६. नागकेशर योगः—असली नागकेशर १ भाग, और खून-खराबा

(यूनानी दम-उल-अखवेन) एक भाग दोनों का कपड़छान चूर्ण को ३ मा० दिन में ३-४ बार दें, शेष चिकित्सा वही है जो आन्त्रिक ज्वर में मल में रक्तआने की लिखी है (देखें पृष्ठ २३८)।

आन्त्रिक क्षय

बालकों में क्षय-पीड़ित गाय के दूध से तथा बड़ों में राजयक्ष्मा के रोगी के अपना थूक निगल जाने के कारण से होता है। उदरकला क्षय या उदरकला ग्रन्थि-क्षय में कभी-कभी क्षय-कीट आन्त्र की दीवार को लांघकर अन्त्र में क्षय उत्पन्न कर देता है। क्षुद्रान्त्र का अन्तिम भाग और बृहदन्त्र का प्रारम्भिक भाग ही प्रायः प्रभावित होता है। अन्त्र में ग्रन्थियां बन जाती हैं जो मृदु होकर फट जाती हैं, और वहां व्रण बन जाते हैं वहाँ से पूय, स्रावादि मल द्वारा बाहर निकलने लगते हैं। ये व्रण इतस्ततः या दीवार के भीतर की ओर फैलते जाते हैं, यदि कोई धमनिका आदि व्रण में आकर फट जाय तो उससे रक्तस्राव होने लगता है अथवा जब व्रण बढ़कर अन्त्र की सारी दीवार को लांघकर उदरक कला में पहुँच जाय तो उसमें शोथ उत्पन्न कर देता है।

लक्षण—रोग बढ़ जाने पर ज्वर, क्षीणता, तीव्र नाड़ी आदि यक्ष्मा के सामान्य लक्षण स्पष्टतया दीखते हैं तथा अनियमित मल उतरता है कभी अतिसार, कभी प्रवाहन, कभी विबन्ध, परन्तु आरम्भ में लक्षण अस्पष्ट से होते हैं, केवल मलबद्धता और उदरशूल होता है। किसी-किसी रोगी में उपान्त्रशोथवत् (अपेण्डिसाईटिस) उदरशूल के वेग होते रहते हैं, यह वेग उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं, शीघ्रता से होने लगते हैं और चिरकाल तक रहते हैं। कुछ कालान्तर में आन्त्रिक क्षय के लक्षण यथा ज्वर, क्षीणता, अनियमित मल (अतिसार) आदि उपस्थित हो जाते हैं। जब ग्रन्थियों के फटने से व्रण बन जाते हैं तो अतिसार बना रहता है और कभी-कभी प्रवाहन भी होता है। अणुवीक्षण परीक्षा

से मल में क्षय कीट देखे जा सकते हैं। उदर उभरा हुआ व दबाने से पीड़ा युक्त होता है। उदरस्थ लसीका ग्रन्थियाँ बढ़ी हुई प्रतीत होती हैं।

उपद्रव—(१) व्रण के बढ़ते-बढ़ते आन्त्र को पार कर देने से उदर-कला शोथ के होने का भय रहता है। परन्तु रोग जीर्ण होने के कारण व्रण की इतस्ततः उदर-कला जुड़ जाती है तथा व्रण फटने पर भी शोथ सारे उदर-कला में न फैलकर सीमित रहता है, वहीं पर ही विद्रधि बनने का भय रहता है।

(२) व्रण में रक्त वाहिनी के आ जाने के कारण मल में रक्त आने लगता है। साधारणतया यह लक्षण भयानक रूप प्रगट नहीं करता।

(३) आन्त्रिक क्षय से उदरकला-ग्रन्थि शोथ हो जाती है।

चिकित्सा—सामान्य चिकित्सा वही है जो राजयक्ष्मा में लिखी जा चुकी है। अतिसार की भी वही चिकित्सा है जो राजयक्ष्मा के उपद्रव स्वरूप अतिसार में लिख आये हैं। जब आन्त्रिक क्षय राजयक्ष्मा का उपद्रव स्वरूप हो तो उसे असाध्य समझना चाहिये। जब मल में रक्त आने लगे तो रक्तष्ठीवन के समान चिकित्सा करें।

उदरकला क्षय

कारण—क्षय रोगों से मरने वाले रोगियों में १५% रोगी इसी से मरते हैं। यह रोग शिशु अवस्था में बहुत कम होता है ३० वर्ष की आयु के बाद भी बहुत कम होता है, प्रायः ३ से २० वर्ष की आयु के अन्दर ही होता है। क्षय कीट प्रायः अन्त्र की दीवार से लसीका वाहिनी द्वारा उदर कला में पहुँचकर रोग उत्पन्न करते हैं। अनेक बार क्षयकीट अन्त्र में रोग उत्पन्न न करके उदरकला में पहुँच जाते हैं, कभी ऐसा भी होता है कि क्षय कीट आन्त्र से लसीकाग्रन्थि में पहुँचकर वहीं रोग उत्पन्न कर देता है। वहाँ से उदर कला में पहुंचता है। कभी-कभी क्षयकीट क्षययुक्त अण्डकोश, प्रोस्टेट-ग्रन्थि, शुक्राशय, अथवा

डिंबग्रन्थि द्वारा अथवा कभी-कभी फुफ्फुसों से भी यह रोग सरकर उदरकला में पहुँच जाता है ।

सम्प्राप्ति—उदरकला क्षय तीन रूपों में पाया जाता है :

(१) जलोदर के रूप में सारी उदरकला में स्थान-स्थान पर अति अति सूक्ष्म-सूक्ष्म ग्रन्थियां बन जाती हैं। रोग की तीव्र अवस्था में उदरकला में सर्वत्र यह ग्रंथियां पाई जाती हैं। उदरकला में तरल भर जाता है। जीर्ण रोग में यह ग्रन्थियां बड़ी होती हैं और उदर कला की दीवार को जगह-जगह पर जोड़ देती हैं।

(२) रोग उदरकला में सर्वत्र न होकर परिमित स्थान में होता है। उस स्थान के इतस्ततः उदर की दीवार जुड़ी रहती है तथा थैली सी बन जाती है उसमें तरल भर जाता है। अनेक बार कई स्थान पर रोग होने के कारण अनेक थैलियां बन जाती हैं।

(३) इसमें तरल नहीं होता, ग्रन्थियों से तरल नहीं निकलता यदि निकलता भी है तो गाढ़ा होता है और निकलते ही जम जाता है परिणामतः सारी उदरकला जुड़ जाती है, उदरस्थ अंग गुच्छे से बनकर रह जाते हैं।

इस रोग में उदरस्थ लसीका ग्रन्थियां बढ़ जाती हैं, कभी-कभी बढ़कर फट जाती हैं। फटने पर वहां नासूर (नाड़ी व्रण) बन जाते हैं।

लक्षण—कभी-कभी तो रोग गुप्त रहता है। आपरेशन करते समय उदरकला के परीक्षण से इसका ज्ञान होता है रोगी शनैः शनैः क्षीण और दुर्बल होता जाता है, क्षुधा मंद पड़ जाती है, ताप धीरे-धीरे बढ़ता जाता है। प्रायः कोष्ठबद्धता रहती है। किसी-किसी में अतिसार होता है। रोग की तीव्रता में ज्वर तीव्र होता है और थोड़े ही दिनों में उदर में तरल भरकर जलोदर प्रतीत होने लगता है। क्षय कीट से उत्पन्न होनेवाले जलोदर रोग में जलोदर का तरल स्वच्छ होता है और बाहर निकालने पर जम जाता है। कभी-कभी तरल में पूय या रक्त

होता है। तरल में क्षय कीट होते हैं किन्तु बहुत कम, उनकी उपस्थिति अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा नहीं देखी जा सकती अपितु केवल मात्र गिनिपिग के उदरकला में इंजेक्शन करने से इसका ज्ञान होता है वहाँ पर क्षयज ग्रन्थियाँ बन जाती हैं।

जीर्ण अवस्था में तरल नहीं बनता या बने भी तो बहुत थोड़ा बनता है। उदरकला में स्थान-स्थान पर व्रण होते हैं और वह जुड़ जाते हैं। टटोलने पर अन्त्र की दीवार में ग्रन्थियाँ मालूम होती हैं। दण्डक (Mesentry) शोथ युक्त होने के कारण सिकुड़ी सी प्रतीत होती है। इन व्रणों से अथवा ग्रन्थियों के फट जाने पर स्थान-स्थान पर कभी-कभी विद्रधियां सी बन जाती हैं।

जब अन्य स्थान का क्षय भी साथ हो तो उनके लक्षण भी उपस्थित होते हैं, उनमें यह रोग छिप जाता है।

रोग मीमांसा—रोग के आरम्भ में जलोदर के अभाव से रोग पहचानना अत्यन्त कठिन होता है। जलोदर की अवस्था में तरल की परीक्षा करने से रोग मीमांसा जल्दी स्पष्ट हो जाती है। बाल्यावस्था में जलदोर की उपस्थिति प्रायः क्षय के कारण से होती है। उदर में ग्रन्थियां प्रतीत होना, स्थान-स्थान पर दण्डक (Mesentry) का सिकुड़ा हुआ होना, स्थान-स्थान पर तरल का होना तथा ज्वर इसी रोग के द्योतक हैं।

रोग परिणाम—आरम्भ में अर्थात् जलोदर की अवस्था में सम्यक उपचार से रोग-शान्ति की सम्भावना हो सकती है किन्तु तीव्रावस्था में जब ज्वर अधिक हो, क्षीणता बढ़ गई हो, न बन्द होनेवाला अतिसार हो तो रोगी हाथ से निकल जाता है। यदि अन्य स्थानों का क्षय रोग भी हो तो भी परिणाम अनभीष्ट होता है यदि विद्रधि फट जाय तो भी रोगी का बचना असंभव है।

चिकित्सा—जब तक रोग पूरी तरह शान्त न हो जाय रोगी को खुली हवा में लिटाये रखें। इसमें पेट पर सूर्य रश्मियों के डालने से और पराकासनी रश्मियों (Ultra Voilet Rays) के डालने से बहुत लाभ होता है। मालिश कभी न करें, आहार और औषधियों के वही नियम हैं जो राजयक्ष्मा की साधारण चिकित्सा में लिख आये हैं।

गण्डमाला-अपची

क्षयकीट रुग्ण-गलग्रन्थियों से अथवा विकृत दांतों से लसीका-ग्रन्थियों में जाकर क्षय गण्ड पैदा करते हैं, इससे वे बढ़ जाती हैं। इसी प्रकार उदरस्थ तथा अन्य स्थान की ग्रन्थियाँ भी सूज सकती हैं।

यह रोग प्रायः बच्चों को या नवयुवकों को होता है। आरम्भ में ग्रन्थियों के बढ़ी हुई होने के अतिरिक्त अन्य कोई विशेष लक्षण नहीं होते। परन्तु शनैः शनैः मन्द ज्वर होने लगता है, रोगी क्षीण होता जाता है और अनियमित स्वेद आने लगता है। बढ़ी हुई ग्रन्थियाँ जो पहले पृथक-पृथक होती हैं परस्पर मिल जाती हैं और शनैः शनैः बढ़कर फट जाती हैं। तब इस अवस्था को "अपची" कहते हैं। इस अवस्था में नाड़ीव्रण बन जाते हैं, उनसे सदा स्राव बहता रहता है, कभी स्राव कम हो जाता है और कभी अधिक, कभी बीच-बीच में बन्द भी हो जाता है। अनेक बार ऐसे ही कई नाड़ी व्रण बन जाते हैं। प्रथम अवस्था में औषधियों से आराम आने की बहुत सम्भावना है अपची बन जाने पर ऑपरेशन ही करवाना चाहिये।

वक्तव्य—इसी प्रकार अन्य स्थानों के लसीका ग्रन्थिसमूह बढ़ जाते हैं।

वक्षस्थ लसीका ग्रन्थियों की वृद्धि—इनमें क्षय कीट श्वास मार्ग द्वारा पहुँचते हैं। यह प्रायः बच्चों को होती है विशेषकर जिन्हें जीर्णकास हो, यथा रोमांतिका और काली खांसी की जीर्ण कास में।

ग्रंथियों के बढ़ जाने पर मन्द-मन्द ज्वर आने लगता है, रोगी

क्षीण हो जाता है, अनियमित स्वेद आने लगता है, इस रोग में विशेष लक्षण शुष्क खांसी होती है। बढ़ी हुई ग्रन्थियों के श्वास मार्ग पर दबाव डालने पर ही खांसी आती है। जब खांसी और उपर्युक्त लक्षण हों तो एक्सरे (X-ray) द्वारा रोग निश्चय करें। एक्स-रे से ही ग्रन्थियों की वृद्धि का ज्ञान होता है, निदान का दूसरा उपाय कोई नहीं।

उदरस्थ लसीका ग्रन्थियों की वृद्धि—इनका वर्णन आन्त्रिक और उदरकला क्षय में आ चुका है। इनमें क्षय-कीट आन्त्र से अथवा उदर कला से पहुँचते हैं।

लक्षण—पहले तो अस्पष्ट होते हैं। बाद में अनियमित मन्द ज्वर, क्षीणता, अनियमित स्वेद, आदि लक्षण प्रगट हो जाते हैं, पहले कोष्ठ-बद्धता, बाद में अतिसार, तथा आधमान रहता है। उदर में प्रायः नाभी के इतस्ततः ग्रन्थियां बढ़ी हुई प्रतीत की जा सकती हैं।

वक्षस्थ, उदरस्थ अथवा अन्य किसी जगह तथा कक्षावंक्षण आदि की लसीका ग्रंथियां क्षय के कारण बढ़ सकती हैं। पहले गण्डमालावत् वे ग्रंथियां बढ़ी हुई और पृथक् पृथक् होती हैं, बाद में मिल जाती हैं। और अन्दर से गलकर फट जाती हैं। गण्डमाला और अपची के फटने पर उनका स्राव बाहर निकलता है, परन्तु वक्षस्थ तथा उदरस्थ ग्रंथियों के फटने पर उनका स्राव अन्दर ही अन्दर बहता है। कभी-कभी उदर की ग्रन्थियां भी बाहर की ओर फट सकती हैं।

चिकित्सा—इसकी सामान्य चिकित्सा राजयक्ष्मावत् ही है—खुली हवा, पौष्टिक-आहार, विश्राम आदि। ग्रंथिक्षय पर सूर्य्य की रश्मियां, पराकासनी रश्मियें (Ultra Voilet Rays) विशेष लाभ पहुँचाती हैं। इसकी चिकित्सा की विधि (Ultra Voilet Rays) के यन्त्रों के साथ आती है। ग्रंथियों के स्थान के ऊपर कृत्रिम (Artificial) रेशमी कपड़ा डालकर सूर्य-रश्मियां वहाँ पड़ने दें, पहले दिन ५ मिनट, फिर शनैः शनैः बढ़ाकर आधे घण्टे तक ले जाएँ। इससे वही अभिप्राय

सिद्ध होता है जो पराकासनी रश्मियों (Ultra Voilet Rays) से। यदि पूय पड़ जाय तो पिचकारी द्वारा चूसन कर लेना चाहिए। अच्छा तो यह है कि जब ग्रंथियाँ बढ़ जायँ या गल जायँ तो उनको फटने से पहले ही शल्य क्रिया द्वारा निकाल देना चाहिये, या चूसन क्रिया से पूय निकालकर साधारण क्षय की चिकित्सा करनी चाहिये इसके लिये विशेष औषधि गण्डमाला कुंडन रस, कांचनार-गुग्गुल, कैशोरगुग्गुल, हैं। आजकल स्ट्रोप्टोमायसीन का प्रयोग होता है, परन्तु लाभ संदिग्ध है।

क्षयज शीर्षावरणशोथ

शीर्षावरण में क्षयरोग के कीट पूर्व उपस्थित अन्य क्षय पीड़ित स्थान से रक्त द्वारा ही आते हैं, यथा उदरस्थ लसीका ग्रंथि क्षय, अस्थि क्षय, राजयक्ष्मा आदि। विरल रोगी में क्षय पीड़ित स्थान के आपरेशन के समय क्षय कीट रक्त में मिलकर यह रोग पैदा कर सकते हैं वैसे तो यह हर आयु में पाया जाता है, परन्तु अधिकतर बाल्यावस्था में २ से ३ वर्ष की आयु में होता है। ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती जाती है इस रोग के होने की सम्भावना भी कम होती जाती है।

शीर्षावरण तीन होते हैं—(१) बाह्य (२) मध्य और (३) अन्तस्थ आवरण। इस रोग में मध्य और अन्तस्थ आवरण ही प्रभावित होते हैं, उनमें सर्वत्र असंख्य, सूक्ष्म क्षयगण्ड बन जाते हैं। शीर्षावरण में तरल (शीर्षाम्बु) की मात्रा बहुत बढ़ जाती है और इसमें असंख्य क्षय ग्रंथियां आवरण से छूट-छूट कर मिली हुई होती हैं। शीर्षाम्बु के बढ़ जाने के कारण मस्तिष्क पर और ग्रीवा पर दबाव पड़ता है। ग्रीवा अकड़ी हुई होती है और रोगी को आक्षेपण के झटके आते रहते हैं।

लक्षण—रोग प्रायः गुप्त रूप से आरम्भ होता है। आरम्भ में लक्षण अस्पष्ट और मृदु होते हैं, रोगी कुछ सुस्त नजर आता है,

शिरःपीड़ा, क्षुधामान्द्य, भारीमस्तिष्क, तथा रात को बेचैनी आदि लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं, प्रायः वमन और उत्क्लेश भी होता है, मलबद्धता होती है। शिरपीड़ा शनैः शनैः बढ़कर अतितीव्र हो जाती है। रोगी जो पहले सुस्त था अब प्रलाप युक्त हो जाता है। तन्द्रा शनैः शनैः प्रलाप का स्थान लेती जाती है और अन्ततः रोगी सन्यस्त होकर मृत्यु के मुख में चला जाता है। ग्रीवा आरम्भ से अकड़ी हुई होती है, रोगी टांगे सिकोड़े हुए गर्दन पीछे किये हुये सोया रहता है। सौषुम्नशीर्ष ज्वर के लक्षण इसमें उपस्थित होते हैं। ज्वर आरम्भ में १–२ डिग्री ज्यादा होता है, आगे चलकर १०३ से १०४ डिग्री हो जाता है। बालकों में प्रायः सदा आक्षेपण होता है, किन्तु बड़ों में आक्षेपण का प्रायः अभाव होता है।

रोगमीमांसा—बालकों में सौषुम्नशीर्ष के लक्षण और उसके आक्षेपण इस रोग के ही द्योतक हैं। बड़ों में जब सौषुम्नशीर्ष के लक्षण ८–१० दिन तक शान्त न हों या मारक न हों तो इसी रोग का सन्देह करना चाहिये। रोग निदानार्थ सुषुम्ना नाड़ी से शीर्षाम्बु बाहर निकाल कर उसकी परीक्षा करनी चाहिये। क्षयज् शीर्षावरण शोथ में तरल में निम्नोक्त लक्षण होते हैं—शीर्षाम्बु सुषुम्ना में से अधिक बल से बाहर निकलता है, वह स्वच्छ या किञ्चित् गंदला सा होता है, बाहर निकलने के बाद जालवत जम जाता है, इसमें अल्ब्यूमिन की मात्रा अधिक होती है, शर्करा और क्लोराइड्ज़ कम होते हैं। तरल में लसीकाणुओं की मात्रा अपेक्षतः बहुत बढ़ जाती है-७०-८०%।

रोगपरिणाम—यह रोग बहुत भयानक है। इसका परिणाम स्ट्रेप्टोमायसीन के प्रादुर्भाव से पहले सदा अनिष्ट होता था। सब रोगी १ से ३ सप्ताह में मर जाया करते थे।

चिकित्सा—इसकी चिकित्सा केवल मात्र स्ट्रेप्टोमायसीन ही है।

स्ट्रेप्टोमायसीन के सम्यक् प्रयोग से रोगी के बचने की सम्भावना होती है। इसके प्रयोग से प्रायः ८०% रोगी बचते देखे गये हैं। यह स्मरण रहे कि स्ट्रेप्टोमायसीन के प्रयोग में कुछ काल बाद क्षय कीटों पर इसका प्रभाव नहीं होता अर्थात् २–२½ महीने तक स्ट्रेप्टोमायसीन रोग शान्त हो तो ठीक नहीं तो रोग शान्ति की सम्भावना जाती रहती है। स्ट्रेप्टोमायसीन की प्रयोग विधि अध्याय ८ में लिख आये हैं।

अन्य स्थानों का क्षय

क्षय कीट जिस स्थान पर जाकर बैठ जाते हैं, वहीं क्षय गण्ड बना लेते हैं। यदि अण्डकोश में जायेंगे तो अण्डकोश क्षय हो जायगा। वृक्कों में जायेंगे तो वृक्कों का क्षय हो जायगा। इसी प्रकार त्वचा में क्षयज ग्रन्थि बनकर फटने से क्षय व्रण बन जाते हैं। अस्थियों और सन्धियों में भी क्षय रोग होता है। इनमें से कुछ रोग कायक रोगों के अन्तर्गत हैं, और कुछ शल्य रोगों के अन्तर्गत। कई बार देखा गया है, कि एक ही रोगी में अनेक अङ्ग क्षय पीड़ित होते हैं, ऐसे रोगी का बचना असम्भव प्राय है।

लक्षण—स्थानानुसार होते हैं, परन्तु सब में क्षय रोग के साधारण लक्षण ज्वर, क्षीणता तथा अनियमित स्वेद आदि रोग की तीव्रता के अनुसार न्यूनाधिक होते हैं। स्थानानुसार उनके लक्षणों का पृथक-पृथक वर्णन करना इस पुस्तक की सीमा से बाहर है। चतुर वैद्य स्वयं समझ सकते हैं। यह देखा गया है कि क्षयज शल्य रोगों में यथा अस्थिक्षय, सन्धिक्षय, क्षयज व्रण, गण्डमाला आदि में ज्वर आदि सामान्य लक्षण इतने स्पष्ट, व्यक्त और तीव्र नहीं होते, जितने कायक रोगों में, यथा राजयक्ष्मा, उदरकलाक्षय, आन्त्रिकक्षय और शीर्षसौषुम्नक्षय आदि में।

चिकित्सा—चिकित्सा के नियम सबमें समान हैं। वे क्षय रोगों में राजयक्ष्मा की चिकित्सा में लिखे जा चुके हैं। शल्याधिकृत रोगों में स्ट्रेप्टोमायसीन के प्रयोग से लाभ की अधिक सम्भावना होती है।

अध्याय १४

वात संस्थान के संक्रामक रोग

इस अध्याय में उन संक्रामक रोगों का वर्णन किया जायगा, जिनमें कीटाणु अथवा उनका विष सुषुम्ना, मस्तिष्क आदि वात संस्थानों में विकार उत्पन्न करते हैं:—

(१) शीर्ष सौषुम्न ज्वर (Cerebro Spinal Fever)
(२) अन्तः सौषुम्न शोथ (Poliomyelitis)
(३) गोर्दशोथ (मस्तिष्कशोथ=Encephalitis Lithargica)
(४) अलर्क विष (Hydrophobia)
(५) पिटकरशना (Herpes Zoster)

शीर्ष सौषुम्न ज्वर

पर्याय—शीर्ष सोषुम्न ज्वर, सरिब्रोस्पाइनल फीवर (Cerebro Spinal Fever)

परिचय—यह एक तीव्र संक्रामक रोग है, जिसमें कीटाणु शीर्ष और सुषुम्ना के आवरणों में शोथ उत्पन्न कर देते हैं।

कारण—इसका कारण एक विशेष प्रकार का युगल बिन्दुकाकार कीटाणु है जिसे डिप्लोकाकस मेनिनजाईटाईडिस इन्ट्रासेलूलेरिस (Diplococcus Meningitidis Intracellularis) कहते हैं। यह कीटाणु रोगी तथा संक्रमवाहकों के कण्ठ में उपस्थित रहता है और उनकी श्लेष्मा में निकलता रहता है। अन्य व्यक्तियों तक यह कीटाणु श्वास द्वारा अथवा दूषित वस्तुओं द्वारा पहुँचकर रोग फैलाता है। यह रोग एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक जब वे सम्पर्क में आते हैं तो बहुत जल्दी फैलता है।

इस रोग के संक्रम वाहक अन्य रोगों की अपेक्षा अधिक संख्या में होते हैं। यह रोग प्रायः एकाकी रूप में होता रहता है, परन्तु कभी-कभी एकदम किसी प्रदेश में महामारी के रूप में भी फैल जाता है। इसके कीटाणु लघ्वांत्रिक ज्वर की भांति चार प्रकार के होते हैं परन्तु लक्षण समान पैदा करते हैं। यह रोग बच्चों और नवयुवकों में अधिक होता है, और विशेषकर शीतकाल और वसन्त ऋतु में अधिक फैलता है।

सम्प्राप्ति—इस रोग के कीटाणु नासा और कण्ठ से वात-तन्तुओं के रास्ते शीर्ष और सुषुम्ना के आवरणों तक पहुंचकर उनमें शोथ उत्पन्न कर देते हैं। वहां से तरल जो प्रायः पीपयुक्त होता है, निकल कर मस्तिष्क कोश और सुषुम्ना नाली में भर जाता है जिसके कारण सुषम्ना और शीर्ष की सेलों पर दबाव पड़ता है। रक्त में श्वेताणु बहुत बढ़ जाते हैं। कटि वेधन द्वारा सुषुम्ना तरल जब निकाला जाये तो वह पीपयुक्त होता है उसमें पीपाणु अत्यधिक होते हैं इसमें अल्ब्यू-मिन बढ़ी हुई होती है और शर्करा का अभाव होता है तथा क्लोराइड्स (हरिद) कम हो जाते हैं, इसमें मेनिङ्गोकाकस बहुत अधिक होते हैं।

परिपाक काल—३ से ५ दिन है, सीमा १ से ७ दिन।

लक्षण—इस रोग के लक्षण विभिन्न रूप धारण करते हैं परन्तु निम्नोक्त तीन लक्षण प्रायः सबमें उपस्थित होते हैं :

(१) ज्वर (२) शिरशूल और (३) वमन।

अकस्मात् ज्वर चढ़ आता है साधारणावस्था में १०२ फा० रहता है, परन्तु तीव्रावस्था में १०६ फा० तक भी पहुंच जाता है। इसमें ज्वर की अपेक्षा नाड़ी की गति मन्द होती है, शिर में अत्यन्त पीड़ा होती है थोड़ी बहुत पीड़ा ग्रीवा में भी होती है जो शनैः शनैः नीचे पृष्ठवंश की ओर बढ़ती जाती है। शिरोभ्रम, वमन, उत्क्लेश प्रलापादि लक्षण विद्यमान होते हैं। शनैः शनैः प्रलाप तन्द्रा में परिवर्तित हो जाता है।

इस रोग में शिर पीछे की ओर को खिंचा हुआ होता है, ऐसा

प्रतीत होता है कि ग्रीवा पीछे की ओर को मुड़ गई है, टांगें संकुचित अवस्था में होती हैं घुटने की पर्यावर्तन क्रियायें लुप्त हो जाती हैं, आंख की पुतलियां फैली हुई होती हैं। आंखें चौंधियाती हैं, और कभी-कभी भैंगापन हो जाता है, जो रोग शान्त होने पर भी उपस्थित रहता है। उग्रावस्था में एक न एक शाखा आघातित हो जाती है। क्षीणता बहुत बढ़ जाती है। अरिष्टावस्था में तन्द्रा से सन्यस्त होकर रोगी मर जाता है। अति प्रचण्डावस्था में रोगी कुछ घण्टों में ही चल देता है। साध्यावस्था में कुछ दिन ज्वर सम अवस्था में रहता है, फिर ज्वर तथा अन्य लक्षण शनैः शनैः कम होने लगते हैं, रोगी बहुत धीरे-धीरे स्वस्थावस्था को प्राप्त होता है।

इस रोग में कभी-कभी शरीर पर रक्ताभ पीड़िकायें निकल आती हैं और कभी-कभी यज्ञोपवीत की तरह वक्ष पर पहले पिड़िकाएं और फिर छाले हो जाते हैं। रोग के रक्त में श्वेताणु बहुत बढ़े हुए (२५०००-४०००० तक) होते हैं। इनमें बहुरूप मींगींयुक्तसैलें (Polymorphonuclear Cells) या अपेक्षया अधिक बढ़ जाते हैं।

रोगमीमांसा—निम्नोक्त बातें रोगी को स्पष्ट कर देती हैं—(१) यदि उरू को वंक्षण पर मोड़ा जाये और फिर टांग को घुटने पर सीधा किया जाये तो ऐसा करना असंभव होता है। स्वस्थावस्था में ऐसा हो सकता है।

(२) यदि रोगी की दोनों टांगें सीधी हों और उनमें एक टांग को मोड़ने की चेष्टा की जाये तो दूसरी टांग भी अवश्यमेव मुड़ जायगी।

(३) रोगी जब पीठ के बल लेटा हुआ हो तब यदि उसकी ग्रीवा को आगे की ओर मोड़ें तो ग्रीवा के साथ-साथ उरू और टांगें भी मुड़ेंगी।

(४) शीर्षाम्बु की परीक्षा करने पर उसमें पूय और युग्म मैनिङ्गोकाकस मिलेंगे।

कटिवेध (Lumber puncture) द्वारा शीर्षाम्बु निकाला जाता है

एतदर्थ विशेषज्ञ (Bacteriologist) की सहायता ली जा सकती है। परन्तु चूंकि पेनिसिलीन आदि औषधियां भी कटिवेध द्वारा ही प्रविष्ट की जाती हैं, अतः इसकी विधि का वर्णन यहां उचित समझा गया है।

कटिवेधन द्वारा शीर्षाम्बु निकालने की विधि :—रोगी को पार्श्व के बल लिटायें, जंघा पेट की ओर और शिर आगे की ओर मोड़ें, रोगी धनुषाकार टेढ़ा हो जायेगा। नितम्बास्थि के जघनचूड़ा के उर्ध्व शिखरों के बीच में एक लकीर खींचें, यह रेखा चौथे काटि कशेरुकान्तर से जाती है। पृष्ठ वंश के मध्य में इसी रेखा पर व्रीहि-मुख यंत्र (Lumber Puncture Needle) को किंचित् ऊपर की ओर रखकर सुषुम्ना में धकेल दें। जब यन्त्र सुषुम्ना के आवरणों को पार करके नाली में पहुंचेगा तब वैद्य का हाथ ढ़ीला हो जायगा अर्थात जिस वेग से पहले धकेलना पड़ रहा था वह अब नहीं रहता, तब यन्त्र में शलाक को निकालें, यदि तरल अधिक मात्रा में उपस्थित होगा तो वेग से बाहर आने लगेगा। इसमें स्वच्छता की उसी प्रकार विशेष सावधानी रखनी चाहिये, जैसे अन्य शल्य कर्मों में रखी जाती है।

रोग के प्रकार—(१) साधारण रूप—जिसका वर्णन ऊपर आ चुका है। (२) घातक स्वरूप—रोग अकस्मात् आरम्भ होता है। रोगी को अत्यधिक शिरःपीड़ा, वमन तथा शरीर पर जामनी रङ्ग की पड़िकाएं उपस्थित होती हैं। रोगी को ताप नहीं होता या मन्द होता है। विरल अवस्था में कभी-कभी ताप तीव्र भी देखा गया है। प्रायः शीतकाय के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। रोगी बहुत जल्दी तन्द्रावस्था में आ जाता है और १ या २ दिन में मर जाता है। इस रोग में विशेषता यह होती है कि रोगी में शीर्षसौषुम्न के आवरण के शोथ के लक्षण कम होते हैं या होते ही नहीं, अर्थात् न तो ग्रीवा पीछे की ओर मुड़ी हुई होती है और न ही टांगें सिकुड़ी होती हैं और शीर्षाम्बु पूययुक्त न होकर स्वच्छ होता है इसमें मेनिङ्गोकाकस कीट भी नहीं होते। हां, पेनिसिलीन के

प्रयोग से रोग अति शीघ्र शान्त हो जाता है, यही उपशय चिकित्सा ही इसका निदान है।

(३) **जीर्ण स्वरूप**—रोगी में साधारण शीर्षावरण शोथ के लक्षण उत्पन्न होते हैं। कुछ काल पश्चात् लक्षण मन्द पड़ जाते है या लुप्त हो जाते हैं। कुछ काल बाद पुनः बढ़ जाते हैं। इसी प्रकार यह क्रम चलता रहता है। शीर्षाम्बु की परीक्षा रोग को स्पष्ट कर देती है।

(४) **मृदु स्वरूप**—लक्षण मृदु होते हैं। चन्द दिनों में रोगी स्वस्थ होकर चलने फिरने लगता है।

(५) **जीर्ण कीटरक्तता स्वरूप** (Chronic Septicaemia)—इसमें कीटाणु शीर्षावरण में पहुंचकर रोग उत्पन्न नहीं करते किन्तु रक्त ही में विद्यमान रहते हैं। आरम्भ इसका भी अकस्मात् वमन, उत्क्लेश और ज्वर से होता है। सन्धियाँ और मांसपेशियों में पीड़ा होती है। चन्द दिनों में प्रायः शरीर पर रक्त वर्ण की पीड़िकाएं निकल आती हैं। ये पीड़िकाएं समूह रूप में बार-बार निकलती रहती है इनके साथ-साथ ज्वर चढ़ता-उतरता रहता है शीर्षावरण शोथ के कोई लक्षण पैदा नहीं होते। इसका ज्ञान भी उपशय चिकित्सा से होता है, अर्थात पेनिसिलीन के प्रयोग से शान्त हो जाता है।

(६) **मस्तिष्क के आधार स्तम्भ स्थान की शोथ** (Posterior Basic Meningitis) यह रोग सदा ६ महीने से २½ वर्ष के बालकों में ही होता है, प्रायः वमन से उपस्थित होता है। ज्वर अकस्मात चढ़ जाता है। किन्तु अधिक दिनों तक तीव्र नहीं होता सप्ताह से पूर्व ही उतर जाता है। ग्रीवा और पृष्ठवंश बहुत अकड़ी हुई और मुड़ी हुई (पृष्ठायाम) होते हैं। कभी-कभी ग्रीवा और पृष्ठ इतनी मुड़े हुए होते हैं कि कि सर का पृष्ठ और पृष्ठवंश के नीचे का भाग आपस में मिल जाते हैं। शाखाएं स्तब्ध और अकड़ी हुई होती हैं। नाड़ी और श्वास तीव्र और अनियमित होता है। परीक्षा करने से शीर्षाम्बु में वही बातें पाई

जाती है जो साधारण शीर्षाम्बु ज्वर में लिख आये हैं, परन्तु यह बात ध्यान रखने योग्य है कि शीर्ष सौषुम्न मध्यस्थ छिद्र (मस्तिष्क कोष्ठों और सुषुम्ना नलिका को मिलानेवाला छिद्र) कभी-कभी बन्द हो जाता है तो परिणाम यह होता है कि सारा शीर्षाम्बु मस्तिष्क कोशों में जमा रहता है जिससे मस्तिष्क पर दबाव पड़ने के कारण वह बढ़ जाता है, कुछ भी तरल सुषुम्ना में नहीं आ पाता, परिमाण स्वरूप कटिवेधन से सुषुम्ना में से तरल नहीं निकलता। रोग निदान मस्तिष्क से शीर्षाम्बु निकालने से होता है यह रोग प्रायः जीर्णरूप धारण करता है। जब घातक हो तो रोगी १०–१५ दिन में मर जाता है।

जीर्णावस्था से बच निकलने पर रोगियों में बहरापन, बुद्धिहीनता (जड़ता) आदि लक्षण रहे जाते हैं।

चिकित्सा—चिकित्सा के दो भाग हैं :

(१) **प्रतिबन्धक चिकित्सा**—इसके वही नियम हैं, जो अन्य औपसर्गिक संक्रामक रोगों के हैं। यह ध्यान रहे कि बहुत से स्वस्थ मनुष्य इस संक्रमण के संक्रमवाहक होते हैं, जब तक गले से श्लेष्मा उतारकर उसकी परीक्षा न की जाय, इनका जानना असम्भव है, परन्तु यह तो मालूम है ही कि रोग अवस्था में तथा रोग शान्ति के पश्चात् रोगी कुछ काल तक संक्रमवाहक बनकर संक्रमण का प्रसार करता है। अतः रोगी को रोग काल में तथा उसके २–३ सप्ताह बाद घरवालों से पृथक् रखें। सल्फाग्रुप औषधियाँ देने से रोग के कीट मर जाते हैं और संक्रमण प्रसार की सम्भावना नहीं रहती। यथा-सम्भव प्रतिश्याय, गलग्रन्थि शोथ आदि से बचने का प्रयत्न करें। यह स्मरण रहे कि शुद्धवायु से यह कीटाणु जल्दी मर जाते हैं, अतः रोगी और संक्रमवाहक शुद्ध-वायु में कुछ दिन तक रहें तो उनके गले में रहनेवाले कीटाणुओं का नाश हो जाने की सम्भावना है फिर वे संक्रमवाहक नहीं रहेंगे।

(२) **शमन चिकित्सा**—सल्फाग्रुप औषधि और पेनिसिलिन के

पादुर्भाव से इस रोग से मृत्यु का भय बहुत कम हो गया है। इसकी प्रयोग विधि पूर्व अध्याय ८ में लिख आये हैं। सल्फाडायाजीन मुख द्वारा और प्रोकेन पेनिसिलीन को माँस अन्तर्गत इंजेक्शन दें तथा पेनिसिलीन को कटिवेधन द्वारा देने से विशेष लाभ होता है। कटिवेधन द्वारा पहले शीर्षाम्बु निकाल लें तत्पश्चात् पेनिसिलीन की १० से २० हजार यूनिट (Units) को ५ से १० सी० सी० अथवा २० सी० सी० अभिश्रुत जल (Re-distilled Water) में घोलकर कटि में शनैः शनैः प्रवेश करें। दिन में एक बार देना चाहिये। ज्वर कम होने पर पेनिसिलीन को कटिवेधन द्वारा न दें तब आवश्यकतानुसार मांस अन्तर्गत दे सकते हैं। यथा आवश्यक रोगी को इस रोग सीरम का २५-५० सी. सी. कटिवेधन द्वारा इंजेक्शन कर सकते हैं, मांसागर्त इंजेक्शन भी साथ साथ देने चाहिये पहले दिन ५० से १०० सी० सी०, दूसरे दिन भी इतना ही, इसके बाद भी प्रतिदिन इतना ही जब तक ज्वर कम न हो जाये। उग्र अवस्था में इंजेक्शन शिरागत् देना चाहिये तथा सुषुम्ना या मस्तिष्क में। सल्फाडायाजीन और पेनिसिलिन के आविष्कार के बाद सीरम चिकित्सा का स्थान बहुत कम हो गया है।

मस्तिष्क स्तम्भ शोथ में पेनिसिलीन का या सीरम का इंजेक्शन मांसान्तर्गत मस्तिष्क कोष में किया जाता है। एतदर्थ शल्य सिद्धस्थ की सहायता लेनी चाहिये।

आहार—इस रोग में आहार लघु व सुपाच्य होना चाहिये कभी-कभी पूर्व पचित दूध देना चाहिये यथा (Pronutrin Nutriton Hydrolysed Protein, Proteo casein) आदि शिरशूल के लिये साधारण शिरशूल की चिकित्सा करें। इस रोग के लिये आयुर्वेद में कोई विशेष औषधि नहीं। बाल कटाकर मस्तिष्क और सुषुम्ना पर निम्नोक्त लेपों में से कोई एक लेप लगावें—(१) मधुयष्टि, मञ्जिष्ठा, गम्भारी फल, मुनक्का, पद्मपुष्प, रक्तकुमुद,

यवशक्तु। (२) यव, गोधूम, मुद्ग, कृष्णमाष, तिल, अलसी, सर्षप (३) केवल निर्गुण्डी के हरे पत्तों का लेप।

वेदमुष्क और केवड़े से भावित मुक्ता, प्रवाल या प्रवाल-पञ्चामृत आदि औषधियें भी दी जा सकती हैं। परन्तु इसकी फलप्रद चिकित्सा पेनिसिलीन चिकित्सा ही है।

अन्तःसौषुम्न शोथ

पर्याय—अन्तःसौषुम्नशोथ, पोलियो-माईलाईटिस (Poliomyelitis)

परिचय—यह प्रायः बच्चों में होने वाला एक तीव्र संक्रामक रोग है जिसमें सुषुम्ना नाड़ी के सैलमय अन्तस्थ धूसर भाग में शोथ हो जाती है और किञ्चित ज्वर होने के बाद शाखाघात या पक्षाघातादि हो जाते हैं।

कारण—इस रोग का उत्पादक कीटाणु अतिसूक्ष्म अदृश्य है। यह रोग प्रायः ४ वर्ष से न्यून आयु के बालकों को होता है और एक वर्ष से कम आयु के बच्चे इससे बहुत कम पीड़ित होते देखे गये हैं। १-३ साल की आयु में अधिक होता है, ३ वर्ष के बाद ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती है त्यों-त्यों इसकी संभावना भी कम होती जाती है और बड़ों को तो यह रोग होता ही नहीं। जब अधिक फैलता है तो युवकों को भी हो जाता है। यह कीट रोगी तथा संक्रमवाहक की सुषुम्ना, मस्तिष्क, मुख, नासा, कण्ठ और अन्त्र में तथा उनके स्रावों में विद्यमान होता है।

सम्प्राप्ति—ये कीटाणु सुषुम्ना नाड़ी के अग्रशृंगु के अन्तस्थ धूसर सेल युक्त भाग में ही शोथ उत्पन्न करते हैं। कीटाणु आन्त्र की श्लेष्मा से वात तन्तुओं द्वारा सुषुम्ना के अग्रशृंगों तक पहुंचता है। पहले यह धारणा थी कि इस रोग के कीटाणु नासा की श्लेष्मिक कला से नासा नाड़ी द्वारा मस्तिष्क में पहुंचते हैं किन्तु अब यह सिद्ध हो चुका है कि यह धारणा प्रमाणित नहीं है अब यह माना जाता है, कि यह कीटाणु

अन्त्र की श्लेष्मिक कला से नाड़ियों द्वारा ही सुषुम्ना तथा मस्तिष्क को जाती है। पहले वहां की रक्त केशिकाओं में शोथ उत्पन्न होती है, फिर उनके इतस्ततः घूसर सैलें भी शोथयुक्त हो जाती हैं यदि रोग बढ़ता जाय तो सैलें मर जाती हैं तथा शोथ अग्रशृंगु से पाश्चात्य शृंगु तक पहुंच जाती है। शोथ कभी नीचे से आरम्भ होकर ऊपर की ओर या ऊपर से आरम्भ होकर नीचे की ओर फैलती है। शोथ कभी सुषुम्न शीर्षक और कभी मस्तिष्क में आरम्भ होती है और वहाँ से ऊपर नीचे फैलती है। अग्रशृंगु में गति उत्पादक सेलें रहती हैं। उनके प्रभावित होने से जिन मांसपेशियों को वहां की सेलों के तार जाते हैं उन्हीं की गति का आघात होता है, यदि सैलें शोथयुक्त होकर पुनः स्वस्थ्य हो जावें, मरने न पाएं तो जिन मांसपेशियों का आघात हुआ था वह पुनः गतिशील हो जाती हैं और स्वस्थता प्राप्त कर लेती हैं, यदि सैलें मर जाएं तो आघात सदा के लिए रह जाता है। अतः देखा जाता है कि रोग के आरम्भ में आघात बहुत विस्तृत स्थानों में होता है परन्तु कुछ काल बाद कुछ मांसपेशियें पुनः कार्य करने लगती हैं शेष सदा के लिए आघातित रह जाती हैं। १८ महीने के बाद जो आघात रह जाय उसको स्थायी समझना चाहिये। आघातित मांस पेशियों की स्वास्थ्य प्राप्त पहले शीघ्र होती है पुनः कम होती जाती है। पहले तीन महीने बहुत कुछ स्वास्थ्य प्राप्त हो जाता है बाकी ६ महीने तक धीरे-धीरे होता है और ६ माह के बाद अत्यंत धीरे-धीरे उन्नति होती है तथा १८ महीने के बाद होती ही नहीं। अग्रशृङ्गों के साथ लगा हुआ पीछे की ओर पार्श्वशृङ्ग रहता है। पार्श्व शृंग की सैलें अङ्ग की वृद्धि के जिम्मेदार है, यदि रोग वहाँ तक फैल जाय और वे सैलें मारी जांय तो अङ्ग वृद्धि नहीं हो पाता और वह अंग सदा के लिये छोटा रह जाता है।

शीर्षाम्बु—इस रोग में सुषुम्ना नाली में शीर्षाम्बु अधिक भर जाता

है। उसमें शर्करा हरिद (Chloride) प्रोटीन बढ़ी हुई होती है तथा श्वेताणु की संख्या भी बढ़ी हुई होती है।

रक्त में श्वेताणु अत्यधिक बढ़ जाते हैं (२५ से ३० हजार) इनमें बहुरूप मींगीयुक्त अपेक्षया अधिक बढ़े हुए होते है ८०–९५%।

परिपाक काल—२ से ३ दिन और सीमा १ से ४ दिन तक है।

लक्षण—रोग प्रायः अकस्मात आरम्भ होता है, शिर व शाखाओं में पीड़ा, ज्वर, कभी-कभी वमन और उत्क्षेपणादि लक्षण होते हैं, ३–४ दिन बाद किसी न किसी शाखा का आघात हो जाता है। कभी-कभी यह आघात बिना ज्वरादि सामान्य लक्षणों के ही हो जाता है। रात को रोगी अच्छा-भला सोता है प्रातः तक पक्षाघात हो गया होता है शीर्ष सौषुम्नज्वरवत ग्रीवा और पृष्ठ अकड़े हुए होते हैं। रोगी कभी-कभी मल मूत्र शय्या पर ही त्यागने लगता है। यदि ज्वर हो तो सात दिन रहकर उतर जाता है परन्तु पक्षाघात के लक्षण बहुत देर तक विद्यमान रहते हैं और शनैः-शनैः जैसे-जैसे सुषुम्ना शृङ्गों की सेलें ठीक होती जाती हैं, पक्षाघात भी दूर होता है। जो सेलें सर्वथा मर जाती हैं उनके आधीन माँसपेशियों का सर्वदा के लिए आघातित रह जाता है। यदि पार्श्वशृङ्ग की सेलें नष्ट हो जायँ तो तदधीन अंग आजीवन छोटा रह जाता है। सुषुम्ना का जो भाग प्रभावित होता है उसके आधीन मांसपेशियों का आघात होता है। यथा यदि पृष्ठ के अन्तिम कशेरुका और कटि के पहिले कशेरुका की सुषुम्ना प्रभावित हो जाय तो अधो शाखाओं का आघात हो जायगा और यदि ग्रीवा के अन्तिम तथा पृष्ठ के पहले कशेरुका की सुषुम्ना प्रभावित हो तो उर्ध्व शाखाएँ आघातित होंगी। इसी प्रकार सुषुम्ना या मस्तिष्क के जिस भाग में रोग होगा तदाधीन प्रदेश का ही आघात होता है।

वैद्य के लिये पक्षाघात से पूर्व रोग को पहिचानना कठिन होता है। रोगी बालक रक्ताभ होता है जैसे साधारण तीव्र ज्वरों में होता

है तथा वह दुखित मालूम होता है यद्यपि वह तन्द्रायुक्त होता है परन्तु उसकी बेचैनी और उसके चेहरे पर से सम्भावित भय के चिह्न प्रत्यक्ष दीखते हैं। कभी-कभी बेचैनी बहुत ज्यादा होती है और रोगी चिड़चिड़ा प्रतीत होता है। तीव्रावस्था में श्वास की गति तीव्र होती है। कभी-कभी हाथों में कम्पन और मांस पेशियों में क्षेपण दीखता है रोगी भयभीत प्रतीत होता है और ऐसा प्रतीत होता है जैसे उसे भयानक स्वप्न आ रहे हों। जरा सा हिलाने को वह बुरा मानता है शिर, ग्रीवा और पृष्ठ में पीड़ा होती है। ग्रीवा और पीठ अकड़ी हुई होती हैं। शाखाओं की प्रत्यावर्तित क्रियायें लुप्त हो जाती हैं या मन्द पड़ जाती हैं। थोड़े ही दिनों में पक्षाघात के लक्षण उपस्थित हो जाते हैं।

यदि मस्तिष्क की सैलें प्रभावित हों तो तदनुसार अङ्ग प्रभावित होते हैं। इस रोग में विशेषता यह है कि इस रोग में केवल गति उत्पादक सेलें ही आक्रमित होती है।

रोग के भेद :—

साधारण स्वरूप—उपरोक्त लक्षण उपस्थित होते हैं, बहुत कुछ आराम हो जाता है फिर भी कुछ न कुछ मांस पेशियों का आघात रह जाता है।

तीव्र—पक्षाघात बहुत विस्तृत होता और बहुत सा भाग सदा के लिये आघातित रह जाता है।

मृदु अवस्था—पक्षाघात न होकर केवल एक अङ्ग आघातित होता है और वह शीघ्र ही स्वस्थ हो जाता है।

गुप्त अवस्था—साधारण ज्वरवत् तथा अन्य शिरपीड़ा आदि साधारण से लक्षण होते हैं, लक्षण किसी में इतने कम होते हैं कि रोगी को ज्ञात भी नहीं होते और वह थोड़े बहुत काल में अपने आप ठीक हो जाता है, अंग आघात कुछ भी नहीं होता आगे जीवन में कभी उनकी रक्त परीक्षा करने पर रक्त में इसके प्रति रोगक्षमता के अवयव पाकर यह मालूम होता है कि उसे किसी समय अन्तःसौषुम्न ज्वर हो चुका था।

सौभाग्य से ऐसे गुप्त अवस्था के रोगी अत्यधिक (७०-८० प्रतिशत) हैं यदि ऐसा न होता तो मनुष्य जाति में कितने ही पंगु, खञ्ज और विकल मनुष्य देखने में आते।

चिकित्सा—इस रोग के लिये अभी तक किसी विशेष औषधि का आविष्कार नहीं हुआ और न ही कोई ऐसे विशेष उपाय मालूम हैं जिनसे रोग रोका जा सके। जिन दिनों यह अधिक फैल रहा हो उन दिनों अच्छा यह है कि बालक को शालाओं में न भेजा जाय। जिस बच्चे को यह रोग हुआ हो उसको अन्य बालकों से पृथक रखें।

रोग हो जाने पर ज्वर की साधारण चिकित्सा करनी चाहिए। सुपाच्य और मृदु भोजन दें, दूध तथा फल स्वरस का अधिक प्रयोग करें। आरम्भ में विरेचन देकर कोष्ठ साफ कर देने से लाभ होता है। रोगी को पूर्णतया विश्राम देना चाहिए। यदि पीड़ा अधिक हो तो एस्पीरीन, सोडा सैलिसिलास आदि औषधियां दें। कटिवेध (Lumber Puncture) द्वारा सुषुम्ना से तरल निकाल देने चाहिये। इससे लाभ होने की संभावना है हानि कुछ भी नहीं। हाल में बन्दर से प्राप्त इसके सीरम बहुत लाभदायक सिद्ध हुई है।

मुक्ताभस्म, कहरुबा पिष्टि, जवाहर मोहरा पिष्टि मात्रा २-४ रत्ती ४-४ घंटे बाद देने से रोगी को किंचित शान्ति प्रतीत होती है। रसराज रस, चतुर्मुख रस, चिन्तामणि रस अथवा चतुर्भुज रस की मात्रा ½ रत्ती भी दिन में दो बार दे सकते हैं इनका लाभ पक्षाघात के होने के बाद अधिक होता है अभी तक ऐसी किसी औषधि का ज्ञान नहीं हो पाया जो होने वाले पक्षाघात को रोक सके।

इसके प्रति-सीरम से अवश्य लाभ होता है परन्तु यह सीरम किसी ऐसे व्यक्ति के रक्त से बनाया जा सकता है जो हाल में ही रोग मुक्त हुआ हो। दुर्भाग्यवश ऐसे रक्त का मिलना बहुत दुष्कर है। दूसरे शब्दों में इस सीरम का अभाव ही समझना चाहिए। पशुओं में चूंकि

यह रोग उत्पन्न नहीं होता इसलिये इनके रक्त से यह सीरम नहीं प्राप्त हो सकता।

रोग आक्रमण के बाद रोगी के प्रायः एक अंग का आघात हो जाता है अथवा दोनों अंगों का पक्षाघात हो जाता है। उनके स्वस्थ करने का उपाय तो नहीं अलबत्ता विशेष यत्नों, व्यायाम और साधनों से आघात-युक्त निश्चेष्ट अंग को अभ्यास और परिश्रम से पुनः कार्य करना सिखाया जाता है। इसमें कई-कई वर्ष लग जाते हैं। योरोप और अमेरिका जैसे प्रगतिशील देशों के अनेक नगरों में ऐसे आतुरालय बनाए गए हैं जहां इन पंगु, लूले और खंज बालकों को फिर से अपने मांसपेशियों को प्रयोग में लाना और उनसे कार्य लेना सिखाया जाता है। यह बहुत धैर्य और दक्षता का काम है। कई वर्षों के परिश्रम और विशेष व्यायाम के बाद वे अंग अपना काम करना सीखते हैं। इस कार्य के लिये विशेष यन्त्र बने हुए हैं जिनके द्वारा मांसपेशियां अपना काम फिर से सीखती हैं ये सब काम विशेषज्ञों के आधीन होता है जो यह जान सकते हैं कि कौन सी मांसपेशी का आघात हुआ है, पूर्ण आघात हुआ है या अपूर्ण, यदि अपूर्ण आघात हुआ है तो कितना। उस मांसपेशी को कैसे व्यायाम और किस प्रकार के यन्त्र की आवश्यकता है जिससे वह पुनः अपने कार्य करने के योग्य हो सके। भारतवर्ष में इस कार्य के लिये अभी तक केवल एक ही आतुरालय बना है वह बम्बई में है—(Centre for Rehabilitation of Crippled Childern, Mahalaxmi, Bombay)। इस प्रकार के और आतुरालय देश के अन्य स्थानों में खोलने का सरकार की ओर से विचार हो रहा है। इससे अनेक अपाहिज, पंगु और खंज बालकों का जीवन सफल बन सकेगा जो अब व्यर्थप्राय है।

वक्तव्य—इस प्रकार मांसपेशियों के शिक्षण से इनका मस्तिष्क से नवीन संबंध बन जाता है। वास्तविक सेलें नष्ट हो चुकी थीं अब

मांसपेशियों से उत्पन्न तारों का मस्तिष्क की अन्य सेलों से नवीन संबंध बन जाता है इसीलिये दीर्घ काल अपेक्षित है।

तन्द्रात्मिक गोर्द शोथ

पर्याय–तन्द्रात्मिक मस्तिष्क शोथ (Encephalitis Lethargica), गोर्दशोथ महामारी, मस्तिष्क शोथ महामारी (Epidemic Encephalitis.).

परिचय–यह तीव्र संक्रामक रोग हैं जो प्रायः महामारी के रूप में फैलते हैं। इसमें मस्तिष्क, मध्य मस्तिष्क, मष्तिष्क स्तम्भ और सुषुम्नाशीर्षक प्रभावित होते हैं।

कारण और सम्प्राप्ति—इसका कारण एक अतिसूक्ष्म अदृश्य कीटाणु है जो नासा की श्लेष्मिक कला द्वारा प्रवेश पाकर वात नाड़ियों द्वारा मस्तिष्क तक पहुंचता है। इसके संक्रमप्रसार की विधि अभी तक अनिश्चित ही है। विचार यह है कि इसका कीटाणु रोगी तथा संक्रमवाहक की नासांकला में रहता है। वहाँ से नासा श्लेष्मा द्वारा दूसरे व्यक्ति तक पहुंचता हैं। इसके संक्रमवाहक पर्याप्त होते हैं, एक वे जो रोग से मुक्ति पा चुके होवे हैं, दूसरे वे जिनमें रोग के लक्षण कभी व्यक्त ही नहीं हुये। यह माना जाता है कि इसका कीटाणु मस्तिष्क के बाहर जीवित नहीं रहता, फिर यह कीटाणु किस प्रकार शरीर से बाहर नासा श्लेष्मा में रहता है और रोग-प्रसार पाता है यह आद्यअवधि समस्या है।

यह रोग वैसे तो किसी भी आयु में हो सकता है किन्तु विशेषकर १५ से ३५ वर्ष की आयु में ही अधिक होता है। बालकों और वृद्धों को बहुत कम होता है। यह देखा गया है कि इस रोग का प्रसार वातश्लेष्मिक रोग (Influenza) के प्रसार का सहगामी है। जब जब इंफ्लुएन्जा फैलता है तब-तब यह रोग भी फैलता है। इस बात को छोड़कर इन दो रोगों में और कोई समानता नहीं।

इस रोग में मस्तिष्क की धूसर सेलों में शोथ होती है। धूसर सेलों में रहनेवाली केशिकायें रक्तपूर्ण हो जाती हैं। कहीं-कहीं उनमें रक्त जम जाता है तथा थोड़ा रक्त स्राव भी दीखता है, मस्तिष्क के उस प्रदेश की धूसर (वात) सेलें भी शोथयुक्त और रक्ताभ होती हैं। शीर्षाम्बु बढ़ा हुआ होता है उसमें श्वेताणु कुछ बढ़े हुए होते हैं उसमें प्रोटीन और शर्करा भी कुछ बढ़ जाती है। वैसे तो मस्तिष्क का कोई भी भाग प्रभावित हो सकता है परन्तु प्रायः मध्य मस्तिष्क और मस्तिष्क स्तम्भ ही प्रभावित होते हैं।

लक्षण—इस रोग का आरम्भ अन्य ज्वरों की भांति शीत का लगना, गौरवता, शरीर और सिर में दर्द, अत्यंत मैली जिह्वा, विबन्ध आदि लक्षणों से होता है, कभी-कभी दुःखदायी हिक्का भी होता है, ज्वर ९९ से १०३ तक रहता है प्रायः एक सप्ताह से अधिक नहीं रहता। इन लक्षणों से तो वातश्लेष्मिक ज्वर का ही अनुमान होता है। जब द्विदृष्टि (एक चीज का दो नजर आना) अथवा अर्ध-जाग्रत और अर्ध-सुषुप्ति अवस्था, अङ्ग की स्तब्ध होना या कम्पन आदि लक्षण उपस्थित हो जायें तभी इस रोग का अनुमान होता है। इस रोग के कई स्वरूप हैं जिनके लक्षण विभिन्न हैं। प्रायोभावी लक्षणों का वर्णन नीचे किया जाता है।

मानसिक लक्षण—ज्वरारम्भ के दूसरे तीसरे दिन रोगी को तन्द्रा आने लगती है जो शनैः शनैः बढ़ती जाती है अरिष्ठ अवस्था में अन्ततोगत्वा रोगी मूर्छित तथा सन्यस्त होकर यम देवता के वश में चला जाता है। कभी-कभी रोगी तन्द्रावस्था में कई-कई दिन एक ही स्थिति में सोये रहते हैं। किञ्चित भी चल-विचल नहीं होते, मल-मूत्र भी शय्या पर ही त्यागते हैं इतना होते हुए भी यदि उसको तन्द्रा से जाकर उठाया जाय तो वे जाग्रत होकर प्रश्नों के उत्तर और वार्तालाप इस बुद्धिमत्ता से करता है कि मानो उसे कोई रोग है ही नहीं, यदि

उसको एक मिनिट के लिये भी छोड़ दिया जाय तो तत्काल पुनः गाढ़निद्रायुक्त हो जाता है यहां तक कि मुंह का ग्रास मुंह में ही रह जाता है। किसी अङ्ग को जिस अवस्था में रखा जाय उसी अवस्था में निश्चेष्ट पड़ा रहता है। ऐसी तन्द्रावस्था २,३,४ सप्ताह या अधिक काल रहकर पुनः रोगी शनैः शनैः स्वस्थता को प्राप्त कर लेता है। तन्द्रा का मूर्च्छित अवस्था में परिणित होना आनेवाली मृत्यु का सूचक है। विचित्र बात यह है कि तन्द्रा के आरम्भ के दिनों की बातें रोगी को पीछे भी भली प्रकार याद रहती हैं।

किसी-किसी रोगी में तन्द्रा न होकर अनिद्रा के लक्षण होते हैं। कभी ऐसा भी होता है कि रोगी प्रत्यक्षतः तन्द्रा में पड़े नजर आते हैं परन्तु वस्तुतः उन्हें नींद नहीं आती। तन्द्रा के अभाव में रोगी प्रायः उत्तेजित, बातूनी, बेचैन और क्षुब्ध हो जाता है, कई रोगियों को तो वातिक उन्माद सा हो जाता है, ऐसे रोगी जल्दी मर जाते हैं। किसी-किसी रोगी में उत्क्षेपण होते हैं जिससे सतत् अपस्मार (Statis Epilepticus) की अवस्था का सन्देह होता है अन्त में तन्द्रा आने पर आक्षेपण के वेग बन्द हो जाते हैं।

जिन रोगियों में तीव्र मानसिक लक्षण तन्द्रा, उत्तेजनादि होकर रोग-शांति हो जाय उनमें बुद्धि सदा के लिये निर्बल और विकृत हो जाती है, स्वभाव बदलकर तामसिक वृत्ति का हो जाता है।

आघात के लक्षण—मस्तिष्क का कोई भी स्थान प्रभावित हो सकता है। परिणामतः तदाधीन स्थान की मांस पेशियों का आघात हो जाता है।

एक ओर के चक्षु को गति देनेवाली मांस पेशी का आघात प्रायः सदा होता है, यही इस रोग के पहचानने का एक विशेष लक्षण है, परिणामतः उस आँख की गति जाते रहने से रोगी में द्विदृष्टि हो जाया करती है। इसके अतिरिक्त आँख में निम्नोक्त विकारों में से भी कुछ न कुछ हो जाया करते हैं।

नेत्रच्छद आघात—अर्थात आँख का छप्पर नहीं उठता।

उपतारा ‡ आघात—के कारण पुतली विकृत हो जाती है। प्रभावित आँख की पुतली कभी छोटी, कभी बड़ी, गोल न होकर कभी अनियमित हो जाती है। कभी प्रकाश से बिलकुल नहीं सिकुड़ती कभी निकट से बिलकुल नहीं सिकुड़ती इत्यादि किसी भी प्रकार का पुतली-विकार हो सकता है।

मस्तिष्क का जो देश प्रभावित है उसके अनुसार अर्दित (सप्त-मस्तष्कीय नाड़ी आघात), स्वर नाश (१२ वीं मस्तिष्कनाड़ी आघात), निगलनेवाली मांस पेशियों का आघात (६ वीं मस्तिष्कीय नाड़ी आघात) हो जाते हैं इसी प्रकार एक शाखा आघात, दो शाखा आघात, पार्श्वाघात, पक्षाघात अथवा अन्य कोई भी वातिक लक्षण हो सकते हैं यथाः—चेहरे की मांसपेशियाँ अकड़कर गतिहीन हो जाती हैं। हाथ और पाव में कम्पन सा होता है जैसे जराशोथ रोग में, यह कम्पन बहुत बारीक होता है, वात-कम्पन-रोग के समान स्थूल नहीं। मस्तिष्क स्तम्भ के आघात के कारण किसी-किसी रोगी में शीर्षावरण शोथ के से लक्षण होते हैं, और किसी में अन्तः सौषुम्न शोथ के से लक्षण होते हैं। किसी में शकुन्त गति रोगवत् लक्षण होते हैं। ऊपर लिख आये हैं कि रोगी शय्या पर मल-मूत्र त्याग देता है, इसका कारण उनकी नियन्त्रण करनेवाली नाड़ियों का आघात है।

सांवेदनिक केन्द्र के प्रभावित होने से मांस पेशियों में पीड़ा—कभी-कभी सारे शरीर या कभी-कभी स्थान विशेष में पीड़ा होती है

---

‡ तारा अर्थात् पुतली के चारों ओर गोल भाग जिसमें किसी में कृष्ण, किसी में नीला और किसी में भूरा रङ्ग रहता है, जिसके प्रसार और संकोच से पुतली छोटी-बड़ी होती है, उसी को उपतारा कहते हैं, यह मांस पेशियों से बनता है।

(थेलिमस के प्रभावित होने के कारण) कभी पीड़ा कम होती है और कभी अत्यधिक या असह्य।

रोग के प्रकार—उपरोक्त वात लक्षणों में से कोई भी एक या एक से अधिक लक्षण हो सकते हैं, यह नहीं कहा जा सकता कि कौन-कौन से लक्षण किस-किस रोगी में उपस्थित होंगे और किस तीव्रता से, अर्थात् विभिन्न रोगियों में रोग के विभिन्न स्वरूप नजर आते हैं।

स्थूलतः इसके दो स्वरूप होते हैं, एक तीव्र, दूसरा जीर्ण, जीर्ण में लक्षण शनैः शनैः उत्पन्न होते हैं और बहुत काल तक रहते हैं।

परिणाम—इस रोग में लगभग २५%प्रतिशत रोगी मर जाते हैं और २५%प्रतिशत रोगी को पूर्णतया आराम हो जाता है, और कोई लक्षण शेष नहीं रह जाता और ५०%प्रतिशत रोगियों में कोई न कोई उपद्रव सदा के लिये शेष रह जाता है। अनेक बार यह देखा गया है कि यद्यपि रोग का वेग तीव्र नहीं होता तथापि कालान्तर में उपद्रव स्थायी होकर रह जाते हैं, यथा वात-कम्पन, दृष्टि-विकार, स्थानिक आघात इत्यादि। इस रोग के परिमाण स्वरूप रोग मुक्ति के बाद कई रोगी अल्प बुद्धि रह जाते हैं कितनों का स्वभाव बदल जाता है उनमें तामसिक गुण आ जाते हैं।

संक्षेपतः मस्तिष्क का जो भाग सदा के लिये नष्ट हो चुका है उसके अनुसार लक्षण सदा के लिए रह जायेंगे।

रोगमीमांसा—इस रोग में सर्वथा विभिन्न लक्षणों के कारण अनेक बार रोगनिदान कठिन होता है। विशेष प्रकार की तन्द्रा, विशेष प्रकार की दृष्टिविकार और विशेष प्रकार की मांसपेशी (मौखिक) स्तब्धता, अथवा बारीक वात कम्पन इनमें से कोई न कोई होता ही है, इन्हीं से रोगनिदान हो सकता है। जीर्ण प्रकार के रोग में रोगनिदान बहुत काल बाद स्पष्ट होता है, तब तक चिरस्थायी या सदास्थायी लक्षण

उपस्थित हो चुके होते हैं। अत्यन्त मृदु स्वरूप में जहाँ लक्षण स्पष्ट न हों, इसमें रोग का ज्ञान होता तक नहीं। इसमें उपद्रव भी नहीं होते।

चिकित्सा—रोग उत्पादक कीटाणु तथा रोग प्रसार विधि अज्ञात रहने के कारण कोई विशेष मालूम नहीं हो सकता जिससे रोग को रोका जा सके और नहीं ऐसी चिकित्सा ही मालूम है, जिससे रोग को शान्त किया जा सके। प्रतिदिन सोडियम सेलिसिलेट (Sodium Salicylate) १५ ग्रेन की मात्रा को शिरागत् इन्जेक्शन द्वारा देने से विशेष लाभ देखा गया है। लाक्षणिक चिकित्सा ही करनी चाहिये।

पोटेशियम क्लोरास (Potassium Chloras) १५ ग्रेन दिन में चार बार पानी में घोलकर दें तथा इसके २%विलयन की ५ बिन्दु ३ बार नाक में डालें। इसका प्रयोग रोग आरम्भ से रोग के अन्त के २–३ दिन बाद तक करें।

रोगारम्भ में मासादि क्वाथ देना चाहिये। इसी से लाभ होता है।

मांसादि क्वाथ के द्रव्य—जटामाँसी एक तोला, असगंध ¼ तोला, और खुरासानी अजवायन के बीज १॥ माशा—इनको जौकूट कर १० तोला जल में पकाकर ४ तोला जल बाकी रहने पर कपड़े से छान लें।

बृहद्वातचिन्तामणिरस (भैः रः), वातकुलान्तक रस (भैः रः) उपर्युक्त काढ़े के साथ अथवा पुनर्नवादि क्वाथ के साथ। पुनर्नवादि क्वाथ में सोडियम सेलिसिलेट १५ ग्रेन मिलाकर दे सकते हैं। जब पक्षाघात हो जाय तो रसराज रस (भैः रः), मलसिन्दूर (सिद्ध भैः यः), आनन्द भैरव रस (भै० र०) को मांसादि क्वाथ या दशमूलादि क्वाथ से दें। अभ्यङ्गार्थ विषगर्भ तैल, पञ्चगुण तैल और नारायण तैल (शाः सः) का प्रयोग करायें।

'अल्प-बुद्धि' विकार हो जाने पर योगेन्द्र रस, अथवा निर्वसी के बीज और जद्वार का चूर्ण समभाग, दो माशे की मात्रा दिन में तीन बार, खमीराज द्वारा देना चाहिये। सर्पगन्धा चूर्ण ४ र० दिन में तीन बार भी दे सकते हैं।

अलर्क विष

पर्याय—अलर्क विष, हाईड्रोफोबिया (Hydrophobia) रेबीज (Rabies)

कारण—यह रोग वास्तव में कुत्तों, गीदड़ों, बिल्लियों तथा इसी जाति के अन्य पशुओं का है। इससे पीड़ित श्वान आदि के मनुष्यों को काटने से या उनके मनुष्यों पर व्रणों को चाटने से मनुष्यों में आता है। कुत्तों में यह रोग दो प्रकार का होता है।

(१) निश्चेष्ट—जिसमें कुत्तों की मांस पेशियों का आघात हो जाता है और कुत्ता चलने-फिरने में असमर्थ हो जाता है तथा एकान्त में पड़ा रहता है। इसकी संज्ञा आरम्भ में नाश नहीं होती परन्तु यह काटते नहीं, अन्त में संज्ञा शून्य होकर मर जाता है। ऐसे कुत्ते रोग फैलाने में असमर्थ होते हैं, परन्तु जब उनको थपथपाया जाय या प्यार किया जाय और वह किसी व्रण युक्त स्थान को चाटलें तो रोग हो सकता है।

(२) क्षुब्ध—इसमें कुत्ता क्षुब्ध होता है। बिना सोचे समझे जो रास्ते में पड़े उसे काट खाता है। वास्तव में ऐसे ही कुत्ते रोग-प्रसार का कारण बनते हैं।

इस रोग से पीड़ित मनुष्य भी अपनी लार द्वारा रोग फैला सकता है। कुत्तों की लाला में इसके कीटाणु उपस्थित होते हैं। जहां कुत्ता काटता है उसी व्रण द्वारा उसकी लाला में उपस्थित कीटाणु मनुष्य शरीर में प्रवेश पाते हैं। यह आवश्यक नहीं कि काटे हुये सभी मनुष्यों में यह रोग हो। जो गणना अभी तक हो सकी है उससे पता चलता है कि काटे हुवों में से १० से २० प्रतिशत् इस रोग से प्रभावित होते हैं। यदि प्रतिरोधक इंजेक्शन करा लिया जाय तो उनमें से भी केवल एक प्रतिशत को यह रोग होता है। घाव जितना गम्भीर होता है उतना ही रोग होने का अधिक भय रहता है। हाथ-पांव आदि नग्न स्थानों

पर कुत्ते के काटने से रोग संक्रमण की अधिक संभावना होती है। इसके कीटाणु अतिसूक्ष्म होते हैं जो अभी तक नहीं देखे जा सके और न ही पृथक् किये जा सके हैं।

सम्प्राप्ति—कीटाणु व्रण से वात तन्तुओं द्वारा मस्तिष्क तक पहुँचते हैं। वहां पहुँचकर मस्तिष्क की सेलों में और उनके इतस्ततः शोथ पैदा कर देते हैं।

परिपाक काल—१ मास से ३ मास तक और सीमा १२ दिन से लेकर १ वर्ष पर्यन्त है।

लक्षण—दंश स्थान कुछ दिनों में स्वयमेव ही अच्छा हो जाता है। परन्तु जब रोग आरम्भ होने लगता है तो उसी स्थान पर पीड़ा तथा जलन सी प्रतीत होती है। मन्दज्वर, शिरःशूल, अनिद्रा और बेचैनी आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। २-३ दिन पीछे बेचैनी बढ़ जाती है, मन अति क्षुब्ध रहता है, स्पर्शसहिष्णुता बढ़ जाती है, और गले की मांसपेशियों का संकोच होने लगता है। कुछ काल बाद पानी की चेष्टा करने से या अन्य साधारण बात से ही गले की मांस पेशियां संकुचित हो जाती हैं और गला घुट जाता है जिससे रोगी पानी नहीं पी सकता। शनैः-शनैः यह सङ्कोच बढ़कर सारे शरीर में व्याप्त हो जाता है और उत्क्षेपण होने लगते हैं। स्वरयंत्र और गले की मांसपेशियों के सङ्कोच से रोगी का स्वर भी विचित्र सा हो जाता है। प्रायः १०२-१०३ फा. ज्वर होता है। २-३ दिन यह दशा रहने के बाद रोगी बिलकुल निढाल तथा संज्ञा-शून्य हो कर मर जाता है।

रोगमीमांसा—कठिन नहीं, परन्तु कभी-कभी इसको मिथ्या अलर्क विष से भिन्न करने की आवश्यकता पड़ती है। कोमल प्रकृति के मनुष्यों को जब कोई कुत्ता काट जाय तो कुछ दिनों बाद उन्हें इस रोग का भ्रम होने लगता है और जो जो लक्षण उन्होंने सुने या पढ़े होते हैं

वही प्रतीत होने लगते हैं। चतुर वैद्य को इसके पहिचानने में कठिनाई नहीं होनी चाहिये क्योंकि इसमें ज्वर नहीं होता। पानी पीने में कठिनाई भी नहीं होती और मृत्यु तो हो ही नहीं सकती।

रोगी के रोग की मीमांसा की अपेक्षा उस कुत्ते की रोगमीमांसा अति आवश्यक है जिसने काटा हो, कि वह पागल है या नहीं, उसके लिये उसको मारकर, उसके शिर को परीक्षार्थ भेज देते हैं, इस रोग से पीड़ित कुत्तों तथा अन्य रुग्ण प्राणियों के मस्तिष्क में विशेष प्रकार की वस्तु होती है जिसे "नेगरी बाडीज़" (Negir's Bodies) कहते हैं, कुत्ते में जब लक्षण उपस्थित हो जायें तो वह कुत्ता ५ दिन से अधिक जीवित नहीं रह सकता। व्यक्त लक्षण उत्पन्न होने से ४ दिन पूर्व कीटाणु कुत्ते की लाला में उपस्थित हो सकते हैं, अतः यदि काटने के १० दिन बाद कुत्ता जीवित रहे तो समझ लें कि कुत्ता अलर्क विष से पीड़ित न था।

चिकित्सा—यदि यह रोग हो जाये तो रोगी बच नहीं सकता। अतः यह आवश्यक है कि रोग होने से पूर्व ही बचाव किया जाये। इसके दो उपाय हैं :

स्थानिक चिकित्सा—कुत्ते के काटते ही घाव पर कार्बोलिक एसिड या नाइट्रिक एसिड लगायें या घाव को तप्तशलाका आदि से दग्ध कर देना चाहिए। तत्काल ऐसा कर देने से कीटाणु वहीं मर जाते हैं और रोग नहीं होने पाता। आधा घंटा बीत जाने पर यह चिकित्सा करने पर भी रोग होने का भय बना रहता है, तब तक कीटाणु रक्त में पहुंच चुके होते हैं।

विशेष प्रतिरोधक चिकित्सा—इस रोग के हो जाने पर इसकी कोई चिकित्सा नहीं। कुत्ते के काटने पर इसके वैक्सीन का इंजेक्शन किया जाता है। घाव के अनुसार इसके इंजेक्शन १४ या कम किये जाते हैं, इनका प्रबन्ध प्रत्येक सिविल हस्पताल में होता है।

जब कभी किसी कुत्ते ने काटा हो, यह संदेह है कि वह पागल है, या नहीं, तो भी इसके वैक्सीन का इंजेक्शन करा लेना चाहिए।

इस रोग के कीटाणुओं को (रुग्ण प्राणी के मस्तिष्क का घोल) शशक में प्रविष्ट करके रोग उत्पन्न किया जाता है। फिर उन रुग्ण शशकों की मस्तिष्क और सुषुम्ना निकालकर वायु में शुष्क की जाती है। जितने अधिक दिन तक वे शुष्क होंगी उतने ही वह कीटाणु हीन होते जायेंगे। १४ दिन तक शुष्क करने से कीट मर जाते हैं और १३ दिन की शुष्क सुषुम्ना में ये अतिदुर्बल होते हैं। इसी प्रकार एक दिन से १४ दिन के शुष्क मस्तिष्क व सुषुम्ना का पृथक्-पृथक् विलयन बना लिया जाता है, यह विलयन एक वैक्सीन है, इन विलयनों का इंजेक्शन ही वास्तविक प्रतिरोधक चिकित्सा है। पहले दिन १३ दिन शुष्क सुषुम्नावाला विलयन दिया जाता है और यथाक्रम घटाते हुये ३ दिन की सूखी सुषुम्ना का विलयन देते हैं, और कुल १४ दिन तक इंजेक्शन दिये जाते हैं। भिन्न-भिन्न स्थानों में थोड़ा-थोड़ा इस क्रम में भेद है।

पिटकरशना (Herper Zoster)

परिचय—सुषुम्ना वात नाड़ी के पाश्चात्य गण्ड अथवा मस्तिष्क नाड़ियों के वातगण्ड का तीव्र संक्रामक रोग है जिसमें वहाँ से जाने वाली नाड़ी प्रदेश में पीड़ा या जलन होती है और उस प्रदेश में छोटी-छोटी पीड़िकायें निकल आती हैं।

कारण—इसका उत्पादक कीटाणु अदृश्य और सूक्ष्म है। यह रोग हर आयु में हो सकता है परन्तु अधिकतर किशोर अवस्था में होता है, ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती जाती है रोग की सम्भावना कम होती जाती है परन्तु इसका वेग अधिक दुखःदायी होता जाता है। निर्बलता व शीत इसके विशेष सहायक कारण है। विशेष बात इसमें यह देखी गई है कि इस रोग पीड़ित रोगियों में लघुमसूरिका के होने की अधिक सम्भावना

होती है। परन्तु लघुमसूरिका की रोगियों को पिटकरशना ज्वर नहीं होता। ऐसा क्यों ? यह नहीं कहा जा सकता।

लक्षण—अनेक रोगों में शरीर के विभिन्न भागों में पीड़िकायें देखी जाती हैं यथा–श्वसनक ज्वर, विषम ज्वर, तन्द्रात्मिक गोर्द ज्वर, शीर्षसौषुम्न ज्वरादि के बाद कभी-कभी पीड़िकाएँ निकल आती हैं ज्वर के बाद ओष्ठों के इतस्ततः, ये प्रायः देखने में आती हैं, परन्तु इस रोग की पीड़िकाएँ उनसे एकदम पृथक होती हैं इनका स्वरूप भी पृथक होता है और लक्षण भी। इनका आरम्भ प्रायः सर्वदा ज्वर से होता है। ज्वर साधारण होता है और २-३-४ दिन रहकर उतर जाता है। जिस प्रदेश के वात गण्ड प्रभावित होते हैं उस प्रदेश में पीड़ा, दाह अथवा कण्डु होता है, रोगारम्भ के तीसरे चौथे दिन वहां पर पीड़िकाएं निकल आती हैं यह पीड़िकायें प्रभावित वात नाड़ी प्रदेश में ही होती हैं जहां पर पीड़ा थी। पहले आरम्भ में यह पीड़िकायें अत्यंत सूक्ष्म और रक्त वर्ण की होती हैं वहीं छोटे-छोटे स्फोट बन जाते हैं इनके सफेद तरल भरा हुआ होता है कुछ काल बाद यह सूख जाती हैं, इनपर खुरण्ड बंध जाते हैं। इसको ५ से १० दिन लगते हैं, खुरण्ड उतरने पर वहाँ पर चिह्न रह जाते हैं, जो तीव्रता अनुसार कभी जल्दी कभी देर से मिटते हैं कभी आजीवन भी रह जाते हैं।

जो सुषुम्ना नाड़ी प्रभावित होती है उसी प्रदेश में पीड़िकायें निकल आती हैं। यह पीड़िकायें "यज्ञोपवीत" सी होती हैं आयुर्वेदिक पुस्तकों में इसे इसी नाम से पुकारा गया है। जब यह रोग मस्तिष्क नाड़ियों में होता है तो लक्षण भी तदनुसार होते हैं, पांचवी मस्तिष्क नाड़ी (त्रिशाखानाड़ी) की चाक्षुषी शाखा ही अधिकतर प्रभावित होती है। परिणामतः आंख की कनीनिका पर यदि स्फोट हो जाय तो वहाँ पर सुफेदी आ जाती है तथा अर्धावभेदक जैसे लक्षण होते हैं अनेक बार अर्धावभेदक जैसे लक्षण चिरकाल तक रहते हैं कभी-कभी तो आजीवन

बने रहते हैं। सप्तमी नाड़ी के गण्ड के प्रभावित होने से अर्दित तथा एक ओर की जिह्वा के अग्र ⅔ भाग की रसना शक्ति का नाश हो जाता है।

पृष्ठ प्रदेश की सुषुम्ना नाड़ी के अन्तिम वातगण्ड के प्रभावित होने के कारण उदरच्छदा मांसपेशियों का आघात हो जाता है जिससे वह स्थान उभरा हुआ नजर आता है जैसे कि वहाँ पर अर्बुद हो। यह देखने में आया है कि अर्दित में तो कुछ काल बाद रोग ठीक हो जाता है किन्तु उदरच्छदा मांसपेशियों का आघात सदा के लिये कायम रह जाता है।

यह स्मरण रहे कि सदा एक ही नाड़ी प्रभावित होती है चाहे वह मस्तिष्क की हो या सुषुम्ना की। अत्यं-विरल अवस्था में दो नाड़ियां प्रभावित होती हैं।

उपद्रव—इस रोग का विशेष उपद्रव प्रभावित नाड़ी प्रदेश में पीड़ा का सदा के लिये रह जाना है, प्रायः अर्धावभेदक रह जाता है यह बड़ा दुःखदायी होता है। इसी प्रकार पृष्ठ वंश की प्रभावित नाड़ी (यज्ञोपवीत) में भी पीड़ा आजीवन रह सकती है यह उपद्रव प्रायः तब होता है जब रोग बड़ी आयु में उत्पन्न हो।

चिकित्सा—इस रोग की विशेष चिकित्सा कुछ नहीं, लाक्षणिक चिकित्सा ही करनी पड़ती है। जब पीड़िकायें निकलने लगती हैं कोई ऐसी औषधि तो है नहीं जो उनके निकलने, बढ़ने और पकने के क्रम को रोक सके, तब पीड़ा-जलन आदि अधिक होते हैं उनके निवारणार्थ एस्प्रीन आदि अध्याय ८ में लिखित औषधियां दें। पीड़िका और स्फोट के लिये साधारण बुर्की अच्छी है:-यथा (१) बोरिक एसिड, जिंक आक्साइड और स्टार्च, (२)नीम के पत्ते, शंख और जहरमोहरा पिष्टि, इनका बहुत बारीक चूर्ण।

दाह शांति के लिये स्फोटों पर मक्खन और कर्पूर लगाया जा सकता है।

अन्तः प्रयोगार्थ पिच्यूट्रीन (Pituitrin Extract 0.5 to 1 c.c.) तीव्रतानुसार देने से लाभ होता है। पिच्यूट्रीन के साथ विटामीन बी १ (Vitamin B 1) १०० मिलीग्राम प्रतिमात्रा मिलाकर इंजेक्शन दें कम से कम ४ इंजेक्शन प्रतिदिन देने चाहियें। जहरमोहरा पिष्टि और कैहरुबा चूर्ण ४–४ रत्ती की मात्रा में मिलाकर दिन में ३–४ बार देने से भी लाभ होता है। रोग मुक्ति के बाद वातिक पीड़ा के लिये अभी तक कोई विशेष औषधि ज्ञात नहीं हुई। साधारण पीड़ा निवारक एस्प्रीन आदि का प्रयोग तत्कालिक लाभ के लिये प्रयुक्त किया जाता है, बारबिटोन की औषधियां अधिक लाभ करती हैं, यथा Luminal, Gardinal, Ortal, Medinal, Tuinol.

अध्याय १५

स्थानिक संक्रामक ज्वर

इस अध्याय में उन रोगों का वर्णन किया जायगा, जिनमें कीटाणु स्थान विशेष पर रहते हैं, परन्तु उनका विष वहाँ से ही शरीर में जाकर लक्षण उत्पन्न करता है।

(१) धनुर्वात,
(२) रोहिणी,
(३) पाषाण गर्दभ,
(४) अग्नि विसर्प

धनुर्वात

पर्याय—धनुर्वात, टेटेनस (Tetanus)

परिचय—यह एक संक्रामक रोग है जिसमें शरीर की मांस-पेशियों में संकोच और अकड़न आ जाती है। सबसे पहले हनुस्तम्भ और ग्रीवास्तम्भ होता है तत्पश्चात् शरीर की शेष मांसपेशियों का संकोच और अकड़न होती है। मांसपेशियों के संकोच के कारण शरीर धनुषाकार हो जाता है, इसलिये ही इसे 'धनुर्वात' का नाम दिया गया है।

कारण—इसका कारण विशेष प्रकार का दण्डाकार कीटाणु है, जिसे बैसिलस टेटैनस (Bacillus Tetanus) कहते हैं। यह कीटाणु घोड़े, गाय आदि पशुओं के अन्त्र में रहता है और उनके पुरीष में निकलता रहता है। यह कीटाणु उन स्थानों पर अधिक पाया जाता है जहां खाद या घोड़े की लीद होती है। यदि खेत और सड़कों आदि स्थानों पर चोट लग जाय और क्षत् वहाँ की धूलि से दूषित हो जाय

तो यह कीटाणु क्षत् द्वारा प्रविष्ट होकर रोग पैदा कर देता है। कभी-कभी यह क्षत इतना साधारण होता है कि प्रतीत भी नहीं होता। यह कीटाणु बहुत चिरजीवी है, ये कीट सिकुड़ कर विशेष रूप स्पोर्ज (Spores) धारण कर लेता है, जो गर्मी सरदी को बहुत देर तक सहन कर सकता है, अनुकूल स्थिति में पुनः अपने वास्तविक स्वरूप को धारण कर लेता है।

सम्प्राप्ति—कीटाणु क्षत स्थान पर ही बढ़ते हैं और यहीं से इनका विष केन्द्रत्यागी (गति उत्पादक) तारों द्वारा मस्तिष्क को जाता है। तथा गत्युत्पादक क्षेत्रों में जाकर क्षोभ और शोथ उत्पन्न करता है।

परिपाक काल—८ से १२ दिन। सीमा २ से १४ दिन।

लक्षण—पहले-पहले रोगी को हनुस्तम्भ सा प्रतीत होता है। शनैः-शनैः यह स्तब्धता इतनी बढ़ जाती है कि रोगी अपने जबड़ों को खोल तक नहीं सकता। पहले यह संकोच हनु की मांसपेशियों तक सीमित होता है फिर संकोच शनैः शनैः मुख की सारी मांस पेशियों में व्याप्त हो जाता है, जिससे भवें चढ़ जाती हैं, और बाछें बाहर की ओर खिंच जाती हैं यह विशेष आकृति रोग को स्पष्ट कर देती है। शीघ्र ही सारे शरीर की मांसपेशियां संकुचित होने लगती हैं, इस कारण शरीर धनुषाकारवत पार्श्व या पृष्ठ की ओर झुक जाता है। मांसपेशियों के संकोच से रोगी को असह्य पीड़ा होती है पहले संकोच किसी बाह्य क्षोभजनक कारण यथा किसी साधारण आघात से होता है, परन्तु पीछे हर समय संकोच रहने लगता है। ज्वर तीव्र होता है, कभी-कभी अतितीव्र ११०–११२ फा० तक होकर रोगी की मृत्यु का कारण हो जाता है। क्षीणता बहुत बढ़ जाती है। मृत्यु प्रायः अत्यन्त क्षीणता, श्वास अवरोध या हृदयकार्यावरोध से होती है, ६–८ दिन में रोगी मर जाता है।

साध्यावस्था में लक्षण मृदु होते हैं और रोगी बच जाता है। यदि चोट के लगते ही प्रतिरोधक इंजेक्शन कर दिया गया हो तो संकोच केवल स्थानिक (हनुस्तम्भ) होकर रोग शान्त हो जाता है।

रोग मीमांसा—मुख-आकृति और हनुस्तम्भ विशेष चिह्न है, जिनसे रोग का ज्ञान सुगमता से हो जाता है विषमुष्टि सार (स्ट्रिकनीन =Strychnine) के विषप्रभाव तथा टैटेनी रोग से इसका भेद, उपर्युक्त बातों से ही होता है।

चिकित्सा—**प्रतिरोधक चिकित्सा**—यदि क्षत सड़क या खेत की धूली से दूषित हो तो तत्काल अवश्य ऐन्टीटेटैनिक सीरम (Antitetanic Serum) का प्रतिरोधक इंजेक्शन कर देना चाहिये। एतदर्थ चोट लगने के तत्काल पश्चात् इसी सीरम का १ सी. सी. (१००० यूनिट्स) मांसान्तर्गत् इंजेक्शन कर देना उचित है। इससे रोगक्षमता केवल १५ दिन तक रहती है।

रोग-क्षमता उत्पन्न करने की दूसरी विधि—धनुर्वात के विष को इस प्रकार उदासीन किया जाता है, जिससे उसका विषैलापन तो मर जाता है किन्तु उसमें रोग प्रतिरोधक शक्ति (Antigenic Power) बनी रहती है। इसको टेटिनस टॉक्सायड (Tetanus Toxoide) कहते हैं। इसके १ सी. सी. के २ इंजेक्शन ६ सप्ताह के अन्तर पर देने से, रोग-क्षमता उत्पन्न होकर दो वर्ष के लिये रह जाती है।

शमन चिकित्सा—यदि रोग हो जाये तो शमन चिकित्सार्थ ऐन्टीटेटैनिक सीरम का इंजेक्शन किया जाता है। अन्य कोई औषधि नहीं है। रोग ज्ञात होते ही सीरम का १०० सी. सी. (१ लाख से २ लाख यूनिट्स) का शिरान्तर्गत् इंजेक्शन तथा ५०,००० से ८०,००० यूनिट्स सुषुम्नान्तर्गत देना चाहिये। जितनी देर से चिकित्सा आरम्भ की जाये अथवा जितना रोग उग्र हो, सीरम की मात्रा उतनी ही अधिक

देनी चाहिए। यह इंजेक्शन प्रतिदिन एक बार दें। जब रोग शान्त होने लगे तब इंजेक्शन की मात्रा भी कम करते जायें, तथा मध्यकाल भी बढ़ाते जायें। रोग शान्ति पर इंजेक्शन बन्द कर देना चाहिए।

कष्टों को कम करने के लिए, अहिफेन, पोटेशियम ब्रोमाइड, क्लोरलहाईड्रास आदि औषधियाँ दी जाती हैं।

रोहिणी

पर्याय—रोहिणी, डिप्थीरिया (Diphtheria) खुनाक।

परिचय—यह अतितीव्र संक्रामक रोग है, इसमें गले में झिल्ली सी बन जाती है, वहीं से विष रक्त द्वारा भ्रमण करता हुआ हृदय कार्यावरोध, पक्षाघात आदि लक्षण उत्पन्न कर देता है।

कारण—इसका उत्पादक कीटाणु विशेष प्रकार का दण्डाकार कीटाणु है, जिसे बैसिलस डिप्थीरिया (Bacillus Diphtheria) कहते हैं। इसके साथ अन्य कीटाणु स्ट्रेप्टोकाकस भी प्रायः उपस्थित होते हैं। यह कीटाणु रोगी के कंठ और नासा की श्लेष्मा में उपस्थित रहता है, और वहीं से वायु द्वारा दूसरे व्यक्तियों के गले में जाकर शोथ और झिल्ली उत्पन्न कर देता है। यह रोग अतितीव्र संक्रामक है और प्रायः बच्चों को ही होता है। चिकित्सकों को भी इसका बहुत भय रहता है, गला देखते हुए रोगी के कण्ठ से कास के झटके द्वारा श्लेष्मा का टुकड़ा परीक्षक के मुख या नासा में जाकर रोग उत्पन्न कर सकता है। यह रोग २ से १० वर्ष तक के बच्चों में अधिक होता है, पाठशालाओं द्वारा शीघ्रता से फैल जाता है। संक्रमवाहक, व रोगी की श्लेष्मा से दूषित वस्तु और दूषित जलादि द्वारा संक्रमण प्रसार पाता है। इसका कीटाणु महाप्राण है, कमरे की दीवारों, वस्तुओं तथा मार्ग पर बहुत देर तक चिपटा रहता है।

यदि एक बार यह रोग हो जाये तो पुनः होने की सम्भावना नहीं

रहती। परन्तु बहुत काल तक इसके कीटाणु उसके गले में उपस्थित रहते हैं और उस व्यक्ति से संक्रम प्रसार का भय बना रहता है।

सम्प्राप्ति—कीटाणु कण्ठ में जाकर शोथ उत्पन्न करता है वहाँ पर स्राव निकलता है, जो जम जाता है वहाँ की श्लैष्मिक कला की सैलें मर जाती हैं, स्राव के जमने से और उसमें मृत सैलों, श्वेताणु एवं रक्ताणुओं के उस स्राव में आ जाने से एक झिल्ली सी बन जाती है, जो श्वेत चमकीली और दृढ़ होती है। इस झिल्ली में इस रोग के असंख्य कीटाणु होते हैं, इसी के टुकड़े बाहर निकल-निकलकर रोग फैलाते हैं। इस झिल्ली से ही रोग के वेग का ज्ञान होता है। जितनी यह झिल्ली अधिक विस्तृत तथा मोटी होती है, उतना ही रोग उग्र होता है और उतना ही विष अधिक बनता है। विष रक्त में लीन होकर लक्षण तथा उपद्रव पैदा करता है अङ्गों पर विष का प्रभाव नीचे लिखा जाता है—

(१) हृदय—की मांस पेशियां क्षीण हो जाती हैं, हृदय विस्तृत हो जाता है। रोग-काल में हर समय हृदय कार्यावरोध का भय रहता है।

(२) वातिक संस्थान—मस्तिष्क की सेलों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता परन्तु परिधि की (मस्तिष्क से बाहर की) सैलें क्षीण हो जाती हैं अथवा मर जाती हैं और तद् तदाधीन मांस-पेशियों का आघात हो जाता है।

(३) फुफ्फुस—कभी-कभी फुफ्फुसप्रदाह, फुफ्फुसावरण प्रदाह अथवा वायुकोष्ठ विस्तृति हो जाते है। फुफ्फुसावरण प्रदाह विष के कारण से नहीं प्रत्युत कीटाणुओं के कण्ठ और श्वास मार्ग से नीचे फुफ्फुसों में सर जाने से होता है।

(४) वृक्क प्रणालियों—की सैलें क्षीण होकर मर जाती हैं। विरलावस्था में मूत्र प्रणालिका का प्रारम्भिक भाग प्रभावित हो जाता है।

परिपाककाल--२ से ७ दिन ।

लक्षण—रोगी को थोड़ा-थोड़ा ज्वर होता है। ग्रीवा जकड़ी-सी रहती है, और उसकी लसीका ग्रन्थियां सूज जाती हैं। कुछ घंटों या २-३ दिनों के बाद गले में झिल्ली बनी हुई दिखाई देती है। बहुधा यह झिल्ली ही रोग का प्रथम चिह्न होता है। इससे पूर्व अन्य कोई लक्षण स्पष्ट नहीं होते।

झिल्ली बढ़ती जाती है आरम्भ में यह सुगमता से उखाड़ी जा सकती है, परन्तु धीरे-धीरे इतनी दृढ़ हो जाती है कि इसको कण्ठ से उखाड़ना कठिन हो जाता है और उखाड़ने पर रक्त स्राव होने लगता है यह झिल्ली कण्ठ से नीचे बढ़कर स्वरयंत्र में फैल जातीं है और वायु मार्ग को बन्द कर देती है। अधिकतर इसी कारण रोगी मरते हैं। विष का प्रभाव हृदय, मस्तिष्क, वात संस्थान आदि पर प्रकट होने लगता है। हृदयावसाद से भी रोगी कई बार चल बसता है।

ज्वर प्रायः साधारण रहता है, कभी-कभी तो होता ही नहीं, कदाचित् १०२ फा० से अधिक होता है नाड़ी मन्द और तीव्र होती है। यह आवश्यक नहीं कि शोथ और झिल्ली सदा कण्ठ में ही हों, कभी स्वरयन्त्र या नासा में और कभी-कभी आँखों तथा योनिमार्ग आदि की श्लैष्मिक कला में, कभी व्रणों पर भी हो जाते हैं।

मृदु अवस्था में लक्षण बहुत साधारण होते हैं, कुछ दिन कण्ठ में कष्ट रहने के पश्चात् रोगी स्वयं ठीक हो जाता है वैद्य के पास जाने की आवश्यकता ही नहीं होती।

उग्रावस्था में लक्षण अति उग्र होते हैं, क्षीणता अधिक होती है, रोगी तन्द्रावस्था में पड़ा रहता है। कुछ ही दिनों में वायु मार्ग बन्द होकर या हृदय कार्यावरोध होकर मर जाता है।

उपद्रव—सबसे भयानक और घातक उपद्रव हृदयकार्यावरोध है।

रोग अवस्था में तथा कभी-कभी रोग मुक्ति के पश्चात् जब तक रोगी पूर्ण स्वस्थावस्था को प्राप्त नहीं हो जाता हृदयकार्यावरोध का भय रहता है। मन्द, तीव्र तथा अनियमित नाड़ी और हृदय विस्तृति अथवा तीव्र हृत्पीड़ा आदि लक्षण हृदयकार्यावरोध के अग्रसर होते हैं, परन्तु हृदयकार्यावरोध सदा अकस्मात् ही होता है।

(२) पक्षाघात—१५, २० प्रतिशत रोगियों में हो जाता है, प्रायः किसी स्थान-विशेष की मांसपेशियों का आघात होता है, और वह भी अपूर्ण। बड़ों की अपेक्षा बच्चों में यह उपद्रव अधिक होता है, और होता प्रायः रोग आरम्भ के तीसरे व चौथे सप्ताह में है। कोमल तालु, आँख की मांसपेशियाँ और उपतारा की मांसपेशियां (आंख की पुतली) ही अधिकतर प्रभावित होती हैं। कोमलतालु आघात से कोमल तालु निश्चेष्ट हो जाता है, अतः श्वास खुर्राटे सहित आता है और भोजन निगलते समय इसका कुछ अंश नासा द्वारा बाहर आ जाता है। आँखों की मांस-पेशियों के आघात से द्विधा-दृष्टि, भैंगापन आदि हो जाते हैं। अन्ततोगत्वा आघातित मांसपेशियां शनैः शनैः क्षीण हो जाती हैं।

(३) वृक्कशोथ (४) फुफ्फुसावरण प्रदाह और (५) सैप्टीसीमिया आदि उपद्रव भी कभी कभी देखने में आते हैं।

रोगमीमांसा—झिल्ली को देखकर रोग का पहचानना कठिन नहीं, परन्तु जहाँ सन्देह हो, वहाँ अवश्यमेव गले पर से झिल्ली को उतारकर अणुवीक्षण परीक्षा करवानी चाहिये उसमें इस रोग के कीट उपस्थित रहते हैं।

चिकित्सा—रोगी को पृथक् रखें और रोग मुक्ति के तीन सप्ताह बाद तक तथा जब तक नाक वा कण्ठ से श्लेष्मा आती रहे, उसको अन्य बच्चों के सम्पर्क में न आने दें।

प्रतिरोधक चिकित्सा—यदि इस रोग के होने का किंचित् भी सन्देह हो तो इसको प्रतिरोधक सीरम (Prophylactic Antidiphtheric Serum) का ½ से १ सी० सी० का मांसान्तर्गत् इंजेक्शन कर देना चाहिये। यह प्रतिरोधक सीरम एक विशेष प्रकार का सीरम होता है, इसमें प्रतिविष के अतिरिक्त रोहिणी का विष भी उपस्थित होता है। तथा साधारण एण्टीडिप्थीरिक सीरम का ५००-१००० यूनिट्स का इन्जेक्शन भी प्रतिरोधार्थ दिया जा सकता है, परन्तु इसमें यह त्रुटि है कि यदि रोग हो ही जावे, तो पुनः चिकित्सार्थ इसी सीरम के देने से सीरम रोग होने का भय रहता है।

सीरम रोग एक भयानक अवस्था है जो सदा पहले किसी सीरम इंजेक्शन के चन्द मास पश्चात् दूसरे किसी सीरम से इंजेक्शन किया जावे, तो उत्पन्न हो जाने का भय रहता है अथवा कभी-कभी पहली बार के इंजेक्शन (यदि अधिक मात्रा में हो) से भी हो सकता है। सीरम रोग, उसके लक्षण तथा चिकित्सा सूचिवेध चिकित्सा की पुस्तकों में देखना चाहिये।

सन्देह निवारण के लिये, कि विशेष व्यक्ति में रोहिणी की प्रवृत्ति है या नहीं, निम्नोक्त विधि बर्ती जाती है। शिकटेस्ट (Schick Test) रोगी में इसके वैक्सीन की अत्यल्प मात्रा का त्वक्गत इंजेक्शन करें (इसकी मात्रा एतदर्थ पृथक् रूप में बाजार में मिलती है) यदि उसी दिन इंजेक्शन का स्थान लाल तथा शोथयुक्त हो जावे तो उसमें इस रोग की प्रवृत्ति समझनी चाहिये।

शमन चिकित्सा—एतदर्थ एन्टीडिफ्थीरिक सीरम ही उपयोगी चिकित्सा है, इसकी ३०,००० से ४०००० यूनिट्स की मात्रा तत्काल तीव्रता अनुसार मांसान्तर्गत इंजेक्शन द्वारा दे देनी चाहिये। जब रोग अधिक हो तो ८०,००० से १०,००० यूनिट्स तक दे सकते हैं। १२ घण्टे के पश्चात् पुनः इतनी ही मात्रा दें, और शनैः शनैः कम करते

जायें। साधारणतया इंजेक्शन मांसान्तर्गत ही देना चाहिये किन्तु तीव्र अवस्था में शिरा द्वारा दे सकते हैं, शिरा द्वारा इंजेक्शन देने पर उसके बाद मांसान्तर्गत ५० से १०० सी० सी० २०% ग्लूकोज सलाइन दे देना चाहिये। १२ घण्टे बाद पुनः २०० से ६०० यूनिट्स और पुनः १२ घण्टे बाद इतनी ही मात्रा देनी चाहिये, जितनी देर बाद इस रोग की चिकित्सा आरम्भ की जाये, सीरम की मात्रा उतनी ही अधिक दी जानी आवश्यक है।

गले को अथवा जिस स्थान पर रोग हो, कृमिघ्न विलियन से शुद्ध रखना चाहिये। यदि श्वास मार्ग अवरुद्ध होने लगे, या हो जावे तो तत्काल स्वरयन्त्र अथवा टेंटुवा में भेद करके नया श्वास मार्ग बना लेना चाहिये। इसकी विधि शल्य ग्रन्थों में वर्णित है।

रोग निवृत्ति के पश्चात् दुर्बलता, पक्षाघात आदि की चिकित्सा करनी चाहिये।

पाषाणगर्दभ

पर्याय—पाषाण गर्दभ, कनपेड़े, हप्पू, मम्प्स् (Mumps)

परिचय—यह संक्रामक रोग है, जिसमें कर्णाग्रवर्ती लाला ग्रन्थियें सूज जाती हैं, और अण्डप्रदाह विशेष उपद्रव में हो जाया करता है।

कारण—यह रोग प्रायः बच्चों वा नवयुवकों को होता है। यह शीघ्रता से फैलनेवाला संक्रामक रोग है। ग्रन्थि फूलने से कुछ काल पहले से लेकर रोगमुक्ति के तीन सप्ताह बाद तक रोगी से रोग प्रसरण का भय रहता है। रोगी से वा संक्रमवाहकों से रोग सीधा अथवा उनकी लाला से दूषित रूमाल आदि द्वारा फैलता है। इसका कीट लाला में रहता है। शिशिर और हेमन्त ऋतु में इसके फैलने की अधिक सम्भावना रहती है।

सम्प्राप्ति—कीटाणु मुख में जाते हैं और वहाँ से लाला ग्रन्थि की

प्रणालियों द्वारा लालाग्रन्थियों में पहुंचकर शोथ उत्पन्न कर देते हैं। प्रायः कर्ण अग्रवर्ती लालाग्रंथियाँ सूजती हैं, परन्तु कभी-कभी जिह्वा-धोवर्ती अथवा अधोहनुवर्ती लालाग्रन्थियाँ सूज जाती हैं। साधारणतया पहले एक ओर की ग्रन्थि सूजती है, फिर दूसरी ओर की।

परिपाक काल—१४ से २१ दिन।

लक्षण—एक ओर के कान के नीचे स्तब्धता और पीड़ा प्रतीत होती है। कुछ काल पश्चात् या कभी-कभी आरम्भ से ही वहाँ की (कर्णाग्रवर्ती) लालाग्रन्थि सूज जाती है। मन्द ज्वर और अङ्गमर्दादि लक्षण उपस्थित हो जाते हैं, ज्वर २–३ दिन रहकर उतर जाता है, कभी-कभी होता ही नहीं, लालाग्रन्थि की शोथ कुछ दिन रहकर शनैः शनैः उतर जाती है, विरले रोगियों में अकस्मात् भी उतर जाती हैं, यह ग्रन्थि पकती कभी नहीं, कदाचित् विरले ही रोगी में ग्रन्थि पक भी जाती है। शोथावस्था में मुंह हिलाना या किसी चीज को चबाना कठिन होता है। पहले एक ओर की ग्रन्थि सूजती है फिर दूसरे ओर की भी प्रायः ४–५ दिन बाद सूज जाती है। एक ग्रन्थि के बाद दूसरी लालाग्रन्थियाँ--जिह्वाद्योवर्ती और अधोहनुवर्ती, भी सूज सकती हैं। कभी-कभी कर्णाग्रवर्ती नहीं सूजती अपितु जीह्वा अधोवर्ती या अधोहनुवर्ती ग्रन्थि ही सूजती है।

उपद्रव—(१) पुरुषों में प्रायः सातवें, आठवें दिन अण्ड में शोथ हो जाती है, जो कुछ दिन रहकर उतर जाती है। विरलावस्था में अण्डक्षीण हो जाते हैं। स्त्रियों में स्तनशोथ और भगनासाशोथ कभी-कभी हो जाती है। यह उपद्रव बहुधा बाल्यावस्था में नहीं होता युवा-वस्था में होता है।

(२) क्लोवशोथ (३). शीर्षावरण शोथ (४) अर्दित आदि उपद्रवों की सम्भावना रहती है, किन्तु बहुत कम।

चिकित्सा—यह रोग सुखसाध्य है। प्रायः बिना चिकित्सा के आराम

हो जाता है। रोगी को आराम से लिटाना चाहिये, ताकि अण्ड शोथ न होने पाये। यदि हो चुका हो, तो अण्ड क्षीण न होने पाये। मृदु विरेचन और मृदु ज्वरहर औषधियाँ देनी चाहियें। ग्रन्थि पर दशाङ्ग लेप या वेलाडोन ग्लिसरीन लगाना ही पर्याप्त है। यदि आवश्यक हो तो क्लोरोमाईसोटीन, आरियोमाईसीन या टेरामाईसीन का प्रयोग करें।

अग्निविसर्प

पर्याय—अग्निविसर्प, एरीसिपिलस (Erysipelas).

कारण—यह रोग उष्ण प्रदेशों में, विशेषकर वसन्त ऋतु में, अधिक होता है, जीर्ण वृक्कशोथ से पीड़ित, अत्यन्त शराबी अथवा प्रसूता स्त्री को इस रोग के होने का अधिक भय रहता है, रोग के एक बार हो जाने पर बार-बार होने का भय रहता है। इसका कीटाणु विशेष पंक्तिबद्ध बिन्दुकाकार स्ट्रेप्टोकाकस एरीसिपिलस (Streptococcus Erysipelas) है। यह महाप्राण है, चारपाई, मेज आदि से चिपका हुआ चिरकाल तक जीवित रहता है। यह कीटाणु सदा किसी व्रण द्वारा ही प्रविष्ट होता है अनेक बार वह व्रण सूक्ष्म और अज्ञात सा ही होता है। अस्वास्थ्यजनक परिस्थिति इसके प्रसार में विशेष सहायता देती है।

सम्प्राप्ति—कीटाणु व्रण द्वारा त्वचा में जाकर उग्र शोथ उत्पन्न कर देते हैं। त्वचा में रहनेवाली लसीका वाहिनियों में भी शोथ हो जाती है, जिससे यह रोग शीघ्रतापूर्वक विसर्पण करता जाता है। शोथ युक्त स्थान से विष लीन होकर ज्वरादि लक्षण उत्पन्न करता है। त्वक्गत लक्षणों के अतिरिक्त कभी-कभी फुफ्फसों, प्लीहा, यकृत अथवा वृक्क में रक्त रुक जाने से कोथ (इन्फर्कशन=Infarction) अथवा कभी-कभी दुष्ट हृदयावरण प्रदाह अथवा फुफ्फुसावरण प्रदाह हो जाता ह। तथा कभी-कभी शीर्षसौषुम्न शोथ हो जाता है।

परिपाक काल—१ से ५ दिन।

लक्षण—अकस्मात् शीत लगकर ज्वर, १०३°–१०४° हो जाता है। शिरःशूल, अङ्गमर्द, शाखाओं में पीड़ादि लक्षण उपस्थित होते हैं। कभी-कभी शिरःशूल इतना तीव्र होता है कि शिर फटता सा प्रतीत होता है, और शीर्षावरण शोथ का सन्देह होने लगता है। नाड़ी की गति अतितीव्र होती है और कभी-कभी रोगी को प्रलाप भी होता है। ज्वर चढ़ने के बाद तुरन्त ही व्रण स्थान रक्तमय और शोथ युक्त दिखाई देता है। वहां तीव्र जलन, पीड़ा, उष्णता, कण्डु आदि प्रतीत होते हैं। इसका किनारा लाल, उभरा हुआ और कठोर होता है तथा आगे-आगे सरकता जाता है शोथ शीघ्रतापूर्वक बढ़ता जाता है तथा मध्य भाग पीला पड़ता जाता है, मानो स्वस्थ हो रहा है।

रुग्णस्थान की लसीका वाहिनियां शोथयुक्त हो जाती हैं। शोथ के कारण उनका मार्ग बन्द हो जाता है अतः वहाँ रक्त का तरल इकट्ठा होता रहता है इस कारण वहाँ आर्द्र शोथ हो जाता है। उस स्थान की लसीका ग्रन्थियां भी बढ़ जाती हैं यह रोग प्रायः मुख, ग्रीवा या शिर पर ही अधिक होता है।

मृदु अवस्था में लक्षण साधारण होते हैं। कभी-कभी शोथ की अपेक्षा ज्वरादि लक्षण कम होते हैं। उग्रावस्था में रुग्णस्थान पर शोथ तीव्र होता है वहाँ रक्तमय छाले हो जाते हैं, तथा अन्य ज्वर, कण्डू आदि लक्षण अतितीव्र होते हैं, टाक्सीमिया के कारण रोगी मर जाता है। साधारणतया यदि चिकित्सा की जाये, तो रोग १–३ सप्ताह तक चला जाता है और शनैः-शनैः शान्त हो जाता है। क्षीण, वृद्ध और बालकों में मृत्यु संख्या अधिक होती है। यदि रोगाणु रक्त में चले जायें, तो सैप्टीसीमिया हो जाता है और रोगी के बचने की आशा बहुत कम रह जाती है, अब पेनिसिलीन व सल्फाड्रग से रोग मुक्ति की आशा पर्याप्त हो गई है।

उपद्रव—सैप्टीसीमिया, वृक्कशोथ, फुफ्फुप्रदाह, हृदय की रक्तधरा कलाशोथ आदि के होने का भय रहता है।

रोगमीमांसा—रुग्ण स्थान की आकृति और साधारण लक्षण इस के पहचानने में पर्याप्त सहायक हैं। यदि सन्देह हो तो स्राव लेकर कीटाणु परीक्षा करा लेनी चाहिये।

चिकित्सा—रोगी को एकान्त खुले कमरे में रखें और पौष्टिक पदार्थ खिलायें। आरम्भ में विरेचन देने से अधिक लाभ होता है। त्वचा पर लगाने के लिये लैंडलोशन, मर्करी पर क्लोराइड, (४००० में १) और इक्थ्याल ऑयन्टमैन्ट आदि काम आते हैं। बढ़ते हुये किनारे के चारों ओर टिंचर ऑयोडीन लगाने से विशेष लाभ होता है। रसाञ्जन और अहिफेन का लेप अथवा हरिद्रा और मधु का लेप भी लगाया जाता है।

सल्फानिलामाईड तथा पेनिसिलीन इसकी विशेष चिकित्सा है इनके प्रयोग का विस्तृत वर्णन अध्याय ८–११ में आ चुका है प्रोकेन पेनिसिलीन विद सोडियम जी ४ लाख को दो बार दिन में दें। वृक्कशोथ के रोगी मधु-मेही तथा अतिक्षीण रोगियों को जब यह रोग उत्पन्न हो जाये तो सल्फानिलामाईड और पेनिसिलीन, दोनों का इकट्ठा प्रयोग करना चाहिये। तब चिकित्सा में अधिक सावधानी बरती जाती है।

मल्लसिन्दूर, रसमाणिक्य, सारिवाद्यासव, मञ्जिष्ठादि क्वाथ, प्रभृतियोग भी लाभदायक हैं।

इसके लिये ऐन्टीस्ट्रेप्टोकाकल सीरम (Antistreptococcal Serum) प्रयुक्त करते हैं। मात्रादि सब कुछ रोहिणी प्रति सीरम की भांति समझें, परन्तु नवीन चिकित्सा सल्फा और पेनिसिलीन की उपस्थिति में इसकी उपयोगिता कम हो गई है।

रोगी की शुश्रूषा की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। आहार पौष्टिक और सुपाच्य हो तथा पीने के लिये जल तथा पेय पदार्थों का प्रयोग करें, मोसम्बी, मीठा सन्तरा आदि रस पदार्थों का अधिकाधिक प्रयोग करें।

अध्याय १६

इस अध्याय में निम्नोक्त तीन रोगों का वर्णन किया जायगा—

(१) आमवात

(२) सन्धिवात

(३) तीव्र गल ग्रंथिशोथ

आमवातिक ज्वर

पर्याय—आमवातिक ज्वर, रिह्युमैटिक फीवर (Rheumatic Fever)

परिचय—यह एक तीव्र रोग है, जिसमें ज्वर, सन्धिशोथ आदि लक्षण होते हैं। इसमें प्रायः हृदय की रक्तधरा कला शोथमय हो जाती है।

कारण और सम्प्राप्ति—अभी तक इसके विशेष कारणों का पूरा-पूरा ज्ञान नहीं हो सका और न इसके कीटाणुओं का निर्णय हो सका है। सम्भवतः माईक्रोकाकस ही इसका कारण है, जो छोटी-छोटी पंक्तियों में रहते हैं। अतः कई लोग इन्हें पंक्तिबद्ध बिन्दुकाकार कीटाणु (स्ट्रेप्टोकाकस) का ही भेद मानते हैं। इसके विषय में निम्नोक्त तीन प्रकार के विचार पाये जाते हैं।

(१) अधिकतर विचार यह है कि पंक्तिबद्ध कीटाणु (Haemolytic) Streptococci) के आक्रमण से ही यह रोग होता है, क्योंकि इस रोग का गलग्रन्थि शोथ (Tonsillits) और लोहित ज्वर (Scarlet fever) से घनिष्ट सम्बन्ध है वे भी इसी प्रकार के कीट से होते हैं परन्तु उग्रावस्था में भी इन कीटाणुओं के रक्त में और न रुग्णस्थान में पाये जाने से यह सन्देह होता है कि यह इस स्ट्रेप्टोकाकस के कारण से नहीं होता।

(२) कई डाक्टरों का मत है कि गलग्रन्थि में स्ट्रेप्टोकाकई स्थिर रूप से रहते हैं, जिसके कारण शरीर में इस कीटाणु के प्रति शीघ्रग्राह्यता उत्पन्न हो जाती है, इसी शीघ्रग्राह्यता के कारण शरीर में सन्धिशोथ (Rheumatic fever) या हृदय अन्तस्थकला शोथ (रक्तधरा कला शोथ) (Endocarditis) या कम्पवात (Chorea) या कोठ (Skin-rashes & Nodules) उत्पन्न हो जाते हैं, परन्तु इसके विपरीत युक्तियां हैं कि केवल इस रोग की शीघ्रग्राह्यता क्यों हो जबकि यह कीट अन्य रोगों को भी तो उत्पन्न करता है तथा अनेक रोगियों में गलग्रन्थि शोथ होता है परन्तु चन्द व्यक्तियों में ही यह शीघ्रग्राह्यता क्यों होती है इत्यादि ।

(३) इसका कारण एक विशेष प्रकार का सूक्ष्म, अदृश्य कीटाणु है, जिसका ज्ञान अभी तक नहीं हो पाया ।

यह रोग प्रायः वसन्त और वर्षा ऋतु में तथा विशेषकर आर्द्र तथा उष्ण स्थानों में अधिक होता है । पुरुषों में स्त्रियों की अपेक्षा अधिक होता है, और प्रायः नवयुवकों को १५-३० वर्ष तक की आयु में ही होता है । ३० वर्ष से अधिक आयु में इसकी सम्भावना कम रहती है, बहुत से कुलों में इसकी विशेष प्रवृत्ति पाई जाती है । एक बार इस रोग के आक्रमण हो जाने पर पुनः-पुनः आक्रमण होने का भय रहता है । श्रम, शीत तथा क्लिन्नता इस रोग की उत्पत्ति में विशेष सहायता देते हैं ।

विचार यह है कि कीटाणु गलग्रन्थियों द्वारा रक्त में प्रवेश करते हैं, और सन्धियों में जाकर शोथ उत्पन्न कर देते हैं । सन्धियों की श्लेष्मिक कला सूज जाती है और उसमें तरल भर जाता है । अस्थियों के शिरों पर कार्टिलेज तथा अस्थिबन्धनों में भी शोथ हो जाता है । रक्त में दुग्धाम्ल (लैक्टिक एसिड) बढ़ जाता है और फाइब्रीन भी अधिक हो जाता है, अतः रक्तस्राव होने पर रक्त देर से जमता है ।

इसके विष प्रभाव से रक्ताणु अधिक नष्ट होते हैं, अतः रक्त न्यूनता हो जाती है और श्वेताणु बढ़ जाते हैं। लगभग आधे रोगियों में इसके कीटाणु हृदय की रक्तधराकला में शोथ उत्पन्न कर देते हैं, एवं कभी-कभी हृदय की मांसपेशियों में भी हो जाता है। इस रोग की यह विशेषता है कि रुग्ण स्थान पर सेलयुक्त छोटी, गोल ग्रन्थि बन जाती है। इस ग्रन्थि में सौत्रिक तन्तुओं के जाल में पड़े हुए छोटे बड़े अनेक श्वेताणु रहते हैं।

लक्षण—अकस्मात् शीत से ज्वर चढ़ जाता है। साथ ही अङ्गमर्द, कण्ठप्रदाह, ग्रीवास्तम्भ और कभी-कभी गलग्रन्थि शोथ आदि लक्षण भी होते हैं। तुरन्त ही कोहनी, कलाई, टखना या घुटना आदि कोई न कोई बड़ी सन्धि प्रभावित हो जाती है वह रक्तमय और शोथयुक्त हो जाती है, पीड़ा असह्य होती है थोड़ा हिलाने पर या छूने से रोगी पीड़ा के मारे चिल्ला उठता है। कुछ दिन यह अवस्था रहती है। पुनः शनैः-शनैः शोथ कम हो जाता है, लालिमा घट जाती है और ज्वर कम हो जाता है अनेक बार एक सन्धि की थोड़ी शांति के बाद दूसरी सन्धि और दूसरी के बाद तीसरी सन्धि प्रभावित हो जाती है। जैसे ही नई सन्धि प्रभावित होती है, वैसे ही ज्वर पुनः तीव्र हो जाता है। उस संधि में शोथ लालिमा, पीड़ा आदि उपर्युक्त सब लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

ज्वर आरम्भ से ही १०२-१०३ फा० होता है। सन्धि शोथ कम होने पर ज्वर कम हो जाता है, और नई सन्धि प्रभावित होने पर पुनः बढ़ जाता है, कभी-कभी १०६-१०७ तक भी पहुँच जाता है। नाड़ी तीव्र भरी हुई और कोमल होती है। स्वेद अत्यधिक आता है, मल और मूत्र घट जाते है। रक्तन्यूनता बहुत अधिक होती है।

हृदयविकार—कीटाणु हृदय के कपाटों में जाकर शोथ उत्पन्न कर

देते हैं, तथा हृदयमांस शोथयुक्त हो जाता है। यह विकार इतनी अधिक मात्रा में होता है कि इसको उपद्रव न मानकर रोग का लक्षण ही मानना उचित है। नित्य प्रति हृदय की परीक्षा करनी चाहिये, कि उसके शब्द में विकार तो नहीं आ गया। बच्चों में कभी-कभी सन्धियों के लक्षण इतने स्पष्ट प्रतीत नहीं होते, परन्तु फिर भी हृदय विकार हो जाता है। जब हृदय में मरमर सुनाई देने लगे या हृदयावरण शोथ उपस्थित हो जाये, उसी समय से हृदय की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये ताकि विकार को यथा शक्ति स्थायी होने से बचाया जाय एतदर्थ जबतक रोग शान्त न हो जाय, या नाड़ी की गति तीव्र रहे, रोगी को शय्या से न उठने दें। यह बात ध्यान रहे कि हृदय में स्थायी विकार न उत्पन्न होने दे, यह चिकित्सक की सामर्थ्य के बाहर है।

उपद्रव—हृदयावरण शोथ, श्वसनक ज्वर, फुफ्फुसावरणशोथ, कण्ठशोथ, अतितीव्र ज्वर और शीर्षावरण शोथ होने का भय रहता है।

बालकों को अनेक बार छोटी-छोटी ग्रन्थियां कुहनी, कलाई या मन्या के भाग में उपस्थित होती हैं, इनकी उपस्थिति रोग की तीव्रता की सूचक है।

रोगपरिणाम—रोग का समय साधारणतया ६ सप्ताह है। परन्तु विशेष औषधि 'सोडा सेलिसिलास' से कम हो जाता है। यह रोग स्वयं तो भयानक नहीं परन्तु इसमें यदि हृदय-विकार हो जाय तो तत्काल मृत्यु हो सकती है नहीं तो जीवन को व्यर्थ कर ही देता है। रोगी किसी प्रकार का श्रम करने के योग्य नहीं रहता। हृदय विस्तृत हो जाता है और धड़कन आरम्भ हो जाती है। हर समय सिर पर काल मंडराता रहता है, और किसी भी समय ऐसा रोगी हृदयकार्यावरोध से महाप्रयाण कर जाता है।

इस रोग के पुनः पुनः होने का भय रहता है। यदि सौभाग्यवश

पहली बार हृदय विकार से बच भी जाये, तो दूसरी बार इसकी अधिक सम्भावना रहती है। स्वयं इस रोग से मृत्यु नहीं होती परन्तु हृदय विकार और न्यूमोनिया से मृत्यु हो जाने का भय रहता है। रोग अतितीव्र अवस्था से विरल रोगी परलोक सिधार भी जाते हैं। कभी-कभी संधिशोथ रह जाता है, और आजीवन कष्ट देता रहता है। हृदय की मांसपेशी शोथ, श्वसनक ज्वर या शीर्षावरण शोथ हो जाय तो रोगी का बचना असम्भव-प्रायः होता है।

रोगमीमांसा—संधि वात रोग पायीमिया, भृशोष्ण वातज संधि शोथ, वातरक्त आदि से इसको पहचानना कठिन है।

संधि-वात के रोगी में सैलिसिलेट्स से लाभ नहीं होता, और ज्वर भी आमवातवत् अनियमित नहीं होता। यह छोटी आयु में न होकर प्रौढ़ अवस्था में होता है।

पायीमिया में बहुत सी संधियां प्रभावित होती हैं और उनमें पीप पड़ जाती है, ज्वर विसर्गी या अविसर्गी होता है और प्रायः शीत से चढ़ता है।

भृशोष्णवातज सन्धिशोथ में छोटी सन्धियां प्रभावित होती हैं और भृशोष्णवात का इतिवृत्त मिलता है।

वातरक्त प्रायः वृद्धों को होता है और अधिकतर ज्वर नहीं होता तथा पांव की सन्धियां प्रभावित होती हैं।

चिकित्सा—रोगी को पूर्ण विश्राम दें, नरम बिछौने पर लिटायें और खाने के लिये मृदु भोजन दें। संधियां प्रभावित होने के कारण रोगी हिलता-डुलता नहीं अतः शय्याव्रण होने का भय रहता है, ऐसा न होने पाये इसकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये।

इसके लिये विशेष औषधि सोडा सैलिसिलास मात्रा—१५-६० ग्रेन है। जितनी अधिक मात्रा में (जिससे कि विष प्रभाव उत्पन्न न हों)

दिया जा सके, उतना ही अच्छा है। कम-से-कम २० ग्रेन की मात्रा से आरम्भ करें, दिन में ३-४ घण्टे बाद दें दिन में १०० ग्रेन देने से प्रायः कोई हानि नहीं होती, सोडाबाईकार्ब समभाग मिलाकर देने से विशेष लाभ होता है। यदि सोडा सैलिसिलास से भी लाभ न हो, तो इसी का इंजेक्शन भी दे सकते हैं, सोडियम आयोडाइड और सोडियम सिलीसिलेट का इंजेक्शन दिया जाता है। यदि इसके प्रयोग से विष के लक्षण उत्पन्न होने लगें तो इसे बन्द करके ऐस्पिरीन देना आरम्भ कर दें यदि पीड़ा अधिक हो और नींद न आती हो तो 'अहिफेन' दे सकते हैं।

सोडा सैलिसिलास का विषप्रभाव—कानों में घूं घूं होने लगती है, सिर में चक्कर आने लगते हैं, श्वास लम्बे-लम्बे आते हैं। प्रलाप और वमन आदि लक्षण होते हैं।

सन्धि पर सेंक देते रहें, और उसे सदा उष्ण रखने का प्रयत्न करें। उस पर फलालेन, कपास, ऊन आदि की पट्टी बांधे रहें। रोग शान्ति पर भी रोगी को आराम से लिटायें रखें और खाने-पीने को पौष्टिक पदार्थ दें। इस रोग में कोष्ठबद्धता की ओर ध्यान देना चाहिये। बीच-बीच में मृदु-विरेचन या वस्ति देते रहें। भोजन सुपाच्य और मृदु होना चाहिये। हृदयविकार के लिये कोई विशेष औषधि नहीं, केवल विश्राम ही है। यदि हृदय दुर्बल हो और तीव्र गति कर रहा हो तो टिंचर डिजिटेलस ५-१५ बूंद और औषधियों में मिलाकर दें। रोग शान्ति के बाद दुर्बलता बहुत धीरे-धीरे ठीक होती है। इस अवस्था में पौष्टिक और बलवर्द्धक औषधियां देनी चाहिये। शोथ की सर्वथा शान्ति पर, रुग्ण संधि का सावधानी से अभ्यंग और उसके साथ गति आरम्भ कर दें और तब तक आरम्भ रखें जब तक उस सन्धि में पूर्ण गति प्राप्त न हो जाय।

संधिवात (Rheumatoid Arthritis)

संधिवात दो प्रकार के बताए जाते हैं।

(१) साधारण (Classical Type)—जिसका वास्तविक कारण अभी तक ज्ञात नहीं हो पाया।

(२) संक्रामित (Infective Type) इस रोग में संधियां अधिक संख्या में विशेषकर हाथ और पांव को प्रभावित होती हैं, और उनमें शोथ तथा पीड़ा होती है। यदि रोग रोका न जाय तो संधियां सदा के लिये विकृत हो जाती हैं।

कारण—अभी तक इसका वास्तविक कारण ज्ञात नहीं हो सका, प्रायः दन्तपूय, मुखपाक या शरीर में अन्य स्थान पर पूय की चिरकाल उपस्थिति से यह रोग होता है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में यह रोग अधिक देखा गया है और २० से ४० साल तक की आयु में होता है, यह भी देखा गया है कि बहुप्रसूता को यह रोग प्रायः होता है।

सम्प्राप्ति—सन्धि के इतस्ततः के कोमल तन्तु शोथमय हो जाते हैं, यह शोथ आगे चलकर संधि के कोष को प्रभावित कर देता है, कालान्तर में वहां की कार्टिलेज (Cartilage)शोथमय हो जाती है। शनैः-शनै यह शोथ चारों ओर बढ़ती जाती है। कार्टिलेज नष्ट होकर वहां व्रण से रह जाते हैं, परिणामतः कुछ वर्षों के बाद संधि के दोनों ओर की कार्टिलेज खाये जाने से अस्थियां नग्न हो जाती हैं अन्ततः वे जुड़ जाती हैं, और संधि अचल बन जाती है तथा प्रभावित संधियों की अस्थियां, अस्थि, बन्धन, मांस-पेशियां, कन्ड्रायें और त्वचा शनैः शनैः क्षीण हो जाती हैं।

इस रोग में रक्ताणुओं का कण निधान का काल (Sedimentation) बढ़ जाता है अर्थात् रक्त कण देर से नीचे बैठते हैं, यही इस रोग की पहचान हैं। यदि निधानकाल कम हो जाय तो समझना चाहिये कि रोग शान्ति की ओर जा रहा है।

लक्षण—रोग के वास्तविक लक्षण संधिशूल, संधिशोथ आदि

उत्पन्न होने से पहले पूर्व रूप में क्षीणता, दुर्बलता, शारीरिक और मानसिक थकावट प्रायः सब रोगियों में उत्पन्न होते हैं। किसी किसी रोगी में आरम्भ से ही संधियों पर अथवा हाथ और पाँव में थोड़े-थोड़े काल के लिये विवर्णता (नीलावर्ण) और स्पर्श असहिष्णुता, अधिक स्वेद, हृदय की तीव्र गति और रक्तन्यूनता आदि लक्षण देखे जाते हैं किसी-किसी रोगी में सन्धि शोथ और संधिशूल आदि लक्षण भी आरम्भ से उपस्थित होते हैं। किसी-किसी रोगी में संधिशोथ आदि लक्षण कुछ काल के बाद आरम्भ होते हैं। हाथों की अंगुलियों के अन्तिम और दूसरे पर्व में शोथ और पीड़ा दृष्टिगोचर होने लगती है।

कई रोगियों में यह पीड़ा अत्यधिक होती है और ज्वर भी उपस्थित होता है। अन्य रोगियों में चिरकाल तक पीड़ा मन्द-मन्द रहती है तथा ज्वर भी मन्द-मन्द विषम रूप से आता रहता है, हाथ की मांसपेशियां क्षीण होने लगती हैं, विशेषकर हाथ के पीछे की तरफ की मांसपेशियां।

पहले हाथ और पाँव की संधियां प्रभावित होती हैं, पश्चात् कलाई, टखना, कोहनी, घुटना, कन्धा, वंक्षण और हनुसंधियां प्रभावित होती हैं। इस रोग में विशेषता यह है कि जब कोई सन्धि प्रभावित होती है तो दोनों ओर की संधियां प्रभावित होती हैं। इस रोग में पीड़ा रात को अधिक होती है। जब नई सन्धि प्रभावित होती है तो ज्वर कुछ काल के लिये अधिक हो जाता है।

यदि रोग न रुके तो कुछ वर्षों के बाद सन्धियों में विशेषकर हाथ, पांव, और कलाई की सन्धियों में स्तब्धता और विकृति आ जाती है, रोगी चलने-फिरने में असमर्थ हो जाता है। बीच-बीच में रोग के वेग कुछ काल के लिये कम हो जाते हैं, पुनः बड़े जोर से आने लगते हैं। किन्तु स्त्रियां जब गर्भवती होती हैं तो इस रोग के वेग कम हो जाते हैं, अथवा रोग लुप्त हो ही जाता है, किन्तु प्रसव के बाद लक्षण पुनः पहले से भी तीव्रावस्था में उपस्थित हो जाते हैं।

रोगपरिणाम—जब रोग बड़ी आयु में आरम्भ हो तो कष्टसाध्य नहीं होता और बहुत धीरे-धीरे बढ़ता है किन्तु यदि रोग अल्प आयु में शुरू हो तो उतना ही अधिक कष्टसाध्य होता है और जल्दी-जल्दी बढ़ता है। इस रोग में बड़ी सावधानी और तत्परता से चिकित्सा करनी पड़ती है। लगभग २०–२५% रोगी को पूर्णतया आराम हो जाता है और ५०% रोगी को पर्याप्त आराम हो जाता है और २०% को थोड़ा आराम हो जाता है और १०%को किसी प्रकार की चिकित्सा से रोग की शांति तथा लक्षणों में न्यूनता होती ही नहीं, सब औषधियां और चिकित्सा व्यर्थ होती है।

चिकित्सा—इसके लिये कोई विशेष चिकित्सा नहीं तत्काल कष्ट निवारणार्थ निम्नोक्त औषधियें बरती जाती हैं :

१. आटोफेन (Atophan) या सिनकोफान (Cinchophan)
२. इर्गापाईरीन (Irgapyrine)
३. ब्यूटाजालिडीन (Butazolidine)

यह औषधियाँ गोलियों के रूप में अथवा इंजेक्शन के रूप में बरती जाती हैं।

इंजेक्शन सावधानी से देने चाहियें। प्रत्येक की विधि साथ दी होती है। रोगी को पौष्टिक सुपाच्य और खाद्योज 'ख' 'ग' (Vitamin B & C.) वाला भोजन देना चाहिये जो रोगी क्षीण हों उनको पुष्टिकर आहार दें यथा दूध, घी, माखन, मलाई आदि।

तीव्र अवस्था में रोगी को पूर्ण रूप से आराम दें शोथ के समय संधियों से काम न लें, जब शोथ न हो या कम हो तो प्रभावित संधियों पर सेंक, स्वेद, अभ्यङ्ग और गति कराते रहना चाहिये। यह ध्यान रहे कि रोगी को विबन्ध न होने पाये।

यदि मुखपाक, दन्तपूय या किसी अन्य स्थान पर चिरकाल से पूय

उपस्थित हो यथा-उपान्त्र शोथ (Chronic Appendicitis) तो उसकी ओर विशेष ध्यान दें और उसे दूर करें।

औषधि चिकित्सा—इसके वास्ते मल्ल और स्वर्ण के योग विशेष लाभकारी हैं।

यथा—समीर पन्नग, वात चिन्तामणि, विशेष गुणकारी हैं।

योग—आरोग्यवर्धिनी ४ र०
समीरपन्नग ½ र०
वातचिन्तामणि ½ र०

ऐसी दो मात्रा,-पुनर्नवादि क्वाथ के साथ अथवा दशमूलादि क्वाथ के साथ दिन में दो-तीन बार दें।

इसमें पुराने वंश का चूर्ण। मात्रा ६ या १२ माशे विशेष लाभ करता है।

योगराजगुग्गुल, या बृहत्योगराजगुग्गुल या सिंहनादगुग्गुल दूध के साथ दिन में २-३ बार देना चाहिये।

एलोपैथिक में एतदर्थ मायोक्राईसीन (Myocrysin) मांसगत इंजेक्शन देते हैं। उससे मूत्र में एल्ब्यूमिन आने का भय है अतः यह औषधि वृक्क रोगों में नहीं देते, तथा इसके प्रयोग काल में भी सदा समय-समय पर मूत्र में एल्ब्यूमिन परीक्षा करते रहना चाहिये।

मात्रा—इसको अत्यल्प मात्रा (०.०१ ग्राम से आरम्भ करें, और शनैः शनैः बढ़ायें, दूसरी मात्रा ०.२५ ग्राम, तीसरी ०.०५ ग्राम) इसी प्रकार ०.१ ग्राम तक ले जायें यही मात्रा जारी रखें। सप्ताह में केवल एक इंजेक्शन देना चाहिये। लगातार देकर भी औषधि की कुल मात्रा १.५ ग्राम से न बढ़ायें। कुछ मास (३-४ मास) बंद कर पुनः दे सकते हैं।

प्रयोग करके देखा गया है कि आयुर्वेद के स्वर्ण योग, तथा समीर-पन्नग वा वशं चूर्ण बहुत लाभ करते हैं। इस रोग में सोडासैलिसीलेट कोई लाभ नहीं करता।

तीव्र गल-ग्रन्थि शोथ

पर्याय—तीव्र गल ग्रन्थि शोथ, कण्ठ पाक, एक्यूट टान्सलाइटिस (Acute Tonsillitis)

परिचय—कंठ व गलग्रन्थियों में अकस्मात शोथ उत्पत्ति को तीव्र गलग्रन्थि के नाम से कहते हैं। इसमें ज्वर, शाखाओं में पीड़ा इत्यादि लक्षण उपस्थित होते हैं।

वैसे तो इसका वर्णन कंठ के रोगों में आना चाहिये परन्तु इस रोग के और आमवात रोग के बीच परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है, दोनों के कीटाणु समान हैं तथा गलग्रन्थि से ही आमवात कीटाणु शरीर में प्रविष्ट होता है, कई आचार्यों का मत है कि दोनों एक ही प्रकार के कीटाणुओं से होते हैं अतः इसका वर्णन यहां आमवात के साथ ही करना उचित है। यहां उस तीव्र गलग्रन्थि शोथ का वर्णन है जो आमवात के स्ट्रेप्टोकाकस के समान कीटाणुओं से उत्पन्न होता है। अन्य कारणों से उत्पन्न गलग्रन्थि शोथ का नहीं। उनका वर्णन शल्य चिकित्सा की पुस्तकों में देखें।

गलग्रन्थि शोथ अनेक रोगों का उपद्रव भी है यथा रोमांतिका, मसूरिका, वातश्लेष्कि ज्वर और अनेक प्रकार के कीटाणु इसमें स्वतन्त्र रूप से भी शोथ उत्पन्न कर देते हैं। लक्षण सब के समान होते हैं। परन्तु यह तीव्र गल ग्रन्थि शोथ सदा स्ट्रेप्टोकाकस से ही होता है। एक बार इससे शोथ उत्पन्न होकर रोग शान्ति के बाद भी गल ग्रन्थियां थोड़ी बहुत बढ़ी हुई रहती हैं। समय-समय पर उसमें तीव्र लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

यह रोग प्रायः बालकों और नवयुवकों को होता है। २ वर्ष की आयु से कमवाले बालकों में तथा प्रौढ़ावस्था के बाद नहीं होता। श्रम, शीत, क्लिन्नता इसके परम सहायक हैं, वसन्त और वर्षा ऋतु तथा

उष्ण और आर्द्र देशों में इसके आक्रमण अधिक होते हैं। शारीरिक दुर्बलता, थकावट और गन्दे मकानों में निवास इस रोग के आक्रमण का क्षेत्र तैयार करते हैं। विचार यह है कि भूअन्तर्गत गन्दी नालियों से निकली हुई वायु ही इस रोग को फैलाने का विशेष साधन है तथा दूषित दूध और पानी द्वारा संक्रमण प्रसार पाता है।

लक्षण—अकस्मात शीत लगकर १०३–१०४ फा० तक ज्वर हो जाता है। कटि और शाखाओं में पीड़ा होती है, कण्ठशोथ और ग्रीवास्तम्भ हो जाता है, गलग्रन्थियां बढ़ जाती हैं, ग्रीवा की लसीका ग्रन्थियां भी बढ़ी हुई होती हैं, रोगी को खाने और चबाने में पीड़ा प्रतीत होती है। जिह्वा मलीन और रूखी होती है, प्रायः कोष्ठबद्धता रहती है, मूत्र थोड़ा, गाढ़ा और अत्यन्त रक्तवर्ण का आता है।

ज्वर प्रायः ५–७ दिन रहकर उतर जाता है किन्तु गलग्रन्थियां कई दिन तक बढ़ी रहती हैं। रोग के पुनः-पुनः आक्रमण की सम्भावना रहती है। कभी-कभी आमवात रोग के समान इसमें भी हृदय विस्तृत हो जाता है, इसके कपाटों में विकृति आ जाती है और हृदय प्रभावित हो जाता है। यह रोग (ग्रीवा गलग्रन्थि शोथ) कभी-कभी महामारी के रूप में भी फैल जाता है।

रोगमीमांसा—गले पर दृष्टि डालने से रोग का शीघ्रता से ज्ञान हो जाता है। गलग्रन्थि शोथयुक्त और रक्तमय होती है। जब इसके ऊपर झिल्ली आ जाये तो रोहिणी से पहचानने की आवश्यकता होती है। इस रोग में झिल्ली गलग्रन्थि तक ही सीमित रहती है और जल्दी उखड़ जाती है, किन्तु रोहिणी में झिल्ली इधर-उधर फैल जाती है और उखाड़ना कठिन होता है। यदि सन्देह हो तो झिल्ली की अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा परीक्षा करा लेना चाहिए।

चिकित्सा—रोगी को आराम से लिटाए रखें, गर्म कपड़े पहिनावें,

उसका कमरा गर्म परन्तु हवादार रहना चाहिए। गले के ऊपर गर्म सेंक देकर गर्म कपड़े से लपेटे रखें। गरम पुल्टिस अथवा एन्टीफ्लोजिस्टीन से गर्म सेंक दे सकते हैं। कई डाक्टर गले के बाहर गरम सेंक न देकर शीत क्रिया का प्रयोग करते हैं, इससे भी लाभ होता है परन्तु उसे रोगी में दोनों प्रकार की चिकित्सा न करके केवल एक प्रकार दोने चिकित्सा करनी चाहिए। उत्तम यह है कि शीत ऋतु में उष्ण सेंक और उष्ण ऋतु में शीत क्रिया का प्रयोग करें। गले में उष्ण लवण जल के गरारे कराएं या यंत्र द्वारा इस जल को छिड़कें। गले पर मेण्डलल्स पेन्ट या कास्टिक ४ प्रतिशत, अथवा मधु स्फुटिका बोरोग्ली-सरीन, या मधुसौभाग्य लगाएं पेनिसिलीन लोजेंजेज़ (Penicillin Lozenges) चूसने से विशेष लाभ होता है। अन्तः प्रयोगार्थ सोडा सेलिसिलास विशेष लाभ पहुँचाता है। इसकी मात्रा वही है जो आमवात में लिख आये हैं।

पेनिसिलीन का इंजेक्शन इसमें विशेष लाभ करता है। इसके देने से रोग की अवधि और मर्यादा कम हो जाती है। सल्फाड्रग्स भी इस इस रोग में बहुत लाभ करते हैं। पेनिसिलीन और सल्फाड्रग्स के प्रयोग और मात्रा का वर्णन अध्याय ८ में किया है। यह विचित्र बात है कि पेनिसिलीन और सल्फाड्रग आमवात में तो लाभ नहीं करते परन्तु इसमें करते हैं। सल्फाड्रग में सल्फाडायजीन, सल्फाथायजोल, सल्फमिराजीन तथा सल्फाट्रायड इनमें से कोई एक ही प्रयुक्त होता है।

— ——

अध्याय १७

,नव.
दूषि

संसर्गिक रोग

इस अध्याय में उन रोगों का वर्णन किया जायगा जो मैथुन द्वारा प्रसार पाते हैं।

(१) उपदंश

(२) भृशोष्णवात

उपदंश

पर्याय—उपदंश, आतशक, सिफलिस (Syphilis) फिरंग रोग।

परिचय—यह एक चिरस्थायी संसर्गिक रोग है जो एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक प्रायः सदा सहवास से ही पहुँचता है। इसमें आरम्भ में बाह्य जननेन्द्रिय पर व्रण बन जाता है। पीछे रोगाणु रक्त में जाकर विविध लक्षण उत्पन्न करते हैं।

कारण—इसका कारण एक विशेष प्रकार का कर्षिणी आकार का जीवाणु है जिसे स्पाइरोनिमा पैलिडम (Spironema Pallidum) या स्पाइरोकीटा (Spirochaeta) कहते हैं। ये जीवाणु ८–१४ माइक्रान लंबा होता है इसमें ८–१०–१२ चक्र से होते हैं इसके दोनों सिरों पर बारीक पुच्छ होती है जिसके कारण ये गति करता है। ये उपदंश की प्रथमावस्था के सब व्रणों में पुष्कल मात्रा में पाया जाते हैं तथा दूसरी अवस्था के त्वचा और श्लेष्मिक कला के छालों और विस्फोट में तथा सहज उपदंश युक्त शिशु के यकृत में भी पाये जाते हैं परन्तु प्रथमावस्था के व्रणों की अपेक्षा कम। तीसरी अवस्था के ग्रन्थि और व्रणों में अत्यन्त कम होते हैं परीक्षा द्वारा कदाचित मिलें तो मिलें अन्यथा नहीं मिलते। यह रोग एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक सदा

प्रथमावस्था के या कदाचित द्वितीयावस्था के व्रणों और छालों के स्राव द्वारा प्रसार पाता है। प्रायः मैथुन द्वारा ही संक्रमण प्रसार होता है। विरल अवस्थाओं में दूषित बरतनों द्वारा प्रसार पाता है। जिसके ओष्ठों पर उपदंशज व्रण हों यदि वह किसी बरतन से पानी पीये उस बरतन से जब कोई अन्य व्यक्ति पानी पीयेगा, तो उसे भी इसके होने का भय रहेगा। इस प्रकार हुक्का, सिगरेट, सिगार द्वारा अथवा ओष्ठ चुंबन से भी रोग फैल सकता है। मैथुन द्वारा रोग फैलने के लिये यह आवश्यक है कि बाह्य जननेन्द्रिय पर कोई उपदंशज व्रण हो। प्रथमावस्था के व्रण इसके प्रसार में सबसे अधिक उत्तरदायी हैं और द्वितीयावस्था के व्रणों का उत्तरदायित्व बहुत ही कम है परन्तु तृतीयावस्था के व्रणों से तो रोग के फैलने का अभाव ही समझना चाहिये। दूसरे शब्दों में यूं भी कह सकते हैं कि दो वर्ष पीछे अर्थात् द्वितीयावस्था की समाप्ति के बाद रोगी से रोग फैलने की सम्भावना का अभाव ही समझना चाहिये और पांच साल के पश्चात् तो उससे रोग प्रसरण कभी हो नहीं पाता। माता-पिता से भी यह रोग बच्चों में आता है।

सम्प्राप्ति—**प्रथमावस्था**—जीवाणु स्पृष्ट स्थान पर व्रण उत्पन्न कर देता है। जिस स्थान पर जीवाणु प्रवेश पाता है, वहां शोथ उत्पन्न कर देता है। एक सेल से अनेक बन जाते हैं। वहीं इनके इतस्ततः छोटी-छोटी गोल सेलें एकत्रित हो जाती हैं। इनके बाहर सौत्रिक तन्तुओं की तहें बन जाती हैं, तथा वहां की रक्तवाहिनियों की रक्तधराकला शोथ युक्त हो जाती है अतः इनका मार्ग तंग हो जाता है। मार्ग की तंगी से रुग्ण स्थान पर औषधि नहीं पहुँचती और कीटाणु मरने नहीं पाता। यही कारण है कि अनेक बार शिश्नस्थ व्रण पुनः-पुनः हरे हो जाते हैं। स्थानिक लसीका ग्रंथियां बढ़ जाती हैं। दूसरी और तीसरी अवस्था में जहां कीटाणु जाकर बैठता है प्रथमावस्था की सी क्रिया होती है। परन्तु जीवाणु कम संख्या में होते हैं।

द्वितीयावस्था—प्रथमावस्था के व्रण से लसीका वाहिनियों द्वारा जीवाणु लसीका ग्रन्थियों में पहुँचकर वहां शोथ उत्पन्न कर देता है। छः सप्ताह में जीवाणु लसीका ग्रन्थियों में से गुजरकर रक्त में पहुँच जाता है। रक्त द्वारा भ्रमण करता हुआ जिस-जिस स्थान पर बैठता है वहीं-वहीं की त्वचा तथा श्लेष्मिक कला में पीड़िकायें, कीलक, छाले या चोट उत्पन्न कर देता है, सारे शरीर की लसीका ग्रंथियां बढ़ जाती हैं। इनका भी वही स्वरूप होता है जो प्रथमावस्था में वर्णन किया गया है। दूसरी अवस्था ६ सप्ताह से लगभग २ वर्ष तक रहती हैं।

तृतीयावस्था—द्वितीयावस्था के पश्चात् जीवाणु शरीर के अन्दर विशेष स्थान पर भिन्न-भिन्न अंगों में बैठ जाते हैं और वहीं ग्रन्थियां उत्पन्न कर देते हैं जिन्हें श्यानग्रन्थि या गमा (Gumma) कहते हैं। ये छोटी-बड़ी दृढ़ गाठें होती हैं इतस्ततः मांस पेशियों आदि से बिलकुल जुड़ी हुई होती हैं, इनका परिमाण कहीं छोटा और कहीं बड़ा होता है, ये भी प्रथमावस्था में वर्णन अनुसार क्षुद्र गोल सेल, श्लेष्मिक सेल तथा सौत्रिक तन्तुओं से निर्मित होती हैं, कभी-कभी इनके मध्य में कई सेलें मिलकर एक बृहत सेलें बन जाती है, ग्रन्थि के केन्द्र में इस प्रकार की कई बृहत् सेलें होती हैं। जब ये श्यान ग्रन्थियां मध्य भाग से गलकर फूट जाती हैं तो व्रण बन जाते हैं। ये ग्रन्थियां शरीर में कहीं पर भी बन सकती हैं, इनके लिये कोई विशेष स्थान नियुक्त नहीं, कभी त्वचा में हैं तो कभी हड्डी में, कभी मांस पेशियों में हैं तो कभी यकृत में।

तीसरी अवस्था दो वर्ष से लेकर बीस वर्ष तक रहती है। शरीर की सब रक्तवाहिनियों की रक्तधरा कला और उसकी दीवार में शोथ हो जाती है इस शोथ के जीर्ण हो जाने पर इसके परिणामस्वरूप रक्त वाहिनियां दृढ़ रज्जु समान हो जाती हैं, उनका मार्ग संकीर्ण हो जाता है, इसीसे रक्तभार (Blood Pressure) बढ़ जाता है।

कभी-कभी बहुत वर्षों के बाद (१५–२०–२५) मस्तिष्क की रक्त-वाहिनियां में संकीर्ण मार्ग के कारण या कभी-कभी रक्त दबाव के कारण मस्तिष्क की रक्तवाहिनियां फट जाती हैं। वहां रक्त-स्कंदन होकर (जमकर) उनका मार्ग बन्द हो जाता है इन कारणों से मूर्च्छा व पक्षाघात हो जाता है, मृत्यु तक हो सकती है इनके अतिरिक्त मस्तिष्क और सुषुम्ना के रक्तवाहिनियों के इस विकार से वहां की सेलों के रक्तहीन होने के कारण अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं यथा शकुन्त गति रोग (Tabes Dorsalis) उन्माद सहित शरीर की मांस पेशियों का आघात (General Paralysis of Insane) इत्यादि। ऐसे रोग बहुत वर्षों के बाद उदित होते हैं तब तक कि रोगी को उपदंश का इतिवृत्त भूल चुका होता है, कइ वर्षों तक उसे उपदंश का कोई लक्षण नहीं था–इस अवस्था को चतुर्थावस्था भी कहते हैं।

रक्त दबाव (Blood Pressure) के चिरस्थायी होने पर तथा हृदय की मांसपेशियों की रक्तवाहिनियों में परिवर्तन के कारण चिर कालान्तर में हृदय विस्तृति हो जाता है।

परिपाक काल—२–५ सप्ताह, सीमा १०–९० दिन है।

लक्षण—प्रथमावस्था—दूषित स्थान पर पहले छोटा सा विस्फोट उत्पन्न होता है यह शीघ्र ही बड़ा होकर गोल अथवा अण्डाकार बन जाता है और फूटकर व्रण का रूप धारण कर लेता है स्पर्श से यह बटन के समान कठोर प्रतीत होता है। आवश्यक नहीं कि विस्फोट अवश्यमेव फटे, कभी नहीं भी फटता। उपदंशज व्रण में यह विशेषता है कि इसमें पीड़ा नहीं होती। निकटस्थ लसीका ग्रन्थि फूल जाती है, हाथ लगाने पर दृढ़ प्रतीत होती है परन्तु उनमें पाक कभी नहीं पड़ती, पीड़ायुक्त भी नहीं होती।

प्रथमावस्था के व्रण प्रायः स्वयमेव ४–६ सप्ताह में मिट जाते हैं। कभी-कभी इनमें अन्य रोगाणु जाकर इनको दूषित कर देते है तब

इनमें तथा इनसे दूषित लसीका ग्रन्थियों में पूय पड़ जाती है। अन्यथा उपदंश जीवाणु से कभी भी व्रण दुष्ट (पूयमय) नहीं होता। कभी-कभी तो बिना रोगी को मालूम हुए सूक्ष्म विस्फोट बनकर स्वयमेव मिट जाता है। किसी-किसी रोगी में व्रण मिट-मिटकर भी कुछ-कुछ मास बाद वहां फिर अंकुरित होते रहते हैं।

द्वितीयावस्था—रोगारम्भ के ४–१० सप्ताह बाद, (प्रथमावस्था के १–३ मास बाद) प्रायः शरीर पर विशेषतया उदर व शाखाओं पर पीड़िकायें निकल आती हैं, जो पहिले सूक्ष्म, गुलाबी रंग की होती हैं और पीछे स्थूल धूसर वर्ण की अथवा ताम्रवर्ण की हो जाती हैं।

यह आवश्यक नहीं कि पीड़िकायें अवश्य निकलें, या सदा एक ही आकार या एक ही परिमाण की हों। चाहे वे किसी वर्ण वा आकार की हों, उनमें निम्नोक्त विशेषतायें अवश्य होती हैं—

(१) शरीर के दोनों ओर समभागों पर निकलती हैं।

(२) इनका वर्ण प्रायः ताम्र या मांसवत् गुलाबी सा होता है।

(३) गोल होती हैं। जब इकट्ठी मिल जाएं तो अन्योन्यानुप्रविष्ट चक्र सी मालूम होती हैं।

(४) शरीर पर एक ही समय में भिन्न-भिन्न रूप की पीड़िकायें होती हैं, कोई कीलक के रूप में, कोई स्फोट तथा कोई छोटी-छोटी पीड़िकाओं के समान। कभी-कभी इससे मसूरिका या लघुमसुरिका का सन्देह पड़ सकता है।

इस अवस्था के अंत में कभी-कभी व्रण हो जाते हैं। ये व्रण गोल और राख के से रंग के होते हैं। इनके किनारे बिल्कुल साफ कटे हुए होते हैं। यदि इनको स्वच्छ न रखा जाये तो इन पर स्राव जमकर कठोर सा खुरण्ड बन जाता है। मलिन और दरिद्री रोगियों में इस प्रकार के कई व्रण दिखाई देते हैं।

इनके अतिरिक्त कभी-कभी निम्नोक्त अन्य कोई एक सा लक्षण भी दूसरी अवस्था में पाया जाता है :

(१) मन्द अनियमित ज्वर।

(२) कण्ठ पाक।

(३) रक्त न्यूनता।

(४) इन्द्र लुप्ति।

(५) अस्थि शोथ तथा रात के समय शिर और अस्थियों में पीड़ा।

(६) स्फोट आर्द्र स्थानों में बढ़ जाते हैं और विशेष रूप धारण कर लेते हैं ये व्रण मृदु, सपाट और उभरे हुए होते हैं, ये सदा मुख में, ओष्ठों के किनारों पर तथा नासा, गुदा और योनिमार्ग की श्लेष्मिक कला पर, जहां आर्द्रता होती है, होते हैं।

तृतीयावस्था—संक्रमण के २ से १० साल के बाद यह अवस्था उत्पन्न होती है, कभी ६ माह के बाद भी। ऐसा भी हो सकता है कि तृतीयावस्था के लक्षण उत्पन्न ही न हों। दूसरी अवस्था कब समाप्त होती है और तीसरी अवस्था कब शुरू होती है इसका ज्ञान नहीं होता या बहुत कठिनाई से होता है।

इस अवस्था के लक्षण शरीर के अवयवों में चिरकालीन स्थित क्षोभ और शोथ के कारण होते हैं। शरीर में सब क्षोभ और शोथ विस्तृत रूप में हो यथा शरीर की सब रक्त वाहिनियों में, तो इससे धमनियों में कठोरता उत्पन्न होती है और रक्त दबाव बढ़ जाता है। बहुत से अंगों में हों तो वे अंग अन्दर ही अन्दर गलने-लगते हैं—(Amyloid Changes)। जब यकृत में शोथ हो तो यकृत दाह उत्पन्न हो जाता है इत्यादि। जब क्षोभ व शोथ किसी विशेष सीमित स्थान पर हों तो वहां एक ग्रन्थि सी बन जाती है जिसे श्यान ग्रन्थि (Gumma) कहते है। यह गमा शरीर के किसी भी स्थान और किसी भी अंग में हो सकता है। कोई अंग या अवयव इसके आक्रमण से खाली नहीं।

त्वचा पर, सन्धि मांसपेशी, स्नायु, हड्डियों, अण्डकोष, मुख, कण्ठ, जिह्वा, मस्तिष्क और यकृत आदि कहीं पर भी हो सकता है, अलवत् पौरुष ग्रन्थि (Prostate Gland) में नहीं होता।

यह ग्रन्थि शनैः-शनै बढ़ती है और अन्दर से गलती और फट जाती है और व्रण बन जाता है। कभी ग्रन्थि छोटी सी गोली के समान होती है और कभी बढ़कर बड़े निब्बू जैसी हो जाती है। इन ग्रन्थियों की विशेषता यह है कि वे पीड़ा नहीं करतीं। व्रण बनने के बाद जब इसका आरोपण होता है तब स्थान विशेष पर विकृति रह जाती है। लक्षण स्थान अनुसार होते हैं, जब त्वचा पर ग्रंथि होगी तो इसके फटने से त्वचा पर व्रण हो जायगा, जब अस्थि में होगी तो वहां अत्यंत पीड़ा होगी विशेषकर रात्रि के समय इत्यादि। किसी-किसी रोगी में रक्तकण नाश के कारण तथा विषप्रभाव से रक्त न्यूनता हो जाती है।

इससे गर्भवती स्त्रियों में गर्भ नहीं ठहरता, बार-बार गर्भपात होते हैं या मृत बालक जन्मता है अथवा उपदंश रोग से पीड़ित बालक पैदा होता है। बहुत वर्षों के बाद ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। कई डाक्टर इसे चतुर्थ अवस्था के लक्षण मानते हैं। स्त्रियों में गर्भस्थ शिशु के मर जाने के कारण ही गर्भपात होता है। इन गर्भपातों में एक विशेषता होती है कि पहली बार ४–५ मास के गर्भ का और इसी क्रम से अधिकाधिक काल के गर्भ का पात होते होते अन्त में मृत गर्भ जन्मता है, तदनन्तर अल्प जीवी सहज उपदंश युक्त सन्तान उत्पन्न होती है, उतरोत्तर दीर्घायु के बालक जन्मते हैं उनमें उपदंश के लक्षण क्रमशः मृदु होते जाते हैं।

चतुर्थावस्था—रोग के आक्रमण के कई वर्षों (१५–२०–२५) बाद इस अवस्था के लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसका कारण सदा मस्तिष्क और सुषुम्ना की नाड़ियों में स्थायी रूप से परिवर्तन है और मस्तिष्क की प्रभावित स्थान की सेलों का क्रमशः नाश होना है। इससे पक्षाघात

अपस्मार, मूर्च्छा, उन्माद, शकुन्तगति आदि रोग लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। चतुर्थावस्था सदा गुप्त रूप से आरम्भ होती है। इस अवस्था की अनेक व्याधियाँ ऐसी हैं जिनके लक्षण अकस्मात् आरम्भ होते हैं जैसे पक्षाघात, मूर्च्छा आदि और कई व्याधियाँ गुप्तरूप से तथा शनैः शनैः उत्पन्न होती हैं यथा शकुन्तगति रोग तथा उन्माद। स्मरण रहे कि चतुर्थावस्था के लक्षण सदा वातिक (Nervous) होते हैं। तथा चतुर्थावस्था उनमें ही होती है, जिनमें चिकित्सा पूर्ण और विधिपूर्वक न की गई हो। रोगी में कई वर्षों तक उपदंश के कोई लक्षण नहीं होते, रोगी समझता है कि रोग शान्त हो चुका है।

रोगमीमांसा—जननेन्द्रिय पर प्रथमावस्था के व्रणों को पहचानना प्रायः कठिन नहीं होता। संदिग्ध आचरण वाले व्यक्ति से सहवास का वृत्त मिलता है अलबत्ता शरीर के अन्य स्थानों पर यदि व्रण हो जाये तो उपदंश की ओर ध्यान नहीं जाता और रोगमीमांसा में चूक हो जाती है। यह उक्ति प्रसिद्ध है कि जननेन्द्रिय पर व्रण जो शोथ और लालिमा रहित हो तथा शरीर के अन्य भागों में जो व्रण चिरस्थायी और पीड़ा न देनेवाले हों उपदंशज व्रण समझना चाहिये। व्रण में से या निकटवर्ती लसीका ग्रन्थियों से स्राव लेकर परीक्षा द्वारा यह निश्चय करा लेना चाहिये कि उसमें उपदंश कीट हैं या नहीं। स्राव की परीक्षा तत्काल करनी चाहिये। स्राव लेने की विशेष विधि है। इसके रोगी को विशेषज्ञ के पास भेज दें।

उपदंशज व्रण में निम्नलिखित लक्षण होते हैं। शोथ के चिह्नों का अभाव, पीड़ा का अभाव, व्रण के इतस्ततः कठोर, दृढ़, चक्र सा बना हुआ होता है, अन्य व्रणों के समान इस व्रण से शीघ्रता से रक्त और पूय का स्राव नहीं होता। निकटवर्ती लसीका ग्रंथियां बढ़ जाती हैं परन्तु उनमें भी शोथ के लक्षण और पीड़ा का अभाव होता है और वे पककर पूयमय नहीं होती। हां, जब कभी व्रण को स्वच्छ न रखा

जाये और वह बाह्य पूय-उत्पादक कीटाणुओं से दूषित हो जायें तो लसीका ग्रंथियां शोथयुक्त होकर पक सकती हैं।

मैथुन द्वारा जननेन्द्रिय पर एक और प्रकार का भी व्रण होता है जो शोथ, लालिमा और पीड़ायुक्त होता है, उससे रक्तमय स्राव निकलता और वह इतस्ततः कठोर नहीं होता। इसके निकट के लसीका ग्रन्थियों में शोथ हो जाती है, वहां पीड़ा होती है और वह जल्दी पककर विद्रधि का रूप धारण कर लेती हैं। इन दोनों की पहिचान इस बात से भी हो सकती है कि उपदंशज व्रण सहवास के दस दिनों के बाद होता है और यह (दूसरी प्रकार का व्रण) दो तीन दिन के अन्दर अन्दर हो जाता है इसको डाक्टरी भाषा में शैंक्रायड (Chancroid) कहते हैं।

द्वितीयावस्था का निदान—जिस रोग में जननेन्द्रिय पर व्रण का वृत हो और व्रण उत्पत्ति के दो साल के अन्दर शरीर पर स्फोट, मण्डल या चकत्ते आदि निकल आयें तो इसे उपदंश समझना चाहिये। इन मण्डलों और चकत्तों में न तो खाज होती है और नहीं किसी प्रकार की वेदना। इनका रंग या तो ताम्र वर्ण का होता है या गुलाबी रंग का। ये शरीर के दोनों ओर समान भाग पर होते हैं अधिकतर शाखाओं में अन्दर की ओर। उपदंशज व्रण उत्पत्ति के थोड़े काल बाद ही उपदंशज कीट रक्त में मिल जाता है और उपदंश की रक्त सीरम चिकित्सा सिद्ध हो सकती है—वासरमेन्स रि-एक्शन (Wasser-manns re-action) या काहन रि-एक्शन (Kahn-re-action)। दूसरे शब्दों में उपदंश की द्वितीया और तृतीयावस्था में वासरमेन्स या काहन टेस्ट आदि ही इस रोग की वास्तविक पहिचान है। शरीर में चिरस्थायी शोथ तथा उससे उत्पन्न चिरस्थायी व्रण से सदा उपदंश का ही संदेह होना चाहिये। कभी-कभी उपदंश से अत्यन्त असाधारण उपद्रव उत्पन्न होते हैं जो किसी चिकित्सा से शांत नहीं होते यथा

उपदंशज यकृत शोथ से ताप। इन अवस्थाओं में रोग मीमांसा केवल उपरोक्त सीरम परीक्षा द्वारा ही होती है।

कई वात व्याधियां ऐसी हैं जो केवल उपदंश से ही होती हैं यथा शकुन्तगति रोग, उन्माद, सहत मांसपेशियों का आघात, इन रोगों की उपस्थिति ही उपदंश की सूचक है। उपदंशज श्यान ग्रन्थि के मस्तिष्क और सुषुम्ना के भिन्न-भिन्न भागों में होने के कारण लक्षण विविध प्रकार के हो सकते हैं। अतः अस्पष्ट वात व्यधियों में तथा पक्षाघात के रोगियों में वासरमेन अथवा काहन परीक्षा करा लेनी चाहिये। यह स्मरण रहे कि उपदंश के कारण वात व्याधियों की उत्पत्ति सदा रोग आरम्भ से १५–२० वर्ष बाद होती है तब तक रोगी उपदंश का हो चुकना भी भूल चुका होता है। अतः संदिग्ध अवस्था में टेस्ट करा लेना चाहिये और उत्तम तो यह है कि सुषुम्ना नाड़ी का पानी (सौषुम्न-शीर्षाम्बु) निकाल कर इसका वासरमेन्स या काहन टेस्ट करा लें। यदि रक्त में ये क्रियायें सिद्ध न भी हों परन्तु यदि वे रोग उपदंश के कारण से हैं तो सौषुम्न शीर्षाम्बु में अवश्य सिद्ध होंगी।

चिकित्सा—प्रतिरोधक—सबसे उत्तम यह है कि संदिग्ध व्यक्तियों से सहवास न किया जाय, यदि न रहा जाय तो रबर के आवरण इस्तेमाल करने चाहिये। इनको फ्रैन्च लेदर कहते हैं, लेदर पुरुषों के इन्द्रिय के आवरण तो मिलते है परन्तु स्त्रियों के नहीं। उनके लिये (Check Pessaries) चेकपैसरीज़ मिलती हैं जो योनि मुख पर टोपी के समान चढ़ाई जाती है। चाहे रबर का आवरण प्रयुक्त किया जाय या नहीं, जनेन्द्रिय तथा उसके संलग्न सब स्थान को जो मैथन के समय संपर्क में आते हैं मैथुन के तत्काल बाद साबुन से अच्छी तरह धोकर मरक्यूरी लोशन (1–2000 Mercury Potassium Iodide or Mercury Oxicynide Lotion) से उस भाग को १५-३० मिनटों तक तर देखें तत्पश्चात् वहाँ पर पादर मलहम (Ungy

Hrdpargyri) की अच्छी तरह से मालिश करें, केवल मलहम के लगाने से कोई लाभ नहीं। यह ध्यान रहे कि शिश्न मुख के थोड़े अन्दर की ओर भी व्रण के होने की संभावना रहती है, इसलिये उस स्थान की भी उपरोक्त विधि से साफ करना चाहिये।

शमन-चिकित्सा—सहवास के १५ दिन बाद तक कीटाणु लसीका ग्रन्थि तक पहुँच चुका होता है अर्थात् तब इसका रक्त में पहुँचना निश्चित हो जाता है उपदंश व्रण भी १५ दिन पर निकलता है। अतः प्रथमावस्था के व्रण उत्पत्ति के बाद बाह्य और अन्तः उपचार दोनों की आवश्यकता है, परन्तु तब भी जितनी जल्द चिकित्सा आरम्भ की जाय उतना ही अच्छा है, रोग शीघ्र और पूर्ण रूप से शांत हो जाता है जितनी देर से चिकित्सा आरम्भ की जाय उतनी ही चिकित्सा लम्बी होती है और पूर्ण शांति होना भी उत्तरोत्तर कठिन होता जाता है। बाह्य प्रयोगार्थ पारद की मलहम बहुत उत्तम है। यदि व्रण पूयात्मक कीटाणुओं से दूषित हो चुका हो तो उस व्रण को स्वच्छ कर उस पर सलफाथायजाल आयन्टमेन्ट लगायें या उसको कार्बोलिक एसिड और कर्पूर समभाग (Camphor & Carbolic Acid) मिलाकर व्रण पर १-२ बार लगायें। इसके बाद प्रतिदिन केलोमल और बेरिक एसिड समभाग का (Calomal and Boric Acid equal parts) अवचूर्ण उस पर छिड़कते रहें। छिड़कने के पूर्व हाइड्रोजन पर आक्साइड से व्रण को साफ कर लेना चाहिये। व्रण को स्वच्छ रखना आवश्यक है।

रोग निवारणार्थ निम्नलिखित औषधियां अन्तः उपचारार्थ काम में लाई जाती हैं—

प्रोकेन पेनिसिलीन ४ लाख दो बार दिन में १० दिन तक पहले दिन डायमीन पेनिसिलीन (Diamin Penicillin) १२ लाख दे दें, तो बहुत अच्छा है। यह चिकित्सा प्रथम अवस्था के लिय निश्चयात्मक है। द्वितीय और तृतीय अवस्था में भी इसी चिकित्सा को देखकर आजमा कर देख लेना चाहिये।

चिकित्सा के ६ मास और १ साल बाद काहन टेस्ट या वासरमेन टेस्ट करा कर देख लेना चाहिये। यदि वह सिद्ध न हों तो समझ लें, कि उपदंश शान्त हो चुका है। अन्यथा नीचे लिखी एन० ऐ० बी की चिकित्सा करें।

(१) पारद (Mercury)। (२) मल्ल (Arsenic) (३) बिस्मथ (Bismuth) (४) पेनिसिलीन। पूर्वकाल में पारद ही उपदंश की विशेष चिकित्सा थी अब मल्ल और बिस्मथ ने उसका स्थान ले लिया है। उपदंश की चिकित्सा के लिये यह आवश्यक है कि दूसरी अवस्था के बाद जब कभी चिकित्सा करें तो बहुत दिनों तक चिकित्सा जारी रखी जाय। थोड़े काल चिकित्सा करने पर तत्काल लक्षण शांत हो जाते हैं परन्तु उपदंश के जीवाणुओं का सर्वनाश नहीं होता और गुप्तरूप में अन्दर रहकर कई वर्षों के बाद अपने उपद्रव प्रकट करते हैं विशेषकर वात व्याधियां, तब कुछ नहीं हो पाता।

पारद चिकित्सा—निम्नोक्त विधियों से पारद का उपयोग होता है—

(१) पारद योगों की मालिश यथा पारद मरहम अथवा पारद को बेरी के पत्तों के साथ रगड़कर लुगदी बनाकर उसकी मालिश। इस विधि के प्रयोग की कठिनता होने के कारण इसका प्रयोग कम हो गया है।

(२) मुख द्वारा अनेक औषधियां काम में लाई जाती हैं परन्तु सबसे उत्तम यह है—हायड्रारजीरम कम क्रीटा मात्रा १-२ ग्राम (Hydrargyrum Cum-Creta, gms. 1 to 2) इसका नाम ग्रे पाउडर भी है। यह औषधि सहज उपदंश से पीड़ित शिशुओं और बालकों में अधिकतर उपयोग में लाई जाती है। बड़ों में इसकी आवश्यकता तब पड़ती है जब आर्सेनिक के इंजेक्शन रोगी के प्रतिकूल पड़ें। पारद से पूर्णतया आराम आने की संभावना कम होती है, बहुत काल तक देने से इसके विष परिणाम प्रगट हो जाते हैं और थोड़े काल देने से लक्षण शांत हो जाते हैं परन्तु रोग मिटता नहीं, अन्दर रह जाता है। आयुर्वेद

में सुधानिधि या दाल चिकना (१-२ चावल) इस काम के लिए प्रयुक्त होते हैं परन्तु इसके प्रयोग से शीघ्र ही मुखपाक हो जाता है और विष के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इन कारणों से पारद चिकित्सा को नहीं बरतते।

आर्सेनिक और बिस्मथ के योग (Arsenic & Bismuth-Treatment) आधुनिक चिकित्सा में ये दोनों औषधियाँ साथ-साथ दी जाती हैं और अधिक काल तक देनी पड़ती हैं तब जाकर रोग शांति होती है। आरम्भ में पेनिसिलीन देने के बाद इनको प्रयुक्त किया जाय तो चिकित्सा काल पर्याप्त घट जाता है। पेनिसिलीन रोग आरम्भ में बहुत लाभकारी है इसकी मात्रा अधिक होनी चाहिए (४००००-६०००० यूनिट प्रति तीन घंटे साढ़े सात दिन तक दें) तो रोग काबू में आ जाता है। यदि रोग पुराना हो तो १२½ दिन तक जारी रखें अर्थात् कुल ८० लाख यूनिट या इससे भी अधिक देनी पड़ती है।

सात या बारह दिनों के पेनिसिलीन के प्रयोग से उपदंश के लक्षण और चिह्न मिट जाते हैं वासरमेन्स रि-एक्शन आदि भी प्रतीत नहीं होते परन्तु यह कहना कठिन है कि रोग सदा के लिए शान्त हो चुका है अथवा कुछ काल के लिए, कुछ वर्षों के बाद काहन या वासरमेन टेस्ट द्वारा इसका वास्तविक ज्ञान होता है। पेनिसिलीन चिकित्सा से सबको आराम भी नहीं होता, जिनको इस औषधि से आराम प्रतीत होता है उन्हें भी आर्सेनिक तथा बिस्मथ चिकित्सा देनी चाहिए। वस्तुतः उपदंश के हर रोगी की बिस्मथ आर्सेनिक चिकित्सा चाहे किसी अवस्था में की जाय प्रथम उसे उपरोक्त विधि से पेनिसिलीन देने के बाद यह चिकित्सा करनी चाहिए।

आर्सेनिक तथा बिस्मथ चिकित्सा—सच तो यह है कि उपदंश की चिकित्सा का आधार इन्हीं पर है। आर्सेनिक मल्ल या संखिया को ही कहते हैं। आयुर्वेद में इस रोग की चिकित्सा के लिये पारद और संखिया

ही प्रयुक्त होते है। परन्तु संखिया का प्रयोग मुख की अपेक्षा इंजेक्शन द्वारा ही अच्छा है और फिर मुख द्वारा संखिया देना भय से खाली नहीं। आर्सेनिक के निम्नोक्त इंजेक्शन प्रयोग में लाये जाते हैं, इनका इंजेक्शन शिरा द्वारा किया जाता है।

नियोआर्स-फिनेमीन (Neoars phenamine) यह दवाई पेटेन्ट रूप में निम्नोक्त नामों से मिलती है—Novarsonobillon, Evarson, Neokharsivan, Neosalversan, Novarson, इत्यादि। लेखक नम्बर एक का प्रयोग करता है। इनकी निम्नोक्त मात्रायें ट्यूब में बन्द आती हैं। ०·१५ ग्राम, ०·३ ग्राम, ०.४५ ग्राम, ०·६ ग्राम, ०·७५ ग्राम तथा ०·६ ग्राम। इनको द्विश्रुत जल (Redistilled Water) में लीन कर लेना चाहिए।

प्रयोग विधि—ये औषधियां शिरागत इंजेक्शन द्वारा ही दी जाती हैं।

	मात्रा	विलीनार्थ जल की मात्रा	बादकी मात्रा का अन्तर
प्रथम मात्रा	०·३ ग्राम	३–४ सी. सी.	४ दिन
दूसरी ,,	०·४५ ग्राम	४–५ सी. सी.	४ दिन
तीसरी ,,	०·४५ ग्राम	४–५ सी. सी.	४ दिन
चौथी ,,	०.६ ग्राम	६–८ सी. सी.	५–६ दिन
पांचवीं ,,	०·६ ग्राम	६–८ सी. सी.	५–६ दिन
छठी ,,	०·६ ग्राम	६–८ सी. सी.	५–६ दिन
सातवीं ,,	०·७५ ग्राम	८–१० सी. सी.	७–८ दिन
आठवीं ,,	०·७५ ग्राम	८–१० सी. सी.	७–८ दिन
नवीं ,,	०·७५ ग्राम	८–१० सी. सी.	७–८ दिन
दसवीं ,,	०·७५ ग्राम	८–१० सी. सी.	७–८ दिन

नोट—क्षीण और कोमल रोगी में प्रथम मात्रा ०.१५ ग्राम होनी चाहिए और ३ सी० सी० जल में विलीन करें।

वक्तव्य — (१) दसवीं मात्रा की साधारणतया जरूरत नहीं होती।
(२) विलीनार्थ जल अधिक डालना ही अच्छा है।
(३) कुल औषधि ५–६ ग्राम से अधिक न होनी चाहिये और कम से कम ६ सप्ताह तक फैला कर दें।

इंजेक्शन देते समय निम्नोक्त बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए :

(१) रोगी खाली पेट होना चाहिए।

(२) उदर साफ होना चाहिए, विबन्ध न हो।

(३) इंजेक्शन देने के बाद रोगी को १५–२० मिनट लिटाए रखें।

(४) औषधि आरम्भ करने से पहले यह देख लें कि मूत्र में अल्ब्यूमिन तो नहीं आती। यही बात औषधि प्रयोग काल के बीच-बीच में भी देखते रहनी चाहिए। यदि अलब्यूमिन उपस्थित हो जाय तो तत्काल औषधि का प्रयोग बन्द कर दें।

इस औषधि के प्रयोग से निम्नोक्त उपद्रव हो सकते हैं, अतः सचेत रहना आवश्यक है :

(१) जहां शिरा में इंजेक्शन दिया जाय वहां कदाचित रक्त जम कर मार्ग हो सकता है, वह शिरा पुनः इंजेक्शनार्थ प्रयुक्त नहीं हो सकती।

(२) यदि औषधि शिरा से बाहर चली जाए तो वहां तीव्र शोथ और पीड़ा होती है। ऐसी अवस्था में तत्काल वहां पर ५–१० सी. सी. नार्मल सेलाइन की दे दें।

इनके अतिरिक्त निम्नोक्त उपद्रव कभी हो जाते हैं :

(१) चेहरा लाल सुर्ख हो जाता है, जिह्वा और ओष्ठ फूल जाते हैं, सिर में चक्कर आने लगते हैं या मूर्च्छा सी हो जाती है, नाड़ी की गति और वेग मन्द हो जाती है। साधारण तौर पर आधे से एक घंटे के अन्दर रोगी स्वतः ठीक हो जाता है, कभी-कभी अधिक देर भी लग जाती है। विरल अवस्था में रोगी मर भी जाता है। ज्योंहीं ये

ये लक्षण उपस्थित होने लगें तत्काल लक्षणों में तीव्रतानुसार ·५ से १ सी. सी. एड्रेनलीन (Adrenaline) का इंजेक्शन दे दें। कभी-कभी इन लक्षणों के साथ-साथ उत्क्लेश, वमन, दांतों में और दन्तवेष्टों में पीड़ा प्रतीत होती है। कई रोगियों में कुछ घंटों या कुछ दिनों के बाद शीत-पित्त के लक्षण उपस्थित हो जाते हैं।

(२) कभी-कभी पहले इंजेक्शन के बाद शीत लगकर ताप चढ़ आता है। ताप १०१ के लगभग होता है, यह कोई विशेष महत्व की बात नहीं परन्तु जब बाद के इंजेक्शनों में भी ज्वर आने लगे तो इसका अर्थ यह है कि औषधि सात्म्य नहीं इसे बन्द कर दें। यदि बन्द न की गई तो विशेष उपद्रव हो जाने की सम्भावना है।

(३) कभी-कभी वमन और अतिसार भी हो जाता है। ये लक्षण सदा असावधानी के कारण उत्पन्न होते हैं। यदि उपरोक्त सावधानियाँ रखी जायें तो यह उपद्रव उत्पन्न नहीं होता।

(४) शिर शूल, श्रम भारीपन आदि लक्षण यदि उत्पन्न हो जांय तो मात्राओं का अन्तर बढ़ा देना चाहिये और मात्रा भी धीरे-धीरे बढ़ायें।

(५) वृक्क शोथ होने का भय है, इसका ज्ञान मूत्र की समय-समय परीक्षा द्वारा करते रहें, एलब्यूमिन विद्यमान होते ही इसे बन्द कर दें।

(६) त्वग्गत विकार—यह बहुत भयानक उपद्रव है। खुजली होती है कभी साधारण और कभी अत्यन्त और असह्य। शरीर पर विस्फोट निकल आते हैं। यह उपद्रव प्रथम इंजेक्शन के ७–१२ दिन के बाद अर्थात् दूसरे, तीसरे इंजेक्शन के बाद या कभी चौथे इंजेक्शन के बाद उत्पन्न होता है। यह उपद्रव बहुत दुखदाई होता है। अकस्मात ज्वर हो जाता है जो कई दिन तक चढ़ता-उतरता रहता है। कई रोगियों में जिन्हें थोड़े काल में अधिक औषधि दी गई हो विस्फोट बहुत अधिक तथा खुजली असह्य होती है। यदि ये उपद्रव उत्पन्न हो जायें तो तत्काल कैल्शियम या सोडियम थायोसलफेट (Calcium or Sodium

Thiosulphate) ०·६-०·६ ग्राम इंजेक्शन देना चाहिये कैल्शियम की अपेक्षा सोडियम थायोसलफेट अच्छा है। और बीच-बीच में २०-५० सी. सी. ग्लूकोज (Glucose) भी देते रहें। साथ साथ विटामिन सी का भी इंजेक्शन देने से खुजली कम होने की सम्भावना है। एक नई दवाई (Bal) आई है इसका प्रयोग बहुत लाभ करता है। उपद्रव उत्पन्न होते ही ३०० mg. का मांसान्तर्गत इंजेक्शन दे दें, ३-४ घन्टे बाद १५० mg. और दे दें, इतनी ही मात्रा प्रति दिन ३-४ दिन तक देनी चाहिये।

भोजन लघु और सुपाच्य होना चाहिए। फलों के स्वरस तथा पेय पदार्थ अति अधिक मात्रा में दें।

वक्तव्य—मुख द्वारा मल्ल (Arsenic) देने से यही उपद्रव हो जायें तो यही उपचार करना चाहिये।

ये उपद्रव दुःखदाई तो अत्यन्त हैं पर घातक नहीं तीव्रता अनुसार ये लक्षण १॥ मास से ६ मास तक चले जाते हैं उक्त उपचार से तथा बाल औषधि के प्रयोग से कष्ट की अवधि पर्याप्त कम हो जाती है।

(७) कामला—अनेक बार इस औषधि के इंजेक्शन के बाद कामला उत्पन्न हो जाता है। कभी-कभी तो कामला चिकित्सा काल के बीच में उत्पन्न हो जाती है और कभी कई महीनों के बाद। कामला बहुधा तो साधारण होती है जो अपने आप शांत हो जाती है और कभी इतनी भयानक होती है कि मृत्यु तक हो जाती है। ऐसी अवस्था में कामला के साथ अन्य लक्षण यथा कौड़ी प्रदेश में पीड़ा, यकृत प्रदेश में पीड़ा, बेचैनी और प्रलाप आदि उपस्थित होते हैं। जब उपद्रव रूप कामला अरिष्ट हो जाय तो चिकित्सा अत्यन्त कठिन है इसको उत्पन्न होने से रोकना ही चिकित्सक का कर्तव्य होना चाहिये।

रोकने के उपाय—चिकित्सा काल में दूध का अधिक प्रयोग करें। यदि औषधि का रंग बिगड़ चुका हो तो उसे कभी प्रयोग में न लायें।

शुद्धता का पूर्ण ध्यान रखें, पिचकारी आदि को हर बार अच्छी तरह साफ और शुद्ध कर लेना चाहिये। चिकित्सा काल में समय-समय पर मूत्र की परीक्षा करा लेनी चाहिये कि उसमें पित्त-रंजक-जन (Urobilinogen) तो नहीं, इसकी उपस्थिति को कामला का पूर्वरूप समझना चाहिये। जब कामला उत्पन्न हो जाय तब चिकित्सार्थ मधुर क्षारी (सोडाबाइकार्ब) आदि क्षारीय औषधि अधिक मात्रा में देनी चाहिये तथा (50–100 c. c. ग्लूकोज़ इंजेक्शन (२५% प्रतिदिन दें। विटामिन B_6 (Nicotinic Acid) का इंजेक्शन भी दें।

(८) वातिक लक्षण—कभी-कभी चिकित्सा काल में अत्यन्त शिरः शूल, भ्रम, उत्क्षेपण आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं, अरिष्ट अवस्था में रोगी सन्यास अवस्था को प्राप्त कर मर जाता है। यह लक्षण प्रायः दूसरे इंजेक्शन के दो चार दिन बाद आरम्भ होता है। यदि ऊपर लिखी हुई सब सावधानियां रखी जायं तो यह उपद्रव नहीं होता।

आर्सेनिक के कुछ योग ऐसे भी हैं जो मांस अन्तर्गत इंजेक्शन द्वारा दिये जाते हैं यथा–(१) सल्फार्स फिनेमिन (Sulphars phenamine) एसिटीलारसन (Acetylarsan) मात्रा बड़ों के लिये ३ सी. सी. और बच्चों के लिये १.५० सी. सी. (२) सल्फार्सिनाल (Sulfarsenol) इसकी मात्रा उतनी ही है जितनी N. A. B. की ऊपर लिख आए हैं।

वक्तव्य—इन औषधियों से उपद्रव होते ही नहीं यदि होते हैं तो बहुत थोड़े व साधारण।

परन्तु इनसे उतना लाभ नहीं होता जितना पूर्वकथित औषधियों से जो शिरागत इंजेक्शन द्वारा दी जाती हैं। ये औषधियां कोमल स्वभाव वालों को दी जाती हैं, या जिन्हें शिरागत इंजेक्शन अनुकूल न हों।

बिस्मथ योग—इस रोग की चिकित्सार्थ बिस्मथ का कोई योग ऐसा नहीं जो मुख द्वारा प्रयोग कराये जायें यह औषधि मांसान्तर्गत इंजेक्शन

द्वारा प्रयुक्त होती है। एतदर्थ बिसन्टाल (Bisental) मात्रा ३ सी. सी., बिसग्लूकाल (Bisglucol) मात्रा १ सी. सी. और बिस्मोस्टेब (Bismostab) मात्रा २ सी. सी.। इन सबका इंजेक्शन प्रति सप्ताह १ बार दिया जाना चाहिए। बिस्मथ और मल्ल (आर्सेनिक) के इंजेक्शन साथ-साथ देने चाहिये अर्थात् १ सप्ताह में एक इंजेक्शन बिस्मथ का और एक इंजेक्शन आर्सेनिक का दिया जाए तो अभीष्ट लाभ होता है। इस प्रकार दो माह तक चिकित्सा चालू रखें। इतनी चिकित्सा करने के बाद भी यह नहीं कहा जा सकता कि पूर्ण आराम आ जाता है। हां, अलबत्ता, व्यक्त-रूपेण रोग के लक्षण और चिह्न मिट जाते हैं और कई वर्षों के बाद पुनः चतुर्थ अवस्था के वातिक लक्षण उपस्थित हो जाते हैं। चिकित्सा समाप्ति के २ मास बाद तक कोई औषधि न दें पुनः उपरोक्त विधि अनुसार तक उसी प्रकार दो महीने चिकित्सा करें।

चिकित्सा की दूसरी विधि।

पहिली बार—पांच सप्ताह तक प्रति सप्ताह N. A. B. या तत्समान दूसरी औषधियां दें। पहिली मात्रा ०·३ ग्राम, दूसरी ०·४५ ग्राम, तीसरी, चौथी, और पांचवी ०·६ ग्राम, इसके बाद चार सप्ताह कोई औषधि न दें। फिर १२ सप्ताह तक प्रति सप्ताह बिस्मिथ का १-१, इंजेक्शन दें। इसके बाद ४ सप्ताह तक कोई औषधि न दें।

दूसरी बार उपरोक्त विधि अनुसार पुनः ५ सप्ताह तक प्रति सप्ताह N. A. B. का १-१ इंजेक्शन दें परन्तु इस बार पहिला इंजेक्शन ०·४५ ग्राम और बाकी ०·६ ग्राम। इसके बाद चार सप्ताह तक कुछ न दें उसके बाद यथापूर्व १२ सप्ताह तक प्रति सप्ताह बिस्मथ का १-१ इंजेक्शन दें।

पुनः चार सप्ताह तक कोई औषधि न दें।

तीसरी बार—इस बार भी बिलकुल वैसा ही करें जैसे पहली और दूसरी बार किया गया था परन्तु इस बार ०·६ ग्राम से ही आरंभ करें।

इतना कुछ करने के बाद भी यह नहीं कहा जा सकता कि उपदंश मूल से जा चुका है। हर छठे महीने वासरमेन्स या काहन टेस्ट करते रहें। यदि फिर कभी ये सिद्ध हो जायें तो इसका अर्थ यह है कि उपदंश अभी तक उपस्थित है और इसकी चिकित्सा पुनः करनी पड़ेगी। यदि ऊपर लिखे आदेशानुसार पहले पेनिसिलीन का कोर्स देने के बाद पहली विधि या दूसरी विधि से आर्सेनिक व बिस्मथ का एक कोर्स दिया जाये तो पर्याप्त होता है।

सहज उपदंश

रोग-ग्रस्त माता से रक्त द्वारा ही यह रोग गर्भ में आता है, वह सहवास द्वारा रोग फैलाना कभी का बन्द कर चुकी होती है। पिता के वीर्य से रोग गर्भ में आता है इस प्रकार यदि बालक में सहज उपदंश हो तो माता को उपदंश रोग नहीं सरता। माता में यदि उपदंश पुराना न हो तो गर्भपात शीघ्र ही अर्थात ३–४ माह में हो जाता है। दूसरी बार ५-६ मास, बाद में ६ ७ मास का, फिर ७-८ मास का, ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है गर्भपात, उत्तरोतर अधिकाधिक काल से होता है, अर्थात पहले ३-४ मास का गर्भ गिरता है दूसरी बार ५-६ मास, बाद में ६-७ मास का फिर ७-८ मास का बाद में मृत गर्भ पैदा होता है। तदनन्तर अल्पजीवी। इसके बाद शनैः शनैः दीर्घायुवाले बच्चे पैदा होते हैं। परन्तु उसमें उपदंश के लक्षण चिह्न होते हैं, उत्तरोत्तर यह लक्षण भी कम होते जाते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सदा यही क्रम बना रहे। कभी-कभी बीच-बीच में एकदम स्वस्थ बच्चा भी पैदा हो जाता है।

जब माता के जननेन्द्रिय स्थानों पर प्रथम अवस्था के व्रण हों और उस समय प्रसव हो जाये तो उस बच्चे में सहज उपदंश नहीं, संसर्गिक उपदंश होता है। उसके लक्षण व अवस्थायें वहीं होती हैं जो पूर्व पृष्ठों में वर्णन हो चुकी हैं।

लक्षण—उत्पत्ति के समय बच्चे में कोई विशेष लक्षण नहीं होते। ३–४ सप्ताह बाद गुलाबी रंग की पीड़िकाएं निकल आती हैं। प्रायः ये मुख, नासा आदि नग्न स्थानों पर होती हैं। कभी-कभी ये बढ़कर परस्पर व्यापी हो जाती हैं और इनमें व्रण हो जाते हैं। ऐसे बच्चे पहले से ही दुर्बल होते हैं, धीरे-धीरे अधिक दुर्बल होने लगते हैं, उनके मुख पर झुर्रियां पड़ जाती हैं। नख या तो गिर पड़ते हैं या विकृत तथा श्वेत से हो जाते हैं। शिर के बाल झड़ने लगते हैं और मुख के अन्दर एवं ओष्ठों के कोनों पर उपदंश आर्द्र व्रण हो जाते हैं। नासा, कण्ठ और स्वरयंत्र की श्लेष्मिक कला पर भी व्रण हो जाते हैं। नासास्थि गल कर गिर जाती है जिससे नाक पिचक जाती है। यकृत और प्लीहा बढ़ जाते हैं, लम्बी अस्थियों के शिरों पर शोथ हो जाता है। अस्थिकेन्द्र परस्पर चिरकाल तक नहीं मिलते। दांत जल्दी निकलते हैं और जल्दी ही गिर जाते हैं। स्थायी भेदक दांत कील की भांति होते हैं। प्रायः ऐसे बच्चे पहले वर्ष में ही मर जाते हैं। यदि जीते रहें तो लक्षण लुप्त हो जाते हैं कुछ वर्ष पश्चात स्थायी दाँत निकलते समय अथवा जवानी चढ़ते समय पुनः उपदंश की तृतीयावस्था के लक्षण प्रकट हो जाते हैं अथवा १५–२० वर्ष चतुर्थावस्था की वातिक व्याधियां प्रगट होती हैं।

सहज उपदंश से पीड़ित बच्चे की आकृति सदा के लिये बिगड़ जाती है। सहज उपदंश युक्त व्यक्ति दूर से ही पहचाने जाते हैं उनकी बड़ी आयु में यदि देखा जाय तो निम्नोक्त बातें उनमें पाई जाती हैं:

(१) दुर्बल तथा क्षीणकाय होता है और अपनी आयु से बड़ा दिखाई देता है।

(२) नासा सेतु बैठा हुआ तथा ललाट आगे उभरा हुआ और शिर सपाट होता है, शिर के रन्ध्र बहुत देर बाद मिलते हैं।

(३) ऊपर के भेदक दांत नुकीले कील की भांति होते हैं।

(४) ओष्ठों के किनारों से बाहर चक्र के आरों के समान चारों ओर फैलते हुए व्रण चिह्न दिखाई देते हैं।

(५) लम्बी अस्थियों के सिरे मोटे होते हैं।

(६) कभी-कभी उपतारा शोथ, शुक्ल रोग (फोला) आदि अक्षि-विकार हो जाते हैं।

रोगमीमांसा—लक्षणों से रोग निदान प्रायः कठिन नहीं होता परन्तु जहां सन्देह हो वहां वासरमेन्स और काहन टेस्ट द्वारा निश्चय करा लेना चाहिये। एक बार ये टेस्ट यदि सिद्ध न हों तो उसे पुनः-पुनः प्रति सप्ताह चार बार करायें। यदि फिर भी सिद्ध न हो तो इस रोग का अभाव मानना चाहिये।

चिकित्सा—प्रयत्न यह होना चाहिये कि गर्भ में उपदंश पहुंच ही न पाये अतः यदि किसी पुरुष को उपदंश हो जाय तो ५ वर्ष तक वह विवाह न करे या स्त्री के पास न जाये, यदि जाये तो पूर्ण चिकित्सा करने के बाद जाना चाहिये। ५ वर्षों के बाद सहवास द्वारा रोग प्रसार का भय नहीं रहता। यदि स्त्री को उपदंश हो चुका है, तो उसे पूर्ण रूपेण चिकित्सा करा लेनी चाहिये। उपंदश-ग्रस्त स्त्री से गर्भ को गर्भकाल के किसी मास में संक्रमण प्रसार जा सकता है गर्भ काल के पहिले ४–५ मास में उपदंश की चिकित्सा की जाय तो माता और गर्भस्थ शिशु संक्रमण से बच जाते हैं। इसके बाद की चिकित्सा से गर्भ को निश्चयात्मक संक्रमण से मुक्ति नहीं मिलती। यह स्मरण रहे कि पेनिसिलीन रक्त द्वारा गर्भ में पहुंचता है अतः यदि माता के उपदंश की पेनिसिलीन से चिकित्सा की जाय, चाहे पहले महीने में हो या पिछले महीने में, तो बालक के रोगमुक्त होने की सम्भावना है।

चिकित्सा–जन्म से ३ मास तक लक्षणों से और बार-बार रक्त परीक्षा से यह जानना चाहिये कि उसे सहज उपदंश है या नहीं। यदि

३ महीने तक कोई लक्षण उपस्थित न हों तथा रक्त परीक्षा से भी उपदंश की उपस्थिति सिद्ध न हो तो सहज उपदंश नहीं है ऐसा समझना चाहिये।

यदि बालक सहज उपदंश युक्त हो तो उसकी निम्नोक्त चिकित्सा करनी चाहिये :

पेनिसिलीन सबसे उत्तम चिकित्सा है। साढ़े सात दिन तक (१८० घंटे तक) प्रतिदिन ५० लाख प्रोकेन पेनिसिलीन, दो बार दिन में देते जांय इसके साथ अंत में दो इंजेक्शन १ सप्ताह के अन्तर पर सल्फार्स फिनेमिन के भी देदें (मात्रा ०.०८ ग्राम) तथा इसके बाद बिसन्टाल के ०·०४ सी. सी. के तीन इंजेक्शन प्रति सप्ताह १-१ दे दें।

यदि पेनिसिलीन उपलब्ध न हो तो इस प्रकार चिकित्सा करनी चाहिये—

चूंकि शिशु को इंजेक्शन देना कठिन होता है अतः एसिटार्सोल (Acetarsol) मुख द्वारा देना चाहिये। उत्तम यह है कि पहले एक इंजेक्शन-सल्फार्स फिनेमीन मात्रा ०·०८ ग्राम दें पुनः यह औषधि (एसिटार्सोल) दें। इसका विधान इस प्रकार है-औषधि पानी में मिलाकर प्रतिदिन प्रातःकाल, पहले दूधपान से आधा घंटा पहले दें।

९ पौंड के बालक के वास्ते—

पहिला सप्ताह ०·०१२ ग्राम प्रतिदिन एक बार दिन में।
दूसरा „ ०·०२४ „ „ „
तीसरा „ ०·०३६ „ „ „
४ से १० „ ०·०४८ „ „ „

इसके बाद ४ सप्ताह तक कोई औषधि न दें। पुनः इसी प्रकार औषधि का कोर्स दें, और ४ सप्ताह पुनः कोई औषधि न दें इस प्रकार तीन बार औषधि देनी पड़ती है। प्रतिबार चिकित्सा करने से पहिले इंजेक्शन दे देना चाहिये। पुनः इस बात पर जोर दिया जाता है कि पेनिसिलीन चिकित्सा सबसे उत्तम है।

भृशोष्णवात

पर्याय—भृशोष्णवात, गनोरिया (Gonorrhoea), सुजाक।

परिचय—भृशोष्णवात तीव्र संसर्गिक रोग है जिसमें पुरुष के मूत्र मार्ग और स्त्री के योनि मार्ग से पूय आती है।

कारण—यह रोग एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक सदैव मैथुन द्वारा ही जाता है, जब माता के योनिमार्ग में यह रोग उपस्थित हो तो प्रसव काल में शिशु की आखों में संक्रमित हो जाने से नेत्रपाक हो जाता है। इसका उत्पादक कीटाणु एक युगल बिन्दुकाकार कीटाणु है, जो पूय में और रुग्णस्थान की श्लेष्मिक सेलों में उपस्थित होता है। इसे गोनोकाकस (Gonococcus) कहते हैं।

सम्प्राप्ति—कीटाणु मैथुन द्वारा जननेन्द्रिय स्थान में प्रविष्ट होकर वहां की श्लेष्मिक कला का प्रदाह कर देता है। तुरंत उसमें पूय पड़ जाती है। रोग शनैः शनैः पीछे की ओर मूत्र मार्ग में, वहां से पौरुष ग्रन्थि, ततः शुक्राशय तथा अण्डकोष में फैलता जाता है और वहां शोथ तथा कभी कभी विद्रधि पैदा कर देता है। स्त्रियों में योनिमार्ग से गर्भाशय की ग्रीवा, वहां से गर्भाशय, गर्भाशय से डिम्बप्रणाली, डिम्बप्रणाली से डिम्बग्रन्थि तथा डिम्बप्रणाली से उद्रक काल में शोथ उत्पन्न करके रोगी के प्राण हरण का कारण बन सकते हैं। इसी प्रकार स्त्री और पुरुष दोनों में संक्रमण आगे-आगे सरता जाता है। पुरुषों में संक्रमण मूत्रमार्ग से मूत्राशय, वहां से मूत्रप्रणाली और मूत्र प्रणाली वृक्कों में जाकर वहाँ शोथ पैदा कर सकते हैं। साधारणतया यह रोग एक स्थान से दूसरे स्थान में सरकता जाता हैं परन्तु कभी-कभी इसके कीट सीधे रक्त द्वारा संधियों में जाकर संधि-शोथ उत्पन्न कर देते हैं और अति विरलावस्था में भ्रमण करते हुए सेप्टीसीमीया उत्पन्न करके रोगी की मृत्यु के कारण बन सकते हैं।

परिपाक काल—२ से ८ दिन

लक्षण—संसर्ग के २-४ दिन बाद मूत्रमार्ग में शिश्न अथवा योनि में जलन या पीड़ा आरम्भ होती है। कुछ ही घंटों में पूय आने लगती है इस समय शिश्नमुंड का सिरा रक्तमय और शोथ-युक्त होता है। पूय पहले थोड़ी और पतली श्लेष्मवत् होती है परन्तु कुछ ही दिन में गाढ़ी और पीतवर्ण की हो जाती है। चिरकाल तक यही अवस्था रहती है। इसके साथ कटि और श्रोणी में पीड़ा होती है। तीव्र अवस्था में ज्वर भी हो जाता है, मूत्रमार्ग की श्लेष्मिक कला बहुत सूज जाती है और वहां पर व्रण बन जाते हैं, यहीं से रक्त और पूय आती है, मूत्र त्यागते समय अत्यंत पीड़ा होती है, जब शोथ के कारण मूत्रमार्ग बन्द हो जाये तो मूत्रावरोध हो जाता है। यदि तत्काल चिकित्सा न की जाय तो कीटाणु श्लेष्मिक कला को पार करके निचली स्तर के अवयवों में पहुंच जाता है तब रोग जीर्ण हो जाता है और उसको जड़ से निकालना असंभव प्रायः हो जाता है कुछ काल के बाद पूय बन्द हो जाती है या कम हो जाती है। कुछ काल बन्द रहकर फिर आने लगती है। यही क्रम कुछ महीनों या वर्षों तक चलता रहता है। अतः पूय के बन्द हो जाने से रोगमुक्ति न समझ लें। हो सकता है कि कुछ मास अथवा कुछ वर्षों बाद फिर पूय आने लगे।

रोग १५ दिन में मूत्रमार्ग के पूर्व भाग से पाश्चात्य भाग में फैल जाता है। यहां से रोग पौरुष ग्रन्थि, शुक्राशय और शुक्रग्रन्थियों में पहुंचकर शोथ पैदा कर देता है। ये बड़े दुखदायी उपद्रव हैं। पाश्चात्य मूत्रमार्ग में शोथ के बाद और विशेषकर पौरुष ग्रन्थि में शोथ हो जाने पर इसका शान्त होना असम्भव सा ही है। इस अवस्था में पूय पुनः पतली हो जाती है और बिना पीड़ा, जलन आदि के समय-समय पर आती रहती है। कभी-कभी इतनी थोड़ी हो जाती है कि केवल शिश्न के निचोड़ने से ही प्रतीत होती है। यह अवस्था कई वर्षों तक

रहती है। मूत्रमार्ग में जहां व्रण था वहां सौत्रिक तन्तु बन जाते हैं उनके संकोच से मूत्रमार्ग संकीर्ण हो जाता है।

इसे साधारण बोलचाल में "कुरही" कहते हैं। यह अवस्था अत्यंत दुःखदायक है। मूत्र नहीं आता यदि आता है तो अत्यंत कष्ट और जलन के साथ। रोगी को जीवन नरक प्रतीत होता है जब मूत्र का मार्ग बिलकुल रुक जाता है तो मूत्राशय को भर देता है। एवं मूत्रमार्ग के इतस्ततः विद्रधियां उत्पन्न कर देता है। विद्रधि के फटने से मूत्र शिश्न के नीचे सेवनी के इतस्ततः फैल जाता है और उग्रशोथ उत्पन्न होता है अन्ततः कहीं न कहीं फटकर वहाँ नाड़ीव्रण बना देता है, वहीं से मूत्र आता रहता है।

उपद्रव पुरुषों में—

(१) मूत्रमार्ग संकोच (Stricture of Urethra) इसका वर्णन ऊपर के लक्षणों में हो चुका है।

(२) पौरुष ग्रन्थि शोथ (Prostatitis)।

(३) शुक्राशय शोथ (Vesiculitis)।

(४) अण्ड शोथ (Epididymits)।

वक्तव्य—इनमें विद्रधि होकर पूय भी पड़ सकती है।

(५) मूत्राशय शोथ (Cystitis)

(६) वृक्क शोथ (Nephritis)

वैसे तो उपद्रव नं० ५ व ६ पुरुषों में ही होते हैं, परन्तु विरल स्त्री में भी हो सकते हैं।

स्त्रियों में—

(१) डिम्बप्रणाली शोथ (Salpingitis)

(२) डिम्बप्रणाली तथा डिम्बशोथ (Salpingo-overitis)

(३) उदरक कला शोथ (Peritonitis)

यह उपद्रव सदा स्त्रियों में होता, परन्तु किसी विरल पुरुष में इसके होने की सम्भावना का अभाव नहीं ।

स्त्री-पुरुषों दोनों में—

(१) नेत्र अभिष्यंद (Gonorrhocal Conjunctivitis)
(२) संधि शोथ (Gonorrhocal Rheumatism)
(३) सेप्टीसीमिया (Septiscaemia)

रोगमीमांसा – प्रथम अवस्था में या जब तक पूय आती रहे तब रोग निदान बहुत सुगम है । पूय की परीक्षा से उनमें गोनोकाकस दृष्टिगोचर होते हैं, यही रोग की पहिचान है । जीर्णावस्था में जब पूय बन्द हो जाती है तो रोग का पहचानना बहुत कठिन होता है । ऐसी अवस्था में रोगी को घुटने और कुहनी के बल करके, गुदा में अंगुली डालें और पौरुष ग्रन्थि पर मालिश करें । इस प्रकार थोड़ी पीप मूत्रमार्ग में आ जाती है, मूत्रमार्ग को निचोड़कर, एक आध बूँद कांच पट्टिका पर लेकर उसकी परीक्षा करें; पौरुष ग्रन्थि से निकली हुई पूय में गोनो-काकस व पतले-पतले सूत्र प्रतीत होते हैं ।

जब उष्ण वात के कारण संधियों में पीड़ा हो जाय तो मूत्र में पूय नहीं होती अतः पहचानना कठिन होता है यह उपद्रव प्रायः पुरुषों में होता है । एक से ज्यादा संधियां प्रभावित होती हैं यथा कुहनी, कलाई, घुटना, टखना । कभी-कभी छोटी संधियां भी प्रभावित होती हैं इसका निदान रोगी के पूर्व इतिहास से या उपशय अनुपशय चिकित्सा द्वारा होता है । मूत्र में जलन एवं पीड़ा होना तथा पूय आना निश्चयात्मक रूप से भृशोष्णवात नहीं कहे जा सकते । सम्भवतः किसी अन्य कीटाणु के कारण मूत्रमार्ग में शोथ हो । जहां केवल गोनोकाकस के कारण ही शोथ हो, उसी को गनोरिया कहते हैं, यहां इसे ही "भृशोष्णवात" कहा गया है । आयुर्वेदिक उष्णवात के लक्षण अन्य मूत्रमार्ग शोथ में भी

घट जाते हैं। भृशोष्णवात और साधारण उष्णवात में भेद पूय में गोनोकाकस कीटाणुओं की विद्यमानता से ही किया जा सकता है।

चिकित्सा—इस रोग से बचने का केवल एक ही उपाय है कि इस रोग से पीड़ित स्त्री से सहवास न किया जाय। यह अनेक बार देखने में आता है कि सदाचार की उत्तमता को समझते हुए भी मनुष्य त्रुटियां कर बैठता है। बाजारी स्त्रियां, वेश्यायें या खानगिएं प्रायः इस रोग से या उपदंश से पीड़ित होती हैं और उनके पास जानेवाले युवक भी इस बात को जानते हैं। परन्तु कामलिप्सा के वशीभूत होकर सब कुछ समझते बूझते हुए भी वे अपने पांव में कुल्हाड़ी मार बैठते हैं। ऐसे मनुष्यों की दशा पर बड़ा खेद होता है, ये रोग यदि जीर्ण हो जाएं तो इसकी चिकित्सा असंभव नहीं तो अति दुष्कर अवश्यमेव है।

प्रतिरोधक चिकित्सा—यदि संदिग्ध चरित्र की स्त्री से सहवास हो जाय तो तुरन्त उपाय करना चाहिए। शिश्नमुंड को कारबोलिक लोशन २० में १ या मर्करी लोशन १०० में एक भाग आदि कृमिघ्न विलयनों से भली-भांति साफ करके प्रोटार्गल लोशन एक प्रतिशत अथवा कोलोजल सिलवर (Collosal Silver) २००० में १ भाग लोशन की २० बूंदें मूत्रमार्ग में डालकर शिश्नमुण्ड के मुंह को कलोडियन से बन्द कर दें ततः यवयूश (Barley water) लस्सी या पानी आदि बहुत सा पिलादें। २-३ घंटे बाद शिश्नमुण्ड का मुंह खोल दें और मूत्र त्यागने को कहें। इस रोग का कीटाणु जीवित नहीं रहता।

शमन चिकित्सा—जब पूय आने लग पड़े तो तत्काल चिकित्सा आरम्भ करनी चाहिए अन्यथा कीटाणु श्लेष्मिक कला की बाह्य स्तर से गहरे भीतर की ओर चले जाते हैं, तब इसकी चिकित्सा कठिन हो जाती है। आरंभ में मृदु विरेचन देकर कोष्ठ को साफ कर देने से बहुत लाभ होता हैं जहां तक हो सके रोगी लंगोट बांधे रहे और श्रम न करने दें, दौड़ना, कूदना, साईकिल चलाना, घोड़े पर चढ़ना आदि सर्वथा

निषिद्ध है। यदि रोग अति उग्र हो तो पूर्ण विश्राम देना चाहिये। भोजन बिलकुल साधारण और सात्विक होना चाहिये। मछली, मांस, मद्य, मिर्च, मसाला आदि तीक्ष्ण द्रव्य बिलकुल नहीं खाने चाहिये।

इस अवस्था में पेनिसिलीन रामबाण का काम करती है। इसके प्रयोग की मुख्यतया तीन विधियां हैं :—

(१) पहिले दो दिन प्रातः और सायं प्रोकेन ४ लाख यूनिट्स पेनिसिलीन देने से पूर्ण आराम हो जाता है। (२) १२ लाख यूनिट्स डायमीन पेनिसिलीन (Diamine Penicillin) एक ही बार देते हैं। स्ट्रेप्टोपेनिसिलीन (Combined Streptomycin Procain Penicillin G with Crystallin Sodii Penicillin एक बार देने से ही रोग शान्त हो जाता है।

सल्फा ड्रग्ज में से सल्फर थायाजाल और उसके बाद सल्फर डायाजीन अति उत्तम औषधियां हैं। चिकित्सा का विधान अध्याय ८ में आ चुका है।

जीर्णावस्था में प्रोकेन पेनिसिलीन विद सोडियम जी की मात्रा दो बार दिन में ८–१० दिनों तक देनी पड़ती है, इससे भी सम्भव है कि रोग शांत न हो। इसके साथ सल्फाड्रग भी देने पड़ते हैं। दुख साध्य रोगियों में स्ट्रेप्टोमायसीन के ०·५ ग्राम तथा प्रोकेन पेनिसिलीन के इंजेक्शन प्रतिदिन २ बार प्रातः और सायं ८ दिन तक देते हैं।

आयुर्वेद में जीर्ण अवस्था के लिए शीतल चीनी और लोबान कोड़िया मात्रा २-२ माशे, इसमें तेल चन्दन १५-२० बूंद मिलाकर दिन में ३-४ बार देते हैं यद्यपि पेनिसिलीन आदि औषधियों से चिकित्सा का सारा रूप रंग बदल गया है तो भी जीर्णावस्था में इस योग से पर्याप्त लाभ होता है।

मूत्र मार्ग अवरोध के लिये शल्य चिकित्सा का ही आश्रय लेना पड़ता है।

अध्याय १८

कुष्ठ

पर्याय—कुष्ठ, लेप्रोसी (Leprosy), कोढ़।

यह एक संसर्गिक जीर्ण रोग है जिसमें त्वचा और श्लैष्मिक कला में गंड या शरीर पर स्पर्श शून्य मण्डल अथवा मण्डल तथा गंड दोनों उत्पन्न हो जाते हैं और अन्त में फटकर व्रण का रूप धारण करलेते हैं।

कारण—यह रोग उष्ण प्रदेशों का रोग है, भारतवर्ष में बहुतायत से पाया जाता है। यह घनिष्ठ संपर्क द्वारा रोगी से दूसरे व्यक्ति में जाता है, पति से पत्नी को, माता से बच्चों को, भाई से भाई को यदि वे इकट्ठे बैठते-उठते हों। यह विचार मिथ्या है कि रोग माता-पिता से बच्चों को सहज रूप से आता है, अथवा पति-पत्नि में मैथुन द्वारा फैलता है। वस्तुतः सहवास, घनिष्ठ संपर्क ही इसके प्रसार के वास्तविक कारण हैं। इसका उत्पादक कीटाणु क्षय कीट के समान दण्डाकार कीटाणु है, जिसे बैसिलस लेप्रई (Bacillus Laprae) कहते हैं, यह नासा वा कण्ठ की श्लेष्मिक कला तथा व्रणों के स्राव में उपस्थित रहता है और यहां से स्पर्श द्वारा प्रसार पाता है इस रोग के प्रसार के लिये यह आवश्यक है कि रोगी से चिरकाल तक घनिष्ठ संपर्क रहे। दरिद्रता, क्षुधार्त्तता तथा घन व निविड़ निवास इसके प्रसार में परम सहायक कारण हैं।

सम्प्राप्ति—क्षयकीट की भांति इसका कीटाणु शरीर में जाकर गण्ड उत्पन्न कर देता है परन्तु गण्ड श्लेष्मिक कला, और वात तन्तुओं में ही बनते हैं। ये गण्ड सेलसमूह और सौत्रिक तन्तु से बनते हैं, इनके केन्द्र में सेलों के भीतर और सेलों के बाहर कीटाणु समूह रूप में होते

हैं इनके इतस्ततः सेलों के कई स्तर होते हैं और उनके बाहर सौत्रिक तन्तु के स्तर होते हैं। शनैः-शनैः ये गण्ड बीच में गल जाते हैं और फटकर व्रण बन जाते हैं, इनसे पूय स्राव होने लगता है। यह व्रण प्रायः मुख, नासा तथा शाखाओं के बाह्य पार्श्व पर होते हैं। चिरकाल बाद प्लीहा, यकृत और वृषण में भी गण्ड एवं व्रण हो सकते हैं। कुष्ठ के कीटाणु वात-तन्तुओं में जाकर वहां सौत्रिक तन्तु उत्पन्न कर देते हैं और वास्तविक वात-तन्तुओं को नष्ट कर देते हैं। उन नष्ट वात-तन्तुओं के आधीन स्थान की त्वचा पर स्पर्श शून्य मण्डल, छाले, तथा व्रण बन जाते हैं और अन्त में वे भाग गलकर झड़ जाते हैं।

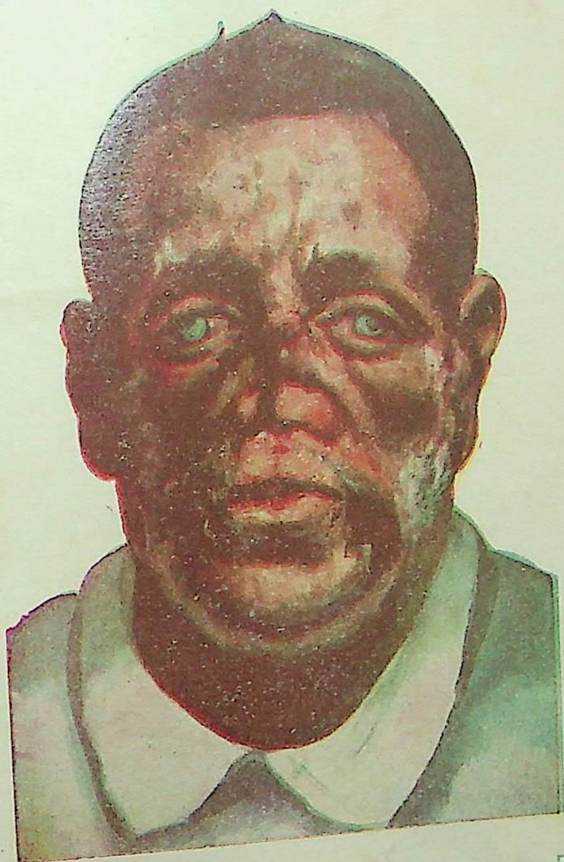
परिपाक काल—इसका परिपाक काल समस्त रोगों की अपेक्षा लम्बा लगभग दो वर्ष है।

लक्षण—इसके तीन भेद हैं-ग्रन्थिक, वातिक और मिश्रित।

ग्रन्थिक कुष्ठ—वास्तविक ग्रन्थियां उत्पन्न होने से पूर्व थोड़े समय बाद अनियमित ज्वर चढ़ता-उतरता है, गौरवता, तन्द्रा, अतिसार और अत्यधिक स्वेद आदि उपस्थित होते हैं। कुछ काल पश्चात ज्वर के समय शरीर पर ताम्र वर्ण के मण्डल उत्पन्न हो जाते हैं ये थोड़े उभरे हुए तथा चमकदार होते हैं। ज्वर के उतरने पर ये भी लुप्त हो जाते हैं इस प्रकार ज्वर के दो चार वेगों के बाद वहां पर धूसरवर्ण रह जाता है। हरबार ज्वर के नये वेग से नए मण्डल निकल आते हैं। अन्ततः उन स्थानों पर गण्ड प्रगट हो जाते हैं। शनैः शनैः ये गण्ड भी अधिक हो जाते हैं। कभी-कभी ये प्रगट होकर कुछ काल के लिये मिट भी जाते हैं परन्तु ज्वर के नये वेग के साथ पुनः निकल आते हैं, आगे चलकर ये स्थायी हो जाते हैं रोग के बढ़ जाने पर रोगी की आकृति बड़ी बेडौल सी हो जाती है। भौहें झड़ जाती हैं। ओष्ठ मोटे हो जाते हैं, मुख की त्वचा फूली हुई और चेहरा थोड़ा सा प्रतीत होता है। ये गण्ड अधिकतर मुख, कण्ठ, स्वरयंत्र, नासा तथा

चित्र ४०

कुष्ठ



पृष्ठ ४४०

अक्षि आदि स्थानों में होते हैं और जब फट जाते हैं तो वाणी, गंध और दृष्टि आदि का नाश कर देते हैं। ज्वर के वेग जो पहले बार-बार होते थे गण्डों की उत्पत्ति के बाद शनैः शनैः बन्द हो जाते हैं, क्षीणता बहुत बढ़ जाती है यह रोग चिरकाल अपेक्षी है रोगी प्रायः किसी अन्य राजयक्ष्मादि रोग से ग्रस्त होकर चल बसता है।

वातिक कुष्ठ—इसमें वात-तन्तुओं के भीतर परिवर्तन होता है, ज्वर आदि लक्षण नहीं होते परन्तु वातिक लक्षण होते हैं यथा हाथ, पांव, कभी चेहरे पर तथा प्रभावित नाड़ी के अधीन प्रदेश में स्पर्श असहिष्णुता हो जाती है अथवा वहां पर सरसराहट चिमचिमाट आदि वेदना प्रतीत होती है, कभी-कभी वहां पर सूक्ष्म सी पीड़िकायें या चकत्ते निकल आते हैं। कभी-कभी तो उनसे दद्रू का ही संशय हो जाता है। अन्तः प्रकोष्ठा नाड़ी विशेषकर अधिक प्रभावित होती है, स्पर्श से यह नाड़ी रज्जुवत दृढ़ प्रतीत होती है, आरंभ में यही इस रोग के पहचानने का विशेष साधन है। ये लक्षण कुछ काल रहकर मिट जाते हैं। चन्द सप्ताह बाद पुनः प्रादुर्भूत हो जाते हैं, इस प्रकार के २, ३–४ वेगों के पश्चात् उस नाड़ी प्रदेश में स्थायी मण्डल से उत्पन्न हो जाते हैं। यह मण्डल अधिकतर शाखाओं के पीछे और बाहर की ओर तथा मुख पर ही होते हैं। यह मण्डल पहले तो स्पर्श असहिष्णु होते हैं परन्तु बाद में वहां पर स्पर्श शक्ति कम होती जाती है अन्ततः बिलकुल नष्ट हो जाती है, शनैः शनैः प्रभावित नाड़ी प्रदेश का सारा स्थान स्पर्श शून्य हो जाता है। मांस पेशियां निश्चेष्ट हो जाती हैं, उन स्थानों पर छाले बनकर व्रण बन जाते हैं। हाथ पैरों की अंगुलियां इसी प्रकार गलकर झड़ जाती हैं। कभी-कभी कानों पर भी व्रण हो जाते हैं और कानों का कुछ भाग झड़ जाता है अतः कान विकृत हो जाते हैं। वातिक कुष्ठ पीड़ित रोगी, ग्रन्थिक कुष्ठ की अपेक्षा चिरकाल तक जीवित रहता है, अन्ततः यह भी किसी अन्य रोग से आक्रान्त होकर कूच कर जाता है।

मिश्रित—इसमें उपर्युक्त दोनों प्रकार के लक्षण उपस्थित होते हैं। कभी वातिक लक्षण पहले और कभी ग्रंथिक लक्षण पहले आरम्भ होते हैं।

रोगपरिणाम—जिसको एक बार कुष्ठ हो जाए वह आजीवन कुष्ठी ही रहता है। ग्रन्थिक कुष्ठ में रोगी २—१० वर्ष के अन्दर-अन्दर प्रयाण कर जाता है साधारणतया औसत काल ६ साल है। वातिक कुष्ठ का रोगी १०-२० वर्ष तक जीवित रहता है। आधुनिक चिकित्सा से रोग-मुक्ति की अधिक आशा है।

चिकित्सा—कुष्ठ पीड़ितों के लिये नगरों से दूर एकान्त स्थानों पर पृथक ही आतुरालय होने चाहिये। उनके लिये कानून हो कि किसी से उनका घनिष्ठ संपर्क न हो सके।

गवर्नमेंट की ओर से लेप्रोसी रिलीफ एसोसिएशन बनी हुई हैं तथा सब प्रान्तों के बड़े-बड़े नगरों में तथा अन्य स्थानों में जहां यह रोग अधिक होता है, इस रोग की चिकित्सार्थ गवर्नमेंट की ओर से चिकित्सालय खुले हुए हैं। रोग ज्ञात होते ही रोगी को इन चिकित्सालयों में भेज देना चाहिये। रोग विनिश्चयार्थ भी इन चिकित्सालयों की सहायता लेनी चाहिये। रोगियों के लिये स्वास्थ्य के नियमों का पालन तथा पौष्टिक आहार अत्यन्त आवश्यक है।

केवल ज्ञानार्थ इसमें प्रयुक्त होने वाली औषिधियों के नाम लिखे जाते हैं। इनकी चिकित्सा स्वयं न करके इनको विशेष चिकित्सालय में भेजना, चिकित्सक और रोगी दोनों के लिये श्रेयस्कर है। इसके लिये विशेष औषधि सल्लोनाल, चालमोगरा ऑयल (तुबरक तैल) या हिडनो कार्पस ऑयल है। इसकी १० बूंद प्रति मात्रा खाने के लिये दो या इसका एक इंजेक्शन प्रति सप्ताह एक मास तक दे सकते हैं, धीरे-धीरे मात्रा बढ़ाते जाएं। एक माह के लिये बीच में रोककर एक माह फिर दे सकते हैं। इंजेक्शनार्थ मूगराल (Moogrol) एलिपॉल (Alepol) प्रयुक्त होते हैं।

अध्याय १६

सूक्ष्म प्राणिओं द्वारा उत्पन्न होनेवाले रोग

इस अध्याय में उन उन विशेष कृमियों का वर्णन किया जायगा जो मनुष्य शरीर के अन्दर जाकर (घर बनाकर) रोग उत्पन्न करते हैं। कई कृमि ऐसे हैं जो शरीर के किसी भाग की मांसपेशी में जाकर बैठ जाते हैं यथा नारु, कई ऐसे हैं जो यकृत, फुफ्फुस आदि में जाकर बैठ जाते हैं यथा टीनिया एकिनोकाकस। कई ऐसे हैं जो लसीका वाहिनियों में रहा करते हैं यथा फिलेरिया (श्लीपद कारक)। परन्तु बहुत से ऐसे हैं जो अन्त्र में रहते हैं।

यह आवश्यक नहीं कि सब ऐसे कृमि रोग-कारक हों। कई ऐसे हैं जो शरीर में बन्दकोष उत्पन्न करते हैं। जब वे कोष बड़े हो जाते हैं तभी दबाव के कारण उनके लक्षण उत्पन्न होते हैं यथा टीनिया एकिनोकाकस। कई ऐसे होते हैं कि जब तक वे शरीर में रहते हैं तो कोई रोग उत्पन्न नहीं करते हैं परन्तु बाहर निकलते हुए कष्ट देते हैं और जब बाहर निकलते हुए कट जायं या फट जायं तो उनके अन्दर से विषरूप द्रव निकलता है जो विद्रधि उत्पन्न कर देता है, यथा नारु। कई ऐसे हैं जो स्रोतों का मार्ग अवरोध करके रोग उत्पन्न करते हैं यथा फिलेरिया।

अन्त्र में रहनेवाले कृमि भी कई प्रकार के होते हैं, कोई तो एकदम अहानिकर बिना कष्ट दिये अन्त्र में रहा करते हैं दूसरे अन्त्र से रक्त चूसते रहते हैं, अन्य अन्त्र की दीवार में व्रण उत्पन्न करते हैं जहां से उनका विष शरीर में प्रविष्ट होकर लक्षण उत्पन्न करता है। कृमि अनेक प्रकार के हैं। यहां केवल उन कृमियों का वर्णन किया जायेगा जो प्रायः देखने में आते हैं।

Anti. Par

महागुदा (Round Worm)

पर्याय—महागुदा, म्लप, राउन्डवर्म, एस्केरीज़ लम्ब्रीकाइडिज (Ascaris Dumbricoides)

परिचय और कारण—ये कृमि वर्षाभू (गेंडुरा) के समान होते हैं। स्त्री जाति १०–१६ इंच लम्बी और पुरुष जाति केवल ६–१० इंच लम्बे होते हैं।

यह कृमि थोड़ा मोटा, श्लक्ष्ण, गोल और चमकदार होता है। इसका रंग किञ्चित्पीताभ होता है। इसके मुख में ३ खंड (बृहदोष्ठ) होते हैं। पुच्छ स्त्री जाति में सीधी परन्तु पुरुष जाति में महागुदा में कुछ टेढ़ी होती है। इनका निवासस्थान क्षुद्रान्त्र ही है यह एक स्थान पर न रहकर आन्त्र में भ्रमण करता रहता है कभी उपान्त्र में जाकर उपान्त्र शोथ पैदा करता है, तो कभी पित्तप्रणाली में जा उसका मार्ग बन्द कर कामला उत्पन्न करता है, कभी आमाशय द्वारा बाहर निकल आता है इत्यादि। अन्त्र से इसके अण्डे मल द्वारा बाहर निकलते रहते हैं, मल से दूषित जलादि पेय पदार्थ द्वारा ही इनका प्रसार होता है। ये पहले अन्त्र में जाता है वहां से इसका लार्वा† पित्त प्रणाली द्वारा यकृत में, वहां से फुफ्फुस में पहुँचकर वहां वृद्धि को प्राप्त होते हैं। जब पूर्णरूपेण वृद्धि पा जाते हैं तो श्वास प्रणाली द्वारा गले में से होकर पुनः अन्त्र मार्ग में चले जाते हैं वहां क्षुद्रान्त्र की दीवार में रहते हैं। किसी व्यक्ति में थोड़े होते हैं और किसी में बहुत ज्यादा। यह भ्रमण करते रहते हैं कभी-कभी आमाशय से वमन द्वारा बाहर फेंक दिये जाते हैं नहीं तो क्षुद्रान्त्र से बृहदन्त्र में जाकर मल द्वारा बाहर निकल आते हैं।

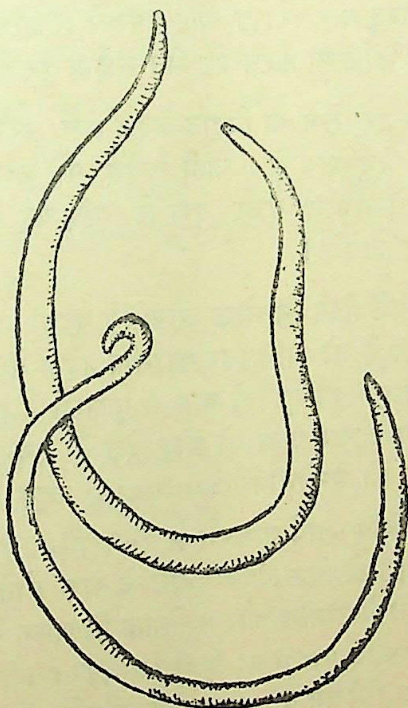
लक्षण—इसके नियत लक्षण कोई नहीं। कृमि क्षुद्रान्त्र में रहने के

---

† अण्डा फटने के बाद लार्वा बनता है, लार्वा सूक्ष्म होता तथा कीड़े के समान होता है।

कारण वहां क्षोभ उत्पन्न करते हैं क्षोभ के कारण बाल्यावस्था में उत्क्षेपण, दन्त घर्षण तथा नासा विभ्रम आदि लक्षण होते हैं। कभी-कभी अतिसार, प्रवाहिका आदि के लक्षण प्रगट हो जाते हैं। कभी ये पित्त प्रणाली के मार्ग बन्द कर कामला रोग उत्पन्न करता है या उपान्त्र

चित्र नं० ४१



१—महागुदा स्त्री। २—महागुदा पुरुष।

में जाकर उपान्त्र शोथ (Appendicitis) उत्पन्न कर देता है। प्रायः बालकों में इसके कारण कभी-कभी प्रणालीय फुफ्फुस प्रदाह भी देखने

में आया है। कभी-कभी जब बहुत से कृमि इकट्ठे होकर गुच्छ बन जाते हैं तो अन्त्र मार्ग को बन्द कर बद्धोदर के लक्षण उत्पन्न कर देते हैं, विशेषकर बालकों में।

उपर्युक्त लक्षणों के अतिरिक्त अन्य कई प्रकार के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। एक बार एक रोगी बालक को अपस्मार (मिर्गी) का रोगी समझा जाता था परन्तु मल परीक्षा और उपशय से ज्ञात हुआ कि उसे यही कृमिरोग था। चिकित्सा करने पर सब लक्षण दूर हो गये।

रोगमीमांसा—इस रोग का निदान केवल मल परीक्षा द्वारा ही होता है या उपशय अनुपशय से। जहां सन्देह पड़े वहां मल परीक्षा करा लें। नहीं तो सेन्टोनीन देकर देख लें यदि यह कृमि होंगे तो अनायास बाहर आ जायेंगे।

चिकित्सा—इसके लिये निम्नोक्त औषधियें बरती जाती हैं :

(१) एक औषधि है जो अधिकतर काश्मीर प्रदेश में होती है और वहां के देहाती लोग इसे बुई बूटी के नाम से पुकारते हैं। इसके प्रयोग से महागुदा मृतप्रायः होकर अन्त्र को छोड़ देते हैं रेचन से बाहर आ जाते हैं। इसके सार को सेन्टोनीन (Santonin) कहते हैं।

सेन्टोनीन प्रयोग विधि—प्रयोग करने से १–२ दिन पूर्व रोगी को लंघन कराना चाहिये। दो दिन लंघन कराने के बाद सोते समय पांच ग्रेन मात्रा में समभाग सेन्टोनीन और कैलोमल मिलाकर दें (Calomal gr. 5 Santonin gr. 5 at bed time)। दूसरी प्रातः को या ५–६ घंटे के पश्चात विरेचन दें। एक बार औषधि देने के बाद रेचन द्वारा बहुत से म्लप बाहर निकल आते हैं, कुछ रह भी जाते हैं। एक दिन छोड़कर अर्थात तीसरे दिन पुनः यही चिकित्सा करें। कई आचार्य इसे प्रति सप्ताह तीन चार बार देते है सप्ताह में दो बार से अधिक न देना चाहिये अन्यथा विष प्रभाव का भय रहता है। १–२ सप्ताह के बाद

पुनः मल परीक्षा करनी चाहिये। यदि मल इनके अण्डों से शून्य हो तो समझ लें कि म्लप निकल चुके हैं अन्यथा पुनः सेन्टोनीन के बाद विरेचनार्थ मेग्नेशिया (Mag. Sulph) को ½ से १ औंस तक दो औंस जल (उष्ण) में घोलकर देना अच्छा है।

बच्चों के लिये सेन्टोनीन की मात्रा आयु अनुसार होनी चाहियेः—

१ साल के बच्चे के लिये १ ग्रेन।

सेन्टोनीन के साथ रेचक औषधियें मिलती हैं यथा—

(i) एस्केफेन (Ascaphen)—इसकी दो मात्राएँ मिलती हैं, एक वर्ष के बालक के लिए और एक बड़ी आयु वालों के लिए।

(ii) बिटर पिल्स ई० आई० (Bitter Pills–E. I.)

(२) हेक्सिल-रीसार्सीनाल (Hexyl-resorcinol) यह सेन्टोनीन के दूसरे दरजे पर है।

मात्रा—०·५ ग्राम का एक या दो केप्शूल रात को सोते समय इससे १२ घंटे पूर्व और ४ घण्टे बाद में कुछ न दें। इससे आमाशय में क्षोभ उत्पन्न होने का भय रहता है। यह जेलेटीन केप्शूल में बन्द मिलती है।

(३) हेटरेजान (Hetrazon)—२ टिकिया (१०० mgs.) एक साथ रात को सोते समय दें।

(४) आयल ऑफ चिनोपोडियम (Oil Chinopodium) तथा कार्बन टेट्राक्लोर (Carbon Tetrachlor) भी इस कृमि के लिये लाभदायक हैं। इनका वर्णन अन्त्रादा के प्रकरण में आएगा। इनका स्थान सेन्टोलीन से बहुत नीचा है। इसकी आवश्यकता तभी पड़ती है जब अन्य उदर कृमि भी उपस्थित हों।

अन्त्रादा (Hook Worm)

पर्याय—अन्त्रादा, बुडिशाकार कृमि, हुकवर्म, एङ्क्राईलोस्टोमा डयुडेनेल (Ankylostoma Duodenale)

परिचय और कारण—यह कृमि छोटा श्वेत और नलिका-आकार या गोल होता है, यह सदा क्षुद्रान्त्र के ऊर्ध्व भाग में रहता है। इसकी स्त्री आध इंच लम्बी और पुरुष $\frac{1}{3}$ इंच लम्बा होता है। इसके मुख में चार दृढ़ बडिशाकर प्रवर्धन और दो शंकु आकार दाँत होते हैं। इसके अण्ड असंख्य मात्रा में मल द्वारा बाहर निकलकर जल में चले जाते हैं या गीली मिट्टी में रहते हैं। और वहीं से लार्वा रूप वृद्धि पाकर त्वचा में प्रविष्ट हो जाते हैं त्वचा से लसीका-वाहिनियों द्वारा फेफड़ों में पहुंचते हैं। यहां से कफ के साथ निगले जाकर क्षुद्रान्त्र के प्रथम भाग में जाते हैं और वहां चिपट जाते हैं।

सम्प्राप्ति—ये कीट अन्त्र की दीवार को काटते रहते हैं जिससे स्थान-स्थान पर व्रण बन जाते हैं। इन व्रणों द्वारा इन कीटों का विष लीन होकर रक्त में पहुंचता रहता है जिससे यकृद्वृद्धि, हृदय विस्तृति, फुफ्फुसावरण प्रदाह तथा हृदयावरण प्रदाहादि लक्षण उपस्थित हो जाते हैं।

लक्षण—यह कृमि अन्त्र से रक्त चूसते रहते हैं। इसी कारण तथा विष के कारण अत्यधिक रक्तन्यूनता हो जाती है। रोगी का वर्ण भेक वर्ण का हो (पीला पड़) जाता है। तथा कौड़ी प्रदेश में शूल, श्वास, अतिसार तथा शरीर में आर्द्रशोथ आदि लक्षण हो जाते हैं। और यकृतवृद्धि, हृदयविस्तृति, फुफ्फुसावरण-प्रदाहादि लक्षण भी उपस्थित हो जाते हैं। अन्त्य अवस्था में रोगी की मृत्यु भी हो जाती है रक्तपरीक्षा से अम्लरंजकच्छु श्वेताणु बहुत बढ़े हुए दिखाई देते हैं।

चिकित्सा—**प्रतिबन्धक**—जिस देश में यह रोग अधिकता से होता हो, वहां उबाले हुए पानी से स्नानादि करना चाहिये। नंगे पाँव कभी न चलें।

शमन चिकित्सा—इसको बाहर निकालने की निम्नोक्त औषधियां हैं:

(१) टेट्राक्लरिथिलीन (Tetraclore-thylene)

(२) सत् अजवायन थाइमोल (Thymol)

(३) बीटा नैप्थॉल (Beta Nephthol)

(४) चिनोपोडियम आयल (Oil Chinopodium)

(५) कार्बन ट्रेट्राक्लोराईड (Carbon Tetrachloride)

(६) युक्लिप्टस और कास्ट्रैल का मिश्रण (Eucalyptus and Castor oil Emulsion)

(७) हैक्साईल रिसार्सीनाल (Hexyl-risorcinol)

प्रयोग विधि—२ दिन पहले लंघन कराएं तथा विरेचन दें। तीसरे दिन Tetrachlore-thylene $\frac{3}{4}$–1 gram को कैपस्यूल में बन्द कर एक ही बार दे दें। २ घंटे बाद १ से २ औंस मैगनेशिया का जुलाब दे दें।

अथवा दो दिन के लंघन और विरेचन के बाद निम्नोक्त में से किसी औषधि की ३ मात्रा दो-दो घंटे बाद अर्थात् एक ६ बजे दूसरी ८ बजे और तीसरी १० बजे प्रातः दें। १२ बजे दुपहर को १–२ औंस मैग-नेशिया का जुलाब दें।

(क) आयल चीनोपोडियम	मात्रा १०-१५ बिन्दु कैप्स्यूल में बंद	
(ख) थाईमोल	मात्रा ३० ग्रेन	,, ,,
(ग) बीटा नैप्थाल	मात्रा ३० ग्रेन	,, ,,

कास्ट्रैल और युक्लिप्टस को देने के लिये निम्नोक्त प्रयोग व्यवहृत होता है। इसमें कास्ट्रैल पृथक देने की आवश्यकता नहीं होती।

युक्लिप्टस आयल	मिनिम ३०	Oil Eucalyptus	m xxx
क्लोरोफार्म	,, १५	Chloroform	m xv
कैस्टर आयल	ड्राम १०	Castor Oil	dr x
गम एकेशिया	पर्याप्त	Gum Accacia	qs
वारि आ	२ औंस	Aqua ad	℥ ii
मिलाकर दो भाग कर लें		Mft–divide in 2 Parts	

१ भाग ९ बजे और दूसरा ९॥ बजे प्रात:	One part at 9 and the other at 9-30 A.M.

(Hexylresorcinol) की ०-५ ग्राम की एक मात्रा जलेटीन कैप्स्यूल (Gelatine capsules) में बन्द-बड़ों के लिये ऐसे ४-५ कैप्स्यूल, ८-१२ वर्ष की आयु के लिये ऐसे ३ कैप्स्यूल, ६-८ वर्ष के लिये ऐसे २ कैप्स्यूल दें। इस औषधि के देने के बाद ४ घंटे तक खाने को कुछ न दें, तत्पश्चात् मगनेशियम सल्फ का विरेचन दे दें।

इन सबसे विष लक्षण होने का भय रहता है। जब इनका प्रयोग किया जाय तब मद्य, मसाले, मधु, और ग्लिसरीन आदि नहीं देने चाहिये। इनमें कार्बन ट्रेट्राक्लोर सबसे अधिक विषैला है। इन सबके झटपट बाद विरेचन देने का यही अभिप्राय है कि ये औषधियां कृमियों पर अपना कर्म करते हुए शीघ्र ही शरीर से बाहर निकल जायँ और शरीर पर विष प्रभाव न डालें।

आयुर्वेद की चिकित्सा के अनुसार इसमें कम्पिल (कमीला) देते हैं, मात्रा २-३ माशे दही के साथ अथवा इसका एक्स्ट्रेक्ट लिक्विड (Ext. kamata Liq) १-३ ड्राम, खाली पेट दें ३-३ घंटे बाद ३ मात्रा बाद में विरेचन दें।

७-१० दिन के अनन्तर पुनः मलपरीक्षा करानी चाहिये। यदि मल में कृमि या उनके अण्डे हों तो उनको निकालने का पुनः प्रयत्न करना चाहिए।

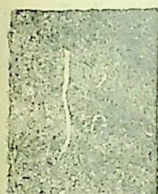
इस रोग से उत्पन्न विलोहितता, दुर्बलता, और क्षीणता निवारणार्थ बहुत काल तक पुष्टिकर और शक्तिप्रद यथा लोह एवं लिवर एक्स्ट्रेक्ट आदि देने चाहिये।

चुरुवे

पर्याय—चुरुवे, चमूने, सीमका, थ्रेडवर्म, ग्राक्जूरिस, वर्मिकुलेरिस (Oxyuris Vermicularis)।

ये कृमि छोटे-छोटे तागों के समान होते हैं। इनकी स्त्री जाति $\frac{3}{8}$ इंच लम्बी और पतली पूँछवाली होती है। पुरुष केवल $\frac{1}{8}$–$\frac{1}{4}$ इंच लम्बा होता है इसकी पूँछ मुड़ी हुई होती है। पुरुष समागम करते ही मर जाता है और सगर्भा स्त्री मलाशय से अन्त्र में चली जाती है। वहीं से इसके अण्डे बाहर निकलते रहते हैं और पेयादि पदार्थों को दूषित करके पुनः मानव शरीर में पहुँचते हैं। यह कृमि प्रथमावस्था से क्षुद्रान्त्र में ही बढ़ता है। बढ़ने के बाद अधो बृहदान्त्र तथा मलाशय में आकर ठहर जाता है और वहीं से स्वयं कृमि और उनके अण्डे मल के साथ बाहर निकलते रहते हैं। जब ये निकलते हैं तभी कण्डू उत्पन्न करते हैं। कभी कभी कण्डू इतनी तीव्र होती है कि रोगी बिना खुजलाये नहीं रह सकता और खुजलाते-खुजलाते गुदा में व्रण हो जाते हैं। ये कृमि प्रायः बच्चों में ही पाये जाते हैं और उन्हें रात को ही तंग करते हैं। सारी रात बच्चा गुदा को खुजलाता ही रहता है, उसके लिये निद्रा दुष्प्राप्य हो जाती है कभी-कभी बच्चों में इसके कारण उत्क्षेपण भी होने लगते हैं।

चित्र ४२



चुरुवे

बड़ा—स्त्री जाति।

छोटे छोटे—पुरुष।

चिकित्सा—कृमि मलाशय में रहते हैं जहाँ मुख द्वारा दी हुई औषधि नहीं पहुँच सकती चूँकि वह वहां तक पहुँचते-पहुँचते बदल चुकती है या अन्त्र से लीन हो जाती है। अतः वस्ति द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। वस्ति के लिए कोई तिक्त कषाय ठण्डा किया हुआ यथा किराततिक्त, रसाञ्जन Quassia का क्वाथ या नमक का पानी (आध सेर जल में २ तोला सैंधव नमक) दें। जहाँ कोई औषधि काम न करे वहाँ Hexylresorcinol 1 in 2000 की वस्ति दें। एक साल के बच्चे के लिए १ पाव पर्याप्त है, एक बार में एक पाव या आध सेर

पानी देना चाहिये। जितनी अधिक देर रोगी इनको अन्दर ठहरा सके उतना ही अधिक लाभ होता है। यह क्रिया प्रति तीसरे चौथे दिन दो-तीन सप्ताह तक करते रहें जैसा म्लप की चिकित्सा में लिख आये हैं। Gentian voilet की १ ग्रेन की गोली (Enteric coated Pills) दिन में तीन बार खाने से पहले पांच दिन तक दें एक सप्ताह तक विराम के पुनः ५ दिन यही औषधि दें एक वर्ष के बालक के लिए $\frac{1}{6}$ ग्रेन की गोली १ से ६ वर्ष तक की आयु तक $\frac{1}{4}$ ग्रेन १०-१२ साल तक $\frac{1}{2}$ ग्रेन, इससे ऊपर १ ग्रेन।

पेटेन्ट औषधियाँ—i. बूटोलान (Butolan) २ गोली ३ बार दिन में पांच दिन तक।

ii. आक्सीलान

iii. निक्सीलीन (Nyxoline)—इसका दर्जा सबसे ऊंचा बताया जाता है। बड़ों के लिए ड्रेगीज़ (केप्शूल) और बच्चों के लिए इसका शर्बत मिलता है, मात्रा प्रयोग विधि के साथ होती है।

एन्टेपार (Antepar Elixi) एलिकजर २ चमचे (२ ड्राम) दिन में दो बार बड़ों के लिए तथा आधा चमचा २-३ वर्ष के बच्चों के लिए, ४-६ तक १ चमचा ७ दिन तक दें।

उदरावेष्टा

पर्याय—उदरावेष्टा, अन्त्रावेष्टा, कद्दूकीड़ा, टेपवर्म (Tape-worm)

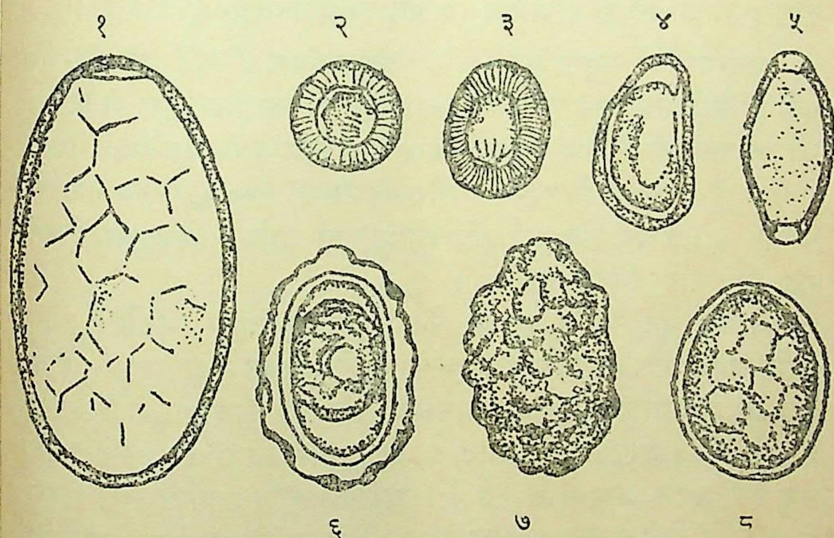
परिचय—ये कृमि फीते की भांति लम्बे-लम्बे होते हैं, ये अन्त्र की दीवार से चिपटे रहते हैं। ये कई प्रकार के होते हैं। कई तो $\frac{1}{2}$ इंच से ८-१० इंच लम्बे और कई १-२ फुट तक लम्बे होते हैं। प्रत्येक कृमि के दो भाग होते हैं-शिर और गात्र।

(१) शिर छोटा और गोपुच्छ आकार होता है। उसके मुख पर चूसने के लिए चूषक होते हैं, इन चूषकों के चारों ओर छोटे-छोटे

हुक के समान नुकीले प्रवर्धन (बडिश) होते हैं इनके द्वारा ये अन्त्र की भित्ति से चिपटे रहते हैं, प्रायः ऐसे दो बडिश होते हैं, किसी-किसी में चार भी होते हैं।

(२) गात्र—कई छोटे-बड़े असमान पर्वों (टुकड़ों) से निर्मित होता है। शिर के पास के पर्व छोटे, जैसे-जैसे पर्व शिर से दूर होते जाते हैं

चित्र ४३



भिन्न-भिन्न प्रकार के अन्त्रकृमि के अण्डे

१—डिस्टोमा. २—टीनिया सोलियम. ३—टीनिया सैजिनेटा. ४—चुरवे
५—डिस्पार. ६-७—महागुदा. ८—टीनिया लेटा.

वैसे-वैसे बड़े होते जाते हैं पर्व जितना शिर से दूर होगा उतना ही वह बड़ा होता है और पूर्वगामी पर्वों की अपेक्षा स्थूल, वृद्ध एवं परिपक्व होगा।

शिर के पास रहनेवाले पर्व में कोई उत्पादक संस्थान नहीं होता परन्तु जैसे-जैसे दूर होते जाते हैं उनमें उत्पादक संस्थान विद्यमान होने लगता है। कुछ दूरी पर इनमें अण्डे भी उपस्थित हो जाते हैं। उत्तरोत्तर पर्वों में अण्डों की संख्या बढ़ती जाती है यहाँ तक कि अन्त के प्रत्येक पर्व में अण्डों की संख्या तीस पैंतीस हजार तक जा पहुँचती है। वे परिपक्व पर्व होते हैं, इन पर्वों में नर और मादा दोनों की जननेन्द्रियें उपस्थित होती हैं; नर का भाग (अण्ड) और मादा का भाग (गर्भाशय) स्पष्ट देखा जा सकता है अर्थात् यह पर्व उभयलिंगी पृथक् जीव है।

वास्तव में ये समस्त पर्व (खण्ड) पृथक-पृथक जीव हैं जो शिर से पैदा होकर उसके साथ उत्तरोत्तर लगे रहते हैं तथा शिर द्वारा ही अपना भोजन ग्रहण करते हैं। ये टुकड़े भिन्न-भिन्न कृमियों में भिन्न-भिन्न संख्या में होते हैं। किसी में ५०–६० और किसी में १०००–१२०० तक जा पहुँचते हैं। ये पर्व जब पूर्ण वृद्धि को प्राप्त हो जाते हैं तो अलग होकर मल द्वारा बाहर निकल जाते हैं।

ये पर्व पेट के अन्दर या पेट से बाहर आकर फटते हैं और इनसे अण्डे मुक्त हो जाते हैं। प्रत्येक अण्डे में तीन नुकीले प्रवर्धन होते हैं। इन प्रवर्धनों द्वारा यह अण्डा पशुओं की अन्त्र की दीवार से चिपटता है। ये अण्डे जल में मिल जाते हैं उस पानी को पीकर शूकर आदि पशु इसे अपने अन्त्र में ले लेते हैं। यहां ये नुकीले प्रवर्धनों द्वारा शूकर के अन्त्र से चिपट जाते हैं और अन्त्र की दीवार को पार करके यकृतादि अन्य उदरस्थ अङ्गों में तथा शरीर के किसी अन्य मांसल भाग में जा पहुँचते हैं। वहां इनके प्रवर्धन नष्ट हो जाते हैं और इनके पिछले भाग से एक तरल पूर्ण थैली बन जाती है। इसे स्कोलेक्स (Scolex) कहते हैं। इस स्कोलेक्स के दो भाग होते हैं, एक शिर जो अन्त्रस्थ उदरवेष्टा के समान होता है यही पीछे कृमि का शिर बनता है दूसरा पीछे की ओर एक [illegible] रहती है जो बढ़ती नहीं। यह स्कॉलेक्स शूकर के

अन्त्र से मल द्वारा निकलते रहते हैं। ऐसे मल से दूषित जल पीने या उन पशुओं का कच्चा या अधपका मांस खाने से जिनमें ये कृमि हों ये मनुष्य में जाते हैं। जब ये मनुष्य की अन्त्र की दीवार से चिपट जाते हैं तब इसके पीछे रहनेवाली थैली नष्ट हो जाती है। शिर से उदरावेष्टा के वास्तविक टुकड़े बनने लगते हैं।

संक्षेपतः इसके दो जीवन चक्र हैं, एक मनुष्य में दूसरा किसी पशु में। मनुष्य में पर्व बनते हैं उनसे अण्डे पैदा होते हैं, अण्डे मल द्वारा पानी में जाते हैं और जल से पशुओं में जाते हैं, कभी-कभी ये मछली में भी चले जाते हैं। पशु अथवा मछली के अन्दर जाकर वृद्धि पाते हैं और स्कॉलेक्स का रूप धारण कर लेते हैं। इन पशुओं का या मछली का अधपका मांस खाने से अथवा इनके मल से दूषित जल पीने से पुनः पुरुष में जाकर वृद्धि पाते हैं।

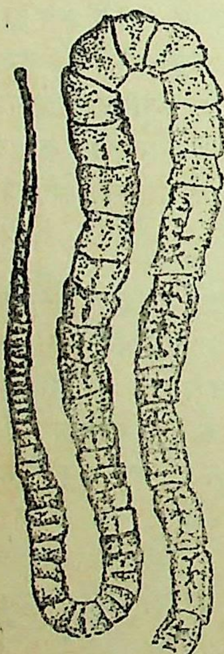
उदरावेष्टा के भेद—मुख्यतया यह चार प्रकार का होता है-सबके जीवन-चक्र समान रूप से चलते हैं, सबका मध्यजीवन चक्र भिन्न भिन्न प्राणी में कटता है। इनका विस्तृत वर्णन इस पुस्तक की सीमा के बाहर है। तथापि संक्षिप्त वर्णन कर देना आवश्यक है। तीन प्रकार के उदरवेष्टा परस्पर समान हैं अतः पहिले उनके नाम व मध्यपशु जिनमें इनके अण्डे जाकर एक जीवन-चक्र पूर्ण करते हैं निर्देश रूप में नीचे लिखा जाता है पश्चात् उनके सामान्य लक्षण व चिकित्सा का वर्णन कर दिया जाएगा। चौथा इनसे भिन्न है उसका वर्णन पृथक् किया जाएगा।

(१) टीनिया सोलियम (Taenia Solium)

इसको शूकर का अन्त्रावेष्टा (Tapeworm) कहते हैं। यह ६–१२ फुट तक लम्बा होता है इसका शिर छोटा और उसमें चार चूषक मुख होते हैं जिनके इतस्ततः दो रेखाओं में २६ बडिश आकार

(हुक के समान) प्रवर्धन होते हैं। शरीर में लगभग ५०० पर्व होते हैं। इसके अण्डे मनुष्य के पेट से निकल कर जल में जाते हैं। जल से सूअर में जाते और बढ़ते हैं उनका कच्चा अथवा अधपका मांस खाने

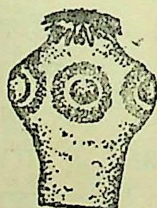
चित्र ४४



टीनिया सोलियम (पूर्ण कृमि)



टीनिया सोलियम के पर्व



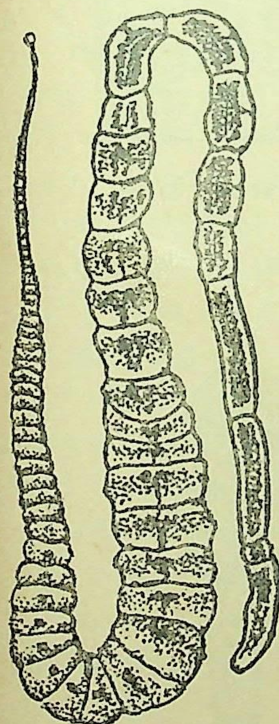
टीनिया सोलियम का शिर तथा उसके चूषक और बडिशाकार प्रवर्धन

से मनुष्यों में आते हैं। ये सूअर के मांस, यकृत, मस्तिष्क और नेत्रादि स्थानों में रहते हैं।

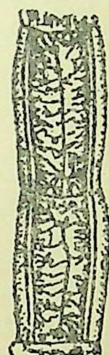
(२) टीनिया सैजिनेटा (Taenia Saginata)

इसे गौ, भैंस आदि का टेपवर्म कहते हैं। यह १५–२० फुट लम्बा होता है। इसका शिर टीनिया सोलियम की अपेक्षा बड़ा होता है

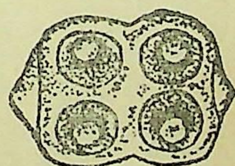
चित्र ४५



टीनिया सैजिनेटा (पूर्ण कृमि)



टीनिया सैजिनेटा के पोर्व



टीनिया सैजिनेटा का शिर और चूषक

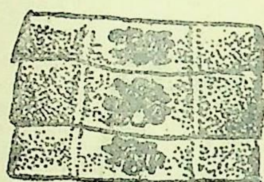
इसमें चार चूषक मुख तो होते हैं परन्तु बडिशाकार प्रवर्धन नहीं होते। इसके लगभग १००० पर्व होते हैं।

इसका मध्यपशु गाय-भैंस हैं उनका कच्चा या अर्धपक्व मांस खाने से ही यह रोग होता है। यह विशेषकर जंघागत मांस में रहता है।

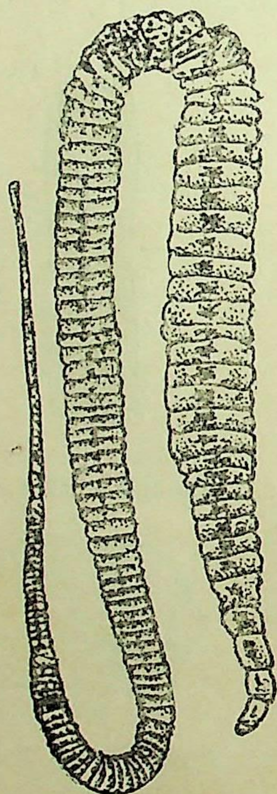
(३) टीनिया लेटा (Taenia Lata)

इसको बड़ा टेपवर्म भी कहते हैं यह सबसे बड़ा अर्थात् लगभग

चित्र ४६



टीनिया लेटा के पोर्वे



टीनिया लेटा (पूर्ण कृमि)



टीनिया लेटा का शिर

२०–२५ फुट लम्बा होता है। इसके पर्व ३५०० से ४००० तक होते हैं। इसका शिर अण्डाकार या मुदगर आकार होता है। इसमें मध्यरेखा के दोनों ओर एक-एक दीर्घमुख होता है। इसका अण्डा उदर में नहीं फटता

अपितु स्वच्छ जल में आकर ही फटता है फटने पर इसमें से छोटा सा कीट निकलता है जो मछली के पेट में जाकर वृद्धि को प्राप्त होता है। इन मछलियों का अधपका मांस खाने से यह कृमि मनुष्यों में जाता है।

सबमें लक्षण प्रायः समान होते हैं जो नीचे लिखे जाते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भी कई प्रकार के उदरावेष्टा होते हैं।

लक्षण—उदरावेष्टा से विशेष लक्षण उत्पन्न नहीं होते जिनसे उनका ज्ञान हो सके। कभी-कभी गुदा व नासा पर कण्डु, उदरशूल और अतिसारादि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं और वेग के रूप में समय समय पर प्रादुर्भूत होते और शान्त होते रहते हैं। कभी-कभी ऐसे रोगियों में अत्यधिक क्षुधा (भस्मक), मस्तिष्क-विकार यथा मानसिक-अवसाद, कम्पन, उत्क्षेपणादि लक्षण उपस्थित हो जाते हैं। जब किसी रोगी में उपर्युक्त लक्षण अकारण उपस्थित हों तो उसके मल और रक्त का अणुवैक्षणिक परीक्षा करानी चाहिये। मल में अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा इनके अण्डे देखे जा सकते हैं। कभी-कभी मल में इनके बहुत से संयुकत पर्व लम्बे-लम्बे टुकड़ों के रूप में बाहर आते हैं। रक्त परीक्षा करने से अम्लरंगेच्छु श्वेताणु बहुत बढ़े हुए १५--२०% मिलते हैं।

इन रोगों में साधारण रक्तन्यूनता होती है विशेष नहीं। टीनिया लेटा में औरों की अपेक्षा रक्त-न्यूनता अधिक होती है और मनुष्य दुष्ट विलोहितता से पीड़ित प्रतीत होता है इनका निदान केवल मल-परीक्षा द्वारा ही होता है।

चिकित्सा—जब इनकी विद्यमानता का ज्ञान हो जाय तो इनको बाहर निकालने के उपाय करने चाहिये इसके लिये फिलिक्स मास (Filix Mas) और कार्बन-टेट्राक्लोर (Carbon Tetrachlore) अति उत्तम औषधियां हैं। इनको शरीर से निकालना बहुत कठिन कार्य है। उदरावेष्टा का शिर अन्त्र की दीवार की किसी सिलवट में घुसा रहता है व आन्त्रिक श्लेष्मा से आवृत रहता है अतः औषधि उन

तक बड़ी कठिनता से पहुँचती है और बिना औषधि पहुँचे शिर अलग नहीं हो सकता, इस कारण इसकी चिकित्सा बड़ी सावधानी और धैर्य से करनी पड़ती है। उदरावेष्टा को बाहर निकालने के लिये औषधि देने से ३–४ दिन पूर्व रोगी को हलका पेय पदार्थ पर रखें, सोते समय प्रति रात्रि अथवा प्रति प्रातः कोई न कोई मृदु विरेचन देना चाहिये। पांचवे दिन तीव्र विरेचन दें जिससे ३–४ दस्त आ जायें। अगले दिन भी इसी प्रकार प्रातः काल खाली पेट एक अच्छा विरेचन देकर एक घण्टा बाद एक ड्राम फिलिक्स मास अथवा मेलफर्न का लिक्विड एक्सट्रेक्स दें। योग नीचे दिया जाता है—

लिक्विड ऐक्सट्रेक्स ऑफ मेलफर्न ड्राम १	Liq. Extract of Male Fern	dr. 1
म्यूसीलेज ऑफ ट्रैगेकन्थ ड्राम १	Mucilage of Tragacanth	dr. 1
सीरप ऑफ जिंजर ड्राम १	Syp. of Ginger	dr. 1
एक्वा क्लोरोफार्म औंस १	Aq. Chloroform ad	ż 1

तदनन्तर एक घण्टा बाद पुनः एक मात्रा और दें।

दूसरी विधि—ऊपर लिखे अनुसार ३–४ दिन लंघन व विरेचन के बाद पाँचवे दिन खाली पेट विरेचन दें इसके १ घंटा बाद इसी औषधि की १५ बूँद कैप्सूल में बन्द करके १५–१५ मिनट के अनन्तर दो बार दें अथवा ३० बिन्दु इस औषधि की और ३० बिन्दु तारपीन के तेल के साथ मिला एक बार दे दें।

इनके देने के ३–४ घण्टे बाद तक रोगी को आराम से लिटाये रखना चाहिये। तत्पश्चात् फिर मेगसल्फ का विरेचन दे दें (कास्ट्रैल कभी न दें क्योंकि यह मेलफर्न से मिलकर घोर विष प्रभाव उत्पन्न कर देता है)। इसी प्रकार लंघन और विरेचनों के बाद कार्बन टेट्राक्लोर (Carbon Tetrachlore) को २ सी. सी. कैप्सूल में बन्द कर के

दें। कोई कोई डाक्टर आयल चीनोपोडियम भी इसी के साथ देते हैं। अथवा अनार की जड़ के छिलके का क्वाथ, कद्दू के बीज या तारपीन का तेल भी प्रयुक्त हो सकता है, इनके साथ कास्ट्रैल दे सकते हैं।

औषधि देने के बाद मल का अच्छी तरह से निरीक्षण करना चाहिए। छाननी में से मल को छान-छान कर उदरावेष्टा के शिर को देखना चाहिये। जब तक शिर न निकल आए तब तक सब उपाय निरर्थक हैं। १५-२० दिन के अन्तर पुनः इसी प्रकार से चिकित्सा करते जाएँ जब तक कि बाहर न निकल जाएं। यदि इसका ज्ञान न हो सके कि शिर बाहर निकला है या नहीं तो चार मास के बाद पुनः इनके अण्डों की उपस्थिति के निरीक्षणार्थ मल की परीक्षा करवाएँ। यदि २-३ बार मल की परीक्षा करवाने पर अण्डें न मिलें तो रोगी को रोगमुक्त समझना चाहिये।

कम्बीला इसमें बहुत लाभदायक एक्सट्रैक्ट कमीला लिक्विड (Ext. kamala Liq) २-३ ड्राम की मात्रा में खाली पेट दें, और ३-३ घन्टे बाद ३ मात्रा दें, बाद में कैस्टर आयल का विरेचन दे दें।

रक्त न्यूनता की साधारण चिकित्सा (रक्त न्यूनता के अधिकार में लिखित) करनी चाहिये परन्तु यह तभी सफल होती है जब कृमि बाहर निकल जाएँ।

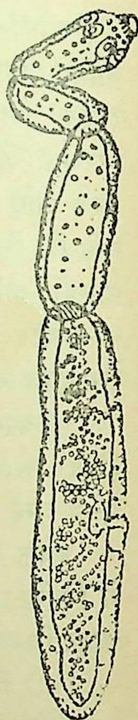
(४) टीनीया एकिनोकाकस (Taenia Echinococcus)

वैसे तो यह भी उदरावेष्टा की जाति का है परन्तु यह उनसे बहुत छोटा होता है। इसमें एक शिर और तीन पर्व होते हैं। अन्त का पर्व शेष सारे शरीर के बराबर होता है। शिर लम्बा और उसमें चार चूषक होते है जिनके इतस्ततः ३०-४० बडिशाकार प्रवर्धनों की दो रेखायें होती हैं।

इसके अण्डे बहुत छोटे होते हैं और उनमें से कृमि उत्पन्न होते हैं जिनके ६ बडिशाकार प्रवर्धन होते हैं।

जीवन यात्रा—वास्तव में यह शृगाल तथा श्वानादि के अन्त्र में रहता है और वहीं से इसके अण्डे मल द्वारा बाहर निकलते रहते हैं; ऐसे मल से दूषित पेय जल किसी मनुष्य के अन्त्र में जाता है तो अण्डा अन्दर जाकर फट जाता है और ६ बडिशाकार प्रवर्धनों वाले कृमि उत्पन्न हो जाते हैं। ये कृमि अन्त्र की दीवार को लांघकर रक्त में प्रविष्ट हो जाते हैं और रक्त द्वारा किसी अंग में (विशेषतया यकृत में) पहुंचकर वहीं स्थिर हो जाते हैं। तब वहां इनके इतस्ततः एक कोष्ठ सा बन जाता है जिसको आंग्ल भाषा में हाइडेटिड सिस्ट (तरल मय कोष) कहते हैं।

चित्र ४७



टीनिया एकिनोकाकस (पूर्ण कृमि)

हाइडेटिड सिस्ट (कोष) के तीन भाग होते हैं—

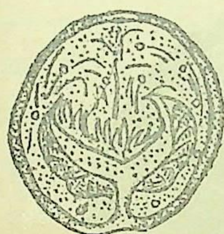
(१) सबसे ऊपर सौत्रिक तन्तु से निर्मित आवरण सा होता है। यह आवरण सिस्ट का भाग नहीं होता प्रत्युत इस अंग का ही भाग होता है जिनमें सिस्ट रहती है। इसलिए इसे मिथ्या आवरण कहते हैं। सिस्ट के दो ही आवरण होते हैं (२) बाह्यावरण–स्वच्छ, मोटा श्वेत रंग का श्लक्ष्ण और तहदार आवरण होता है।

(३) अंतस्थ आवरण–बाह्यावरण के अन्दर होता है। यह अस्वच्छ, मोटा, खर और श्वेत धब्बेदार होता है।

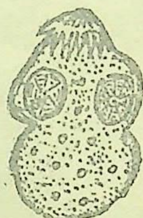
इस कोष में जलवत् तरल भरा रहता है। इसमें लवण होते हैं परन्तु एलब्यूमिन नहीं। अन्तस्थावरण से कई और छोटे-छोटे कोष अन्दर की ओर उत्पन्न हो जाते हैं। इन कोषों में उपयुक्त वास्तविक शिर निकल आते हैं। सिस्ट मनुष्य के शरीर से बाहर निकलकर कुत्तों, गीदड़ों के अन्त्र में जाते और उनसे कीट उत्पन्न हो जाते हैं।

वस्तुतः यह कृमि कुत्ते आदि की आंत में रहता है और इसके अण्डे पुरुष के शरीर में रहते हैं और वहीं कोष उत्पन्न करते हैं जो अण्डे

चित्र ४८



टीनिया एकिनोकाकस कोष में बन्द।



टीनिया एकिनोकाकस कोष से बाहर।



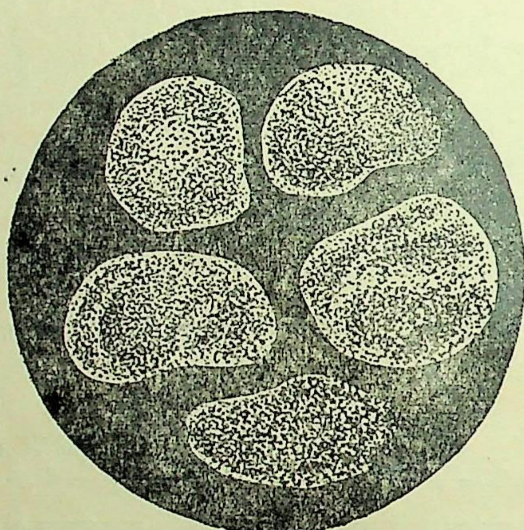
टीनिया एकिनोकाकस के बडिश।

अन्त्र में रहते हैं उन्हीं से कोष बन बन कर मलद्वारा बाहर निकलते हैं। इससे पूर्व लिखित तीनों कृमि पुरुष के अन्त्र में रहते थे और उनके अण्डे किसी मध्यपशु में बढ़ते थे परन्तु इसमें क्रम उल्टा है।

लक्षण—यह कोष प्रायः यकृत में ही पैदा होते हैं कभी-कभी वृक्क, फुफ्फुस, मस्तिष्क तथा मांस में भी पैदा हो जाता है। जब तक कोष बड़ा हो जाता इसके लक्षण उत्पन्न नहीं होते। कभी-कभी तो इसका ज्ञान आजीवन नहीं होता। इसके बढ़ने से यकृत बढ़ा हुआ और बोझल सा प्रतीत होता है। यह कोष शनैः शनैः बढ़ता है। जब बहुत बढ़ जाता है तो समीपवर्ती अङ्गों पर दबाव डालता है जिससे लक्षण उत्पन्न होते हैं। जब वक्षोदर-मध्यस्थ मांस-पेशी पर दबाव पड़ता है तो श्वास होता है; पित्त प्रणाली पर पड़ता है तो कामला और शिराओं पर पड़ता है तो आर्द्रशोथादि लक्षण हो जाते हैं। जब कोष बहुत बढ़ जाये तो उदर के बाहर से ही उसे टटोल सकते हैं और मशकवत गति

(प्रत्युन्नम्न गति) प्रतीत की जा सकती है। इससे जलोदरादि रोगों का सन्देह हो जाता है। साधारणतया यह कोष नहीं फटता परन्तु जब

चित्र ४६



टीनिया एकिनोकाकस कोष में बंद

कभी फट जाय तो जहां फटेगा स्थानानुसार लक्षण उत्पन्न कर देगा यथा पित्त प्रणाली में फटने से पित्त प्रणालियों में दाह उत्पन्न करके तीव्र कामला उत्पन्न कर देता हैं। जब बाहर की ओर उदरकला, आमाशय और वक्षोदरमध्यस्थ मांसपेशी को खाकर फुफ्फुसावरण में फट जाय तब फुफ्फुसावरण प्रदाह के विशेष लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। अन्त्र या आमाशय फूटने पर तरल क्षुद्र कोष्ठों सहित बाहर निकल जाता है और शान्ति हो जाती है। उदरकला में फटने पर वहां शोथ सा पैदा हो जाता है। विरलावस्था में जब कोष में कीट के शिर मर जायँ तो इसमें पीप भी पड़ जाती है।

रोगमीमांसा—जब यकृत में किसी अर्बुद की आशंका हो तो इस रोग की ओर ध्यान दें। रक्त परीक्षा से अम्लरंगेच्छु बढ़े हुए प्रतीत होते हैं यह उदरकृमियों का विशेष चिह्न है। एक्स-रे से भी रोग ज्ञान में सहायता मिलती है।

जब यकृत के मध्य में हो तब इसका ज्ञान अति दुष्कर है। कई बार आजीवन ज्ञान नहीं होता।

चिकित्सा—ज्ञात हो जाने पर शल्य क्रिया द्वारा इसे बाहर निकाल देना चहिए अन्य कोई चिकित्सा नहीं।

रक्तस्थ कृमि फ़िलेरिया

पर्याय—फिलेरिया (Filaria), श्लीपद

"यःसज्वरो वंक्षणजो भृशार्ति, शोथो नृणां पादगतः क्रमेण।
तच्छ्लीपदं स्यात्करकर्णनेत्र-शिश्नौष्ठनासास्वपि केचिदाहुः॥

जो फ़िलेरिया भारतवर्ष में होता है उसे Filaria Bancrofti कहते हैं। इसके अण्डे और सद्योजात कृमि रक्त में भ्रमण करते हैं। ये कृमि कोई ३-३ इंच लंबे होते हैं और कई केवल $\frac{१}{१०}$ इंच लम्बे होते हैं। जिस प्रदेश में यह रोग बहुत होता है वहां अनेक पुरुषों में ये कृमि उपस्थित होते हुए भी कोई रोग उत्पन्न नहीं करते। ये कृमि रात के समय ६ बजे प्रातः तक रक्त में भ्रमण करते हैं, दिन को लुप्त हो जाते हैं। अर्ध रात्रि को अधिक मात्रा में रक्त में मिलते हैं। रोग निदानार्थ आधी रात को १० बजे से ४ बजे प्रातः तक हर दो-दो घण्टे बाद रक्त की परीक्षा करनी चाहिये। रक्त-बिन्दु को यदि कांचपटिका (glass slide) पर रखकर कवर स्लिप (Cover slip) से ढककर अणुवीक्षण यंत्र द्वारा देखा जाय तो ये कृमि स्पष्ट दीख पड़ते हैं। जो लोग रात को जागते हैं और दिन को सोते हैं उनके रक्त में ये दिन में उपस्थित होते हैं, रात्रि को लुप्त रहते हैं।

परिपक्व कृमि लसीका वाहिनियों में रहते हैं, वहीं अंडे देते हैं। ये अंडे वहां से रक्त में आते हैं।

इस रोग का प्रसार मच्छर द्वारा ही होता है। मादा मच्छर रोगी को काटती है और उसके रक्त के साथ अनेक अंडों को भी चूस लेती है। मच्छर शरीर में मलेरिया के जीवाणु की भांति इसका दूसरा जीवन चक्र चलता है। १०–४० दिन इस चक्र को पूरा होने में लगते हैं। इतने काल के बाद मच्छर इस योग्य होता है कि वह रोग प्रसार कर सके इसके बाद आजीवन वह रोग फैलाने का साधन बना रहता है।

ये कृमि लसीका वाहिनियों में शोथ उत्पन्न करते हैं, इस शोथ के कारण लसीका वाहिनी का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

जीवित अवस्था में तो ये रक्त में भ्रमण करते रहते हैं और मार्ग स्थायी रूप से बन्द नहीं होता परन्तु जब कृमि मर जायें तो वे वहीं का वहीं रह जाते हैं, इस कारण लसीका वाहिनी का मार्ग सर्वदा के लिये बंद हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप श्लीपद रोग अत्यन्त स्थूल (हाथी के पांव के समान) हो जाता है। जिस प्रदेश की लसीका वाहिनी बन्द हो जाती है वहां ही श्लीपद होता है। बहुधा शरीर का अधोभाग—पांव, जंघा या अंड कोष प्रभावित होते हैं, कभी हाथ, बाहु, मुख या नासा आदि भी प्रभावित हो जाते हैं। जब अन्त्र की लसीका वाहिनियां रुक जायें तो अन्त्र से चूसे हुए आहार रस को, (जिसे लसीका वाहिनियों के मार्ग द्वारा रक्त में मिलना था) अब उलटे मार्ग को जाना पड़ता है, तदनुसार यदि वह आहार रस मूत्र-मार्ग की ओर रास्ता बना ले तो मूत्र का वर्ण आहार रस के कारण श्वेत हो जाता है, इसे वसामेह कहते हैं। यदि उदरक-कला की ओर रुख कर लें तो श्वेत तरलयुक्त जलोदर पैदा हो जाता है।

इन कृमियों में से कई कृमियों का विष अधिक विषैला होता है, लसीका वाहिनियों में शोथ पैदा करता है तथा समय-समय पर ज्वर

पैदा करता रहता है। ये शोथ साधारणतः फिलेरिया के कृमियों से उत्पन्न शोथ की अपेक्षा उग्र होता है। उससे लसीका वाहिनियों का मार्ग जल्दी बन्द हो जाता है।

चिकित्सा – अभी तक इसके लिये किसी विशेष औषधि का ज्ञान नहीं हुआ जो इस कृमि को शरीर के अन्दर नाश कर दे। खोज जारी है। इसके लिये हेट्रेज़ान (Hetrazon) बहुत लाभ करती है। १ गोली ३ बार दिन में २ सप्ताह तक दें।

वास्तविक चिकित्सा तो वही चिकित्सा है जिससे रक्त वा लसीका वाहिनी में रहनेवाले कृमि और उनके अंडे नाश हो सकें और श्लीपद न उत्पन्न होने पाए। एक बार अंग स्थूल हो जाय और श्लीपद का रूप धारण करले तो उसको ठीक करना वैद्य की सामर्थ्य के बाहर है। शल्य चिकित्सक कुछ कर सकते हैं।

हेट्रेजन का प्रयोग—मात्रा ३-६ ग्राम ३ बार दिन में ११-१५ दिन तक देनी चाहिये। कभी-कभी २१ दिन तक देनी पड़ती है। जब इससे विष प्रभाव—शिरशूल, भ्रम, वमन, उत्क्लेश, उदरशूल, अतिसार आदि-उत्पन्न हो जायँ तो इसे कुछ काल के लिए बन्द कर देना चाहिए।

श्लीपद हो जाने के बाद शल्य चिकित्सा द्वारा अवरुद्ध लसीका वाहिनी के स्थान के नीचे की लसीका वाहिनियों का मुख खोलकर उनको किसी शिरा के साथ मिला देते हैं जिससे लसीका रक्त में मिल जाती है और उसका प्रवाह बंद न होकर स्थूलता उत्पन्न नहीं होती और पूर्व प्राप्त स्थूलता शनैः शनैः कम होती जाती है।

नार्वा (Guinea Worm.)

यह श्वेतवर्ण का गोल १ से ३ फुट लम्बा गंडू आकार, पतला, गोल कृमि होता है। इसके अंडे सूक्ष्म जीव, साईक्लोप (Cyclope), में जाते हैं और उस साईक्लोप युक्त पानी के पीने से ये मनुष्य में

आते हैं। साईक्लोप में यह कृमि परिपक्व होता है। परिपक्व होने पर ही यह कृमि मनुष्य शरीर में वृद्धि पा सकता है; अंडे वृद्धि नहीं पा सकते। इनके अंडों से दूषित जल पीने से यह कृमि मनुष्य शरीर में नहीं बढ़ता। दूसरे शब्दों में नार्वा के दो जीवन चक्र होते हैं, एक मनुष्य में, और दूसरे साईक्लोप में। मनुष्य शरीर में जाने के समय से लेकर शरीर के बाहर आने के समय तक लगभग १ वर्ष लग जाता है। पहले यह अन्त्र में जाता है, उसकी दीवार को लांघकर घूमता-घूमता नीचे उरु तथा जंघा को पहुंच जाता है और वहीं स्थिर हो जाता है। इसकी केवल स्त्री जाति ही अंत्र की दीवार को लांघती है, वह भी तब ही लांघती हैं जब सगर्भ होकर अण्डे बनाना शुरू कर देती है। इसका पुच्छ बडिशाकार (Hook) होता है और इसका गर्भाशय बहुत लम्बा लगभग कृमि की सारी लम्बाई में समाया रहता है और असंख्य अंडों से भरा होता है। प्रतिलोमगति से इसके अंडे मुख द्वारा बाहर निकलते हैं।

जब इसका मुख त्वचा के नीचे पहुँच जाता है तो मुख से एक विष निकलता है जिसके कारण वहां फफोला बन जाता है। फफोला फटने पर इसका मुख शरीर के बाहर आ जाता है। यदि इसे बहते पानी के प्रवाह में रखा जाय तो यह मुख द्वारा शरीर से अंडे बाहर निकालता रहता है और स्वयं भी शरीर से थोड़ा-थोड़ा बाहर आता रहता है। यदि धीमे-धीमे आकर्षण से खींचा जाय तो यह सुगमता से बाहर आ जाता है। पानी के प्रवाह में रखकर खींचने से जल्दी बाहर निकलता है। विशेष सावधानी रखनी चाहिये कि इसे जोर से न खीचें, यदि टूट जाये तो इसका वह भाग जो शरीर के अन्दर है, सिकुड़कर शरीर के अन्दर घुस जाता है। यहां से सब अंडे बाहर निकलते हैं। ये अंडे अतिविषैले होते हैं उस स्थान पर अतितीव्र शोथ उत्पन्न कर देते हैं प्रायः पककर विद्रधि बन जाती है। जब यह

विद्रधि टखने, जानु आदि किसी संधि पर हो तो सन्धि पूय पड़ने के परिणाम-स्वरूप स्तब्ध हो जाती है। इसका मुख फफोले द्वारा जब बाहर निकलता है तो उस समय कभी-कभी ज्वर अथवा शीत-पित्त के लक्षण होते हैं, अन्यथा कोई विशेष लक्षण नहीं होते।

कभी-कभी यह कृमि शरीर के बाहर निकलता ही नहीं, शरीर के अन्दर इसका खटकी भवन (Calcification) हो जाता है और वहां आजीवन एक कठोर गण्ड के समान बनकर रह जाता है।

चिकित्सा—जैसे ही इसका मुख बाहर निकले उसको बहते पानी के प्रवाह के नीचे रख दें ऐसा अवसर प्राप्त न हो सके तो पानी के नल के नीचे रख दें या ऊपर से लोटे द्वारा पानी की धारा डालें नित्यप्रति ऐसा करें जब तक सारा बाहर न आ जाये। आए हुए बाहर के भाग को दियासलाई के तीरे आदि किसी वस्तु पर लपेटकर रखें, ज्यों-ज्यों बाहर आता जाए, उसपर लपेटते जायें, उसको सदा पानी और तैल से तर रखें सूखने पर कट जायगा और शोथ विद्रधि उत्पन्न हो जायेंगे। जब थोड़ा सा बाहर निकल आए तो मरक्यूरी परक्लोराइड (Mercury Perchloride १–१०००) का इंजेक्शन शरीर में कर दें। २४ घंटे के अन्दर कृमि मर जाता है। जब तक जीवित रहता है यह कण्डरा धमनी, शिरा, संधि के अंग के इतस्ततः लिपटा रहने के कारण सुगमता से बाहर नहीं आता। मर जाने के बाद इसके लपेट छूट जाते हैं और यह सुगमता से बाहर निकल आता है।

यदि फफोला बनने से पहले त्वचा के नीचे इसकी कुण्डलियां पड़ी हुई प्रतीत हों तो वहां थोड़ा सा छेदन करके सूचिका द्वारा इसकी कुण्डली को निकाल दें, वहीं पर मर्क्यूरी परक्लोराईड का इंजेक्शन कर दें। वह मर जायगा, फिर आसानी से निकाल लें।

जब विद्रधि हो जाय तो यथा अवस्था पाचन दारण, भेदन द्वारा पूय बाहर निकाल दें यत्न सदा यह होना चाहिए कि कृमि टूटे नहीं।

जब यह शरीर से बाहर निकलने लगे तो इसको किसी पतली लकड़ी, दियासलाई या किसी वस्त्र की लीर के ऊपर लपेटते जायं दिन प्रतिदिन पानी के प्रवाह द्वारा इसे बाहर सावधानी से निकालते जायं और उसपर लपेटते जायें, उसको सदा जल एवं तेल से तर रखें, नहीं तो सूख जायगा और टूटकर शोथ और विद्रधि उत्पन्न कर देगा। १०–१५, २० दिन के पश्चात इसके अण्डे सब बाहर निकल आते हैं, अण्डे निकल जाने के बाद यह स्वतः शरीर के बाहर निकल जाता है, यदि कुछ भाग अन्दर रह भी जाए तो वह गलकर लीन हो जाता है। कोई हानि नहीं करता।

कशाकार कृमि (Whip Worm)

यह कृमि बृहद् अन्त्र के आरंभ के भाग में रहा करता है। लगभग दो इंच लम्बा, चाबुक के समान एक ओर से मोटा और दूसरी ओर से पतला होता है। उसका संक्रमण बहुत अधिक देखा जाता है। प्रायः कोई हानि नहीं करता इसके विशेष लक्षण कोई नहीं होते। कभी-कभी ये कृमि या इनके अण्डे उपान्त्र में जाकर शोथ उत्पन्न करते हैं तब उपान्त्र शोथवत सारे लक्षण उपस्थित होते हैं। कभी-कभी विरलावस्था में इसके कारण बिलोहितता भी देखने में आई है। इसकी विशेष चिकित्सा अभी तक मालूम नहीं हुई। इसके निष्कर्षणार्थ वही औषधियां देनी चाहियें और वही उपचार करना चाहिए जो अन्त्रादा के लिए लिख आए हैं।

अध्याय २०

अंशुघात

यह रोग उष्ण प्रदेशों में ग्रीष्मकाल की अतिप्रचण्ड सूर्यरश्मियों के प्रभाव से अथवा अग्नि ज्वालादि के अतितीव्र उष्णता से उत्पन्न होता है। छाया युक्त स्थानों में जहां ताप ११० फ. से अधिक हो और वायु अचल तथा क्लिन्न हों तो ऐसे स्थानों में चिरकाल तक काम करने पर भी यह रोग उत्पन्न हो जाता है।

तेज धूप में, आग से धधकते हुए इन्जिनों अथवा भट्टी के सम्मुख तथा सीमेन्ट एवं टीन की तप्त छत के नीचे निरन्तर कई दिनों तक कई-कई घंटे काम करने से रोग होता है। थकावट, श्रम, दुर्बलता, कोष्ठबद्धता तथा ज्वर की उपस्थिति में अंशुघात जल्दी हो जाता है। अतितीव्र ताप से शरीर की सेलों का विश्लेषण होता है। इस विश्लेषण से विष उत्पन्न होता है यह विष शरीर में संचित होता रहता है। जब चिरकाल तक निरन्तर अतितीव्र ताप में काम करना पड़े जहां का वायु स्तब्ध और क्लिन्न हो, शरीर पर से स्वेद सूखने नहीं पाता विष अंदर संचित होता रहता है, कुछ काल पश्चात जब पर्याप्त विष संचित हो चुकता है तो साधारण उष्णता में थोड़ी देर तक काम करने से रोग अकस्मात् आरम्भ हो जाता है रोगी अकारण मूर्छित होकर गिर पड़ता है।

दूसरा कारण इस रोग की उत्पति में यह भी है कि तीव्र उष्णता अथवा सूर्य की तप्त रश्मियां सुषुम्ना को तप्त करके ताप केन्द्र को क्षुब्ध कर देती हैं।

संक्षेपतः चिरकाल तक निरन्तर अतितप्त तथा क्लिन्न स्थान पर काम करने से तथा सुषुम्ना के ताप केन्द्र के तप्त होने से रोग उत्पन्न होता है।

लक्षण—उष्णता में काम करते-करते रोगी अकस्मात् मूर्छित हो

जाता है, रोगी की परीक्षा करने पर निम्नोक्त अवस्थाओं में से रोगी में कोई एक अवस्था उपस्थित दिखाई देती हैं।

(१) शीतकाय अवस्था—त्वचा ठंडी और क्लिन्न होती है नाड़ी तीव्र दुर्बल और क्षीण होती है। कुछ काल पश्चात् प्रायः आधा या एक घण्टे बाद रोगी होश में आ जाता है, कभी-कभी शीतकाय अवस्था में ही हृदय कार्यावरोध से मृत्यु हो जाती है चिकित्सा करने का समय भी नहीं मिलता।

(२) ज्वर अवस्था—आरम्भ से ही, मूर्च्छितावस्था में ही ज्वर १०१, १०२ फा. होता है। मूर्च्छा कुछ मिनट अथवा चन्द घण्टे रह कर दूर हो जाती है। त्वचा शुष्क एवं उष्ण होती है। नाड़ी दुर्बल, क्षीण तथा अति तीव्र होती है, श्वास उथला परन्तु धीमे-धीमे आता है। हृदय दुर्बल प्रतीत होता है। अरिष्ट अवस्था में ज्वर वश में नहीं आता प्रत्युत तीव्रतर होता जाता है अन्ततः अतितीव्र ११०-११२-फा. होकर २-४ दिनों में रोगी की मृत्यु हो जाती है।

कभी-कभी ताप के अतितीव्र होने से पूर्व शिरःशूल, वमन, अंग-मर्द आदि लक्षण होते हैं।

(३) अतितीव्र ताप अवस्था—मूर्च्छित अवस्था में आते ही ताप भी तेज हो जाता है, शीघ्रतापूर्वक चढ़ता जाता है श्वास उखड़ जाता है। रोगी का वर्ण नीला पड़ जाता है दो चार घंटों में ही रोगी महाप्रयाण कर जाता है।

रोग परिणाम—अतितीव्र ताप होने पर विरला ही बचता है परन्तु शीतकायावस्था में रोगी प्रायः बच जाते हैं। ज्वर अवस्था के रोगी भी यत्न से बच सकते हैं। परन्तु अतितीव्र ताप हो जाने पर कोई विरल कर्मोंवाला रोगी बच जाय तो बच जाय। रोगी के बच जाने पर भी उसके पूर्व स्वास्थ्य को प्राप्त होते-होते बहुत काल लग जाता है। कई वर्षों तक रोगी में ताप सहन करने की शक्ति नहीं रहती। साधारण

उष्णता से उसे शिरः पीड़ा व घबराहट होने लगती है, कई वर्षों तक पुनः आक्रमण का भय रहता है। मस्तिष्क सम अवस्था में नहीं रहता, क्षुब्ध सा रहता है, अनेक बार अपस्मार, उन्माद आदि हो जाते हैं, घुटनों की प्रत्यावर्तन क्रिया लुप्त हो जाती है। जब तक प्रत्यावर्तन क्रिया पुनः नहीं लौटती, इस रोग के पुनः आक्रमण का भय रहता है।

चिकित्सा—रोगी को तत्काल किसी शीतल स्थान पर ले जायें जहाँ वायु का संचार भली भांति होता हो, क्षौर कराके शिर के ऊपर शीतल जल या बर्फ रखें। अतीतीव्र तापावस्था में उसे हिमजल पूर्ण पात्र में लेटाएँ। शिर जल से बाहर रहे, उस पर बर्फ की थैली रखें। साधारण तीव्रताप में हिमजल की वस्ति तथा हिमजल से भीगे वस्त्र से सारे शरीर का प्रोञ्छन करें। शीतवीर्य्य औषधियाँ दें, यथा मुक्ता भस्म, या कच्छप कपाल को अर्क गुलाब या केवड़े में घिसकर थोड़ा-थोड़ा चटायें, इसी का लेप लगायें, चार मग़ज़ (कद्दू, ककड़ी, खीरा, तथा तरबूज के बीच) बादाम, ब्राह्मी, शंखपुष्पी, आदि वनस्पतिक औषधियों को शीतल जल में घोट शक्कर डालकर पिलायें। यदि संभव हो और यात्रा के योग्य हो तो रोगी को पर्वत आदि शीत प्रदेश में कुछ काल के लिये भेज दें। कई वर्षों तक ग्रीष्म ऋतु उसे पर्वत आदि शीत प्रधान प्रदेशों में काटने चाहिए यदि यह सम्भव न हो तो उसे कई वर्षों तक ग्रीष्म ऋतु में कदापि सूर्य्य की धूप में या तप्त व उष्ण स्थान में न जाना चाहिये।

भारत के विशेष गरम प्रदेशों में यह प्रथा है कि तप्त स्थान पर धूप और लू में काम करनेवाले अपने कानों और सिर को धूप और गरमी से बचाव के लिये सदा ढांपे रखते हैं, तथा अपने पास सदा पलाण्डु-(प्याज) रखते हैं। किंचित् उष्णता का प्रभाव प्रतीत होते ही पलाण्डु को पिचक उसका स्वरस निकाल सूंघ लेते हैं इससे गरमी से होनेवाला दुष्प्रभाव तत्काल शान्त हो जाता है।

अध्याय २१

मधुमेह

पर्याय—मधुमेह, जियाबितीसि, डायबिटीज मैलिटस् (Diabetes Mellitus)

परिचय—शरीर में कार्बोज (Carbohydrate) के सम्यकतया विलीन और व्यय न होने के कारण यह रोग उत्पन्न होता है परिणामतः शर्करा (ग्लूकोज) रक्त में बढ़ जाती है और मूत्र द्वारा निकलने लगती है मूत्राधिक्य, तीव्र क्षुधा, क्षीणता और निर्बलता इसके विशेष लक्षण हैं।

कारण—यह रोग अधिकतर ४०-६० वर्ष की आयु में होता है परन्तु इससे न्यूनाधिक आयु में भी होता है युवकों में जब होता है तो बहुत उग्र होता है। पैतृक प्रवृत्ति का इस रोग की उत्पत्ति में विशेष प्रभाव है अत्यधिक मानसिक परिश्रम, चिन्ता, मानसिक आघात इस रोग के विशेष सहायक कारण हैं। यह रोग उनको होता है जो बहुत मात्रा में खानेवाले हों तथा पौष्टिक पदार्थों का अधिक सेवन करते हों और सुख आसीन हों। यही कारण है कि स्थूलकाय मनुष्यों में तथा वात-रक्त के रोगियों को इसके होने की अधिक सम्भावना होती है।

सम्प्राप्ति—सम्प्राप्ति का वर्णन करने से पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि कार्बोज के पाचन, आत्मीकरण और शरीर में उसके व्यय होने के संबंध में कुछ लिखा जाय।

जो आहार हम खाते हैं उसके तीन प्रधान अवयव हैं। (१) प्रोटीन (२) वसा (घृत तैलादि) (३) कार्बोज (आटा-निशास्ता, शक्कर आदि)।

इनमें से प्रोटीन और वसा का मधुमेह की उत्पत्ति से सीधा

सम्बन्ध नहीं। केवल कार्बोज ही है जिसके पाचन, आत्मीकरण और व्यय में दोष आ जाने से मधुमेह उत्पन्न होता है।

जो भी कार्बोज हम खाते हैं, वह पचकर आन्त्र में ग्लुकोज (द्राक्षौज) बन जाता है। ये रक्त में मिलकर महासंयोजक शिरा द्वारा—जो अन्त्र का आहार रस और रक्त ले जाती है—यकृत में पहुंचता है। यकृत में सारा द्राक्षौज शर्कराजन के रूप में परिवर्तित होकर एकत्रित रहता है, शरीर के आवश्यकतानुसार पुनः उससे ग्लुकोज बनकर रक्त में मिलता रहता है तथा शरीर की सेलों में पहुँचता है इस ग्लुकोज (द्राक्षौज) को ही शरीर की सैलें प्रयुक्त करती हैं इससे ही शरीर की उष्णता उत्पन्न होती है तथा क्रियाएं होती हैं।

स्वस्थ पुरुष के रक्त के ग्लुकोज की मात्रा ०.०८ से ०.१२ तक होती है। अर्थात् १०,००० माशे रक्त में ८ में १२ माशे तक शर्करा रहती है। जब रक्त में यह मात्रा १८ या २० माशे से बढ़ जाए तो मूत्र द्वारा बाहर निकलने लगती है इसे मधुमेह कहते हैं। रक्त में शर्करा जितनी अधिक मात्रा में विद्यमान होगी, उतनी ही अधिक मूत्र में आएगी (मधु और शर्करा यहां पर्यायवाची शब्द हैं) अतः वास्तव में रक्त में मधु (शर्करा) का होना ही मधुमेह है। वृक्कों में यह विशेषता है कि जब मधु रक्त में निर्दिष्ट परिमाण से कम रहता है, तब तक उसे मूत्र में नहीं आने देते, यह परिमाण १०,००० में १८–२० भाग तक है यदि अधिक शर्करा रक्त में उपस्थित हो जाए तो वृक्क इसे नहीं रोक सकते, और यह मूत्र द्वारा बाहर आने लगती है। मूत्र में शर्करा का आना वृक्कों का रोग नहीं प्रत्युत उन अङ्गों का रोग है जो रक्त में शर्करा का परिमाण बढ़ा देते हैं। विरलावस्था में वृक्कों में भी ऐसा विकार आ जाता है जिसके कारण वे रक्त में निर्दिष्ट परिमाण से कम शर्करा होने पर भी उसे मूत्र में आने देते हैं तब मूत्राधिक्य, तीव्र क्षुधा, क्षीणता तथा पीड़िकाएं आदि विशेष लक्षण नहीं होते, उसकी मधुमेह रोग में गणना

भी नहीं होती। ऊपर लिख आये हैं कि यकृत शर्करा को शर्कराजन के रूप में जमा रखता है। अब यदि पुरुष अधिक शर्करा, कार्बोज या वसा खाए रहे तो कुछ वसा शरीर के लिए शक्ति उत्पादनार्थ व्यय हो जाएगी कार्बोज अपेक्षया कम व्यय होगा और कुछ वसा के रूप में शरीर में जमा हो जाएगी, बहुत सा कार्बोज शर्कराजन के रूप में यकृत में जाएगा।

वक्तव्य—स्वस्थ और चुस्त मनुष्य ३-४ छटाक शर्करा प्रतिदिन पचा सकता है यदि निरन्तर अधिक खाता जाए तो कार्बोज का व्यय कम होता रहेगा वह शर्कराजन के रूप में यकृत में जमा होती जाएगी जब यकृत शर्कराजन से बिलकुल भर जाए और मनुष्य कार्बोज तथा वसा अधिकाधिक खाता ही रहे तो वह शर्करा वसा के रूप में परिणित होकर शरीर में जमा होने लगती है अब पुरुष स्थूल होता जाता है। जब शरीर में वसा के जमा होने योग्य स्थान भी शेष न रहे तो शर्करा रक्त में बढ़ने लगती है वहां से मूत्र में आने लगती है इस अवस्था में अधिक शर्करा खाना छोड़ देने से मधुमेह नहीं रहता।

यद्यपि यकृत ही शर्करा से शर्कराजन बनाता है तथापि वह उस कार्य में बिलकुल स्वतंत्र नहीं उसके ऊपर और भी दो प्रकार के शासक हैं। परम प्रधान शासक क्लोम है जो उसको नियम में रखता है और आवश्यकता से अधिक शर्करा नहीं बनाने देता। क्लोम में दो प्रकार की सेलें होती हैं, एक नालिस्थ—वे जो नालियों की दीवार में रहती हैं और क्लोमरस बनाती हैं। यह रस इन नालियों द्वारा अन्त्र में जाता है और आहार के पाचन में सहायता देता है इनका शर्करा की उत्पत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं। दूसरी, केन्द्रस्थ सेलें उन नालियों के बीच में रहती हैं। इनके रस को इनसुलीन कहते हैं, यह रक्त में मिल जाता है और रक्त द्वारा यकृत में पहुँचकर उसे अधिक शर्करा बनाने से रोकता है। इनसुलीन का यह काम भी है कि यह शर्करा से मिलकर उसे इस योग्य बनाये कि शरीर की सैलें उसे प्रयुक्त कर सकें। यदि वे सेलें

जो इनसुलीन बनाती हैं नष्ट हो जायें तो इनसुलीन कम बनती है परिणाम स्वरूप यकृत से शासन उठ जाता है, शर्करा अधिक बनने लगती है तथा शरीर की सैलें प्रयुक्त नहीं करती अतः रक्त में शर्करा अपने नियत परिमाण ०.१२–०.२०% से बहुत बढ़ जाती है और मधुमेह रोग उत्पन्न हो जाता है। यदि इन इनसुलीन बनाने वाली सैलों का अष्टम भाग भी शेष रह जाए तो भी रोग नहीं होने पाता। जब पुरुष निरन्तर अधिकाधिक आहार खाता जाये परिणामतः रक्त में शर्करा (ग्लूकोज) की मात्रा सदा बढ़ी रहे तो इनसुलीन उत्पादक सैलों पर सतत कार्याधिक्य का बोझा रहता है, अन्त में वह भी क्षीण होकर नष्ट होने लगती हैं, यदि फिर भी वह मनुष्य न सम्हले तो यह सैलें नाश होते होते $\frac{1}{5}$ भाग से कम रह जाती हैं, तब रोग शान्ति का उपाय हाथ से जाता रहता है।

चुल्लिका ग्रन्थि, पिच्युटरी बॉडी तथा उपवृक्क यकृत को अधिक शर्करा बनाने के लिए प्रेरित करते हैं। इनके रसों के प्रभाव से शर्करा रक्त में बढ़ती है। यदि पिच्युटरी को निकाल दिया जाय तो मधुमेह होता ही नहीं। इसी प्रकार थायराइड ग्रन्थि के नाश या अभाव के कारण भी मधुमेह नहीं होता। परन्तु इनके ऐसे रोग बहुत कम हैं जिनसे यकृत का शर्करा बनाने का कार्य बढ़ जाए और रोग उत्पन्न हो। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मधुमेह निम्नोक्त कारणों से उत्पन्न होता है :

(१) कार्बोज तथा वसा आदि का अति प्रयोग (थोड़ा व्यायाम और अधिक भोजन)

(२) क्लोम विकृति-इनसुलीन उत्पादक सैलों का नाश।

(३) चिरकालीन शोक, भय, चिन्ता आदि के कारण (Adrenal) उपवृक्क की विकृति तथा (Adrenal) के अन्य रोग।

(४) पिच्युटरी बॉडी के अर्बुद।

(५) थायराइड ग्रन्थि के अधिक कार्य करने से यथा बहिर्नेत्र गलगण्ड।

सम्प्राप्ति— जब रोग पर्याप्त काल से उपस्थित हों तो निम्नलिखित अवस्था प्रतीत होती है।

क्लोम की अधिकांश केंद्रस्थ सैलें बिलकुल नष्ट हो जाती हैं और उनके स्थान पर सौत्रिक तन्तु अथवा वसा बिन्दु बन जाते हैं। यकृत में कोई विशेष विकृति नहीं होती, कभी-कभी यकृत में भी सौत्रिक तन्तु बढ़े दीखते हैं वृक्कों में सूक्ष्म सूत्र प्रणालियों की नालीस्थ सैलें क्षीण हो जाती हैं। रक्त में शर्करा स्वस्थावस्था की अपेक्षा तीन-चार गुनी अधिक हो जाती हैं। उग्रावस्था में वसा के असद्व्यय के कारण रक्त में एसिटोन व एसिटो एसेटिक एसिड आदि उपस्थित हो जाते हैं तथा वसा बिन्दु जमा हो जाते हैं। शरीर में उष्णता और क्रिया उत्पन्न होने के लिए ग्लुकोज और वसा दोनों का व्यय होता है। ग्लुकोज की सहायता बिना वसा का व्यय भली प्रकार नहीं होने पाता। जब ग्लुकोज का शरीर में व्यय नहीं होता और वह बाहर निकलने लगती है तो इसके स्थान पर वसा और प्रोटीन का अधिक व्यय होने लगता है। जैसे व्यवहार में घी को जलाने के वास्ते लकड़ी या रूई की बत्ती आदि की आवश्यकता होती है। इनके बिना घी नहीं जलता यदि जलता भी है तो इससे धुआं सा उत्पन्न होता है। इसी प्रकार शरीर में वसा का व्यय ग्लुकोज की उपस्थिति में ही होता है। मधुमेह की प्रचंड अवस्था में ग्लूकोज का व्यय कम हो जाता है अतः .यदि ग्लूकोज न जले तो वसा पूरी तरह से नहीं जलने पाती, इसी से एसिटोन, डायासीटो एसिटिक उत्पन्न होने लगते हैं। ये बहुत विषैली वस्तुएं हैं, इनकी उपस्थिति आने वाले भय (सन्यास से मृत्यु) की सूचक हैं। इनकी रक्त में उपस्थिति के कारण रक्त का क्षारत्व कम हो जाता है और अम्लत्व बढ़ जाता है। अम्लत्व का बढ़ना ही सन्यास को उत्पन्न करता है। सन्यास अन्ततः मृत्यु में परिणित होता है।

लक्षण—मधुमेह के दो रूप मिलते हैं (१) प्रचंड और (२) जीर्ण।

प्रचण्ड—अकस्मात् आरम्भ हो जाता है। पहिले दिन से ही अत्यधिक तृषा लगने लगती है। ऐसे रोगी प्रायः युवक ही होते हैं, उनका क्लोम ही रुग्ण होता है। यह रोग शीघ्रातिशीघ्र बढ़ता जाता है। ऐसे रोगी जल्दी मृत्यु का ग्रास बन जाते हैं अब इनसुलीन के जमाने में इसके सम्यक और निरन्तर प्रयोग से रोगी मृत्यु से बचा रहता है।

जीर्ण—यह रोग प्रायः प्रौढ़ावस्था में आरम्भ होता है जीर्ण मधुमेह गुप्तरूप से आरम्भ होता है रोगी पहले स्थूल था अब शनैः-शनैः दुर्बल होता जाता है। उसे थकावट मालूम होने लगती है। तृषा अधिक होती है परन्तु अत्यधिक नहीं। ऐसे रोगी प्रायः कई कई वर्षों तक रोग से अनभिज्ञ ही रहते हैं। मूत्र परीक्षा से उन्हें अपने रोग का ज्ञान होता है।

मधुमेह जीर्ण हो चाहे प्रचण्ड, रोग के पूर्ण वेग की उपस्थिति में निम्नोक्त लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं।

मूत्र अत्यधिक मात्रा में आता है। दिनभर में १५-२० सेर तक भी आ जाता है। मूत्र का वर्ण श्वेत होता है। इससे भीनी-भीनी मधुर सी गन्ध आती है। अपेक्षित घनत्व बढ़ जाता है १०५५-१०६० तक जा पहुंचता है। इसमें द्राक्षौज (ग्लुकोज) अधिक मात्रा में होता है। तृषा अत्यधिक लगती है। भूख बढ़ जाती है और रोगी अपने शरीर की अपेक्षा अत्यधिक भोजन खाता है। प्रायः आरम्भ से ही कोष्ठबद्धता रहती है। जिह्वा शुष्क और रक्तवर्ण की होती है। शरीर रूक्ष होता है शरीर पर कण्डू होती है विशेषतः पुरुषों में शिश्न के इतस्ततः और स्त्रियों में भग पर असह्य कण्डू होती है। क्षीणता बढ़ती जाती है और शरीर भार दिनोंदिन कम होता जाता है।

उपद्रव—मधुमेह में उपद्रव बहुत होते हैं, यहां केवल वही लिखे जायेंगे, जो बहुधा उपस्थित हो जाते हैं।

(१) सन्यास—मूत्र में डाई-एसिटिक-एसिड, तथा एसिटोन, की

उपस्थिति इस उपद्रव में अग्रसर होती है। ज्यों ही इनका ज्ञान हो, त्यों ही चिकित्सा आरम्भ कर देनी चाहिए अन्यथा सन्यस्त होकर रोगी मर जाता है। रोगी को प्रायः अकस्मात मूर्च्छा आ जाती है और कभी-कभी कुछ दिन पूर्व उसे शिरःपीड़ा, बेचैनी तथा अंगमर्दादि लक्षण होते हैं, एवं नाड़ी की गति तीव्र होती है।

(२) अतिसार–रोग के बहुत दिन बाद यह उपद्रव पैदा होता है ऐसा अनेक बार देखने में आता है कि मधुमेह के रोगी को मृदु विरेचन से असाध्य अतिसार लग जाते हैं। अतिसार आरम्भ में तो सुखसाध्य होते हैं शनैः शनैः दुःखसाध्य होते जाते हैं कभी-कभी अतिसार रोगी को ले मरता है।

(३) प्रमेह पीड़िकायें–मधुमेही को बहुत पीड़िकायें निकलती हैं, कभी स्फोट, कभी विद्रधि, कभी अलजी, विनता या कण्डू आदि। अनेक बार कंडू अतितीव्र असह्य होती है।

(४) नेत्रविकार–दृष्टिनाशा, मुक्ता बिन्दु, अन्तःपटल शोथ, आदि आदि।

(५) वातिकविकार–नाड़ी शोथ, पिंडलियों में उद्वेष्टन आदि।

(६) नपुंसकता।

(७) वृक्क शोथ।

(८) रक्तभार आधिक्य।

(९) कोथ।

(१०) राजयक्ष्मा।

रोगमीमांसा—मूत्र परीक्षा से ही यह रोग स्पष्ट होता है। इसकी विधि पांचवे अध्याय में लिख आए हैं। यह निर्णय कर लेना चाहिए कि मधुमेह रक्तस्थ शर्करा के अधिक होने के कारण है। मधुमेह की चिकित्सा के लिये निम्नोक्त बातें जानना आवश्यक हैं। रक्त में शर्करा का मान देखें, निराहार अवस्था में कितना है तथा निराहार अवस्था में

शर्करा के नियत परिमाण (५० ग्राम) देने के आधे घंटे के बाद रक्त में शर्करा कितनी उपस्थित होती है तथा मूत्र में कितनी आती है और कितनी देर में किस प्रकार बढ़कर किस प्रकार घटती है।

रोगपरिणाम—इस रोग में, विशेष करके क्लोमविकार से होने-वाले मधुमेह का परिणाम अत्यन्त अनिष्ट होता था। अब इनसुलीन के प्रयोग से रोग परिणाम बहुत अच्छा हो गया है। जब तक इनसुलीन का प्रयोग होता रहे तब तक रोग वश में रहता है। मधुमेह के साधारण वेग के आरम्भ में ही इनसुलीन की आवश्यकता पड़ती है बाद में नियमित आहार से मधुमेह वश में रहता है। मृदु वेग में इनसुलीन की आवश्यकता नहीं होती। केवल आहार को नियमित रखने से मूत्र में शर्करा आनी बन्द हो जाती है।

चिकित्सा—"इनसुलीन" के ज्ञान से पूर्व सारी चिकित्सा भोजन पर ही अवलम्बित थी और अब भी भोजन इस रोग की चिकित्सा का प्रधान और अत्यन्त आवश्यक अंग है। भोजन को नियमित करने के लिए निम्नोक्त बातों का सदा ध्यान रखना चाहिये।

(१) भोजन ऐसा हो जिस से मूत्र में बिलकुल मधु न आने पाये अर्थात् जिससे रक्त में द्राक्षौज ०.१८ से अधिक न बढ़ने पाये। रोगी को अपने रोग अवस्था अनुसार भोजन प्रदर्शक चित्र बना लेना चाहिए जिसमें प्रत्येक खाद्य पदार्थ प्रोटीन, वसा और कार्बोज की लेने योग्य मात्रा लिखी हो। उसी के अनुसार अपना भोजन करे तथा बढ़ाता घटाता रहे।

(२) मूत्र में डाई ऐसिटिक एसिड (Diacetic acid) एसिटोन (Acetone) आदि वस्तुएँ न आने पायें। इनकी विद्यमानता प्रकट करती है कि वसा कार्बोज के स्थान पर व्यय होने के लिये विश्लिष्ट हो रही है। ऐसे समय कुछ काल के लिए भोजन में शर्करादि कार्बोज

पदार्थों की मात्रा बढ़ा देनी चाहिये। तब इस बात का विशेष विचार नहीं रखा जाता कि मूत्र में मधु अधिक हो गया है।

इन दोनों बातों के लिए यह आवश्यक है कि आजीवन प्रतिदिन अथवा दूसरे-तीसरे दिन नियमपूर्वक मूत्र परीक्षण होता रहे। अच्छा तो यही है कि रोगी स्वयं मूत्र परीक्षा करना सीख ले और नित्य प्रति दिन मेंकम-से-कम एक बार अपने मूत्र की परीक्षा करता रहे।

(३) रोगी को यह समझ लेना चाहिए कि उसके क्लोम की केन्द्रस्थ सैलें जो इनसुलीन बनाती हैं, नष्ट हो चुकी हैं। जो शेष हैं, उनपर अधिक भार न पड़े अतः जितने कम भोजन से उसकी शरीर यात्रा हो सके उतने पर ही सन्तुष्ट रहे। उसके भोजन में शर्करा निशास्ता आदि का प्रायः अभाव ही होना चाहिए। उस रोगी के लिए स्थूलता की अपेक्षा कृशता अच्छी है। सांसारिक सुस्वादों से विरक्त होकर शान्त जीवन व्यतीत करने के अतिरिक्त उसके लिए और कोई चारा ही नहीं है।

इन तीनों बातों का विचार करते हुए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि खाद्य पदार्थों की अवयव प्रदर्शक तालिका दी जाए।

प्रथम श्रेणी—जिनमें कार्बोज अति न्यून है।

मांस वर्ग—भेड़, बकरी, सूअर, मुर्गी, चटक, मत्स्य, अण्डे।

दुग्ध वर्ग—दुग्धौज रहित (कृत्रिम) दुग्ध, घृत, माखन, पनीर, मलाई।

धान्य वर्ग—निशास्ताहीन आटे की रोटी या बिस्कुट या केक।

शाक वर्ग—पालक, सेम, कुकरमुत्ता, गोभी, चुकुन्दर, सलगम, गांठ गोभी में २ प्रतिशत और सलाद, कुकुम्भर, गाजर, हाती चक्र, मूली, खरबूजा, कचरी, टमाटर, बैंगन, भिण्डी आदि में ४ प्रतिशत कार्बोज है।

द्वितीय श्रेणी—जिसमें कार्बोज अधिक मात्रा में है इन्हें बिना चिकित्सक की आज्ञा के नहीं खानी चाहिए।

प्रत्येक वस्तु के साथ उसमें विद्यमान प्रतिशत कार्बोज की मात्रा दी जाती है।

धान्य—गेहूँ ६०, चावल ६८, बाजरा ७०, मकई ६१, जई ५८, ज्वार ५८, आलू २५, मटर २५, सकरकन्दी १७, लहसुन २२, प्याज ८, जिमिकंद ८।

फल—अखरोट २८, मुनक्का ३३, खजूर ५७, अंजीर १३, मुरब्बे आदि ६०, और दूध में ५ प्रतिशत कार्बोज होता है, अतः इनका प्रयोग भी सावधानी से करना चाहिए।

उपर्युक्त तालिका से रोगी को अपना भोजन चुन लेना चाहिए। उसे २४ घंटे में १० तोले से अधिक कार्बोज नहीं खाना चाहिए।

आज से कई वर्ष पहले जब इनसुलीन के प्रयोग का पूरा अन्वेषण न हो पाया था तो रोगी को तब तक निराहार रखते थे जब तक कि रोगी के मूत्र में शर्करा का अभाव न हो जाय। उस समय भी निराहार के समय प्रतिदिन मूत्रपरीक्षा की जाती थी। यदि मूत्र में एसिटोन आदि आने लगते तो फिर भोजन विशेषकर कार्बोज देना आरम्भ कर देते थे। अब नवीन पद्धति के अनुसार केवल एक दिन ही निराहार रखना आवश्यक है। निराहार के दूसरे दिन भोजन ऐसा होना चाहिए जिसमें लगभग १०० ग्राम‡ कार्बोहायड्रेट, ५० ग्राम प्रोटीन और ५० वसा के (१०८० केलोरीज) हों। साधारण मधुमेह में एक दिन के निराहार से मूत्र से शक्कर मिट जाती है। यदि न मिटे तो इनसुलीन ५-१० या २० यूनिट् यथावश्यक दे सकते हैं।

वक्तव्य—पचास साल से ऊपर वाले तथा भारी शरीर वाले को थोड़े-थोड़े काल के बाद लंघन कराते रहना चाहिए जिससे उसका वजन घटता जाय।

‡ लगभग १ ग्राम १ माशा के और १०० ग्राम ३½ औंस तथा ९ तोला के बराबर होता है।

एक दिन के उपवास के अनन्तर निम्नोक्त प्रकार का भोजन देना चाहिए।

शाकाहारियों के लिए—

समय	आहार द्रव्य	मात्रा	अवयव (ग्रामों में)			कैलोरीज
			प्रोटीन	वसा	कार्बोज	
प्रातः	ब्रेड या गेहूं की रोटी	½ औंस	२	०.२	११	५५.५
	दूध	१ औंस	०.६४	१	१.३६	१८
मध्याह्न	गेहूं की रोटी	२ औंस	७.८	०.६	४४.७	२२३
	दही	२ औंस	२.८	२.०	१.६	३६
	घी	½ औंस	०	१३	०	१२१
संध्या	दूध	१६ औंस	१५	१६	२२	२८८
रात्रि	गेहूं की रोटी	२ औंस	७.८	०.६	४४.७	२२३
	घी	½ औंस	०	१३	०	१२१
	योग		३६.५४	४७.०	१२५.३६	१०८५.५

सब्जी तरकारी भोजन के साथ इच्छानुसार दे सकते हैं, केवल आलू या सकरकन्दादि कन्द वर्ज्य हैं।

मांसाहारियों के लिए—

समय	आहार द्रव्य	मात्रा	अवयव (ग्रामों में)			कैलोरीज
			प्रोटीन	वसा	कार्बोज	
प्रातः	गेहूं की रोटी	½ औंस	२	०.२	११	५५५
	दूध ब्रेड	१ औंस	०.४४	१	१.३६	१८
	अण्डा	२ औंस	७.४	५.८	nd	८४
मध्याह्न	गेहूं की रोटी	२ औंस	७.४	०.६	४४.७	२२३
	घी	औंस	०	१३	०	१२१
	बकरे या मुर्गी का मांस	२ औंस	१४.४	१.५	०	७३

शाम	चाय अत्यल्प दूध के साथ					
रात्रि	गेहूं की रोटी	१ औंस	७·४	२·६	४४·७	२२३
	घी	½ औंस	०	१३	०	१२१
	मच्छी	२ औंस	१०·६	७·४	०	६६

५०·७४ ४३·६ १०१·७६ १०८ १०८४

सब्जी तरकारी भोजन के साथ इच्छानुसार दे सकते हैं।

वक्तव्य—चाय और दूध में शक्कर न डालें, प्रत्युत सैक्रीन डालें।

१ ग्राम (१ माशा) प्रोटीन के व्यय से ४·१ कैलोरीज़ की उष्णता प्राप्त होती है
१ ,, कार्बोज ,, ,, ,, ,, ,,
१ ,, वसा ,, ९३ ,, ,, ,,

चतुर वैद्य अपनी बुद्धि से भी इसी प्रकार अन्य आहार पदार्थों से भोजन तैय्यार कर सकता है। केवल दिग्दर्शन मात्र तालिका में कराया गया है। पुस्तक के अन्त में एक तालिका दी गई है। जिसमें प्रत्येक भोज्य पदार्थ के अवयव (प्रोटीन, वसा, कार्बोज आदि) दिखाए गए हैं। उनकी सहायता से उपयुक्त भोजन चुना जा सकता है। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शरीर भार के प्रति सेर के पीछे १ माशा प्रोटीन और २ माशा कार्बोज तथा थोड़ी-सी ¾ माशा वसा आवश्यक है, हरे शाकों पर कोई विशेष प्रतिबन्ध नहीं।

रोगी चतुर हो तो पुस्तक के अंत में दी हुई तालिकाओं से अपना भोजन स्वयं बना सकता है। केवल इस बात का ध्यान रहे कि सब चीजें उपर्युक्त और उचित परिमाण में हों। यदि कार्बोज से वसा, प्रोटीन बढ़ जाएंगे तो एसिटोन बन जाने का भय रहेगा। रोग की मृदु अवस्था में केवल भोजन को थाड़ा, बहुत नियमित करने से रोग जाता रहता है। यह स्मरण रहे कि एक बार मधुमेह हो जाने पर रोगी को अपना आहार आजीवन सीमित रखना पड़ता है, जब कभी असावधान हो जाएगा, पुनः उसके मूत्र में शर्करा आने लगेगी।

इस आहार में चावल को कोई स्थान नहीं दिया गया। यथाशक्ति चावल, आलू नहीं खाने चाहिए। यदि चावल देना पड़े तो गेहूँ के स्थान पर चावलों को उपयुक्त मात्रा में दे सकते हैं (आधा पाव चावल= एक पाव गेहूँ) यह ध्यान रहे कि इससे उनको कैलोरीज की मात्रा बराबर नहीं प्राप्त होगी। नीचे एक और तलिका दी जाती है जिसमें १ पाव गेहूँ के आटे की रोटी के समान अन्य वस्तुएं दी गई हैं।

१ पाव गेहूँ=२½ छ० आलू=½ पाव चावल=१ पाव खीर= ३ छ० हरे मटर=१ पाव सेव=२½ छ० केला=३ छ० अंगूर= १ पाव संतरे=१ पाव नासपाती=३ छ० खरबूजे=१ पाव रसभरी= ३ छ० बादाम।

उपर्युक्त नमूनों में शाकाहारी के भोजन में प्रोटीन की मात्रा पर्याप्त कम है, शाकाहारियों के दैनिक भोजन में भी प्रोटीन सदा कम होता है। उनके शरीर ने इसी निपात पर अवलम्बित रहने का स्वभाव बना लिया है जो छाछ पीने के अभ्यस्त हैं उनमें प्रोटीन की न्यूनता छाछ (माखन निकाले हुए) से पूरी होती थी अब भी वे यथा पूर्व छाछ (१०-१२ छटांक) ले सकते हैं दूसरे रोगी भी जो पहले छाछ न पीते रहे हों अब प्रोटीन की पूर्ति के लिये छाछ ले सकते हैं। छाछ बनाने में भिन्न-भिन्न परिवारों में पानी की मात्रा भिन्न-भिन्न पड़ती है। अतः छाछ में प्रोटीन की ठीक-ठीक मान बताना असंभव है। इतना कहा जा सकता है कि उपर्युक्त मात्रा से प्रोटीन भी मिल जाती है और हानि भी नहीं होती।

निस्संदेह भोजन के दोनों नमूने ऐसे हैं जिनकी कैलोरीज की मात्रा बहुत कम है। परन्तु मधुमेही को आरम्भ में केवल इतने भोजन-परिमाण पर संतुष्ट रहना चाहिए। जितनी मात्रा कि उनके जीवन यात्रा के लिए आवश्यक है। इससे अधिक उनके लिए हानिकारक है।

प्रतिदिन उनको अपने मूत्र की परीक्षा करके यह देखते रहना चाहिए

कि उसमें शर्करा का अभाव हुआ है या नहीं। एक दिन लंघन और उपर्युक्त भोजन परिमाण से साधारण मधुमेही के रोगी का मूत्र शर्करा से मुक्त हो जाना चाहिए यदि न हो तो ५–१० यूनिट इनसुलीन भोजन से १०–१५ मिनट पहले ले लिया करें जब तक कि मूत्र शर्करा से मुक्त न हो जाय। शर्करा मुक्त होने के बाद इनसुलीन बंद कर देना चाहिए।

इस प्रकार मूत्र में शर्करा का अभाव होने के कुछ दिन पश्चात् आहार की तथा कार्बोज की मात्रा बढ़ाते जाएं। बढ़ाते-बढ़ाते २०००-२५०० कैलोरीज से ऊपर नहीं जाना चाहिए। कार्बोज को बढ़ाते-बढ़ाते २०० से २५० कैलोरीज तक ले जाएं परन्तु यह ध्यान रखें कि कार्बोज तथा कुल आहार इतना न बढ़े कि पुनः मूत्र में शक्कर आने लगे।

इनसुलीन (Insulin) चिकित्सा—इनसुलीन क्लोम के अन्तस्थ भाग का सार है। इसे केवल मात्र इंजेक्शन द्वारा ही प्रयोग में लाया जा सकता है, मुख द्वारा देने से आमाशय रस के कारण यह क्रियाहीन हो जाती है, इसकी मात्रा रोग पर निर्भर है, जितना मधुमेह तीव्र होता है उतनी ही मात्रा अधिक होती है कम-से-कम ५ यूनिट और अधिक ४० यूनिट, अति उग्र अवस्था में ८० यूनिट्स तक भी दे सकते हैं। इनसुलीन की अधिक मात्रा देने से रक्त में शर्करा की मात्रा बहुत कम हो जाती है जब रक्त में ०.०५ प्रतिशत (१००० सी. सी. रक्त में ५ मिलीग्राम) से शक्कर कम हो जाय तो हायपोग्लाईसीमिया (Hypo-glycaemea) हो जाता है।

इनसुलीन देने के ३ घंटे बाद मूत्र परीक्षा करने से यह ज्ञात हो सकता है कि इनसुलीन अधिक मात्रा में थी या कम मात्रा में। यदि कम थी तो दूसरी बार बढ़ा दें। ज्यादा थी तो कम कर दें। इस प्रकार मात्रा का निश्चय किया जाता है। इनसुलीन कई प्रकार की होती है (१) सादी इनसुलीन ((Insulin) इसका प्रभाव आधे घंटे से ४ घंटे तक रहता है। (२) प्रोटोमीन इनसुलीन (Protamin Insulin)

इसका प्रभाव ४ घंटे के बाद आरम्भ होता है और ८-१२ घंटे तक रहता है (३) प्रोटोमीन इनसुलीन विद जिंक (Protamin with zinc) इसका प्रभाव ८-१२ घंटे के बाद आरम्भ होता है और २४ घंटे तक रहता है। (४) ग्लोबीन इनसुलीन (Globin Insulin) इसका वही प्रभाव है जो नं० ३ का है।

इनसुलीन भोजन से १५-३० मिनट पूर्व देनी चाहिये यदि सादी इनसुलीन के साथ प्रोटोमीन झिंक इनसुलीन मिलाकर दी जाय तो अच्छा रहता है। दिन में केवल एक बार के इंजेक्शन से काम बन जाता है इनसुलीन का कार्य जब समाप्त होता है तो प्रोटोमीन झिंक इनसुलीन का कार्य शुरू होता है और २४ घंटे रहता है अतः पुराने रोगियों को और तीव्र अवस्था में दोनों प्रकार के इनसुलीन मिलाकर देनी चाहिये।

हाल में मधुमेह के लिये मुख द्वारा देने की औषधियों का आविष्कार हुआ है, यह भी सल्फ औषधियों की श्रेणियों के हैं:—उनमें से चन्द एक यह हैं :

१. ग्लूकोफ्रेन (Glucofren)
२. इन्वीनाल (Invinol)
३. नेडीसान (Nadison)
४. टेल्ब्यूटेन (Talbutain)
५. रेस्टिन्डान (Rastindon)

मात्रा—पहले दिन ४ से ६ गोली, (Halibut) दूसरे दिन २ से ४ गोली तीसरे दिन एक गोली ३ बार दिन में। यही मात्रा कायम रक्खें, रोगी के अनुसार मात्रा कम ज्यादा रखें। इनको जब दिये जायें तो डाक्टर की देख-रेख में दिया जाये, बीच बीच में रक्त में शक्कर तथा मूत्र में शक्कर देखना जरूरी है।

हाईपोग्लाईसीमिया के लक्षण—हाईपोग्लाईसीमिया एक भयावह अवस्था है, उग्र अवस्था में रोगी मर जाता है। साधारण हाईपोग्लाई-

सीमिया में उदरशूल, विशेषकर आमाशय प्रदेश में ऐसा प्रतीत होता है जैसे क्षुधा के कारण पीड़ा होती है, शरीर निःसत्व हो आता है, पसीना अधिक आता है और हाथ में कम्पन होते हैं। इस अवस्था में शर्करा (Glucose) देने से लक्षण मिट जाते हैं।

उग्र अवस्था में शीतकाय अवस्था, हृदय-कम्पन, प्रलाप, मूर्च्छा होते हैं, अन्ततः सन्यास से रोगी परलोक सिधार जाता है। कभी-कभी विशेषकर किशोरावस्था में व बालकों में अपस्मारवत् वेग आने लगते हैं।

वक्तव्य—जिन रोगियों में मधुमेह बहुत काल से तीव्र हो उनमें यदि शर्करा ०.१४ या १०% तक पहुंच जाय तब भी हाईपोग्लाईसीमिया के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं।

हाईपोग्लाईसीमिया की चिकित्सा – रोगी को तत्काल द्राक्षौज (ग्लूकोज) खिला दें साधारणतया पांच तोले शक्कर पानी में घोलकर पिला देना पर्याप्त होता है। यदि रोगी सन्यस्त अवस्था में हो और न पी सके तो शिरागत इंजेक्शन द्वारा २०–२५ सी. सी. २५% ग्लुकोज का इंजेक्शन तत्काल दे दें और Adreline 1 in 1000 १ सी. सी. या Pituitery Extract १ सी. सी. का इंजेक्शन दे दें। शीतकाय अवस्था में यदि शिराएँ उपस्थित न हों और शिरागत इंजेक्शन न दिया जा सके तो आमाशय नलिका द्वारा ५ तोले ग्लूकोज को पानी में घोल कर आमाशय में डाल दें।

यदि वृक्क रोग के कारण मूत्र में शर्करा आती हो तो इनसुलीन लाभ के स्थान पर हानि पहुंचाती है अतः रक्त परीक्षा द्वारा यह मालूम कर लेना चाहिए कि मूत्र में शक्कर मधुमेह अथवा वृक्क के रोग के कारण से है। वृक्क विकारजन्य मधुमेह से कोई अधिक भय नहीं, इससे कोई हानि नहीं होती।

आयुर्वेद में मधुमेह को प्रमेह विशेष ही माना गया है अतः इसकी पृथक् चिकित्सा विस्तार रूप से कहीं नहीं लिखी गई। सुश्रुत ने प्रमेह

पीड़िकाओं के साथ मधुमेह का वर्णन किया है और पीड़िकायुक्त प्रमेह को ही मधुमेह माना है। यथा—

"पिड़िका पिड़ितं गाढमुपसृष्टमुपद्रवैः
मधुमेहिनमाचष्टे स चासाध्यः प्रकीर्तितः"

चरक ने वातमेहों में इसकी गणना की है—"ओजः पुनर्मधुरस्वभावं तद्यदा रौक्ष्याद्वायोः कषायत्वेनाभिसंसृज्य मूत्राशयेऽभिवहति तदा मधुमेहं करोति"। चिकित्साक्रम किसी ने भी नहीं लिखा। हां, कुछ पृथक् योग सुश्रुत ने दिये हैं। सुश्रुत मत के अनुसार इसमें स्वेद और विरेचन देना बिलकुल निषिद्ध है, तथा शिलाजीत को इस रोग में बहुत महानता दी गई है, सुश्रुत ने तो यहां तक लिखा है कि यदि तुला प्रमाण (१२½ सेर) शिलाजीत का मधुमेही सेवन कर ले तो रोगी रोग से बिलकुल मुक्त हो जाता है और पूर्ण आयु भोगता है, यह है भी सच। शिलाजीत प्रतिदिन प्रातःकाल ६ महीने तक देने से विशेष लाभ होता देखा गया है। १ मात्रा प्रतिदिन से आरम्भ करके शनैः शनैः बढ़ाकर ६ माशे रोज तक ले जायें। शिलाजीत के भिन्न भिन्न योग एतदर्थ वर्णन किये गये हैं यथा चन्द्रप्रभा वटी (श०) २ गो० चार बार दिन में। शिलाजीत आदि वटी (सि. यो. सं.) ३ गोली ४–४ घण्टे बाद। वसन्तकुसुमाकर रस (भै० र०) १ रत्ती को जम्बुफल मज्जा का चूर्ण ४ रत्ती से मिलाकर देने से इस रोग में विशेष लाभ होता है जम्बुफल मज्जा का चूर्ण इसमें बहुत लाभकारी है। बिल्व के पत्ते १–२ तोला घोटकर स्वरस, प्रतिदिन देने से मूत्र में शर्करा का अभाव हो जाता है परन्तु सदा के लिये बन्द नहीं होती।

उपद्रव और उनकी चिकित्सा—

(१) **सन्यास**—मधुमेह के सब उपद्रवों में यह उपद्रव अधिक भयानक होता है। यह मधुमेह के जीर्ण रोगियों को होता है जिनमें रक्त की शर्करा २.४% से अधिक हो जाय अर्थात् १०–२० गुणा अधिक हो,

उनमें ग्लूकोज के स्थान पर वसा का अधिक व्यय होता है यह सदा रोग की उपेक्षा करने से अथवा अधूरी चिकित्सा करने से या मधुमेही को ज्वर की अवस्था में उत्पन्न होता है। ज्वर में अधिक ताप उत्पत्ति के लिए ग्लूकोज और वसा का अधिक व्यय होता है अतः ज्वर में इनसुलीन की आवश्यकता अधिक पड़ती है, यदि इनसुलीन न दिया जाय तो सन्यास उत्पन्न होने का भय रहता है ज्वर में ग्लूकोज भी देना चाहिये, साथ-साथ इनसुलीन की मात्रा को बढ़ा देना चाहिये, ज्वरों में नित्य प्रति मधुमेही की मूत्र परीक्षा करते रहें। साधारणतया इनसुलीन १०–२० यूनिट्स प्रतिदिन दें, यदि मूत्र में एसीटोन आदि उपस्थित हो जायें, तो ग्लूकोज और इनसुलीन दोनों बढ़ा देना चाहिए। वसा के पूर्ण रूप से जलने पर उससे जल और कार्बन डाई आक्साइड उत्पन्न होता है, यदि वसा पूरी न जले तो उससे डायासिटीक एसिड तथा एसिटोन आदि वस्तुएँ उत्पन्न हो जाती हैं। ये रक्त में भ्रमण करती हुई सन्यास उत्पन्न करती हैं—रोगी पहले तन्द्रावस्था में आता है फिर मूर्च्छित हो जाता है नाड़ी दुर्बल और तीव्र होती है, त्वचा और जिह्वा शुष्क होती हैं रोगी हांफता सा प्रतीत होता है। उसके मुख से मीठी-मीठी गंध आती है, वमन अति अधिक होता है। अनेक बार मूर्च्छा उत्पन्न होने से पहले उदरशूल या वमन उपस्थित होते हैं। उचित चिकित्सा करने से रोगी बच जाता है।

चिकित्सा—जैसे ही इस अवस्था का ज्ञान हो तत्काल ५०–६०–१०० यूनिट इनसुलीन दे देनी चाहिये तथा दो औंस (५ तोले) के लगभग ग्लूकोज पानी में घोलकर पिला देनी चाहिये। यदि रोगी मूर्च्छित है तो इसे नलिका द्वारा आमाशय में डाल देनी चाहिये अथवा २५% ग्लूकोज और नार्मल सेलाइन समभाग मिला कर प्रतिवार २५०–४०० सीं. सी. शिरागत् इंजेक्शन द्वारा देकर २४ घंटे के अन्दर २०००–२५०० सी. सी. दे देना चाहिये तथा सोडा बाइकार्ब १ छोटा चम्मच (१ ड्राम)

चार चार घंटे बाद बार-बार दिन में दें। यदि रोगी मूर्च्छित हो तो इसके विलयन २% का इंजेक्शन द्वारा दिनभर में ३०० सी. सी. दे दें। ग्लूकोज, नार्मल सेलाइन के २५०-४०० सी. सी. में २५-५० सी. सी. सोडाबाईकार्ब विलयन मिलाकर ४-४ घंटे बाद देते जायँ।

अतिसार—यदि मधुमेही को अतिसार हो जाए तो उसके मूत्र की परीक्षा करें। यदि मूत्र में बहुत शर्करा या डायासिटिक एसिड एसिटोन हों तो इनसुलीन ४०-६० यूनिट्स तक दे दें। तथा कई दिनों तक मूत्र में शर्करा की उपस्थिति के अनुसार इनसुलीन देते रहें आवश्यकता प्रतीत हो तो शर्करा भी दें और इनसुलीन को भी बढ़ा दें। मधुमेह के कारण उत्पन्न अतिसार इस चिकित्सा से शान्त हो जाता है समय-समय पर मूत्र परीक्षा जरूरी है।

प्रमेह पीड़िका—यदि मधुमेही रोगी को विस्फोट (Boils) विद्रधि (Abscess) या शतपोनक (Corbuncle) आदि उत्पन्न हो जायें तो भी शर्करा और इनसुलीन दोनों देनी चाहिएं और तत्काल शल्य क्रिया द्वारा इनकी चिकित्सा करें यह स्मरण रहे कि मधुमेह में चाहे किसी प्रकार की शल्य क्रिया हो मूत्र में ०.५%-१०% शर्करा सदा लाभप्रद होती है। मूत्र में शर्करा का अधिक होना तथा इसका अभाव दोनों समान रूप से हानिकर हैं।

कोथ—कोथ (Gangrene) के अर्थ हैं स्थान विशेष का जीवन-रहित हो जाना। जीर्ण मधुमेही में कोथ प्रायः पांव की अंगुलियों से आरम्भ होकर ऊपर की ओर चलता है। ज्यों ही जहां कोथ आरम्भ हो तत्काल उस भाग को काटकर निकाल देना चाहिये उस रोगी में मधुमेह की चिकित्सा का विशेष ध्यान दें।

राजयक्ष्मा—अनेक मधुमेही के जीर्ण रोगियों को राजयक्ष्मा हो जाने का भय रहता है, यदि हो जाय तो दुःखसाध्य होता है, चिकित्सा राजयक्ष्मावत् ही है, पौष्टिक आहार के साथ-साथ उसको इनसुलीन

पर्याप्त मात्रा में मिलती रहनी चाहिए, जिससे उसके मूत्र में शर्करा की विद्यमानता कदापि न होने पाये।

शीतपित्त, कण्डू तथा अन्य त्वक-गत् रोग अनेक बार मधुमेही को बहुत दुःखी करते हैं, इनसुलीन के सम्यक प्रयोग से बहुत लाभ होता है।

रक्तभाराधिक्य, वृक्करोग आदि अन्य जीर्ण और स्थायी उपद्रवों की चिकित्सा तत् तत् रोगों के अनुसार ही करनी पड़ती है, मधुमेह से यह रोग-उत्पन्न हो जाते हैं परन्तु मधुमेह के कम हो जाने पर भी ये वैसे ही बने रहते हैं।

वात-रक्त

पर्याय—वातरक्त, गाठिया, गौट (Gout)।

परिचय—शरीर में प्रोटीन के सम्यकतया व्यय न होने के कारण रक्त में यूरिक अम्ल अधिक हो जाता है इससे सोडियम बाइयुरेट्स बनकर दूर की सन्धियों में बैठ जाते हैं। उन सन्धियों में तीव्र शोथ उत्पन्न हो जाता है।

लक्षण—यह रोग विशेष जातियों एवं परिवारों में अधिकतर पाया जाता है। लगभग ६० प्रतिशत रोगी ऐसे होते हैं जिनके किसी पूर्वज को यह रोग हो चुका होता है। पुरुषों में स्त्रियों की अपेक्षा अधिक होता है। प्रायः ३५ वर्ष से अधिक आयु में होता है।

इस रोग की उत्पत्ति में भोजन का विशेष महत्त्व है भोजन की मात्रा इतनी उत्तरदायी नहीं जितनी कि उसका प्रकार। बहुमूल्य मद्यों का अधिक सेवन और अधिक नत्रजनीय भोजन का प्रयोग इस रोग के विशेष कारण हैं। व्यायाम न करना तथा बहुत देर तक सीसा के कारखानों, छापाखानों आदि में काम करना तथा अस्वास्थ्यजनक परिस्थिति में निवास इसके परम सहायक कारण हैं।

सम्प्राप्ति—इस रोग में रक्त में यूरिक एसिड सदा बढ़ा हुआ होता है। परन्तु केवल यूरिक एसिड का बढ़ा हुआ होना ही इसका कारण नहीं। क्योंकि अन्य अवस्थाओं में जिनमें यूरिकाम्ल बढ़ जाता है, यथा श्वेताणु वृद्धि में, अथवा यूरिकाम्ल के प्रयोग से, उनमें वातरक्त नहीं होता। वातरक्त में रक्त का क्षारत्व कम हो जाता है जिससे यूरिक एसिड सोडियम बाई युरेट्स के रूप में पृथक् होकर ऐसे स्थानों पर बैठ जाता है जहां रक्तसंचार बहुत कम हो जैसे पादाङ्गुष्ठ की प्रपादिक–पौर्वसन्धि में। इन स्थानों के कार्टिलेजों में ही सोडियम बाइयुरेट्स जाकर बैठ जाता है वह कार्टिलेज गलने लगता है और व्रणयुक्त हो जाता है। शनैः शनैः अस्थियां प्रभावित होने लगती हैं। ततः सन्धि के सब अंग कार्टिलेज बन्धन श्लैष्मिक कला और अस्थियां आदि प्रभावित हो जाती हैं। अस्थियों के सिरे मोटे हो जाते हैं सन्धि शोथयुक्त दिखाई देती है। शनैः शनैः यह पूयमय होकर फट जाती है। इस रोग में सर्वदा छोटी सन्धियां विशेष कर पांव तथा कर्णपाली ही प्रभावित होती हैं। रोग के चिरकाल रहने पर वृक्क शोथयुक्त हो जाते हैं।

लक्षण—इसके दो भेद हैं (१) प्रचण्ड और (२) जीर्ण।

प्रचण्डावस्था—अकस्मात् प्रायः रात के पिछले पहर रोगी के पादांगुष्ठ की प्रथम सन्धि में अत्यन्त पीड़ा और जलन आरम्भ हो जाती है। कभी-कभी इससे एक दो दिन पूर्व रोगी को बेचैनी और मानसिक अवसादादि होते हैं परन्तु फिर भी रोगी अच्छा भला सोता है। और पीड़ा से रात के २–३ बजे अकस्मात् उठ बैठता है। सन्धि पहले रक्ताभ और पीड़ायुक्त होती है, फिर इस पर शोथ हो जाता है, वर्ण नीला पड़ जाता है, इसके ऊपर शिराएं उभर आती हैं। आरम्भ में ज्वर १०१–१०२ फा. होता है। कुछ घंटे बाद पसीना देकर कम हो जाता है और रोगी को नींद आ जाती है। निद्रा खुलने पर सन्धि शोथयुक्त होती है

तथा पीड़ा अधिक होती है। पीड़ा दिन में कम हो जाती है और रात को अधिक होती है। ज्वर भी इसी क्रम से रहता है। अर्थात् दिन को कम और पिछली रात को ज्यादा। इस प्रकार ५–१० दिन तक ये लक्षण रहकर घट जाते हैं अंगुष्ठ में कुछ काल बाद तक थोड़ा बहुत शोथ एवं पीड़ा बनी रहती है परन्तु अंगुष्ठ सदा के लिये रुग्ण रह जाता है।

वेग से कुछ पहले मूत्र में यूरिक एसिड कम हो जाता है। वेग के समय और वेग के बाद अधिक हो जाता है।

जीर्णावस्था—पहले वेग के बाद इसी प्रकार पुनः-पुनः वेग होने लगते है। जो सन्धि प्रभावित है वह सदा के लिए विकृत हो जाती है वह बढ़ी हुई, शोथमय और पीड़ायुक्त रहती है, रोगी लंगड़ाता हुआ चलता है। कुछ काल पीछे सन्धि फट जाती है, व्रण बन जाते हैं और उनसे स्राव बहने लगता है जब तक सोडियम बाई युरेट की गांठ निकल नहीं जाय तब तक पीड़ा और स्राव बना रहता है इसके निकलते-निकलते कई मास अथवा कई वर्ष लग जाते हैं। एक सन्धि के बाद दूसरी सन्धियां प्रभावित होने लगती हैं। सबसे पहिले प्रायः पादांगुष्ठ ही प्रभावित होता है तत्पश्चात् हाथ पैर की अन्य सन्धियां। कभी-कभी इसके अतिरिक्त अन्य अनियमित से लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं यथा—

(१) उदरविकार— आमाशय शूल, अन्त्रशूल, यकृत रोग।

(२) हृदयविकार–धड़कन, हृत्शूल, हृदय रोग के कारण श्वास।

(३) श्वास मार्ग के रोग—कास, श्वासादि।

(४) वात पीड़ाएं—कटि, शिर आदि स्थानों पर वेदनायें

(५) त्वग् रोग—शीतपित्त पामा आदि।

इनके विषय में यह जानना असम्भव ही होता है कि ये विकार वातरक्त से ही हैं अथवा स्वतन्त्र रूप से, जिन रोगियों में वातरक्त सन्धिशोथ आदि के लक्षण स्पष्ट हों केवल उनमें इस रोग का अनुमान होता है।

रोगमीमांसा—लक्षण स्पष्ट हों तो पहचानना कठिन नहीं। सन्दिग्धावस्था में रक्त परीक्षा करनी चाहिये। यूरिक-एसिड वेग से पहले घट जाते हैं और वेग के समय तथा उसके पश्चात् कुछ काल तक बढ़े रहते हैं।

चिकित्सा—एक बार यह रोग हो जाये तो जीर्ण हो जाता है। रोगी यदि अपने आहार-विहारादि ठीक करदे तो रोग के वेग कम हों जायेंगे नई संधि प्रभावित न होगी। मित आहार विहार वालों तथा व्यायाम शील मनुष्यों को यह रोग कभी नहीं होता। रोग हो जाय तो भोजन साधारण और सुपाच्य होना चाहिये। वसा और प्रोटीन का प्रयोग कम करें। मद्य का बिलकुल त्याग कर देना चाहिये।

वेगावस्था में पांव को ऊँचा और आराम से रखकर सेक करें। भोजन मृदु और तरल, यथा दूध, यवयूषादि देना चाहिये। विरेचन देकर कोष्ठ साफ करने के बाद औषधि चिकित्सा आरम्भ करनी लाभदायक होती है इसके लिए टिंक्चर कालचिकम विशेष उपयोगी है मात्रा १५–२० बून्द। सिन्कोफेन (Cincophan) इस रोग के लिए एक विशेष उपयोगी औषधि है Atophan Agotan Pheno-quin तथा Quino Phan इसी औषधि के दूसरे रूप हैं। इनसे यूरिक एसिड अधिक मात्रा में रक्त से मूत्र द्वारा बाहर निकल जाता है। वेग में तो इनका कोई लाभ नहीं परन्तु आक्रमण को रोकने के लिये ये अत्यन्त लाभदायक हैं। इसकी एक गोली (७½ ग्रेन) दिन में तीन बार दो दिन तक दें। फिर ५ दिन न दें अर्थात् सप्ताह में दो बार दें। इस औषधि को कभी लगातार न देनी चाहिये नहीं तो यकृत की हानि होकर तीव्र कामला से रोगी की मृत्यु हो सकती है। उपरोक्त विधि से ४ सप्ताह तक दें उसके बाद तथा जीर्ण रोगियों में महीने में एक बार या दूसरे-तीसरे महीने में एक बार देना चाहिये।

आयुर्वेदिक चिकित्सा—वेग के समय सन्धि पर निम्नोक्त औषधियाँ लगायें—वातध्नलेप (सि० यो० सं०)

कुन्दुरूगोंद २० तोला, आँमाहल्दी ४ तोला, सज्जीखार २ तोला, एलवा (मुसब्बर) ५ तोला, हीराबोल २ तोला, आर्चा २ तोला, गेरू ५ तोला, सफेद सरसों १ तोला, हींग १ तोला, उसारे रेवन्द १ तोला, अंजरूत २ तोला, डीकामाली गोंद २ तोला, मेदालकड़ी २ तोला, चन्द्रसूर (चंसूर-हालीम) ४ तोला, और मेथी २ तोला–इन सबका चूर्ण करके रखलें। यह चूर्ण आवश्यकतानुसार लेकर जल में खूब महीन पीस लें, व गरम करके जहाँ पीड़ा हो या शोथ हो वहाँ मोटा लेप करदें ऊपर रूई से ढक दें। इससे पीड़ा और सूजन शान्त हो जाती है।

अन्तः प्रयोगार्थ सुरंजा कटु ४ रत्ती, चोब चीनी १ माशा, शुण्ठी १॥ माशे ऐसा दो या ३ मात्रा रास्नादि क्वाथ (शा०) के साथ दें अथवा पुनर्नवाष्टक कषाय (शा०) या मंजिष्ठादि क्वाथ (चक्र०) या दशमूलादि क्वाथ के साथ देवें, २–३ बार दिन में देवें। अथवा आरोग्य वर्धनी गुटिका (र० र० स०) २–३ गोली प्रतिवार उपर्युक्त क्वाथों में से किसी एक के साथ २–३ बार दिन में दें।

वेगों के अन्तर काल में अर्थात् जब वेग न होते हों, रोग शान्त्यर्थ निम्नोक्त औषधि देनी चाहियें। सन्धि पर लगाने के लिये पञ्चगुण तैल (सि० यो० सं०) अथवा विषगर्भ तैल (सि० यो० सं०) प्रयुक्त करें, इनको बहुत धीरे से अभ्यंग रूप में लगावें अन्तः प्रयोगार्थ, पञ्चतिक्तघृत गुग्गुल–मात्रा ६ माशे से १ तोला, गाय के दूध के साथ, कम-से-कम ५-६ मास तक इसका प्रयोग करायें। गन्धक रसायन (आयुर्वेद प्रकाश) १ माशा प्रति प्रातः मञ्जिष्ठादि क्वाथ से २-३ मास तक प्रयोग करें। सिंहनाद गुग्गुलु या महायोगराज गुग्गुलु को उपर्युक्त किसी क्वाथ से कई मास तक दें। इन योगों से लाभ होते देखा गया है।

अध्याय २२

खाद्यौज (Vitamins) के अभाव और हीनता से उत्पन्न होनेवाले रोग

पूर्व इसके कि उन रोगों का वर्णन किया जाय जो खाद्यौज (विटामिन-Vitamins) के अभाव से अथवा उनकी न्यूनता से उत्पन्न होते हैं, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि खाद्यौज अर्थात् विटामिन के विषय में कुछ परिचय करा दिया जाय।

शरीर की जीवनयात्रा के लिए दो प्रकार की चीजों की आवश्यकता होती है (१) भोजन सामग्री; जो शरीर अवयवों के निर्माण, वृद्धि और जीर्णोद्धार (पुरानी सेलों की मरम्मत) के लिए तथा शरीर में हर समय जो उष्णता उत्पन्न हो रही है, और शक्ति व्यय हो रही है उसके लिए आवश्यक है। (२) दूसरी वे चीजें जो इस भोजन सामग्री को प्रयुक्त करने में प्रेरक तथा सहायक हैं। दूसरे शब्दों में एक निर्माण सामग्री, दूसरे निर्माता। जैसे एक मकान के निर्माण के लिए विविध सामग्री की आवश्यकता होती है यथा ईंट, सीमेन्ट, चूना, मिट्टी, लकड़ी, लोहा आदि की, वैसे ही उनको प्रयोग में लानेवाले मिस्त्री, मजदूर, सुतार, लोहार आदि की भी, एक के बिना दूसरी वस्तु बेकार है। ठीक उसी प्रकार हमारे शरीर के निर्माण, वृद्धि, जीर्णोद्धार आदि के लिए निर्माण सामग्री तथा उसको प्रयुक्त करने के लिए निर्माता की आवश्यकता होती है इनको ही खाद्यौज अथवा विटामिन कहते हैं। इनके अभाव में अथवा इनकी थोड़ी मात्रा में उपस्थिति से भोजन सामग्री सम्यकतया प्रयुक्त नहीं होती अथवा उचित परिमाण में प्रयुक्त नहीं होती, जिससे विविध व्याधियां उत्पन्न हो जाती हैं।

उचित और युक्त आहार वही हो सकता है जिसमें उचित परिमाण से प्रोटीन, वसा (Fat) तथा कार्बोज (Carbohydrate) हों उचित मात्रा में सोडियम, पोटेशियम, लोह, ताम्र, आयोडीन आदि पार्थिव लवण व धातु हों, तथा युक्त परिमाण में खाद्यौज हों। खाद्यौज कई प्रकार के हैं शरीर के लिए इनकी अल्पमात्रा ही पर्याप्त है। ये भिन्न भिन्न आहार द्रव्यों में भिन्न-भिन्न मात्रा में उपस्थित होते हैं। इनको "ए" "बी" "सी" "डी" आदि अक्षरों से ही सम्बोधित किया जाता है। यद्यपि लगभग सब खाद्यौज का रसायन संघटन मालूम हो चुका है, तथा उनको कृत्रिम विधियों से निर्माण भी किया जा चुका है, उनके नाम भी तदनुसार रखे जा चुके हैं परन्तु आज तक उनको पुकारा "ए" "बी" "सी" "डी" आदि नामों से ही जाता है। अभी तक चूँकि हिन्दी भाषा में इनके सर्वमानित परिभाषिक शब्दों की स्वीकृति नहीं हुई, यहाँ भी इन्हें "ए" "बी" "सी" आदि अक्षरों में ही वर्णन किया जायगा।

इनके अभाव से तत्काल रोग उत्पन्न नहीं होता, अपितु यदि अधिक काल तक इनका निरन्तर अभाव रहे, तब अभाव से उत्पन्न होने वाले रोगों के लक्षण प्रादुर्भूत होने लगते हैं। शरीर में ये संचित रहते हैं। पहले तो इस संचित भाग का व्यय होता है, जब ये बहुत घट जाते हैं तब विटामीन-हीनता के लक्षण प्रतीत होने लगते हैं। विटामीन को शरीर की आवश्यकताओं के अनुसार तीन श्रेणियोंमें विभक्त किया जा सकता है।

(१) वे जो शरीर यात्रा के लिये अनिवार्य्य हैं:—विटामीन ए, बी$_1$ बी$_2$ बी$_7$ बी$_{12}$ सी, डी, के।

(२) वे जिनकी उपस्थिति यद्यपि अनिवार्य्य तो नहीं अर्थात् इनके अभाव से जीवनयात्रा में तो बाधा नहीं पड़ती, परन्तु इनमें लाभ अवश्य होता है यथा–विटामिन एच, इ, एफ, और पी।

(३) वे जिनके विषय में अभी तक यह मालूम नहीं हो पाया कि

इनसे शरीर को कोई लाभ पहुँचता है या नहीं। बी$_3$ बी$_४$ बी$_५$ बी$_६$ आदि।

इस पुस्तक का सम्बन्ध केवल प्रथम श्रेणी के खाद्यौजों से है परन्तु ज्ञानार्थ सब का नाम निर्देश नीचे किया जाता है।

जिन विटामिन का ज्ञान हो चुका है वह ये हैं—

(१) विटामिन "ए"—स्थूलतः दो प्रकार का है, शरीर के लिये दोनों का अभिप्राय एक ही है।

(२) विटामीन "बी$_१$"=Anuerine or Thiamin Antiberi-beri–इसके अभाव से बेरी-बेरी रोग उत्पन्न होता है।

"बी$_२$" इसको विटामिन "जी" भी कहते हैं।

"बी$_७$" इसको Nicotinic acid कहते हैं।

"बी$_{१२}$" रक्तकण उत्पादक है।

"बी$_3$, "बी", "बी$_५$" इनका उपयोग अभी तक मालूम नहीं हो सकाVit. B$_१$, B$_3$ और B$_४$ के अतिरिक्त शेष सब विटामीन को Vitamin B$_२$ Complex कहते हैं।

(३) विटामीन "सी" इसे Ascorbic acid कहते हैं।

(४) विटामीन "डी" पांच प्रकार का है, परन्तु सबका कार्य्य समान है, अतः कार्य्य निर्वाहार्थ इन सबका एक ही में समावेश है।

(५) विटामीन "ई" इसको Anti-sterility विटामीन कहते हैं, विचार यह है कि ये मनुष्य जाति में सन्तान उत्पत्ति का जिम्मेदार है (ध्यान रहे, वीर्य्य या मैथुनिक शक्ति से इसका कोई सम्बन्ध नहीं)।

(६) विटामीन "के" इसे Anti-Haemorrhagic. Vitamin कहते हैं।

(७) विटामिन "एच" त्वक् गत रोगों के रोकने में सहायता देती है इस को विटामीन B$_२$ complex के अन्तर्गत माना जाता है।

(८) विटामीन "पी" इस को विटामीन सी के अन्तर्गत माना गया है इसका लाभ अभी तक अज्ञात है।

इन में विटामीन ए, डी. और के पानी में अनुघुल है, वसा (fat) में घुलनशील हैं। शेष सब अर्थात् विटामीन बी., सी., ई., एच. और पी पानी में घुलनशील हैं, वसा में नहीं।

शरीर को इनकी कितनी मात्रा में तथा रोगों में कितनी मात्रा में आवश्यकता होती हैं, इसको दर्शाने के लिए इनका माप अन्तर्राष्ट्रीय परिमाण (Units) में दर्शाया गया है। प्रत्येक विटामीन का शरीर के लिए कितना परिमाण आवश्यक होता है तत्तत् विटामीन के साथ दिया गया है। पुस्तक के अन्त में एक तालिका दी गई है जिस में यह दर्शाया गया है कि विभिन्न भोज्य पदार्थों में कौन-कौन सा खाद्यौज कितना-कितना है।

खाद्यौज ए० (Vitamin A, विटामीन ए)

१—यह शरीर के निर्माण, वृद्धि, और जीर्णोद्धार का जिम्मेदार है। २—यह त्वचा और श्लेष्मिक कला को स्वस्थ, स्वच्छ और आर्द्र रखता है तथा बलशाली बनाता है; जिसके कारण रोगाणु त्वचा और श्लेष्मिक कला द्वारा शरीर में प्रवेश नहीं पा सकते और शरीर रोगाणुओं के आक्रमण से बचा रहता है। ३-यह विटामीन 'डी' की सहायता करता है।

इसके अभाव से शरीर की वृद्धि रुक जाती है, त्वचा और श्लेष्मिक कला विशेष कर-आंख, नाक की श्लेष्मिक कला शुष्क तथा कर्कश हो जाती है, नक्तान्ध्य तथा अन्य अक्षि रोग हो जाते हैं; मूत्राश्मरी बन जाती है, मनुष्य अस्वस्थ रहने लगता है, उसे श्वास संस्थान के रोग यथा ब्रान्को न्योमोनिया, राजयक्ष्मा आदि हो जाने का भय रहता है, तथा अतिसार प्रवाहिका आदि आन्त्रिक संक्रामक रोगों के होने की सम्भावना बढ़ जाती है।

यह खाद्यौज अधिक उष्णता, १००°C से नष्ट हो जाता है। साधारण रूप में पकाने से नष्ट नहीं होता, परन्तु अधिक देर तक पकाया जाए

अथवा सोडा क्षार आदि डालकर पकाया जाय या भूना जाए तो नष्ट हो जाता है।

यह विटामीन मच्छी के तैल विशेषकर उनके यकृत के तैल में अधिक होता है, यह प्राणियों की वसा में तथा यकृत में जमा रहता है; अण्डे, दूध, माखन, हरे शाक, तथा पालक, हालों, गोभी, सलाद, मूली, शलजम के पत्तों, तथा मेथी आदि में पर्याप्त मात्रा में विद्यमान रहता है। इस विटामीन का आदि मूल उद्गम स्थान हरे पत्ते हैं। हरे पत्ते इसको सूर्य्यप्रकाश के प्रभाव से बनाते हैं, इन्हीं हरे पत्तों को खाकर हर प्रकार के प्राणी इसे ग्रहण करते हैं तथा अपने शरीर की वसा में एवं यकृत में जमा रखते हैं, तथा दूध द्वारा अपनी सन्तति को देते हैं, पक्षी अण्डों की जरदी में अपने चूजों के लिए सुरक्षित रखते हैं। यदि प्राणी हरे शाक या हरी घास न खायें तो उनमें इसका अभाव हो जायगा। तैलों में तथा वनस्पति घी में इसका सर्वथा अभाव होता है। जो मनुष्य दूध, दही, माखन, अण्डे, मच्छी का तैल अथवा हरे शाक पर्याप्त मात्रा में खाते हैं उनमें इस विटामीन का अभाव नहीं होता, ऐसी माताओं के बच्चों को भी यह पर्याप्त मात्रा में मिल जाता है। एक मनुष्य को प्रतिदिन ३०००-४००० यूनिट्स की आवश्यकता होती है। शिशु (दूध पीते बच्चे) को २००० यूनिट्स की, गर्भिणी तथा धात्री (दूध पिलाने-वाली स्त्री) को ५०००--६००० युनिट्स की, तथा बालक को (वृद्धिकाल में) ४००० से ५००० यूनिट्स की आवश्यकता होती है।

मुख्य-मुख्य भोज्य द्रव्यों के, (जिन में विटामीन ए. अधिक होती है), प्रति १०० ग्राम (३½ औंस लगभग=९तोला) में विटामीन ए. की यूनिट्स मात्रा दर्शाई गई है :-Halibut liver oil 1,60,00,000 काडलिवर आयल (Codliver oil) 2,00,000 पालक का साग १३,००० दूध की मलाई ४६००, माखन २६००, अण्डे के पीले भाग में ३,००० दूध में २३००।

खाद्यौज "बी" (Vitamin B)

यह मुख्यतया दो प्रकार का होता है (१) खाद्यौज "बी"१ (Vitamin B१) और खाद्यौज 'बी२' कम्प्लेक्स (Vitamin B२ Complex) इनका कार्य पृथक्-पृथक होने के कारण इनका वर्णन भी पृथक्-पृथक् किया जायगा।

खाद्यौज 'बी'१ (Vitamin B_1)—इस श्रेणी में तीन विटामीन सम्मिलित हैं, B_1, B_4 या B_5। अभी तक B_4 तथा B_5 के कार्य व रासायनिक संघटन का ज्ञान नहीं हो पाया है। अतः केवल बी का वर्णन किया जायगा।

बी१ का पूर्ण रूपेण विश्लेषण हो चुका है, इसका रासायनिक योग ज्ञात हो चुका है तथा इसको कृत्रिम रूप में तैयार भी किया जा चुका है यह एन्यूरीन (Anuerin) के रूप में बाजार में विक्रयार्थ उपलब्ध भी है। इसको थायमीन (Thiamine) भी कहते हैं

विटामीन बी१ के कार्य ये हैं-(१) कार्बोज (Carbohydrate) के सम्यक व्यय के किए यह अनिवार्य है, यदि भोजन में यह न हो अथवा कम हो तो कार्बोज के अपूर्ण व्यय से एक विषैली वस्तु पाईरुविक ऐसिड (Pyruvic acid) रक्त में जमा हो जाती है जिसके कारण मस्तिष्क और वात तन्तु क्षुब्ध हो जाते हैं उनके रोग उत्पन्न हो जाते हैं दूसरे शब्दों में यह मस्तिष्क और वात-तन्तु को स्वस्थ तथा बलशाली रखने का जिम्मेदार है।

(२) हृदय, यकृत, वृक्क, तथा पाचक संस्थान को स्वस्थ रखता एवं दृढ़ बनाता है।

(३) अन्त्र की श्लेष्मिक कला को दृढ़ तथा बलशाली बनाता है, जिस से वह शरीर को रोगाणुओं के आक्रमण से बचाता है। यह कार्य विटामीन ए के समान है परन्तु उसकी अपेक्षा कम।

(४) शरीर और अन्त्र की मांसपेशियों को बलवान बनाता है।

(५) रक्त वारि (Plasma) की रचना को ठीक रखता है, अर्थात् उस में प्रोटीन को सम्यक मात्रा में रखता है, अन्यथा वह घट जाता है, और रक्त केशिकाओं से रक्त चू-चू कर बाहर आता है तथा आर्द्र शोथ उत्पन्न हो जाती है।

इसके अभाव से बेरी-बेरी रोग उत्पन्न हो जाता है–मस्तिष्क तथा वात तन्तुओं में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है, हृदय दुर्बल हो जाता है,हृदय की गति बहुत तीव्र हो जाती है, शरीर शिथिल हो जाता है, श्वास चढ़ा रहता है, शरीर में आर्द्र शोथ हो जाता है इत्यादि।

यह विटामीन आसव अरिष्ट के किण्व (यीस्ट=Yeast) में विशेषतया अधिक होता है तथा अन्न में उस के अन्तस्थ मूलांकुर में पाई जाती है, चावलों में अपेक्षतः कम होती है। चावल को मशीन द्वारा साफ कराने से यह अंकुर नष्ट हो जाता है, तथा छिलका उतर जाता है, जिनमें यह विटामीन रहता है। अतः मशीन द्वारा साफ किए चावलों में इसका अभाव होता है। थोड़ी मात्रा में यह हरे शाक, आलू तथा दूध अण्डे व यकृत में भी होता है।

नीचे भोज्य द्रव्यों के प्रति १०० ग्राम में इसकी मात्रा यूनिट्स में दी जाती है। सूखे किण्व में ९०००, ताजे किण्व में ६०००, गेहूँ के अंकुर में ४०००, गेहूँ के दाने में ९००, गेहूँ की रोटी में ३६०, मटर में १००, हरे शाक में ३०–२१०, (भिन्न-भिन्न शाकों में भिन्न-भिन्न होती है) आलू में ९०-१२०, बकरे के मांस में ९०-१४०, शूकर में ६५०-९५० मछली में ९०-१२०, दूध में ७०, अण्डे की जरदी में ४२०, यकृत तथा वृक्क (गुरदे) में ४५०-४७०।

शरीर के लिए इसकी दैनिक आवश्यकता ३००० यूनिट्स है, इसकी मात्रा शरीर के भार पर भी निर्भर है, स्थूल मनुष्य को कृश की अपेक्षा अधिक विटामिन बी, चाहिए; एवं गर्भिणी को भी अधिक चाहिए।



बेरी-बेरी (Beri-Beri)

यह रोग भोजन में चिरकाल तक निरन्तर विटामिन बी, की हीनता से उत्पन्न होता है। जिन जातियों का अवलंबन चावलों पर है विशेषकर मशीन के कुटे तथा साफ किए चावल पर उनको अधिक होता है। चावलों में अन्य धान्यों की अपेक्षा "बी," वैसे ही कम होता है, जो होता है चावलों के आवरण के उतरने तथा बीजांकुर के नाश से वे सर्वथा "बी," हीन हो जाते हैं। जो लोग महीनों सूखे अन्न पर रहते हैं तथा हरे शाक फल से वंचित रहते हैं उनमें यह रोग होता है, इसी कारण पहले यह समुद्री जहाजों के कर्मचारियों में बहुत होता था, पर अब उनको "बी," की गोलियां खाने को दी जाती हैं तथा धान्य को अंकुरित कर उनके हरी पल्व उनको दिए जाते हैं, इसलिए उन लोगों में इसका अभाव हो गया है।

पूर्वलिखित पंक्तियों में लिख दिया गया है कि "बी," के अभाव में कार्बोज के अयुक्त व्यय के कारण पाईरूविक एसिड नाम की विषैली वस्तु रक्त में जमा हो जाती है, यही शरीर के अंगों में विशेषतया मस्तिष्क, नाड़ियां, हृदय, तथा मांस आदि में क्षति करता है शरीर की नाड़ियाँ क्षीण होने लगती हैं। अन्त में सदा के लिए नष्ट हो जाती हैं। हृदय दुर्बल एवं विस्तृत होता जाता है। अंग आवरणों में (यथा फुफ्फुसावरण, हृदयावरण अण्डकोष आदि में तरल भर जाता है।

लक्षण—प्रायः शनैः शनैः गुप्त रूप से आरम्भ होते हैं, विटामिन बी, की न्यूनता सीमा तक पहुँच जाने के दो तीन मास बाद लक्षण आरम्भ होते हैं। पहले-पहले आमाशय प्रदेश में क्षोभ, उत्क्लेश, वमन अथवा अतिसार आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। बाद में इस रोग के वास्तविक लक्षण यथा प्रान्तस्थ नाड़ियों की क्षीणता से उत्पन्न लक्षण, धड़कन, श्वास, शारीरिक क्षीणता आदि उत्पन्न होते हैं। इस रोग में

ज्वर का अभाव रहता है, यह रोग बीच-बीच में कम ज्यादा होता रहता है। इसके मुख्यतः दो भेद हैं।

(१) आर्द्र बेरी-बेरी—शरीर में गौरवता प्रतीत होने लगती है, पहले तो कहीं-कहीं शरीर पर स्पर्शासहिष्णुता होती है बाद में वहीं या कहीं और शनैः शनैः स्पर्शशून्यता हो जाती है अनेक बार शरीर में कोई भाग तो स्पर्शसहिष्णु होता है और कोई स्पर्शशून्य। टांग की पिण्डलियें सुकोमल (छूने से पीड़ा) हो जाती हैं। घुटने की प्रत्यावर्तित क्रिया पहले थोड़े समय के लिए अधिक हो जाती है पीछे लुप्त हो जाती है। रोगी बहुत दुर्बल होता जाता है। यदि चौकड़ी मार कर बैठा हो तो उसके लिए उठना कठिन होता है परन्तु प्रत्यक्ष रूपेण कृशता नहीं होती। शरीर के विविध भागों पर आर्द्र शोथ आने लगता है, सबसे पूर्व जंघा में आरम्भ होता है, बाद में सर्वत्र हो जाता है। अंगों के आवरणों में तरल जमा हो जाता है, यथा फुफ्फुसावरणों, हृदयावरण, उदर, (जलोदर) अण्डकोषों में। जिन रोगियों में क्षीणता थोड़ी होती है, और रोगी चलता-फिरता है, उनमें यह आर्द्र शोथ अधिक होता है, जो रोगी शय्या आरूढ़ हों उनमें यह लक्षण कम होते हैं। मूत्र में एल्ब्यूमिन आने लगती है। कभी-कभी हृदय प्रभावित होकर अकस्मात् कार्यावरोध से रोगी की जीवन-यात्रा का एकदम अकस्मात् अन्त कर देता है।

(२) शुष्क बेरी-बेरी—यह आर्द्र की अपेक्षा लम्बा चलती है, आर्द्र शोथ नहीं होता। दिन प्रतिदिन क्षीणता बढ़ती जाती है, इसके साथ कृशता भी बढ़ती जाती है। वात-विकार के कारण रोगी की चाल भी बदल जाती है वह पग उठा उठाकर चलता है, हाथ कलाई पर से नहीं उठता। कभी-कभी आरम्भ के आमाशय सम्बन्धी लक्षणों का अभाव होता है।

हृदय की धड़कन उत्पन्न होकर बढ़ती जाती है, हृदय की गति

तीव्र होती जाती है, किञ्चित मात्र श्रम से श्वास चढ़ जाता है, रोगी निसत्व होकर शैय्या की शरण ले लेता है, यही कारण है कि आर्द्र शोथ यदि होना भी हो तो नहीं होता। जत्रूगत नाड़ियों (Cranial Nerves) की क्षीणता देखने में नहीं आती।

उपरोक्त दो स्वरूपों के अतिरिक्त इस रोग के कभी-कभी अन्य निम्नोक्त स्वरूप भी दृष्टिगोचर होते हैं :

(१) आशुमारी बेरी-बेरी—अकस्मात् हृदय विस्तृत हो जाता है विशेषकर दक्षिण हृदय कोष्ठ। हृत्प्रदेश में पीड़ा होती है, रोगी बेचैन होता है, उसे श्वास चढ़ा रहता है, उसे यम देवता सामने खड़ा दिखाई देता है, कभी-कभी तो चन्द ही घण्टों में रोगी यम की आंचल में चला ही जाता है। अन्यथा प्रायः कई दिन तक लटकता रहता है।

(२) शैशव बेरी-बेरी—बेरी-बेरी से पीड़ित माता के दूध के पीते-पीते बच्चे भी कभी-कभी इस रोग से ग्रस्त हो जाते हैं। उसे क्षुधामान्द्य, उत्क्लेश, वमन, अतिसार आदि अन्नमार्ग सम्बन्धित लक्षण उपस्थित होते हैं, बच्चा अतिक्षीण दुर्बल होता जाता है। उसका हृदय विस्तृत व दुर्बल होता है, उसे श्वास सा चढ़ा रहता है, ऐसा बच्चा यदि उनकी उचित चिकित्सा न की जाय तो शीघ्र एक दो सप्ताह में ही चल बसता है।

(३) पलैग्रा युक्त बेरी-बेरी—अनेक रोगियों में बेरी-बेरी तथा पलैग्रा दोनों रोगों के लक्षण एक साथ विद्यमान होते हैं।

रोगमीमांसा—लक्षणों से प्रायः रोग निदान सुगम होता है। रोगी के स्वाभाविक आहार का ज्ञान भी रोग निदान में पर्याप्त सहायता देता है। यदि संदेह हो तो मूत्र परीक्षा करा कर यह मालूम करें कि विटामिन बी, (Aneurin) मूत्र में कितना निकलता है, इस रोग में बहुत कम निकलता है, यदि इसको अधिक मात्रा में खिलाने के बाद मूत्र परीक्षा कराई जाय तो यह स्वस्थ मनुस्य की अपेक्षा कम निकलती है। यह परीक्षा अभी तक चालू नहीं हुई।

रोगपरिणाम—यदि रोगमीमांसा न हो पाये और उपयुक्त चिकित्सा न की जाय तो रोगी अवश्यमेव हमारे हाथ से निकल जाता है। आशुमारी बेरी-बेरी में उचित चिकित्सा तत्काल फल दिखा देती है, विटामीन "बी१" (Aneurin) को १०० मिलीग्राम की एक मात्रा ही एकदम अपना चमत्कार दिखा देती है। इसकी औषधि का ठीक-ठीक ज्ञान होने से रोग का परिणाम बहुत अच्छा हो गया है। जहाँ संदेह भी हो वहां विटामिन "बी१" दे देनी चाहिये इससे हानि तो है नहीं यदि होगा तो लाभ ही होगा।

चिकित्सा—प्रतिरोधक—यदि प्रतिदिन १–२ मिलीग्राम (३००-४५०) यूनिट्स विटामीन बी१ मिलता रहे तो रोग नहीं होने पाता। जिन रोगों में शरीर के कार्बोज का व्यय बढ़ जाता है, ज्वरों में एवं मधुमेह में या अधिक कार्बोज आहारियों में यथा खूब पेट भर चावल गेहूं खाने वालों में, अथवा अधिक शक्करमिठाई का उपयोग करनेवालों में, स्वस्थ अवस्था की अपेक्षा विटामीन अधिक देना चाहिए। ज्वर पीड़ित रोगियों तथा मधुमेही आदि के रोगियों को या तो हरे शाक फल आदि का स्वरस अधिक मिलना चाहिए अन्यथा विटामीन "बी१" की गोलियां दें या इंजेक्शन द्वारा प्रयोग करें।

शमन चिकित्सा—आरम्भ में तो विटामीन "बी१" को इंजेक्शन द्वारा देना श्रेयस्कर है, बाद में गोलियां दे सकते हैं अन्त में निर्भर तो आहार पर ही रहना चाहिए। भोजन ऐसा होना चाहिए जिसमें खाद्योज "बी१" पुष्कल मात्रा में हो, ऐसे भोजन ऊपर लिखे जा चुके हैं तथा पुस्तक के अन्त में दी गई तालिका में दर्शाए गये हैं।

आशुमारी बेरी-बरी में लगते ही १०० मलीग्राम विटामीन "बी१" का मांसान्तर्गत इंजेक्शन दे दें, तत्पश्चात् मुख द्वारा ५०-१०० मिलीग्राम प्रतिदिन ७ दिन तक देना चाहिए इसके बाद प्रतिदिन २०-२५ मिलीग्राम की मात्रा एक मास तक दें, पुनः विटामीन "बी१" युक्त आहार पर डाल दें।